जैनदर्शनसार

(प्रथम भाग)

108 आचार्य श्री धर्मभूषण जी महाराज

सम्पादक

डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन

डॉ. नीलम जैन

प्रकाशक

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर समिति

कविनगर, गाजियाबाद (उ॰ प्र॰)

108 आचार्य श्री धर्मभूषण जी महाराज
के प्रवचन एवं जैनधर्म, दर्शन, आचार विषयक
तीन भागों में निबद्ध
जैनदर्शनसार का प्रथम भाग

सम्पादक :
डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन, *उपाचार्य*, गाजियाबाद
डॉ. नीलम जैन, गाजियाबाद

प्रकाशक :
© श्री दिगम्बर जैन मन्दिर समिति
कविनगर, गाजियाबाद (उ॰प्र॰)

प्रबन्ध संयोजक :
श्री बी॰ डी॰ जैन
II-A-128, नेहरु नगर, गाजियाबाद
फोन - 2792298

प्रथम संस्करण : सन् 2003
मूल्य तीनों भाग : 100/-

प्राप्तिस्थान :
श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर
कविनगर, गाजियाबाद (उ॰प्र॰)
फोन - 2711083

•

श्री नवनीतकुमार जैन
86, ठठेर वाड़ा, मेरठ शहर
फोन - 2520073

मुद्रक :
दीप प्रिंटर्स
70ए, रामा रोड, इन्डस्ट्रियल एरिया
न्यू दिल्ली - 110015
दूरभाष : 25925099

वीतरागी ही पूज्य है

णमोकार मंत्र जैसा मन्त्र नहीं

वीतरागी जैसे देव नहीं

निर्ग्रन्थ जैसे गुरु नहीं

अहिंसा जैसा धर्म नहीं

आत्मध्यान जैसा ध्यान नहीं

●

वीतराग ही धर्म है

मिथ्यात्व का वमन

सम्यक्त्व उत्पन्न

कषायों का शमन

इन्द्रियों का दमन

आत्मा में रमण

आचार्य परम्परा
में
१०८ आचार्य श्री धर्मभूषणजी महाराज

●

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री शान्तिसागर जी महाराज (छाणी)

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री सूर्यसागर जी महाराज

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री विजयसागर जी महाराज

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री विमलसागर जी महाराज (भिण्डवाले)

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री निर्मलसागर जी महाराज

समकालीन – परम पूज्य आचार्य १०८ श्री जयसागर जी महाराज

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री शान्तिसागर जी महाराज (हस्तिनापुर वाले)

परम पूज्य आचार्य १०८ श्री धर्मभूषण जी महाराज

●

बाल ब्रह्मचारी, प्रशान्तमूर्ति आचार्य 108

श्री शान्तिसागरजी महाराज (छाणी)

जन्म तिथि - कार्तिकबदी एकादशी वि॰सं॰, 1945 (सन् 1888)
जन्म स्थान - ग्राम-छाणी, उदयपुर (राजस्थान)
जन्म नाम - श्री केवलदास जैन
पिता का नाम - श्री भागचन्दजी जैन
माता का नाम - श्रीमती माणिकबाई
क्षुल्लक दीक्षा - सन् 1922 वि॰स॰ 1979

मुनि दीक्षा - भाद्र शुक्ला 14, सन् 1923
स्थान - सागवाड़ा (राजस्थान)
आचार्य पद - संन् 1926
स्थान - गिरीडीह (झारखंड प्रान्त)
समाधिमरण - 17 मई 1944 ज्येष्ठ बदी दशमी
स्थान - सागवाड़ा (राजस्थान)

परमपूज्य आचार्य 108 श्री सूर्यसागरजी महाराज

जन्म तिथि - कार्तिक शुक्ला नवमी वि॰सं॰ 1940 (सन् 1883)
जन्म स्थान - प्रेमसर, जिला - ग्वालियर (म॰प्र॰)
जन्म नाम - श्री हजारीलाल जैन
पिता का नाम - श्री हीरालालजी जैन
माता का नाम - श्रीमती गैंदाबाई
ऐलक दीक्षा - वि॰स॰-1981 (सन् 1924) (आ॰ शान्तिसागरजी)
स्थान - इन्दौर (मध्य प्रदेश)
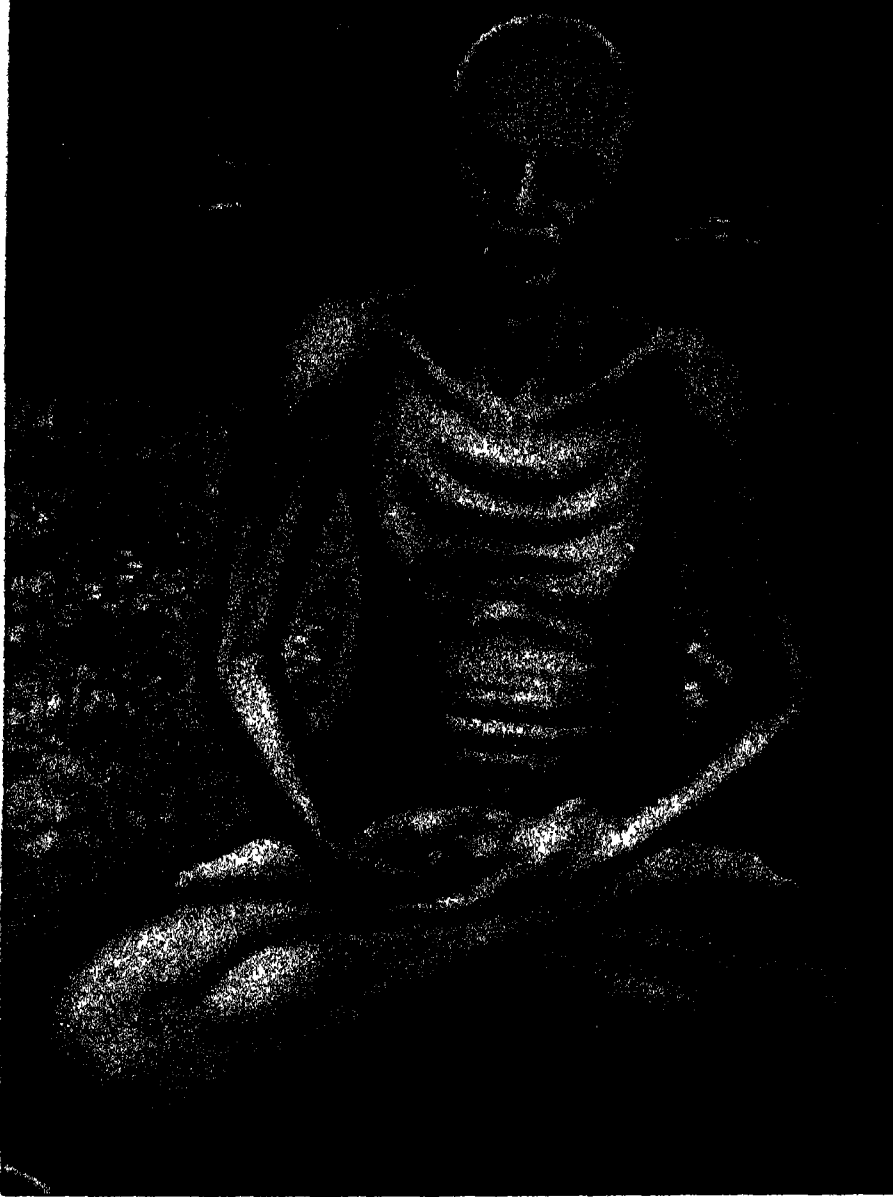
मुनि दीक्षा - 51 दिन पश्चात् आचार्य शान्तिसागरजी (छाणी)
स्थान - हाटपीपल्या, जिला - देवास (म.प्र.)
आचार्य पद - वि॰ स॰ 1985 (सन् 1928)
स्थान - कोडरमा (झारखण्ड)
समाधिमरण - वि॰ स॰ 2001 (14 जुलाई 1952)
स्थान - डालमिया नगर (झारखण्ड)
साहित्य क्षेत्र में - 33 ग्रन्थों की रचना की।

108 आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज (हस्तिनापुर वाले)

संक्षिप्त जीवन परिचय
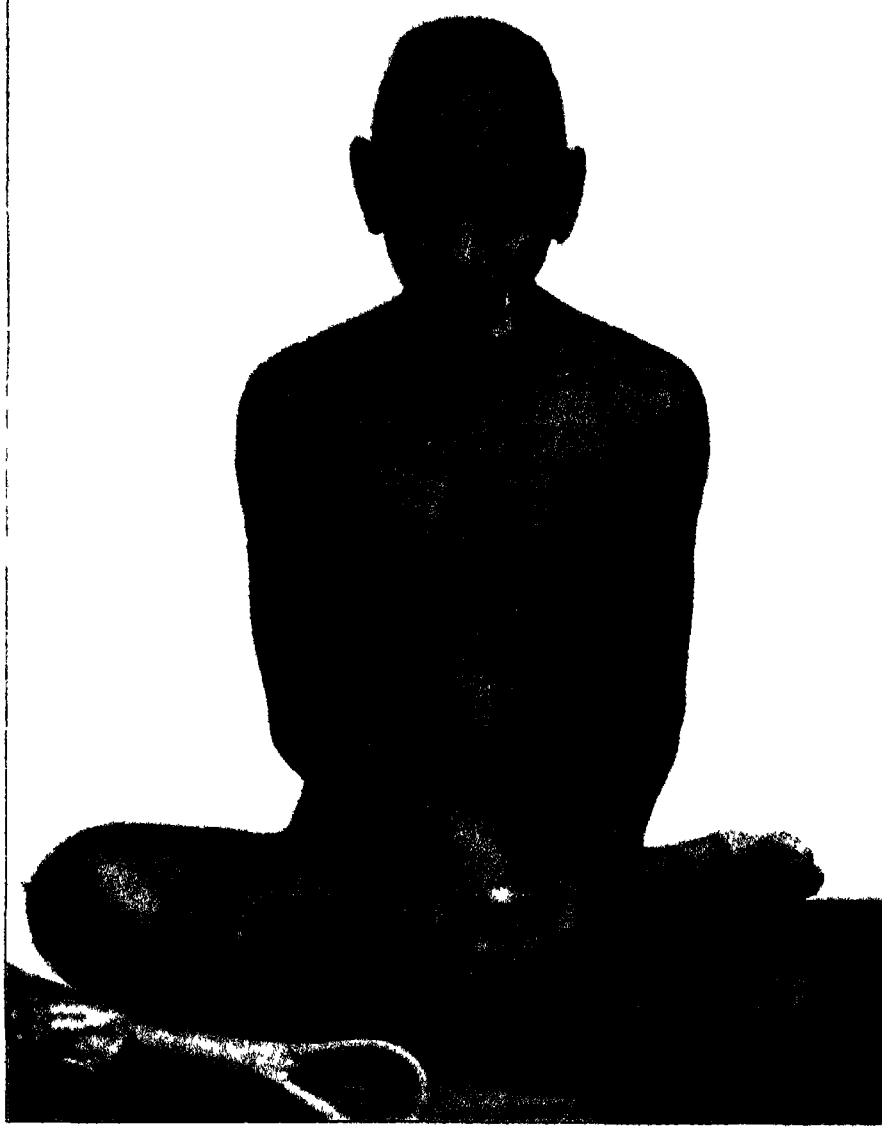
जन्म दिवस	-	श्रावण शुक्ल 2, वि०स० 1972
गृहस्थ नाम	-	सुखराम
जन्म स्थान	-	ग्राम अलावडा (अलवर) राज०
माता	-	श्रीमती चन्दना जी
पिता	-	श्री छोटेलाल जैन
धर्मपत्नी	-	श्रीमती चन्द्रकला जैन
ब्रह्मचर्य	-	वि० स० 2012 में
मुनि दीक्षा	-	मुजफ्फरनगर में सम्वत् 2028 में आचार्य 108 श्री निर्मलसागर जी महाराज से
आचार्य पद	-	दिनांक 3.11.1979 को हस्तिनापुर में आचार्य 108 श्री जयसागर जी महाराज के आशीर्वाद एवं अनुमोदन से
समाधि	-	सन् 1996 में, फिरोजपुर झिरका (हरियाणा)

108 आचार्य श्री धर्मभूषण जी महाराज के संघ की आचार संहिता

1. संघ के साथ कोई आर्यिका, क्षुल्लिका व ब्रह्मचारिणी नहीं रहेगी।
2. संघ के त्यागीगण आहार व विहार के समय किसी भी प्रकार के बाज साज नहीं बजने देंगे।
3. कोई भी त्यागी अपनी जन्म-तिथि व दीक्षा-तिथि नहीं मनवायेंगे।
4. संघ के आहार के पश्चात् किसी प्रकार का प्रसाद नहीं बटेगा।
5. किसी भी संस्था या मन्दिर निर्माण के लिए, संघ का कोई भी त्यागी चंदा एकत्रित नहीं करेगा।
6. आचार्य पुष्पदन्त, भूतबली एवं कुन्दकुन्द -आम्नाय के किसी भी ग्रन्थ का (चाहे वह कहीं से भी प्रकाशित हो) निषेध नहीं किया जायेगा और न ही जिनवाणी माँ का अपमान होने देंगे।
7. अग्नि में धूप डालना, दीपक से आरती उतारना, निर्वाण दिवस के दिन किसी भी प्रकार का मीठा लड्डू चढ़वाना, सामग्री में हार-सिंगार के फूल का प्रयोग, पंचामृत एवं स्त्री द्वारा अभिषेक, भगवान को चंदन लगाना व हरे फूल एवं फल चढ़ाना, इन बातों का इस संघ में कोई समर्थन नहीं होगा।
8. कोई भी संघस्थ त्यागी वीतराग भगवान के सिवाय पद्मावती, क्षेत्रपाल व अन्य किसी भी देवी-देवताओं का किसी भी प्रकार से प्रचार-प्रसार नहीं करेगा।
9. आहारचर्या के समय किसी भी संघस्थ त्यागी का हरे सचित्त फलों से पड़गाहन नहीं होगा।
10. किसी भी संघस्थ त्यागी की दीपक आदि द्वारा आरती नहीं होगी।
11. पिच्छीधारी किसी भी त्यागी को वाहन का उपयोग करने की आज्ञा नहीं होगी।
12. संघस्थ कोई भी साधु अपने पास पिच्छी, कमण्डल व शास्त्र के अलावा अन्य किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखेगा।
13. रात्रि में तेल–मालिश का निषेध होगा।
14. संघ में पंखा, कूलर व हीटर, टेलीफोन, मरकरी, लाईट, एयर कंडीशन और मच्छरदानी एवं इसी प्रकार के अन्य साधनों का कोई भी त्यागी उपयोग नहीं करेगा।
15. आचार्य श्री की आज्ञा के बिना संघ में कोई कार्य नहीं होगा।
16. त्यागियों द्वारा महिलाओं से चरणस्पर्श कराना वर्जित है। सूर्यास्त के पश्चात् महिलाओं का मुनियों के पास आना वर्जित है।
17. संघ के साधुओं द्वारा नकली दाँत लगाकर आहार लेना व दातार द्वारा नकली दांत लगाकर देना दोनों वर्जित हैं।
18. संघ के कोई भी त्यागी हल्दी, टमाटर, पपीता, भिण्डी, तरबूज, पत्ती वाली वनस्पति, आड़ू, लीची व टाटरी आदि का उपयोग नहीं करेंगे व गैस व कुकर का बना भोजन नहीं लेंगे।
19. संघ का कोई भी त्यागी ऐसे मंच पर नहीं जायेगा जहां हरे फूलों का उपयोग किया गया हो।
20. संघस्थ साधुओं (मुनियों, ऐल्लक, क्षुल्लक) के केशलुञ्च का कोई समारोह नहीं होगा एवं इसकी कोई पत्रिका भी नहीं छपेगी।
21. संघ का पिच्छीधारी कोई भी साधु रथयात्रा के साथ नहीं चलेगा व संघ में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा साथ नहीं रहेगी।
22. कोई भी साधु व्यक्तिगत कुटिया या मठ बनाकर नहीं रहेगा एवं सामाजिक स्थान उपलब्ध होते हुए किसी श्रावक के निवास स्थान पर नहीं ठहरेंगे।
23. संघ में कोई भी शिथिलता (जैसे-समय पर सामायिक, प्रतिक्रमण, भक्ति व स्वाध्याय न करना किसी भी प्रकार की विकथा करना) सहन नहीं होगी। अगर कोई त्यागी नियम के विपरीत क्रिया करेगा तो उसे पद छोड़कर जाना होगा।
24. समाज के पक्ष विपक्ष आदि में नहीं उलझना, स्वयं आत्मकल्याण में लगे रहना तथा समाज के लोगों को भी आत्मकल्याण के लिए प्रेरित करना।
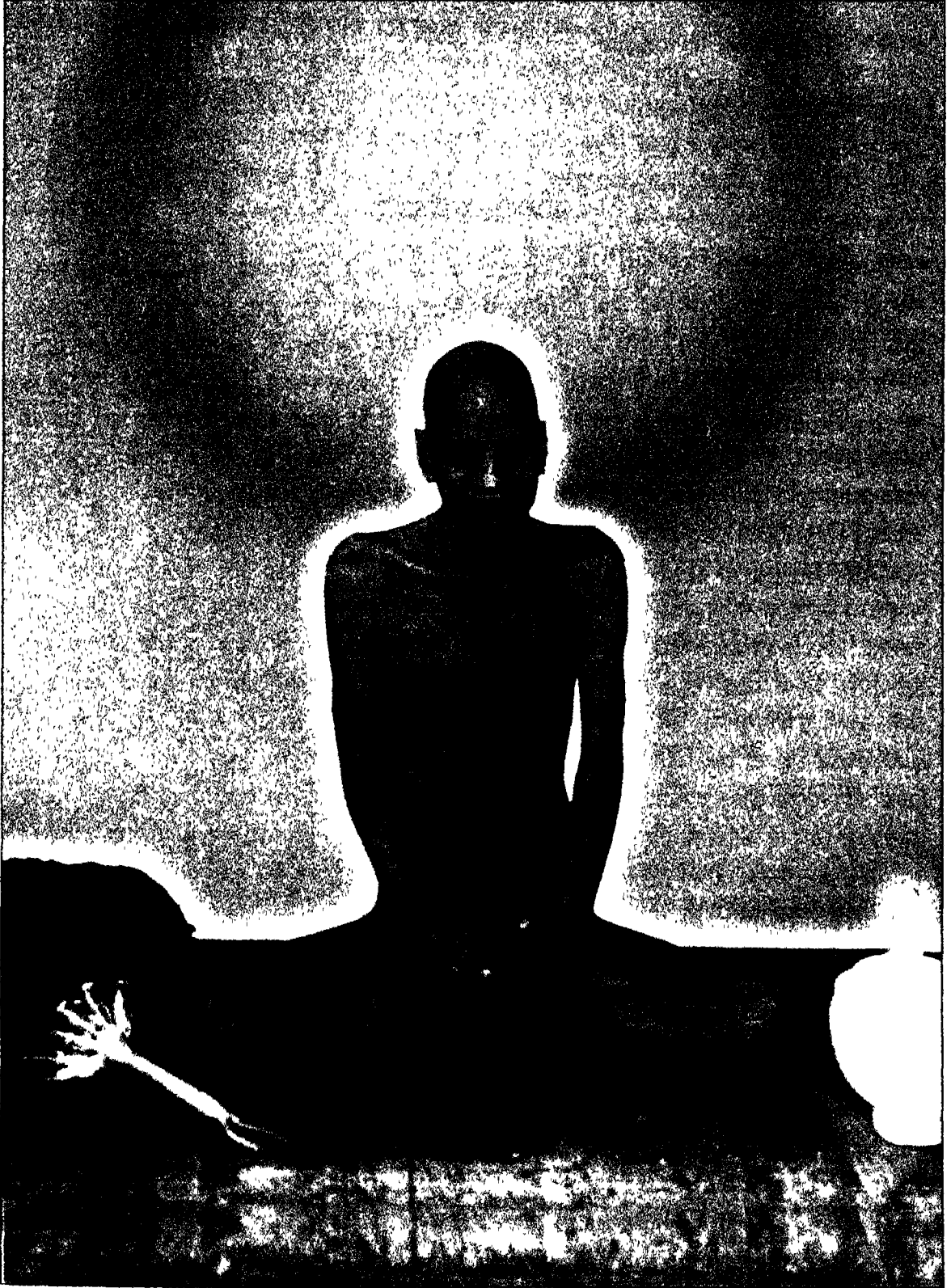
108 आचार्य श्री धर्मभूषणजी महाराज

जीवन परिचय

सभ्यता एवं संस्कृति की भूमि, कौरव पाण्डवों की कर्मस्थली, भगवान ऋषभदेव की विहारस्थली, तीर्थङ्करों की कल्याणक भूमि के रूप में प्रसिद्ध धर्मनगरी हस्तिनापुर की प्राकृतिक सुषमा का निकटस्थ साक्षी ग्राम करनावल (मेरठ) पूज्य आचार्य 108 श्री धर्मभूषण महाराज जी की पवित्र जन्म स्थली है। एक लघु शिशु को माता श्रीमती हुकमा देवी जी और पिता श्री डालचन्द्र ने 65 वर्ष पूर्व जन्म दिया था। 2 पुत्रों (श्री सलेक चन्द्र जैन एवं श्री रूपचन्द्र जैन) तथा दो पुत्रियो (श्रीमती कमला देवी एवं श्री जयमाला जैन) के साथ ही पुत्र प्रेम चन्द्र खेले, पले और बढ़े। पिताजी की आशीष छाया बहुत कम समय साथ रही। दोनों भाईयों ने ही प्रेमचन्द को पिता तुल्य वात्सल्य प्रदान किया। किसे ज्ञात था कि वह लघु शिशु एक तेजस्वी दिव्यात्मा है जो भविष्य में विश्व के कल्याण और सुरक्षा हेतु अपना सर्वस्व त्याग देगा। बाल्यावस्था से ही आप धुन के धनी, अपूर्व साहस से सयुक्त और कुछ कर दिखाने की भावना से ओतप्रोत थे। युवावस्था में भी उनकी स्वतंत्र चिन्तनधारा निष्काम साधना की ओर अग्रसर थी, दिनरात यही चिन्तन करते रहते थे कि इस अमूल्य मानव जीवन को किस प्रकार आत्मविकास के मार्ग पर अग्रसर किया जाय। माता-पिता का दिया नाम "प्रेम" उनके अन्तरग और रोम रोम में बसा हुआ था। युवा प्रेमचन्द ने 15 वर्ष की आयु में विवाह भी किया। पत्नी शीलवती एव धर्म परायणा थी। दो संतानें भी हुई पुत्र आदीश जैन और पुत्री अंजना जैन। अनमने मन से व्यापार भी किया लेकिन पूर्व जनित सस्कार इस मध्य में भी उनके साथ रहे। श्रावक के षट्कर्मो का नियमित पालन करते हुए, साधुओ की वैय्यावृत्ति में आपको विशेष आनन्द आता था। पुत्री जब गर्भ मे थी तभी आजीवन ब्रह्मचर्य लेकर गृहस्थ जीवन को सांकेतिक तिलांजलि दे दी तथा 17 वर्ष की अवस्था मे ही आपने 108 आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज से संयम ले लिया।

कपड़ा का व्यवसाय भी किया पर वणिक् वृत्ति से नही, मात्र गृहस्थ धर्म का पालन करने हेतु पूर्ण ईमानदारी से। गृहस्थ अवस्था में वे सदैव यही ध्यान रखते थे कि शाश्वत सुख के लिए राग से विराग की ओर बढ़ना है, अगारी से अनगारी बनना है। गृहस्थ जीवन में रहते हुए वे कर्तव्यनिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता भी रहे। करनावल वाले विभिन्न क्षेत्रो में प्रदत्त आपके अवदान का आज भी स्मरण कर रोमाचित हो जाते हैं। एक बार सरकारी योजना बनी कि करनावल में स्थित तालाबो मे मछली पालन होगा, यह प्राणीमात्र के प्रति करुणा भाव रखने वाले संवदेनशील प्रेमचन्द्र जी को कैसे सहन होता कि उनकी मातृभूमि पर यह नृशंस कार्य हो, उन्होंने पुरजोर विरोध किया और प्रशासन की इस योजना को निरस्त कराया। देखने में भले ही कृशकाय थे पर रहे अतुल बलशाली। एक बार गाँव में डाकू आ गए प्रेमचन्द ने अपूर्व सूझबूझ और शक्ति का परिचय दिया और डाकुओं को गाँव से बाहर खदेड़ा। न जाने

ऐसे कितने प्रसंग इनके जीवन के साथ संलग्न हैं। सच में जब व्यापार भी उत्कर्ष पर था और छोटी बेटी और बेटे किशोर भी नहीं हुए थे तभी आचार्य 108 श्री विमलसागर जी महाराज से स्वीकृत आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का वर्षों तक निरतिचार शीलव्रत का पालन करते हुए मिति फाल्गुन सुदी दशमी वि.स. 2037 में 15 मार्च 1981 को रामपुर मनिहारान (सहारनपुर) में समाधि सम्राट आचार्य प्रवर गुरु 108 श्री शांतिसागर जी महाराज से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की और आप ब्र० प्रेमचन्द से पूज्य 105 श्री क्षुल्लक कुलभूषण जी बन गए। संभवत: आचार्य श्री शांतिसागर जी (हस्तिनापुर वाले) भी भली भांति जानते थे ऐसे तेजस्वी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व का धनी शिष्य ही मेरे कुल का अलंकरण हो सकता है, जैसे शिष्य वैसे ही गुरु और जैसे गुरु वैसे ही शिष्य। न जाने कितने वर्ष प्रेमचन्द्र जी ने छाया की भांति रहकर गुरुचरणों में व्यतीत किए थे। सुयोग्य गुरु को सुयोग्य शिष्य का मिलना सहज नहीं होता। प्रारम्भ से ही सम्पूर्ण जैन समाज को प्रसन्न और समृद्ध देखने की ही आपकी भावना रही है और अब तो पूर्णतया समाज के ही मध्य हैं।

उत्तर प्रदेश, हरियाणा, दिल्ली आदि जितने भी प्रदेशों में आचार्य श्री के चातुर्मास अथवा विहार हुए वहाँ-वहाँ उनके आशीर्वाद ने मूर्त रुप लिया है। हरियाणा प्रान्त के अम्बाला नगर में त्यागी भवन, गन्नौर में शिखर युक्त मन्दिर, धर्मशाला, आचार्य श्री शान्तिसागर हाईस्कूल व डिग्री कालेज, औषधालय, गुहाना में जैन इण्टर कालिज, सोनीपत में त्यागी भवन, जैन पाठशाला का विकास एवं मन्दिर का जीर्णोद्धार, हांसी में भूगर्भ से प्राप्त 57 प्रतिमाएं स्थापित करने हेतु भूमि प्राप्त कर मन्दिर निर्माण, उत्तर प्रदेश में- गाजियाबाद में पक्षी चिकित्सालय एवं श्री शांतिनाथ पब्लिक स्कूल (निर्माणधीन), कैराना में त्यागीभवन, धर्मशाला एवं श्री मन्दिर जी का जीर्णोद्धार, सरधना में कुन्दकुन्द जिनवाणी भवन (शहर), कुन्दकुन्द अतिथि भवन (मण्डी), बावली में औषधालय एवं पाठशाला का विकास, छपरौली (मेरठ) में श्री दि. जैन मन्दिर जी का जीर्णोद्धार, रथ निर्माण, औषधालय, धर्मशाला, त्यागी भवन, प्राइमरी स्कूल, गर्ल्स डिग्री कालेज, रामपुर मनिहारान (सहारनपुर) में त्यागी भवन निर्माण एवं श्री सुपार्श्वनाथ दि. जैन मन्दिर का जीर्णोद्धार, नकुड (सहारनपुर) में त्यागी भवन निर्माण तथा राजधानी दिल्ली के उपनगरों- शाहदरा गली नं. 10 में त्यागी भवन, कैलाश नगर में त्यागी भवन एवं धर्मशाला निर्माण आशोक विहार फेज - 1 में त्यागी भवन का विकास, दिलशाद गार्डन में विशाल भव्य जैन मन्दिर आपकी ही पावन प्रेरणा एवं मंगल आशीष का अमृत फल है। शिक्षा के प्रति आपका अनुराग विशेष है। आपकी प्रेरणा से ही गन्नौर (हरियाणा) का विद्यालय तो भारत का वह पहला विद्यालय है जहाँ शिक्षक, विद्यार्थी और कर्मचारी विद्यालय में चमड़े का उपयोग नहीं करते।

महापुरुषों के साथ संघर्ष और उपसर्ग तो संभवत: अपनी उग्रता दिखाये बिना नहीं रहते, ब्रह्मचारी अवस्था से ही उपसर्ग आपके साथ रहे। एक बार चिलकाना में मधुमक्खियों ने भंयकर आक्रमण किया। सारा समाज दु:ख में डूब गया पर आपने शान्ति से, सहजता से उपसर्ग को सहा। शारीरिक, वैचारिक किसी भी प्रकार की विपरीतता में आप धैर्य नहीं छोड़ते। आप तो अहर्निश यही सोचते हैं कि मानव मात्र के लिए ऐसी कौन सी व्यवस्था दी जाए जिससे वह भी शांति के वातावरण में जीवन यापन कर सके। ग्राम से लेकर विश्व तक के लिए शांति का सुखद वातावरण निर्मित किया जाय जिससे विषमता

की धू-धू करती ज्वालाएं शांत हो सकें। उनके अन्तरंग में एक संवेदनशील हृदय धड़कता है जिसमें करुणा का सागर हिलोरे लेता है, इसलिए तो क्षुल्लक बनकर भी वे संतुष्ट नहीं हुए और सम्पूर्णता के लिए प्रयत्नशील रहे। लंगोटी और चादर भी परिग्रह है, बोझ है, भार है यह समझकर एक दिन श्री 108 आचार्य शान्तिसागर जी महाराज (हस्तिनापुर वालों) से गन्नौर मण्डी, जिला सोनीपत (हरियाणा) में चैत्र वदी 15 सम्वत् 2051 (10 अप्रैल सन् 1994) को लंगोटी के भार से भी निर्भार होकर बन गए पूज्य मुनि 108 श्री धर्मभूषण जी महाराज और समृद्ध कर दी वह पुनीत पावन परम्परा जिसके संवाहक **श्रमणरत्न संतशिरोमणि चारित्र रत्नाकर 108 श्री शांतिसागर जी "छाणी"** आचार्य श्री सूर्यसागर जी, आचार्य श्री जयसागर जी और आचार्य श्री शांतिसागर जी (हस्तिनापुर) महाराज हैं। उर्जस्वित, पवित्र और प्राणवंत होती इस सशक्त विरासत के ही उत्तराधिकारी पट्ट शिष्य हैं **श्री आचार्य 108 श्री धर्मभूषण जी**। मुनिदीक्षा के समय इस भव्यात्मा के धर्मपिता और माता बनने का सौभाग्य मिला श्री मूलचन्द जी जैन मेरठ एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सरला देवी को। पूज्य मुनि श्री की साधना अनवरत चलती रही और मुजफ्फरनगर (उ० प्र०) में ज्येष्ठ सुदी 3 सम्वत् 2054 (8 जून 1997) को उन्हें आचार्य पद प्रदान किया गया। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गौरव **प्रथम आचार्य श्री धर्मभूषण जी** सम्पूर्ण भारत में आज अपनी कठोर तपश्चर्या और सैद्धान्तिकता के कारण विख्यात हैं। वस्तुत: श्रमणत्व पूज्य आचार्यश्री से धन्य हुआ है। आपके द्वारा 108 मुनि श्री ज्ञानभूषण जी को 8 जून 1997, मुजफ्फरनगर में, 108 मुनि श्री सम्यक्त्वभूषण जी को 10 मार्च 2000, मेरठ में, 108 मुनि श्री चारित्रभूषण जी को 10 मार्च 2000, मेरठ में मुनि दीक्षा प्रदान की गई। आपकी पावन प्रेरणा से श्रीमति गुणमाला जैन (अम्बाला), श्रीमति कमला जैन (रामपुर मनिहारन) सातवीं प्रतिमा के व्रत स्वीकार कर चुकी हैं तथा श्री कैलाश चन्द्र एवं रिपुदमन ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर संयम मार्ग पर अग्रसर हैं। श्री शिखर चन्द्र जैन ने आपसे ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया और अब मुनि नियमभूषण जी बनकर आपके ही संघ में विराजमान हैं। आपके द्वारा और भी अनेक गृहस्थ अपने जीवन को संयम मार्ग पर लगा रहे हैं।

चातुर्मास

क्षुल्लक अवस्था में आपके चातुर्मास सन् 1981 में अम्बाला छावनी, सन् 1982 में गोहाना (हरियाणा), सन् 1983 में गन्नौर मण्डी (हरियाणा), सन् 1984 में छपरौली (मेरठ), सन् 1985 में ग्राम बावली (मेरठ), सन् 1986 में काँधला (मुजफ्फरनगर) सन् 1987 में कैलाशनगर, (दिल्ली), सन् 1988 में सोनीपत (हरियाणा), सन् 1989 में हाँसी (हरियाणा), सन् 1990 में छपरौली (मेरठ), सन् 1991में अम्बाला छावनी, सन् 1992 में रामपुर मनिहारन (सहारनपुर), सन् 1993 में कैराना (मुजफ्फरनगर) में हुए। मुनि अवस्था में सन् 1994 में कैलाशनगर (दिल्ली), सन् 1995 में अशोक नगर (दिल्ली), सन् 1996 में रामपुर मनिहारन (सहारनपुर), सन् 1997 में कैराना (मुजफ्फरनगर), सन् 1998 में गाजियाबाद, सन् 1999 में गन्नौरमण्डी (हरियाणा), सन् 2000 में सरधना नगर, सन् 2001 में रामपुर मनिहारन (सहारनपुर) तथा सन् 2002 में गाजियाबाद नगर आपके चातुर्मास सम्पन्न कराने का गौरव प्राप्त कर चुके हैं।

आचार्यश्री की प्रमुख विशेषता है प्राणी मात्र के प्रति समभाव और सहृदयता। वे संत हैं, तुलसी ने लिखा है 'संत हृदय नवनीत समाना' नवनीत का गुण यही है कि वह स्वयं तो कोमल, स्निग्ध और शीतल है ही बाहर का जरा सा ताप मिलते ही द्रवित भी हो जाता है, इसी तरह आचार्य श्री भी सांसारिक दु:ख से दु:खी प्राणियों को देखकर उनके कल्याण के लिए द्रवित हो जाते हैं। विचारों की उर्जस्वित धारा, पवित्र चिन्तन और दृढ़ संकल्प के साथ गुरुवर ने भारत के विभिन्न प्रान्तों को अपनी चरण रज से पवित्र किया है।

जिनवाणी के प्रति आपका अनुराग अनन्य है आपकी प्रेरणा से नगर-नगर में आगम संरक्षण एवं जिनवाणी जीर्णोद्धार हुआ है आपकी प्रेरणा से आचार्य श्री सूर्यसागर जी द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ **'संयम प्रकाश'** के चार भाग तथा **'श्रावकधर्म'**, **लघु पद्मपुराण**, **जैनधर्म की प्राचीनता**, **भक्तामर स्तोत्र**, **आत्मप्रबोध** आदि ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, **प्रश्नोत्तरी**, **श्रद्धापुष्प** और **जैन गणित** आपकी स्वतन्त्र रचनाएं हैं।

वर्तमान में आचार्य श्री ने द्वादश वर्षीय सल्लेखना धारण की हुई है सात वर्ष शेष हैं। जिसके उत्तरोत्तर तप त्याग में वृद्धि करते हुए सम्प्रति वे श्रमणधर्म को गौरवान्वित कर रहे हैं। आचार्य श्री के संघ के सभी त्यागी निर्दोष तपश्चर्या का पालन करते हैं। पूरे संघ का चारित्र हमारे लिए अनुकरणीय है।

मूलोत्तर गुणनिष्ठ, दृढ़ चारित्र पालक, महान् साधक, दिगम्बर सन्त पूज्य आचार्यश्री का चिरकाल तक ज्ञानपिपासुओं को ज्ञानामृत का लाभ मिलता रहे ऐसी हम भावना करते हैं।

प्रकाशकीय

भारत की राजधानी दिल्ली के समीपस्थ औद्योगिक नगरी गाजियाबाद में परमपूज्य आचार्य 108 श्री धर्मभूषण जी महाराज का पावन वर्षायोग हमारे शतसहस्रपुण्यों का अमृत फल रहा। अपनी सैद्धान्तिक दृढ़ता और निर्दोष तपश्चर्या के पालन के लिए विख्यात आचार्य श्री के चरण सामीप्य में आने के पश्चात् हमने देखा संघस्थ ब्रह्मचारी गण कतिपय डायरियों में कुछ लिखते रहते हैं। एक दिन हमने पूछा ब्र॰ जी आप रात दिन क्या लिखा करते हैं। ब्र॰ जी बोले- पूज्य आचार्य श्री सदैव ज्ञान पिपासु एवं स्वाध्याय प्रेमी रहे हैं। कुछ डाँयरियाँ तो इनके द्वारा किए गए संकलन की हैं एवं कुछ हमने गुरुदेव के प्रवचनों को संग्रहीत किया है जिनको हम व्यवस्थित कर रहे हैं इनसे हमारा ज्ञानोपार्जन भी ही रहा है साथ ही आचार्य श्री संघ के विशेष नियमों और सिद्धान्तों को लिख देने से परम्परा में भी इनका पालन होता रहेगा। हमे भी लगा ब्रह्मचारी जी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। आचार्य श्री के प्रवचनों और संघ के सिद्धान्तों को तो स्थाई रूप से लिखित करके रखना ही चाहिए। हम सबने बैठकर सर्वप्रथम निर्णय लिया कि यदि इन सब प्रवचनों/संकलनो को सुव्यस्थित कराके जैन समाज, गाजियाबाद द्वारा प्रकाशित कर दिया जाय तो यह समाज के लिए बहुत उपयोगी रहेगा तथा समाज की धरोहर बन जाएगे ये ग्रन्थ। हमने पूज्य आचार्यश्री जी से अपनी भावना अभिव्यक्त की, कुछ संकोच के साथ उन्होंने यह आदेश देते हुए स्वीकृति दी "भाई देखो मैं सदैव नाम ख्याति से दूर रहा हूँ प्रकाशन ऐसा हो जिससे हमारी परम्परा व संघ की गरिमा यथावत् रहे कहीं भी ऐसा न लगे हम अपने नाम के लिए आज्ञा दे रहे हैं।" हमने उन्हें पूर्ण आश्वस्त किया। अब समस्या यह थी कि यह लगभग 2000 पृष्ठों का विशाल, अत्यधिक श्रम साध्य कार्य सैद्धान्तिक एवं प्रमाणिकता सम्पन्न कैसे हो क्योंकि यह कार्य जैनदर्शन हिन्दी संस्कृत के अध्येता के साथ जैनत्व एवं गुरुओं के लिए समर्पित विद्वानों के बिना संभव नहीं हो सकेगा। हमें भी समाधान मिल गया। इसके लिए हमने हमारे नगर में विद्यमान डॉ॰ नरेन्द्रकुमार जैन और डॉ॰ नीलम जैन से अनुरोध किया कि वे अपना अमूल्य समय हमें देकर समाज की ग्रंथ प्रकाशन की प्रबल भावना को साकार कर कृतार्थ करें। दोनों विद्वानों ने सहर्ष अपनी सहज स्वीकृति प्रदान की। हम दोनों विद्वानों के प्रति सर्वप्रथम आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने नि:स्वार्थ भाव एवं अत्यधिक निष्ठा से इस महनीय कार्य को सम्पादित कर ग्रंथों को श्लाघनीय स्वरूप प्रदान किया। एतदर्थ हम दोनों नि:स्पृह विद्वद्रत्नों के अत्यन्त-कृतज्ञ एवं उनके प्रति श्रद्धावनत हैं।

आचार्य श्री की भावना है कि सरल भाषा में लिखे गये ये ग्रन्थ जन-जन तक पहुँचें और वे इनका सदोपयोग करें इसलिये इन ग्रन्थों को लागत मूल्य से आधे मूल्य पर उपलब्ध कराने का निर्णय लिया गया है। सभी दानवीरों की सूची इन ग्रन्थों के पिछले पन्नों पर छपी हुई है।

इस सुकृत्य के लिए ग्रन्थों के तीनों भागों के प्रकाशन हेतु द्रव्य प्रदान करने वाले धर्म परायण बन्धु भी श्लाघ्य हैं। धार्मिक समाज की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी कम हैं क्योंकि उसके प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष सहयोग से ही आज जैनदर्शनसार के तीनों भाग प्रकाशित होकर स्वाध्यायार्थ सम्मुख हैं।

कुशल मुद्रक श्री रवि जैन, दीप प्रिण्टर्स ने यथासमय सुन्दर छपाई में ग्रंथ मुद्रित कर हमें सौंप दिए। एतदर्थ उन्हें हमारा हार्दिक धन्यवाद।

अन्त में, सभी स्वाध्याय प्रेमी इस कृति से लाभन्वित हों, ऐसी भावना के साथ परम पूज्य आचार्य श्री के चरणों में त्रिधा नमोऽस्तु करते हुए हम अपने निवेदन पूर्ण करते हैं।

डी.के. जैन, अध्यक्ष
रवि कुमार जैन, मंत्री
श्री दि. जैन मन्दिर समिति
कविनगर (गाजियाबाद)

बी.डी.जैन
प्रबन्ध संयोजक

सम्पादकीय

युगद्रष्टा, युगशिल्पी एवं श्रमणसंस्कृति के समर्थ संवाहक, चारित्र चूड़ामणि परम पूज्य 108 आचार्य प्रवर श्री शान्तिसागर जी 'छाणी' की गौरवमयी परम्परा के यशस्वी संवर्द्धक 108 आचार्य श्री धर्मभूषण जी महाराज वर्तमान में ऐसे गरिमामण्डित श्रमणरत्न हैं, जो अपनी कठोर निर्दोष मुनिधर्मचर्या एवं आगमसम्मत सैद्धान्तिक धर्मचर्चा से सर्वत्र विख्यात हैं। 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' के जीवन्तरूप आचार्य श्री गृहस्थ जीवन से अपने निरन्तर चिन्तन, मनन तथा आचरण द्वारा अपनी अन्तश्चेतना की उन गहराईयों में स्थापित रहे जहां से उनकी आत्मानुभूति परिष्कृत होकर उदात्त साधना से आत्मिक विकास के सोपानों पर उर्ध्वारोहण हेतु अनवरत गतिमान रही। स्वाध्याय, साधु संगति एवं वैय्यावृत्ति के पावन-परस से विकास पथ की समस्त बाधाओं एवं व्यवधानों से परे शान्ति, पवित्रता, कल्याण, सद्भावना तथा सद्विचार कोष से अक्षयदान करते हुए दिव्य एवं चरम सत्य से अनुप्राणित सद्गृहस्थ, श्रेष्ठ श्रावक की समस्त क्रियाओं के समुचित अनुपालन के साथ जीवन के परम साध्य उस अन्तर्रात्मा में रम गए, जो मानव उन्नति की पराकाष्ठा है एवं उत्तम पुरुषार्थ की चरम परिणति है।

जैनदर्शन जिन्हें सच्चा साधु, वीतरागी सन्त तथा उत्कृष्ट श्रमण कहता है, गृहस्थ प्रेमचन्द्र ने ब्र० प्रेमचन्द्र, क्षुल्लक कुलभूषण, मुनि धर्मभूषण और आचार्य धर्मभूषण ने खुली खड्ग पर नंगे पांव चलने जैसे कठोर तप के कण्टकाकीर्ण पथ को बहुत विवेक और साधना से तय किया है। शुभ्र आध्यात्म शिखर के ध्यानस्थ योगी और साधक होते हुए भी आचार्य श्री की करुणा एवं वात्सल्य सरिता का पवित्र एवं दिव्य स्रोत प्रतिपल जगतीतल पर प्रवहमान रहता है। मानवता के प्राङ्गण को अभिसिञ्चित करती हुई उनकी करुणा आशीष बनकर हरपल झलकती और छलकती है। प्रत्येक के शीष पर उनके आशीष की छत्रछाया है। समदिक् ऊर्ध्वविकास की भावनाएं उनके रोम-रोम से प्रस्फुटित होती हैं। संसार के दु:खी प्राणियों का चित्त अनायास उस ओर आकर्षित होता है। पं० दौलतराम जी कहते हैं, करुणा को धारण करके ही गुरु संसारी प्राणियों को शिक्षा देते हैं, उपदेश देते हैं 'कहे सीख गुरु करुणा धार'।

आध्यात्म शिखर पर आरुढ़ सन्त कल्पनाओं में नहीं जीता। वह एक आत्मरस में ही लीन रहता है। उसकी वह आत्मलीनता स्वयं प्रकाश रूप है, जो अपनी ही दीप्ति से दैदीप्यमान रहती है, पर का उसे भान नहीं रहता। शरीर के संयोग बने रहने तक उनके आत्मानुभव के विकीर्ण होते प्रकाश पुञ्ज से दूसरे भी प्रकाशित होते हैं। अहिंसा और अनेकान्तात्मक दृष्टि के स्पर्श से परिमार्जित उनकी स्याद्वादमयी वाणी के समक्ष व्यक्ति एकान्त और दुराग्रह का परित्याग कर वस्तुस्थिति को समझने की ओर अग्रसर होता है। शनैः शनैः उसके हृदय में उद्भूत अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का प्रबल प्रवाह वृद्धिगत होता हुआ वीतरागता को प्राप्त करा देता है। वीतरागता की पूर्णता में शिवत्व और

आंशिकता में मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है, क्योंकि ये ही त्रिरत्न हैं। अपरिग्रह सम्यग्दर्शन है, अनेकान्त सम्यग्ज्ञान का प्रतिरूप है और अहिंसा सम्यक् चारित्र है। इन त्रय-रत्नों को अपने जीवन का पाथेय बनाकर अद्यावधि आचार्य धर्मभूषण जी ने मुक्ति पथ पर बढ़ते हुए दिग्भ्रमित जीवों को वीतरागता की ओर उन्मुख किया है।

'वीतरागता' आचार्य श्री के संघ का अटल नियम है। महाव्रती मूलधारा के इसी मार्ग पर चलकर मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। राग और हिंसा को बढ़ावा देने वाली आधुनिक भौतिकता की चकाचौंध का संघस्थ आपके किसी पर भी कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। कूलर, हीटर, मच्छरदानी, फोन, मोबाईल फोन, आदि का प्रयोग संघ में पूर्णत: वर्जित है। केशलुञ्च, दीक्षा दिवस, जन्मदिन आदि का समारोह भी नहीं मनाया जाता। अनेक विद्यालय, इण्टर कालेज, डिग्री कालेज, धार्मिक पाठशालाएं, धर्मशालाएं एवं अस्पताल आचार्य श्री के आशीर्वाद से सञ्चालित हैं, परन्तु उनके नाम से कोई भी संस्था नहीं है। किसी भी संस्थान को केन्द्र बिन्दु बनाकर कभी आपने उसके लिए धनसंग्रह आदि का विकल्प नहीं बनाया, उदार भक्तों ने स्वत: ही आपके वीतराग भाव से प्रेरणा लेकर परकल्याण हेतु उन्हें समृद्ध बनाया। आप इस प्रतिबन्ध के साथ कहीं ठहरते या चातुर्मास करते हैं, जहां धूप खेवन, दीप जलाना, हवन करना, लाईट की सजावट आदि जीवों के घात होने वाली क्रियाएं नहीं होगी। कलिकाल एवं अन्यधर्मों की विकृतियों के गहराते प्रभाव से जिनभक्तों को बचाने के लिए कतिपय महाव्रतियों ने सम्प्रति इन विभिन्न क्रियाकलापों के सम्बन्ध में शिथिलता मूलक उदारता का भी परिचय दिया है, परन्तु आचार्य धर्मभूषण जी ने विषम परिस्थितियों में भी दृढ़तापूर्वक मूल सिद्धान्तों पर ही दृढ़ रहने का उपदेश दिया है।

मिथ्यात्व एवं आगम विरोधी गतिविधियों, क्रियाओं और परम्पराओं में जैनकुल दीपों की अभिलिप्तता के कारण जैन संस्कृति के सितारों के ज्ञान प्रकाश को धूमिल देख आचार्य श्री के हृदय की अजस्र करुणरसधारा आदिकवि की भांति वाणी में अधिष्ठापित हो गयी। साधु जीवन की कठिन, नियमित और संयमित दिनचर्या में उपदेश का समय सीमित है तथा इस कलिकाल में उसका प्रभाव भी स्थायी नहीं, यह जानकर वे अपनी विलक्षण स्वानुभूति को लेखनी के माध्यम से मूर्तरूप देने का प्रयत्न करते रहे। प्रारम्भ से ही आचार्य श्री स्वाध्याय रसिक, उत्कृष्ट क्षयोपशमी एवं विलक्षण धारणा शक्ति सम्पन्न रहे हैं। न जाने कितने श्लोक, गाथाएं, सवैये, भजन, दोहे आदि उनको कण्ठस्थ हैं। पूज्य 108 आचार्य श्री शान्तिसागर जी हस्तिनापुर वालों के इन सुयोग्य शिष्य ने जैसे अन्तरंग की आंख से समयपूर्व ही अनागत देख/पढ़ लिया। यही कारण है कि वे जो पढ़ते, चिन्तन करते अथवा कहीं कोई जनोपयोगी मानव मात्र को सम्यक् पथारूढ़ करने वाला सहज/सरल दृष्टान्त प्राप्त करते उसे तुरन्त नोट कर लेते और देखते देखते, चतुरनुयोग समन्वित सैद्धान्तिक, रूढिभंजक, मिथ्यात्व नाशक वह संग्रह विशाल ग्रन्थ रूप हो गया। शिष्यों का एक विशाल समुदाय अहर्निश अपने गुरु की चर्या का अन्तर्साक्षी था ही, बहु आयामी बनकर वह क्षण भी आया जब उन्होंने भावभीना निवेदन किया - 'गुरुदेव, जब **से आपने सल्लेखना धारण की हमारा मोही मन भयभीत रहता है। हम रागी और लोभी प्राणी हैं, हम चाहते हैं आप अपनी धरोहर हमें सौप दें।** यह हमें ज्ञान समर्थ/सम्पन्न बनाएगी तथा चारित्र

मोहनीय के उदय से जब कभी, हमारे पग डगमगाएंगे, हमें सावधान भी रखेगी।' गुरुदेव अपनी शिष्य मण्डली की प्रार्थना को अस्वीकार नहीं कर सके और उन्होंने अपने भक्तों के अन्तरङ्ग से प्रसूत आग्रह को स्वीकार कर लिया। राग और अहमन्यता के बिना, स्वान्त:सुखाय लिपिबद्ध किया गया अनुभव/संग्रह यदि परकल्याण का कारण बन जाये तो एक सन्त के लिए इससे बढ़कर और क्या प्रसन्नता होगी।

विभिन्न स्थानों पर प्रदत्त आचार्य श्री के प्रवचन, जो अपनी ज्ञानवृद्धि के लिए उनके अन्तेवासी शिष्यों द्वारा लेखनीबद्ध कर लिये गये थे, उनको भी इस ग्रन्थनिधि के साथ संयुक्त कर लिया गया है। इस पुनीत कार्य में अग्रणी आचार्य श्री के साथ छाया की भांति रहते ब्र० रिपुदमन प्रवचनों को व्यवस्थित रूप देते रहते। सुश्री निधि जैन मुजफ्फरनगर ने भी इस ग्रन्थ के संयोजन में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। भारत की राजधानी के समीपस्थ औद्योगिक नगरी गाजियाबाद के मध्य स्थित कविनगर के श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर में आचार्य श्री का पावन वर्षायोग 2002 सभी को कृत्यकृत्य कर गया। इस अवधि में ब्र० राजकुमार जैन, रघुवरपुरा, दिल्ली, बालब्रह्मचारी श्री मुकेश जैन एवं ब्र० रेणु जैन, मेरठ ने अहर्निश अथक प्रयास करते हुए समस्त विषयवस्तु को प्रेस कापी का रूप दे दिया। सौभाग्य से गाजियाबाद में अवस्थित होने के कारण हम लोग भी गुरु आशीष रूपी मेघ की शत-सहस्र धाराओ से अभिसिञ्चित, अभिभूत हो गये। षट्खण्डागम तुल्य इस जैनदर्शनसार ग्रन्थ के ज्ञानकोष से ज्ञानवृद्धि करते हुए अपनी अल्पज्ञता का पूर्ण अनुभव होते हुए भी 'तेरा तुझको अर्पण' की भावना से सपृक्त हो उनके व्यक्तित्व को प्रमुख मानकर विषयगत वैचारिक गम्भीरता के अनुरूप विवेचन को हम लोगों ने 'जस का तस' रखा है।

तीन भागों में विभक्त इस विशाल ग्रन्थ में आचार्य श्री ने प्राय: जैनधर्म-दर्शन की सभी सूत्र सलिलाओं को समाहित किया है। प्रथम भाग में बारह अध्याय हैं। शास्त्र मङ्गलाचरण, विभिन्न ग्रन्थों के मङ्गलाचरण, जिनवन्दना, जिनवाणी स्तुति और गुरुभक्ति के पश्चात् प्रथम अध्याय में वक्ता एवं श्रोता के स्वरूप को विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है कि सच्चे वक्ता तो वीतरागी जिन-अर्हन्त ही है एवं लौकिक वक्ता भी वही हो सकता है जो आकर्षक व्यक्त्वि का धनी, बुद्धिमान और आचार सम्पन्न हो। श्रोता को भव्य, जिज्ञासु, आदि सापेक्षिक दृष्टि वाला होना चाहिए। 'पतित से पावन तक' द्वितीय अध्याय में मानव के प्रकार धर्म, कर्म और पुरुषार्थ पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। तृतीय अध्याय मिथ्यात्व से सम्बन्धित है, जिसमें मिथ्यात्व के भेद, प्रभेदादि की चर्चा पूर्वक बताया गया है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए मिथ्यात्व को कैसे दूर करें। चतुर्थ से अष्टम अध्याय तक क्रमश: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का विशद वर्णन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में सम्यग्दर्शन के चार सोपान, तत्त्वों का श्रद्धान, स्व पर की यथार्थ श्रद्धा और सम्यक्त्वाचरण के बाद यथार्थ श्रद्धान के लिए आवश्यक जीव, अजीव प्रभृति सात तत्त्वों का पंचम अध्याय में स्वतंत्र विवेचन किया गया है। सम्यक्त्व, उसके दोष तथा नि:शंक, नि:कांक्ष, निर्विचिकित्सा आदि आठ अंगों का सदृष्टान्त विवरण षष्ठ अध्याय में है।

सम्यग्ज्ञान नामक सप्तम अध्याय में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप महत्त्व प्रयोजन और प्रमाण-नय के भेद प्रभेदादि की चर्चा के बाद, स्वाध्याय, नौ पदार्थ, स्वपर भेद विज्ञान और स्वसंवेदन ज्ञान के रूप में

सम्यग्ज्ञान के क्रमश: चार सोपानों पर विचार निबद्ध हैं। अष्टम अध्याय में सम्यक् चारित्र का स्वरूप, अणुव्रती-महाव्रती के लिए आवश्यक संयम, अणुव्रत, महाव्रत, दिग्व्रत, देशव्रत आदि के विशेष विवरण सहित सम्यक् चारित्र को अशुभ से निवृत्ति-शुभ में प्रवृत्ति, दर्शन ज्ञान की एकता, समता-शमता और आत्मा में स्थिरता इन चार सोपानों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। नवम अध्याय 'दिगम्बर मुनिराज' में दिगम्बरत्व का स्वरूप, अन्य मतों में दिगम्बर साधु, दिगम्बर मुनिराजों की संख्या आदि बताते हुए मुक्ति के लिए आवश्यक दिगम्बरत्व के महत्त्व का आकलन किया गया है। दशम अध्याय व्रतों से सम्बन्धित है, जिसमें अणुव्रतों और महाव्रतों का विशद विवेचन है। एकादश अध्याय में गृहस्थों के षट् आवश्यक देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान पर आचार्य श्री के विचारों का सटीक प्रतिपादन है। इसमें वर्तमान में प्रचलित कुप्रथाओं, निर्वाण लाडू, दीपक-आरती , अखण्ड ज्योति, आशिका लेना, पञ्चामृत अभिषेक आदि की समीक्षा पूर्वक जिनभक्तों को मूल-आम्नाय से संयोजन हेतु सम्यक् उपासना पद्धतियों पर गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। राग से वैराग्य पथ पर चलकर मुक्ति कैसे प्राप्त करें, इसका सदृष्टान्त विवेचन अन्तिम द्वादश अध्याय में है।

जैनदर्शनसार के द्वितीय भाग में सात अध्याय हैं। ग्रन्थ का प्रारम्भ प्रथम भाग की तरह शास्त्र मङ्गलाचरण और जिनवन्दना से होता है। 'प्रथम अध्याय गुणस्थान' में चौदह गुणस्थानों के स्वरूप, गुणस्थानों में जीवों की संख्या, कर्मोदय सम्बन्धी सामान्य नियम, सत्ता, काल, मरण आदि का विस्तृत विवेचन है। द्वितीय अध्याय मार्गणाओं और ठाणाओं विषयक है। बारह भावनाओं और सोलहकारण भावनाओं का मार्मिक स्पष्टीकरण तृतीय अध्याय में है। धर्म का स्वरूप, उसके उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि दश धर्मो तथा क्षमावाणी का चतुर्थ अध्याय में प्रतिपादन मानव कल्याण के लिए अत्यन्त उपादेय है। पंचम और षष्ठ अध्यायों में क्रमश: षट् लेश्याओं और कषायों का दिग्दर्शन है। पर्व नामक सप्तम अध्याय में रक्षाबन्धन, दीपावली, भगवान महावीर जयन्ती और वीर शासन जयन्ती पर आचार्य श्री के व्याख्यान निबद्ध हैं।

मङ्गलाचरण और जिनवन्दना से 'जैनदर्शनसार' तृतीय भाग का भी प्रारम्भ होता है। इसके प्रथम अध्याय में राम, सीता, सूर और तुलसी आदि के दृष्टान्त देकर मोहनीय कर्म की विचित्रता पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अध्याय में कतिपय शलाका एवं पुराण पुरुषों के चारित्र का प्रतिपादन है। ऐतिहासिक प्रमुख आचार्यों और विद्वानों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का आंकलन तृतीय अध्याय में किया गया है। 'जैन तथा अन्य भारतीय दर्शन' नामक चतुर्थ अध्याय में स्याद्वाद, अनेकान्त, सप्तभङ्गी, द्रव्य, गुण और पर्याय आदि- जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों के विवेचन पूर्वक न्याय, वैशेषिक, योग, चार्वाक आदि अन्य भारतीय दर्शनों का सामान्य परिचय दिया गया है। पंचम अध्याय में पंचपरमेष्ठी का स्वरूप, पांच लब्धियों, भोग से योग की ओर, ज्ञान धारा और कर्मधारा, लोक और संसार में अन्तर, योग नहीं गुप्ति शान्ति कहां, इन्द्रिय अतीन्द्रिय आनन्द में अन्तर, सप्त व्यसन, मूर्ति पूजन तथा ध्यान के स्वरूप पर आचार्य श्री के विचार निबद्ध हैं।

सम्पूर्ण ग्रन्थ के तीनों भागों के अवलोकनोपरान्त हमारे विश्वास को स्थायित्व एवं संबल मिला है कि जिनभक्तों के लिए ये भागत्रय मोक्षमार्ग में रत्नत्रय की तरह सहायक होंगे। उसमें जो भी, जिस रूप

में व्यवस्थित है, वह पूज्य आचार्य श्री की ही भाषा शैली में उनके ही प्रवचनों की लिपिबद्धता है, हम लोगों ने मात्र ग्रन्थ के बहिरङ्ग स्वरूप को ही संवारा है। वैचारिक साम्यता की किन्हीं बिन्दुओं पर हमारी अनिवार्यता नहीं है। आचार्य श्री ने हमें इस विषय में स्वतन्त्र रखा है तथा बार-बार यही आदेश दिया है कि उनकी विचारधारा और सिद्धान्तों को यथावत् ही रखना है। हम लोगों ने भी आचार्य श्री की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया है। यह अवश्य है कि शुद्धिकरण के क्षणों में अपने दृष्टिपथ के साथ हम जब-जब पृष्ठों पर रहे हैं, आचार्य श्री के ज्ञान, चिन्तन, मनन और आचरण से अभिभूत हुए हैं। पूर्ण विश्वास है आचार्य श्री की तपःसाधना की अन्तःप्रेरित दिव्य देशना से सभी उपकृत होंगे।

हम उन सभी बंधुओं के अनुगृहीत हैं जिनकी उदार सहायता के बिना ग्रंथ का कार्य पूर्ण होना असंभव था। प्रारंभ से अंत तक सहयोगी बने रहे श्री मदन लाल जैन, गांधीनगर दिल्ली, श्री बी.डी. जैन, श्री रवि जैन, श्री डी.के. जैन, गाजियाबाद, श्री देवेन्द्रकुमार जैन, सर्राफ, मेरठ इस आयोजन से इतने अभिन्न हैं कि उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मात्र औपचारिकता होगी।

जिन परम पूज्य आचार्यों, विद्वानों के ग्रंथों का कृति को सुव्यवस्थित करने में सहयोग लिया गया है उनके प्रति हम नत-शीश हैं।

दीप प्रिण्टर्स के प्रबन्धक श्री मनोहर लाल जैन तथा उनके कर्मचारियों का भी हम आभार प्रकट करते हैं जिनकी सहायता से ग्रंथ की छपाई इतनी साफ और सुन्दर हो सकी।

पूर्ण सावधानी रखते हुए भी प्रमादवश कहीं सिद्धान्त, व्याकरण, वाक्य विन्यास एवं प्रूफ रीडिंग आदि से सम्बन्धित- त्रुटिंया रह गयी हों उन्हें सुधीजन हम लोगों को अल्पज्ञ समझकर क्षमा करेंगे तथा आवश्यक सुधारकर पढ़ने का कष्ट करेंगे।

महावीर जयन्ती, 2003

— डॉ० नरेन्द्रकुमार जैन

— डॉ० नीलम जैन

अनुक्रमणिका

मङ्गलाचरण

ओं नमः सिद्धेभ्यः

ओं जय जय जय, नमोस्तु! नमोस्तु!! नमोस्तु!!!
णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।
ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमो नमः।।१।।

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्।
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।2।।

।। श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः।।

सकलकलुषविध्वसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं श्री.... नामधेयम्। अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोनुसारमासाद्य श्री.... आचार्येण विरचितम्। श्रोतारः सावधानतया श्रृण्वन्तु।

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्।।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकं।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतुशासनम्।।

मङ्गलाचरण ''मङ्गल'' और आचरण इन दो शब्दों की सार्थक युति है। मङ्गल में दो शब्द हैं 'मं' और 'गल'। 'मं' का अर्थ है विकृति (पाप, अहंकार आदि अन्य विकारी भाव) 'गल' का अर्थ है 'गलना' अथवा नष्ट होना, जिसके आचरण करने से अथवा जिसको जीवन में धारण करने से विकृतियों का समूह विगलित होता है, पाप नष्ट हो जाते हैं जो मुक्ति के लिए उत्साह, प्रेरणा और उमंग देता है वह मङ्गलाचरण है। सभी महान् ग्रन्थों का प्रारंभ मङ्गलाचरण से होता है जिससे वे ग्रन्थ श्रोताओं, रचनाकार एवं वक्ता सभी के जीवन पथ को मङ्गलमय करने में कारण बनें तथा भवसागर पार करने में सहायक हों। मङ्गलाचरण करते ही हमारा उपयोग

लौकिकता से हटकर आध्यात्मिकता की ओर मुड़ जाता है, भाव निर्मल एवं विशुद्ध होते हैं तथा मन भी एकाग्र हो जाता है।

विभिन्न ग्रन्थों के मङ्गलाचरण

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं॥

(समयसार)

नित्य, शुद्ध अनुपम, सिद्धगति को प्राप्त, सर्व सिद्धों को नमन करके मैं श्रुतकेवली कथित समयप्राभृत को कहूँगा।

णिम्मलझाणपरिट्ठिया कम्मकलंक डहेवि।
अप्पा लद्धउ जेण परू ते परमप्प णवेवि॥

(योगसार)

जिन्होंने शुद्ध ध्यान में स्थित होकर कर्मों के मल को जला डाला है तथा उत्कृष्ट परमात्म पद को पा लिया है उन सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करता हूँ।

झाणग्गिदड्ढकम्मे णिम्मलविसुद्धसब्भावे।
णमिऊण परमसिद्धे सु तच्चसारं पवोच्छामि॥

(श्री देवसेनाचार्य तत्त्वसार)

ध्यान रूपी आग से कर्मों को जलाने वाले व निर्मल शुद्ध निज स्वभाव को प्राप्त करने वाले सिद्ध परमात्माओं को नमन करके तत्त्वसार को कहूँगा।

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं॥

(प्रवचनसार)

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि मैं सुर, असुर एवं मनुष्यों से वन्दित, चार घातिया मल से रहित संसार समुद्र से तारने वाले भगवान वर्द्धमान को नमस्कार करता हूँ।

सुर-असुर-इन्द-नरेन्द्र-वंदित कर्ममल निर्मलकरन।
वृषतीर्थ के करतार श्री वर्द्धमान जिन शत-शत नमन॥

सुध्यान में लवलीन हो, जब घातिया चारों हने।
सर्वज्ञ बोध विरागता को, पा लया तब आपने॥

उपदेश दे हितकर अनेकों, भव्य निजसम कर लिये।
रविज्ञान-किरण प्रकाश डालो, वीरप्रभुमेरेहिये॥

घाइचउक्कहँ किउ विलउ णंतचउक्कपदिट्ठु।
तहिं जिणइंदहँ पय णविवि अक्खमि कव्वु सुइट्ठु॥

(योगसार)

जिसने चार घातिया कर्मों का क्षय किया है तथा अनन्तचतुष्टय का लाभ किया है उन जिनेन्द्र के पदों को नमस्कार करके सुन्दर प्रिय काव्य को कहता हूँ।

जे जाया झाणग्गियएं कम्मकलंक डहेवि।
णिच्च णिरंजण णाणमय ते परमप्प णवेवि॥

(श्री योगीन्द्रचन्द्राचार्य परमात्मप्रकाश)

जो ध्यान की आग से कर्म-कलंक को जलाकर नित्य, निरंजन तथा ज्ञानमय हो गये हैं, उन सिद्ध परमात्माओं को मैं नमन करता हूँ।

येनात्मा बुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयानन्तबोधायतस्मै सिद्धात्मने नमः॥

(श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक)

जिसने अपनी आत्मा को आत्मारूप व पर पदार्थों को पररूप जाना है तथा इस भेद विज्ञान से अक्षय व अंनन्त केवलज्ञान का लाभ किया है उन सिद्ध परमात्मा को नमस्कार हो।

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने॥

(पूज्यपादस्वामी, इष्टोपदेश)

सर्व कर्मों का क्षय करके जिन्होंने स्वयं अपने स्वभाव का प्रकाश किया है उन सम्यग्ज्ञान स्वरूप सिद्ध परमात्मा को नमन हो।

हे त्रिभुवन के संकटहर्ता, अगर तुम्हारे में नत मात।
सकलधरा के आभूषण हो, अति निर्मल तुम्हें नमन हो नाथ॥
परमेश्वर हो तीन लोक के मम प्रणाम करलो स्वीकार।
नमस्कार तुमको जिनेन्द्र हे भव समुद्र के शोषणहार॥

जीवमजीवं दव्वं, जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा॥

(द्रव्यसंग्रह)

जिस तीर्थङ्करदेव ने जीव अजीव द्रव्य कहे हैं, इन्द्रों के समूह से नमस्कार करन योग्य उस तीर्थङ्कर प्रभु को मैं (नेमिचन्द्र) सिर झुकाकर हमेशा नमस्कार करता हूँ।

नमः श्री वर्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने।
सालोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्या दर्पणायते।।

(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

जिन्होंने अपनी आत्मा से कर्मों रूपी काजल को नष्ट कर दिया है और जिनके केवलज्ञान में अलोकाकाश सहित तीनों लोक दर्पण के समान झलकते हों उन श्रीवर्धमान स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ।

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावभावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।

(अमृतकलश)

चैतन्य ही है स्वभाव जिसका ऐसे शुद्धात्म स्वरूप पदार्थ को जो अपनी स्वानुभूति से प्रकाशमान होता है तथा जो सम्पूर्ण पदार्थों में भिन्न है उसे नमस्कार करता हूँ।

मङ्गलमय मङ्गलकरण, वीतराग-विज्ञान।
नमो ताहि जातैं भये, अरहंतादि महान्।।

चिदानन्दैकरूपाय, जिनाय परमात्मने।
परमात्मप्रकाशाय, नित्यं सिद्धात्मने नमः।।

(दर्शनपाठ)

चिदानन्दमय एकरूप, वंदन जिनेन्द्र परमात्माको।
हो प्रकाश परमात्मनित्य, मम नमस्कार सिद्धात्माको।।

विधि की विशेषता से, द्रव्य की विशेषता होने से, दाता की विशेषता होने से और पात्र की विशेषता होने से दान में भी विशेषता हो जाती है। प्रतिग्रह उच्चस्थान आदि नवधा भक्ति की क्रियायें हैं, उन्हें आदरपूर्वक करना विधि की विशेषता कहलाती है। भिक्षा में भी जो अन्न दिया जाये वह यदि आहार लेने वाले साधु के तपश्चरण, स्वाध्याय आदि को बढ़ाने वाला हो तो वही द्रव्य की विशेषता कहलाती है।

- चामुण्डराय

जिन-वन्दना

जो मोह माया मान मत्सर, मदन मर्दन वीर है।
जो विपुल विघ्नों बीच में भी, ध्यान धारण-धीर है॥
जो तरण-तारण, भव-निवारण, भव जलधि के तीर है।
वे वंदनीय जिनेश तीर्थङ्कर स्वयं महावीर है॥१॥

जो राग-द्वेष विकार वर्जित, लीन आत्मध्यान में।
जिनके विराट, विशाल निर्मल, अचल केवलज्ञान में॥
युगपद् विशद सकलार्थ झलके, ध्वनित हों व्याख्यान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में॥२॥

जिनका परम पावन चरित, जल निधि समान अपार है।
जिनके गुणों के कथन में गणधर न पावैं पार है॥
बस वीतराग-विज्ञान ही, जिनके कथन का सार है।
उन सर्वदर्शी सन्मति को, वंदना शतबार है॥३॥

जिनके विमल उपदेश में, सबके उदय की बात है।
समभाव समताभाव जिनका, जगत में विख्यात है॥
जिसने बताया जगत को, प्रत्येक कण स्वाधीन है।
करता न धर्ता कोई है, अणु-अणु स्वयं में लीन है॥४॥
आतम बने परमात्मा, हो शांति सारे देश में।
है देशना सर्वोदयी, महावीर के सन्देश में॥

जिनवाणीः स्तुति

वाणी सरस्वती तू जिनदेव की दुलारी, स्याद्वाद नामतेरा ऋषियों की प्राण प्यारी॥
सुर नर नरेन्द्र सब ही तेरी सुकीर्ति गावें, तुम भक्ति में मगन हो तो भी न पार पावें॥
इस गाढ़ मोहमद में हमको नहीं सुहाता, अपना स्वरूप भी तो नहीं मात याद आता॥
ये कर्म शत्रु जननी हमको सदा सताते, गतिचार माहिं हमको नित दुःख दे रुलाते॥
तेरी कृपा से माँ कुछ हम शांति लाभ करले, तुम दत्त ज्ञान बल से निज पर पिछान करले॥
हे मात तुम शरण में हम शीश को झुकावें, दो ज्ञान दान हमको जब लो न मोक्ष पावें॥
वाणी सरस्वती तू जिनदेव की दुलारी, स्याद्वाद नाम तेरा ऋषियों की प्राण प्यारी॥

भगवान महावीर के तीन सिद्धान्त

हम स्याद्वाद का डंका फिर, दुनिया में आज बजायेगें।
प्रभु वीर जिनेश्वर के गुण गा, जग से मिथ्यात्व हटायेगें।।
हठ का हम भूत भगायेंगे, अपेक्षा से समझायेगें।
अनेक गुण हैं वस्तु में, स्याद्वाद से बतलायेगें।।
है एक उमंग भरी दिल में, लहराये अहिंसा का झण्डा।
हो भव्य जीवों से भरी हुई, पृथ्वी को कर दिखलायेगें।।
परिग्रह वृत्ति को दूर भगा, आकिंचन धर्म अपनायेगें।
सिद्धान्त तीन महावीर के हैं, जन जन में हम पहुँचायेगें।।
समंतभद्र जैसा डंका, अकलंक बन आज बजायेगें।
आचार्य कुन्द-कुन्द कह गये, अध्यात्म सुमन संजोयेगें।।
जिन धर्म का बिगुल बजायेंगे, हम दूर हटा कायरता को।
सब छोड़ वृथा झगड़ों को हम, झण्डे की लाज बचायेगें।।

गुरु भक्ति का भजन

है परम-दिगम्बर मुद्रा जिनकी, वन-वन करे बसेरा।
मैं उन चरणों का चेरा, हो वंदन उनको मेरा..........।
शाश्वत सुखमय चैतन्य-सदन में, रहता जिनका डेरा।। मैं उन......।
जहाँक्षमा मार्दव आर्जव सत् शुचिता की सौरभ महके।
संयम तप त्याग आकिंचन स्वर परिणति में प्रतिपल चहके।
है ब्रह्मचर्य की गरिमा से, आराध्य बने जो मेरा।। मैं.........।
अन्तर-बाहर द्वादश तप से, जो कर्म-कालिमा दहते।
उपसर्ग परिषह-कृत बाधा जो, साम्य-भाव से सहते।
जो शुद्ध-अतीन्द्रिय आनन्द रस का, लेते स्वाद घनेरा।। मैं........।
जो दर्शन ज्ञान चरित्र वीर्य तप, आचारों के धारी।
जो मन-वच-तन का आलम्बन तज, निजचैतन्य विहारी।
शाश्वत सुख दर्शक वचन-किरण से, करते सदा बसेरा।। मैं....।
नित समता स्तुति वंदन और, स्वाध्याय सदा जो करते।
प्रतिक्रमण और प्रति-आख्यान कर, सब पापों को हरते।।
चैतन्यराज की अनुपम निधियाँ, जिनमें करें बसेरा।। मैं....।

प्रथम अध्याय : वक्ता एवं श्रोता

वक्ता एवं श्रोता विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रकार के होते हैं। सभी में कतिपय सामान्य विशिष्टताएँ होने पर भी आध्यात्मिक, धार्मिक और दार्शनिक वक्ता और श्रोता के स्वरूप का स्वतंत्र ही वैशिष्ट्य होता है। अल्पज्ञ भी स्वयं को योग्य वक्ता समझकर समाज में घोर छलावा करते हैं। अयोग्य श्रोता भी अल्पज्ञ वक्ता को अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए उपयोगी जानकर उसका बहुसम्मान करते हैं। वस्तुतः स्वकल्याण को अन्तर्निहित किए हुए अपने वक्तृत्व से परे-सब के कल्याण के इच्छुक वक्ता का क्या स्वरूप और योग्यताएँ होना चाहिए, श्रोता कैसा होना चाहिए एवं उसके क्या प्रकार हैं इत्यादि समस्त विषयों पर यहाँ प्रकाश डाला गया है।

वक्ता का स्वरूप

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र॥1॥

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

जिसमें दर्पण के तल की तरह समस्त पदार्थों का समूह अतीत, अनागत और वर्तमान काल की समस्त अनन्त पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होता है, वह सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतनारूप प्रकाश जयवन्त हो।

वक्ताओं के तीन प्रकार –वीतराग भगवान ही सच्चे वक्ता हैं, वे कैसे वक्ता हैं रत्नकरण्ड श्रावकाचार में अचार्य समन्तभद्र कहते हैं–

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान् मुरजः किमपेक्षते॥8॥

शिल्पी के हाथ के स्पर्श से जैसे मृदंग अपनी इच्छा के बिना बजकर अपने आप सुन्दर आवाज से श्रोताओं के मन को प्रसन्न करता है किन्तु उसके बदले में श्रोताओं से कीर्ति पूजा आदि की कुछ भी चाह और राग नहीं करता, उसी प्रकार हितोपदेशी, वीतरागी देव भी भव्य जीवों के पुण्य के निमित्त से बिना इच्छा स्वयमेव हित का उपदेश देते हैं, फिर भी उनके लाभादिक की इच्छा और श्रोताओं पर राग नहीं रहता।

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम्॥9॥

जो वीतराग का कहा हुआ, इन्द्रादिक से भी खण्डनरहित, प्रत्यक्ष व परोक्ष आदि प्रमाणों से निर्बाध, तत्त्वों या वस्तु स्वरूप का उपदेशक, सबका हितकारी और मिथ्यात्व आदि कुमार्ग का नाशक होता है, उसे सच्चा शास्ता कहते हैं। भव्य जीवों को जिनवाणी का उपदेश देने वाले–"जो बुद्धि ऋद्धि के धारक हैं तथा अवधि, मनः पर्यय, केवलज्ञान के धनी हैं; वे महान् वक्ता हैं। ऐसे विशेष गुणों के धारी वक्ता का संयोग मिले तो बहुत अच्छा है और न मिले तो श्रद्धानादिक गुणों के धारी वक्ताओं के मुख से ही शास्त्र सुनना। इस प्रकार के गुणों के धारक मुनि अथवा श्रावक के मुख से भी शास्त्र सुनना योग्य है। पद्धति-बुद्धि से अथवा शास्त्र सुनाने के लोभ से श्रद्धानादिगुणरहित पापी पुरुषों के मुख से शास्त्र सुनना योग्य नहीं है। कहा भी है:–

तं जिणआणपरेण य धम्मो सोयव्व सुगुरुपासम्मि।
अह उचिओ सद्धाओ तस्सुवएसस्स कहगाओ।।

जो जिन-आज्ञा मानने में सावधान हैं उस निर्ग्रन्थ सुगुरु के ही निकट धर्म सुनना योग्य है अथवा उन सुगुरु ही के उपदेश के उचित श्रद्धानी श्रावक से धर्म सुनना योग्य है।

ऐसा जो वक्ता धर्म बुद्धि से उपदेश देता हो वही अपना व अन्य जीवों का भला करता है और जो कषाय आदि बुद्धि से उपदेश देता है वह अपना तथा अन्य जीवों का बुरा करता है–ऐसा जानना।"

वक्ता के गुण बताते हुए आचार्य गुणभद्र कहते हैं–

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थिति,
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसह प्रभुःपरमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः।।५।।

(आत्मानुशासन)

पद्य

धर्म कथा कहने का अधिकारी हो प्रज्ञायुत शास्त्रज्ञ।
हो प्रतिभा-सम्पन्न क्षीण आशामय, लोक-स्थिति का विज्ञ।।
प्रशम, प्राग्दृष्टा प्रश्नों का, प्रश्न सहन करने वाला।
प्रभुतायुत, गुणनिधि, मृदुभाषी, सबका मन हरने वाला।।

भावार्थ

1. वक्ता बुद्धिमान होना चाहिए, क्योंकि बुद्धिहीन में वक्तृत्व सम्भव नहीं।
2. समस्त शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता होना चाहिए, क्योंकि शास्त्रों के सांगोपांग ज्ञान बिना यथार्थ अर्थ भाषित नहीं होता।
3. लोक व्यवहार का ज्ञाता होना चाहिए क्योंकि लोकरीति के बिना वह लोक-विरुद्धवर्तन करेगा।
4. आशावान् (महत्त्वाकाँक्षी) नहीं होना चाहिए क्योंकि आशावान् होने पर वह मात्र श्रोताओं का मनोरंजन करेगा यथार्थ अर्थ का प्ररूपण नहीं करेगा।
5. कान्तिमान और प्रतिभाशाली होना चाहिए क्योंकि शोभायमान न होने पर यह महान् कार्य उसको शोभा नहीं देगा।
6. उपशम परिणाम वाला होना चाहिए, क्योंकि तीव्र कषायी व्यक्ति सबके लिए अनिष्टकारी और निन्दा का पात्र होगा।
7. श्रोताओं द्वारा प्रश्न करने के पहले ही उत्तर का ज्ञाता होना चाहिए क्योंकि स्वयं ही प्रश्नोत्तर करके समाधान करने से श्रोताओं को उपदेश में दृढ़ता होगी।
8. प्रचुर प्रश्नों को सहने की क्षमता होनी चाहिए, क्योंकि यदि वह प्रश्न करने पर क्रोधित होगा तो श्रोता प्रश्न नहीं करेंगे तब उनका सन्देह कैसे दूर होगा।
9. प्रभुता सहित होना चाहिए, क्योंकि श्रोता उसे अपने से ऊँचा जानेंगे तभी उसको सम्मान देंगे तथा आदेश का पालन करेंगे।
10. दूसरों का मन हरने वाला (उन्हें अच्छा लगने वाला) होना चाहिए, क्योंकि जो असुहावना लगे उसकी शिक्षा श्रोता कैसे मानेंगे।
11. गुणों का निधान होना चाहिए, गुणों के बिना नेतृत्व शोभा नहीं देता।
12. स्पष्ट और मिष्ठ बचन कहने वाला होना चाहिए, स्पष्ट बचन कहे बिना श्रोता समझेंगे नहीं और मिष्ठ कहे बिना श्रोता को सुनने की रुचि नहीं होगी। अगर ये गुण न हो तो वक्तृत्व सम्भव नहीं हो सकता।

इस संदर्भ में अनेक दृष्टान्त भी हैं–

हीरा अनर्थ की जड़

एक सम्पन्न कुल का मनुष्य था। वह मुनि बनने के लिए चल दिया, उसके घर में एक कीमती हीरा था, जिससे उसको बहुत मोह था। उसने वह हीरा साथ रखकर दीक्षा ले ली और

हीरा पीछी में बांध लिया। आगे चलकर वे कुशल वक्ता बन गए, वे मुनिराज पाँचों महाव्रतों में चार पर खुलकर उपदेश देते, पर जब परिग्रह का क्रम आता तब वाणी मंद हो जाती। उनके पास एक शिष्य रहता था। शिष्य ने सोचा पता नहीं, महाराज परिग्रह पर प्रवचन करने में हिचकिचाते क्यों हैं? हो न हो इनके पास जरूर कोई परिग्रह होगा। शिष्य ने खोज-बीन प्रारंभ कर दी। एक दिन उसकी दृष्टि पीछी पर पड़ गई। उसमें एक हीरा बंधा हुआ था। शिष्य सोचने लगा कि गुरु के पास यही परिग्रह है और इसी कारण वे परिग्रह पर प्रवचन नहीं कर पाते। उसने चुपचाप हीरा निकाला और समुद्र में डाल दिया। फिर गुरु से जाकर कहता है, गुरुजी, अब आप प्रवचन खुलकर देना; क्योंकि आपके पास जो दुःख था, वह मैंने मिटा दिया है। गुरु ने कहा, कैसा दुःख? शिष्य बोला—जो आपके पास हीरा था वह मैंने समुद्र में फेंक दिया। गुरु बोले, बेटा, तुमने हमें सुखी बना दिया। हम उससे बहुत दुःखी थे। सच-उसी के कारण हम अपरिग्रही होने का उपदेश नहीं दे पाते थे।

गुड़ खाने वाला साधु

एक साधु गुड़ खाता था। एक दिन उनके पास एक महिला आई और बोली- "साधु जी! मेरा लड़का गुड़ बहुत खाता है, आप यह बताइए मैं क्या करूँ? साधु जी बोले- "अभी आठ दिन बाद बताएँगे।" वह महिला आठ दिन बाद आई और बोली- "साधु जी! आज बता दीजिये।" साधु जी कहते हैं ''आठ दिन बाद आना।'' साधु ने लगातार उसको एक महिने तक बुलाया। एक महिने बाद साधु जी ने उससे कहा, ''लड़के को गुड़ का त्याग करा दो।'' तब वह महिला बोली कि यह बात तो आप पहले से बता देते। साधु जी ने कहा, जब मैं स्वयं गुड़ खाता था। तब दूसरों को कैसे उपदेश दे सकता था। अगर व्यक्ति कम ज्ञानी है तब भी आचरण का प्रभाव पड़ेगा। अगर विषय भोगी अधिक ज्ञानी हो तो उसका प्रभाव नहीं पड़ेगा। जो दूसरों को उपदेश देते हैं स्वयं जीवन में उतारते नहीं, वह भी उपदेश देने के पात्र नहीं होते।

बैंगन खाने वाला पण्डित

एक पण्डित जी उपदेश दे रहे थे कि बैंगन नहीं खाना चाहिए, वह बहु बीजा होता है, उसमें बहुत कीड़े होते हैं, इसके खाने से बहुत पाप लगता है। सारी जनता उनका उपदेश सुन रही थी। उपदेश देने से पहले पण्डित जी बाजार से बैंगन खरीद कर घर पर रख आए थे। उस सभा में उनकी स्त्री भी उपदेश सुन रही थी। वह घर गई और सारे बैंगन कूड़ेदान में फेंक दिये। पण्डित जी जब घर पर आए और खाना खाने बैठे। वे देख रहे थे कि खाने में बैंगन नहीं आए। उन्होंने जब अपनी स्त्री से पूछा, "आज हम बैंगन खरीद कर रख गये थे उसकी सब्जी क्यों नहीं बनाई।" स्त्री बोली, "बैंगनों को मैंने कूड़ेदान में फेंक दिया।" पण्डित जी गुस्से में आकर

बोले, "क्यों फेंक दिये।" स्त्री बोली, "आज प्रवचन में आप ही बोल रहे थे, बैंगन नहीं खाना चाहिए, बैंगन खाने से बहुत पाप लगता है।" पण्डित जी थाली फेंकते हुए गुस्से में आकर बोले, "अरी पगली, उपदेश दूसरों के लिए था, अपने लिए नहीं।"

भाई, ऐसा वक्ता भी अच्छा नहीं है, जो दूसरों को उपदेश देता है, स्वयं उसका पालन नहीं करता है। सारांश यह–कि उत्तम वक्ता त्यागी होता है। अगर त्यागी भी है और व्याकरण, संस्कृत, लौकिक, आध्यात्मिक विषयों का जानकार है, सबसे अच्छी बात है। ऐसा वक्ता, बड़े सौभाग्य से मिलता है। कहने का अर्थ यह है कि वक्ता की कथनी और करनी एक होनी चाहिए।

निष्कर्ष - उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि सभी प्रवचन करने वाले व्यक्ति वक्ता नहीं हो सकते हैं। धार्मिक प्रवचन करने वाले व्यक्ति के अपने कुछ विशेष गुण होते हैं, उन्हीं के आधार पर उसे वक्ता कहा तथा माना जाता है। शास्त्रों के मर्म का ज्ञाता सिद्धान्तों का आचरण करने वाला हो, इस प्रकार के वक्ता ही श्रोताओं को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। जो चारित्र के धनी होते हैं उन्हीं की वाणी अनुकरणीय व प्रभावोत्पादक होती है, प्रणम्य होती है। पं. टोडरमल जी, पं. दौलतराम जी जैसे सद्गृहस्थों की लेखनी से प्रसूत ग्रंथ इसीलिए श्रद्धेय हैं, प्रमाणिक हैं।

श्रोता का स्वरूप

श्रोता के स्वभाव को बताते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि जो अज्ञानी है, निश्चय नय को समझते ही नहीं हैं, हठी हैं उनके लिए उपदेश नहीं है–

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥६॥

पुरुषार्थसिद्‌ध्युपाय

आचार्य अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न कराने के लिए व्यवहार का उपदेश करते हैं और जो जीव केवल व्यवहार नय को ही जानता है उसको उपदेश नहीं है। आचार्य व्यवहार नय श्रद्धान का कारण बताते हैं–

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य॥७॥

पुरुषार्थसिद्‌ध्युपाय

जिस प्रकार सिंह को सर्वथा न जानने वाले पुरुष के लिए निश्चय से बिलाव ही सिंहरूप होता है, उसी प्रकार निश्चय के स्वरूप से अपरिचित पुरुष के लिये व्यवहार ही निश्चय को प्राप्त होता है। अब प्रश्न आएगा कि श्रोता कैसा होना चाहिए इसका उत्तर देते हुए कहते हैं–

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्यतत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥८॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

जो जीव व्यवहारनय और निश्चय नय से वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप से जानकर मध्यस्थ होता है अर्थात् निश्चय नय और व्यवहार नय के पक्षपात से रहित होता है वही शिष्य उपदेश का सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है। श्रोता में अनेक गुण होना चाहिए परन्तु व्यवहार और निश्चय को जानकर एक पक्ष का हठाग्राही नहीं होना चाहिए कहा भी है–

जइ जिणमयपवज्जह ता मा व्यवहार णिच्छए मुअह।
एकेण विण छिज्जइ, तित्थं अण्णेणपुण तच्चं॥

(पं॰ प्रवर आशाधर जी कृत अनगारधर्मामृत पृष्ठ 18)

यदि तू जिनमत में प्रवर्तन करता है, तो व्यवहार और निश्चय को मत छोड़। यदि निश्चय का पक्षपाती होकर व्यवहार को छोड़ेगा तो रत्नत्रयस्वरूपतीर्थ का अभाव होगा और यदि व्यवहार का पक्षपाती हो निश्चय को छोड़ेगा तो शुद्ध तत्त्वस्वरूप का अनुभव नहीं होगा; अतः पहले व्यवहार-निश्चय को भली प्रकार जानकर यथायोग्य इनको अंगीकार करना, पक्षपात नहीं करना, यही उत्तम श्रोता का लक्षण है। इस प्रकार सच्चे श्रोता के और गुण बताते हुए आचार्य गुणभद्र कहते हैं–

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन् दुखाद्भ्रशं भीतवान्।
सौख्यैषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वाविचार्यस्फुटम्।
धर्मं शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितं,
गह्णनधर्मकथां श्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः॥७॥

पद्य (आत्मानुशासन)

धर्मकथा का श्रोता होता भव्य और निज हित चिन्तक।
दुःखों से भयभीत तथा श्रवणादिबुद्धियुत हित वाञ्छक॥
सुखकर और दया गुणमय, धर्मस्थ युक्ति और आगम से।
श्रुत मर्यादाधारी, आग्रहमुक्त धर्म वार्ता सुनते॥

धर्मोपदेश भी मिल जाये, किन्तु योग्य श्रोता के बिना धर्म नहीं होता है जैसे–योग्य पात्र के बिना वस्तु नहीं ठहरती। अयोग्य पात्र में रखने से वस्तु तथा पात्र दोनों का नाश हो जाता है। श्रोता के लक्षण इस प्रकार हैं–

1. श्रोता भव्य होना चाहिए, क्योंकि अभव्यों को उपदेश नहीं ठहरता।

2. **श्रोता दु:ख से अत्यन्त भयभीत होना चाहिए, क्योंकि दु:ख से भयभीत होगा तभी सुख देने वाला उपदेश सुनेगा।**

3. **श्रोता सुख का इच्छुक हो, क्योंकि जिसको सुख की चाह नहीं होगी वह धर्म श्रवण नहीं करेगा।**

4. **श्रोता को धर्म श्रवण करने की इच्छा हो, इच्छा बिना परिपूर्ण श्रवण नहीं होता है।**
   श्रोता के लक्षण हैं –

   (क) शुश्रूषा–सुनने की इच्छा। (ख) श्रवण–सुनना (ग) ग्रहण–मन द्वारा जानना। (घ) धारणा–नहीं भूलना। (ङ) विज्ञान–विशेष विचार करना। (च) ऊहापोह–प्रश्नोत्तर करके निर्णय करना। (छ) तत्त्वविनिवेश–तत्त्व श्रद्धान का अभिप्राय।

5. श्रोता को दयामय धर्म सुनना चाहिए, वह धर्म अहिंसा धर्म है।

6. जिसका खण्डन किया जा सके ऐसा धर्म नहीं सुनना चाहिए, वह धर्म नहीं अधर्म है।

7. श्रोता हठाग्रह आदि दोषों से रहित हो, क्योंकि हठाग्राही को शिक्षा नहीं लगती।

श्रोताओं के तीन भेद कहे हैं–उत्तम, मध्यम, जघन्य।

उत्तम श्रोता–उत्तम श्रोता भी दो प्रकार के होते हैं–1. गाय जैसा, 2. हंस जैसा।

1. **गाय जैसा**–जैसे गाय चारा कम खाती है, दूध अधिक देती है। उसी प्रकार गाय की भाँति उत्तम श्रोता सुनता तो कम है लेकिन आचरण अधिक करता है।

2. **हंस जैसा**–जैसे हंस दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है। उसी प्रकार उत्तम श्रोता भी हंस की तरह उत्तम बात को ग्रहण कर लेता हैं तथा निकृष्ट को छोड़ देता हैं।

मध्यम श्रोता–मध्यम श्रोता दो प्रकार के होते हैं–1. मिट्टी जैसा, 2. तोता जैसा।

1. **मिट्टी जैसा**–जैसे मिट्टी पानी बरसने पर कोमल हो जाती है तथा धूप पड़ने पर सूख जाती है, उसी तरह श्रोता को धर्मोपदेश सुनते समय तो वैराग्य आता है, जब विषयों की (गर्मी) धूप पड़ती है तो फिर रागी हो जाता है।

2. **तोता जैसा**–जिस प्रकार तोता को कुछ रटा दो, तो रट तो लेता है, पर उसे उसकी भाव-भाषना नहीं होती, उसी प्रकार श्रोता भी धर्मोपदेश को सुनकर रट भी लेते हैं लेकिन भाव-भाषना से रहित होते हैं।

जघन्य श्रोता–जघन्य श्रोता 10 प्रकार के होते हैं–1. बकरा जैसा, 2. बिलाव जैसा, 3. भैंसा जैसा, 4. बगुला जैसा, 5. डांस जैसा, 6. सर्प जैसा, 7. जौंक जैसा, 8. छलनी जैसा, 9. फूटे घड़े जैसा, 10. पत्थर जैसा।

1. **बकरा जैसा**–जैसे बकरा राग की बात देखकर उसमें आसक्त हो जाता है, उसी प्रकार श्रोता राग, रंग, विषयों की बात पसन्द करते हैं।

2. **बिलाव जैसा**–जिस प्रकार बिलाव को समझाने पर भी अपनी हिंसा प्रवृत्ति नहीं छोड़ता। उसी प्रकार श्रोता को कितना भी उपदेश दिया जावे, लेकिन वह अपनी निकृष्ट प्रवृत्ति नहीं छोड़ता है।

3. **भैंसा जैसा**–जैसे भैंसा पानी तो थोड़ा पीता है, लेकिन पानी को गंदा अधिक करता है, उसी प्रकार श्रोता सुनता तो कम है, लेकिन उथल-पुथल करके सभा (धर्म सभा) बिगाड़ देता है।

4. **बगुला जैसा**–जैसे बगुला एक टांग पर खड़ा रहता है, लेकिन मछली आते ही उसका भक्षण कर लेता है, उसी प्रकार श्रोता गलती पकड़ने की ही बात खोजते हैं।

5. **डांस जैसा**–डांस खुद तो सोता नहीं, औरों को भी नहीं सोने देता, उसी प्रकार श्रोता स्वयं तो सुनता नहीं और न ही दूसरों को सुनने देता है।

6. **जोंक जैसा**–जोंक गाय के स्तनों में चिपटकर भी दूध को न पीकर खून को ही पीती है, उसी प्रकार श्रोता धर्मसभा में आकर भी वीतराग वाणी को छोड़कर, विषयों का ही पोषण करते हैं।

7. **छलनी जैसा**–जैसे छलनी सार भूत आटा तो नीचे छोड़ देती है, भूसी को ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार श्रोता भी वीतराग वाणी को ग्रहण नहीं करते, कहानी किस्सों को ही ग्रहण करते हैं।

8. **फूटे घड़े जैसा**–जैसे फूटे घड़े में कितना भी पानी डालें, सब निकल जाता है, उसी प्रकार श्रोता एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देता है।

9. **पत्थर जैसा**–जैसे पत्थर पर कितना ही पानी डालो लेकिन मुलायम नहीं होता, उसी प्रकार श्रोता को कितना ही उपदेश दिया जाय वे कठोर ही रहते हैं।

10. **सर्प जैसा**–सर्प को कितना ही दूध पिलाओ लेकिन वह जहर ही उगलेगा, उसी प्रकार श्रोता को कितना ही उपदेश दो वह विपरीत श्रद्धान ही करेगा।

निम्न दृष्टान्त द्वारा श्रोता का महत्त्व समझा जा सकता है–

देवों की परछाई नहीं

एक स्थान पर एक विधवा स्त्री रहती थी। उसके एक लड़का था। वह जब छोटा था, तब से ही किसी का कुछ-किसी का कुछ चुरा लेता था। वह बड़ा होने पर डकैती डालने लगा, उस नगर में प्रतिदिन धर्मोपदेश होता था। उसकी माँ उससे कहती, "बेटा, चाहे किसी भी रास्ते से जाया करो, लेकिन उस रास्ते से कभी मत जाना जिस रास्ते में धर्मोपदेश होता है।" वह जानती थी कि यदि यह धर्म का एक भी शब्द सुन लेगा तो, चोरी का धन लाना उसी दिन से छोड़ देगा। एक दिन उस लड़के को एक ऐसा आवश्यक काम पड़ गया, कि उसको ऐसे ही रास्ते से निकलना पड़ा और उधर माता के वचनों का भी पालन करना था, बेचारा बुरी तरह चक्कर में पड़ गया। अब उसने दोनों कानों में अंगुली लगा ली और जहाँ उपदेश हो रहा था, वहाँ से भागने लगा। जैसे ही वह तेजी से भागा, एकदम उसको ठोकर लगी, वह गिर पड़ा, दोनों उँगली कानों से निकल पड़ी, उँगली निकलते ही उसने धर्म का एक शब्द सुना कि देवों के परछाई नहीं होती। कुछ समय बाद उसे कुछ ठग मिले, और उन ठगों ने उसे बहका दिया, कि रात को तुम्हारे घर पर एक देवी आयेगी। तुम उसकी पूजा करना और धनमाल देकर बिदा कर देना, वरना, वह तुम्हें मार डालेगी। वह बेचारा घबरा गया, और उसने उसकी पूजा के सब इंतजाम कर लिये। जब आधी रात हुई, तब उसको वह धर्म का शब्द याद आया। वह नि:शंक हो गया कि अगर परछाई नहीं पड़ती होगी, तो उसको पूजूँगा नहीं तो मारूँगा। समय होने पर एक सजी-धजी स्त्री आई। लड़के ने दूर से ही देख लिया, कि इसकी तो बहुत लम्बी परछाई है। यह देवी नहीं है। वह तो चुप होकर बैठ गया पर लड़के की माँ ने उसकी पूजा कर बीस हजार का माल उसको भेंट कर दिया। जब वह देवी चलने लगी तभी लड़के ने उसे पकड़ लिया और खूब मार लगाई। वह रोती चिल्लाती धन छोड़कर भाग गई। लड़के ने सोचा कि मैंने धर्म का सिर्फ एक शब्द सुना था, इसलिए आज घर बच गया। अगर शुरू से सुनता, तब यह जीवन पूर्णत: पाप से बच जाता। उस दिन से लड़के ने पाप करना छोड़ दिया और धर्मोपदेश सुनने जाने लगा। तुम भी अगर ठीक श्रद्धा से उपदेश सुनोगे तो कल्याण हो जायेगा। एक शब्द ने ही उस लड़के को पाप से छुड़ा दिया।

मूल्यवान मूर्ति

एक समय एक व्यक्ति राजा के दरबार में तीन मूर्ति लेकर पहुँचा। देखने में वे एक जैसी बनी हुई थी। राजा के पूछने पर, वह राजा को मूर्ति के दाम बताने लगा। बोला, पहली मूर्ति की

कीमत एक हजार रुपये है। दूसरी मूर्ति की कीमत दस हजार रुपये है तथा तीसरी मूर्ति की कीमत एक लाख रुपया है। राजा अलग-अलग दाम सुनकर चकरा गया। तीनों मूर्ति एक जैसी हैं। परन्तु कीमत अलग-अलग क्यों है? उसका कारण पूछा गया। तब उस व्यक्ति ने एक सींक मँगवाई। उस सींक को उस व्यक्ति ने एक मूर्ति के कान में डाली, वह दूसरे कान से निकल गई। अब दूसरी मूर्ति के कान में डाली, वह सींक मुख से निकल गई, अब तीसरी मूर्ति के कान में डाली, वह उसके हृदय में उतर गई। अब राजा उसकी अलग-अलग विशेषता समझ गया कि जो मूर्ति उपदेश सुनती है तो वह कान से निकाल देती है उपदेश ग्रहण नहीं करती। उसकी कीमत बहुत कम है और जो दूसरी मूर्ति उपदेश सुनती है, और ग्रहण कर मुख से दूसरों को सुना देती है उसकी कीमत कुछ अधिक है और तीसरी उपदेश सुनकर उसके बारे में सोचती है उसकी कीमत सबसे अधिक है। उसी प्रकार जो श्रोता एक कान से उपदेश सुनकर दूसरे कान से निकाल देते हैं, उनकी कीमत नहीं परन्तु जो सुनकर दूसरों को समझा देते हैं, वे कुछ अच्छे हैं। लेकिन जो सुनकर अपने हृदय में उतार लेता है, वह श्रोता सबसे अच्छा है। यदि वक्ता व श्रोता योग्य हों तो सभा भी सुशोभित होती है।

— —

दु:खमयी पर्याय क्षणभंगुर सदा कैसे रहे।
अमर है ध्रुव आत्मा वह मृत्यु को कैसे वरे॥
ध्रुवधाम से जो विमुख वह पर्याय ही संसार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥

द्वितीय अध्याय : पतित से पावन

सुध्यान में लवलीन हो, जब घातिया चारों हने।
सर्वज्ञ बोध विरागता को, पा लिया प्रभु आपने॥
उपदेश दे हितकर अनेकों, भव्य निजसम कर लिये।
रविज्ञान-किरण प्रकाश डालो वीर प्रभु मेरे हिये॥

आज से नहीं अनादि से पतित बने हुए हो, पावन बनने का रास्ता आपने निकाला ही नहीं। अगर एक बार भी निकाल लेते तो इस संसार सागर से पार हो जाते। लेकिन अपने अज्ञान के कारण हम चौरासी लाख योनियों के दुःख उठा रहे हैं। कहा भी है–

आकुलित भयो अज्ञान धारि, ज्यों मृग मृगतृष्णा जानि वारि।
तन परिणति में आपो चितार, कबहुँ न अनुभवो स्वपदसार॥१०॥

तुमको जाने बिन जो कलेश, पाये सो तुम जानत जिनेश।
पशु नारक नर सुरगति मँझार, भव धर-धर मर्‍यो अनंत बार॥११॥

(दौलतराम कृत, दर्शन स्तुति)

भूधरदास जी कहते हैं–

इस भव-वन के माँहि, काल अनादि गमायो।
भ्रम्यो चहुँ गति माँहि, सुख नहिं दुःख बहु पायो॥२॥

और भी

कबहुँ इतर निगोद, कबहूँ नरक दिखावै।
सुर-नर-पशु-गति माँहि, बहु विधि नाच नचावैं॥४॥

अरे! कहाँ-कहाँ रहे हम, कितने दुःख उठाये, चौरासी लाख योनियों में बार-बार चक्कर लगाते रहे।

श्री गोम्मटसार जीवकांड में चौरासी लाख योनियों के भेद विस्तार से बताए गए हैं–

सामण्णेण य एवं णव जोणीओ हवंति वित्थारे।
लक्खाण चतुरसीदी जोणीओ होंति णियमेण॥८८॥

णिच्चिदरधातुसत्त य तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा॥८९॥

भावार्थ

योनियों के मूल भेद गुणों के आधार पर सामान्य रूप से नौ होते हैं– सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त; शीत, उष्ण, शीतोष्ण; संवृत (ढकी), विवृत (खुली), व मिश्र संवृतविवृत। प्रत्येक योनि में एक-एक गुण होता है। जैसे–सचित्त, शीत, संवृत हो या अचित्त, शीत, संवृत हो इत्यादि। इसके 84 लाख भेद गुणों की तरतमता की अपेक्षा से होते हैं–जो इस प्रकार हैं–

1. नित्यनिगोद साधारण वनस्पति जीवों की	7	लाख	योनियाँ
2. इतरनिगोद साधारण वनस्पति जीवों की	7	"	"
3. पृथ्वीकायिक जीवों की	7	"	"
4. जलकायिक जीवों की	7	"	"
5. अग्निकायिक जीवों की	7	"	"
6. वायुकायिक जीवों की	7	"	"
7. प्रत्येक वनस्पति जीवों की	10	"	"
8. दो इन्द्रिय जीवों की	2	"	"
9. तीन इन्द्रिय जीवों की	2	"	"
10. चार इन्द्रिय जीवों की	2	"	"
11. देवों की	4	"	"
12. नारकियों की	4	"	"
13. पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की	4	"	"
14. मनुष्यों की	14	"	"
	कुल चौरासी लाख		योनियां

इस प्रकार चार गति एवं चौरासी लाख योनियाँ में बहुत भ्रमण किया। अरे! भाई फिर भी नहीं चेतता, अरे क्या इन गतियों के दु:ख की खबर है, शायद नहीं, क्योंकि पता होता तो फिर पावन बनने का उपाय करता, कैसा मस्त हो रहा है विषयों में। ले सुन उन दु:खों की कहानी जिनको तू अभी-अभी भोग कर आया है–

एक श्वास में अठदशबार, जन्मयौ-मरयो भर्यो दु:खभार।
निकसि भूमि जल पावक भयो, पवन प्रत्येक बनस्पति थयो।।

अरे! अरे!! देखो निगोद में एक श्वांस में 18 बार जन्म और 18 बार मरण के दु:ख सहते रहे, कुछ पुण्य का उदय आया तो निगोद से निकलकर व्यवहार राशि में आया तो पाँच स्थावर

हुआ और वहाँ भी बहुत दु:ख उठाये जैसे–पृथ्वी हुआ, खोदा गया, अग्नि हुआ, बुझाया गया, जल और वायु हुआ तो विलोया गया और वनस्पति में रौंदा गया आदि इसके बाद–

दुर्लभ लहि ज्यौं चिंतामणि, त्यौं पर्यायलही त्रसतणी।
लट पिपील अलि आदि शरीर, धर-धर मर्यो सही बहु पीर॥

जिस प्रकार चिंतामणि रत्न बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है, उसी प्रकार पुण्योदय से 2 हजार सागर त्रस पर्याय के लिए मिले उसमें भी दो इन्द्रिय बने, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय बने। कभी चावलादि से छान-छानकर सड़कों पर डाल दिये गये पैरों के नीचे कुचले गये, नालियों में सड़कर मरे, भँवरादि भी बने तो घ्राण इन्द्रिय के कारण मरण को प्राप्त हुए इस प्रकार विकलत्रय में भी बहुत पीड़ा सहन की इसके बाद–

कबहूँ पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो।
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निर्बल पशु हति खायेभूर॥

कभी पंचेन्द्रिय पशु भी हुआ तो मन नहीं होने के कारण हिताहित का ज्ञान न होने के कारण अज्ञानी रहा, कभी मन सहित भी हुआ तो सिंहादिक क्रूर पशु होकर अपने से निर्बल पशु को ग्रास बनाया। अरे! अरे!! कितना पाप किया फिर इस पाप के कारण–

कबहूँ आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अति दीन।
छेदनभेंदन भूखअरु पियास, भार-वहन हिम-आतप त्रास॥

अरे! अरे!! कभी स्वयं बलहीन हुआ तो, बलवान सिंहादिक पशु द्वारा खाया गया, कभी गाय, भैंस, घोड़ा, गधे बनें तो डंडो से मार खानी पड़ी, समय पर चारा म मिला, पानी न मिला, गर्मी और सर्दी की बाधा बार-बार सहनी पड़ी, इस प्रकार 62 लाख योनि तिर्यंचों में बितायी लेकिन वहाँ भी पावन बनने का रास्ता दृष्टिगत नहीं हुआ–

बध-बन्धन आदिक दु:ख घने, कोटि जीव तैं जात न भने।
अति संक्लेश भाव तै मर्यो, घोर श्वभ्र सागर में पर्यो॥८॥

तहाँ भूमि परसत दु:ख इसो, बिच्छू सहस डसौ नहि तिसो।
तहाँ राध-शोणित वाहिनी, कृमि-कुल कलित देह दाहिनी॥९॥

अरे! पशु गति में संक्लेश भाव के कारण नरकों में गया। नरकों में उपपाद जन्म होता है वहाँ बिलों में उत्पन्न हुआ तो फुटबाल की तरह योजनों तक उछला बहुत दु:खी हुआ, अरे! भूमि पर पड़े तो इतना दु:ख हुआ कि एक हजार बिच्छूओं ने मिल काट लिया हो, वहाँ नदियाँ कैसी हैं? खून और पीव की भरी हुई उसमें छोटे-छोटे कृमि और देह का नाश कर देने वाले मगरमच्छ तैरते रहते हैं।

वहाँ की दुर्गन्ध इतनी है कि अगर पहले नरक का एक कण भी मध्यलोक में पहुँच जाये तो एक मील तक का मानव समाप्त हो जायेगा। अगर सातवें नरक की जरा सी कण मध्यलोक में आ जाये तो साढ़े 24 मील तक का प्राणी समाप्त हो जायेगा, ऐसी दुर्गन्ध हमने बार-बार सही और फिर-

सेमर तरु दल जुत असिपत्र, असि ज्यौं देह विदारैं तत्र।
मेरु-समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय॥

वहाँ सेमर नाम के वृक्षों के नीचे शीतलता के लिए गया, वहाँ उसके पत्तों ने झड़-झड़कर तलवार की तरह हमारे शरीर को काटा। अरे! वहाँ की ठंड एवं गर्मी ऐसी थी कि सुमेरू पर्वत जैसा लोहे का गोला भी पानी की तरह पिघल जाय।

तिल-तिल करैं देह के खण्ड, असुर भिडावैं दुष्ट प्रचण्ड।
सिंधु-नीर तैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय॥

तीन लोक को नाज जु खाय, मिटैं न भूख कणा न लहाय।
ये दुःख बहु सागर लौं सहे, करम-जोग तै नरगति लहैं॥

इस प्रकार नरकों में दुःख भोगे इसके बाद पुण्य के योग से मनुष्य गति में आया, कैसे हैं मनुष्य गति के दुःख-

जननी उदर वस्यौ नव मास, अंग-सकुचतैं पाई त्रास।
निकसत जे दुःख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर॥

बाल पने में ज्ञान न लह्यौ, तरुण समय तरुणी रत रह्यौ।
अर्द्धमृतक समबूढा पनौ, कैसे रूप लखै आपनो॥

इस प्रकार हमने ये मनुष्य गति के दुःख सहे और फिर-

कभी अकाम-निर्जरा करै, भवनत्रिक में सुरतन धरै।
विषय चाह-दावानल दह्यौ, मरत विलाप करत दुःख सह्यौ॥

जो विमान वासी हूँ थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुःख पाय।
तहँ तै चय थावर-तन धरै, यो परिवर्तन पूरे करै॥

इस प्रकार इस जीव ने परिवर्तन पूर्ण करे एक बार नहीं अनेक बार लेकिन अपने कल्याण के बारे में नहीं सोचा। एक **दृष्टान्त** है-

चन्दन का बाग

एक राजा और मंत्री घूमने के लिए गये, घूमते-घूमते राजा को प्यास लग आई। राजा ने मंत्री से कहा- "मंत्री जी जाओ कहीं से पानी का इन्तजाम करो" मंत्री जी पानी लेने के लिए इधर-उधर जाते हैं, कहीं पानी दिखाई नहीं दिया। रास्ते में उन्हें एक लकड़हारा मिला। वह लकड़ी का गठ्ठा लेकर आ रहा था। मंत्री जी ने पूछा- "भाई आपने कहीं पानी देखा है" लकड़हारा जंगल का था उसने कहा- "देखा है", मंत्री जी बोले- "भाई! राजा को प्यास लगी है, पानी लेकर आओ" लकड़हारे ने लकड़ी का गठ्ठा नीचे रखा और पानी लेने चला गया, कुछ समय बाद पानी लेकर आया और राजा को पिलाया, राजा पानी पीकर खुश हो जाता है और मंत्री से कहता है- "मंत्री जी लकड़हारे को सारा चन्दन का बाग दे दो।" मंत्री ने सारा बाग लकड़हारे को सौंप दिया।

राजा और मंत्री अपने महल में चले जाते हैं। लेकिन लकड़हारे को चन्दन के वृक्षों की कीमत का कुछ पता न था। वह प्रतिदिन दो, चार वृक्ष काटता और कोयला बनाता, उनको दो, चार आने में बेच आता। इस प्रकार सालों गुजर गये, एक दिन राजा मंत्री से कहते हैं कि उस लकड़हारे को जाकर देखो कि कितना धनवान हो गया है। मंत्री जी जाकर देखते हैं, जंगल में सिर्फ बीस-तीस चन्दन के वृक्ष बचे हैं वह लकड़हारा उसी टूटी हुई चारपाई और झोंपड़ी में लेटा है। मंत्री जी आवाज लगाते हैं "हे! लकड़हारे, तुझे इतना कीमती चन्दन का बाग दिया था तू आज तक फिर भी गरीब है। कहाँ गये इतने सारे वृक्ष" वह बोला जैसे प्रतिदिन लकड़ी के कोयले बनाकर बेचता था और पेट भरता था, वैसे उन वृक्षों का किया। मंत्री जी बोले- "अरे-अरे सारा चन्दन का वृक्ष कोयला बनाकर नष्ट कर दिया, आज तक तूने उसकी कीमत नहीं पहचानी। जा एक छोटी सी लकड़ी लेकर आ।" लकड़हारा लकड़ी लेकर आता है, जाओ इसे पंसारी के पास ले जाओ" वह जाता है, पंसारी ने उसे उस लकड़ी के बदले में चार आने दिये। वह सोच में पड़ गया इतनी सी लकड़ी के चार आने। पंसारी ने सोचा इसे चार आने कम लग रहे हैं उसने एक रुपया कह दिया। लकड़हारा मस्तक पर हाथ रखकर रोने लगा और कहने लगा मुझे इतना कीमती चन्दन का बाग मिला मैंने कोयला बना-बनाकर खत्म कर दिया। हे मंत्री जी अब क्या करूँ? मंत्री जी कहते हैं- "भाई अभी भी तेरे पास चन्दन के जितने वृक्ष हैं, उनकी कीमत पहचानोगे तो धनी हो जाओगे।"

इसी प्रकार बन्धुओं तुमने पूर्व में कोई भारी पुण्य किया था तो ये मनुष्य पर्याय मिली है, जिस प्रकार वह चन्दन के वृक्ष की कीमत नहीं जानता था उसी प्रकार हम भी इस मनुष्य भव की कीमत नहीं जानते, जैसे वह कोयले बनाकर फूँक रहा था वैसे ही हम भी इस नरदेह को भोगों में फूँक रहे हैं, जैसे मंत्री ने उसे उस बाग की कीमत बताई थी उसी प्रकार कभी-कभी

गुरु आते हैं और कहते हैं कि भाई आयु का कुछ भरोसा नहीं कब मृत्यु आ जाये इसलिए जितना समय मिला है हमें आत्मकल्याण में लगाना चाहिए जिससे कुछ ही समय में तुम आत्मरूपी वैभव के धनी बन जाओगे। आचार्य योगीन्दुदेव योगसार ग्रन्थ में कहते हैं–

जइ वीहउ चउगइगमणा तो परभाव चएहि।
अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिव सुक्ख लहेहि॥५॥

जो चउगति दुःख से डरे, तो तज सब परभाव।
कर शुद्धातम चिंतवन, शिवसुख यही उपाय॥५॥

आचार्य पूज्यपाद स्वामी भी समाधिशतक में कहते हैं–

यो न वेत्ति परं देहादेव मात्मानमव्ययम्।
लभते न स निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः॥३३०॥

(जो कोई शरीरादि से भिन्न इस प्रकार के ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी, आत्मा को नहीं जानता है वह उत्कृष्ट तप तपते हुए भी निर्वाण प्राप्त नहीं करता अर्थात् पहले मनुष्य जीवन की सार्थकता जानकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर, सम्यक्तप कर पतित से पावन बन। पावन बनने के लिए त्याग और समर्पण अनिवार्य है) यह बात निम्न **दृष्टान्त** द्वारा समझी जा सकती है–

कौड़ी की कीमत

एक बार की बात है कि दक्षिण भारत के एक गाँव तिरुबल्लूर में गाँधी जी एक सभा को सम्बोधित कर रहे थे। भाषण के बाद हरिजन कल्याण के लिए दान देने की अपील करते हैं। गाँधी जी के इतना कहते ही दान की झड़ी लग जाती है। रुपया-पैसा के साथ-साथ सोने-चाँदी का दान भी लोग देने लगते हैं। कोई अपनी अँगूठी तो कोई अपने गले का हार। इसी बीच एक सज्जन व्यक्ति ने अपनी बहुमूल्य अँगूठी आगे बढ़कर गाँधी जी के हाथों में थमा दी। तत्काल एक हरिजन माँ ने जो वस्त्र के नाम पर फटे-पुराने चिथड़े पहने थी, आगे बढ़ी और बड़े जतन से अपने पल्ले में बाँध रखी 'एक कानी कौड़ी' गाँधी जी को अर्पण कर दी। यह देख गाँधी जी गद्गद हो, धीर-गम्भीर स्वर में उपस्थित जनता से कहने लगे कि–यह एक कौड़ी नहीं है, यह आज की सभा का सबसे बड़ा दान है। 'यह सर्वस्व का समर्पण है।' यह कौड़ी नहीं, अपितु माँ के हाथ की एक पवित्र वस्तु है। कोई भाई यदि चाहे तो इसे ले सकते हैं। बोलिए कितने में लेगें। बोली लगने लगती है। बोली बढ़ने लगती है, किन्तु एक वृद्ध आरम्भ से लेकर अन्त तक बोली अपने नाम छुड़ाने के आशय से बोली को बढ़ाता जाता है। आखिर उसके नाम पर 'एक कोड़ी' की बोली सोलह हजार में छूट जाती है। गाँधी जी जब सोलह हजार के बदले उस श्रमिक

को एक कोड़ी देने लगे तो वह श्रमिक हाथ जोड़ते हुए बापू से कहता है कि–हे बापू। यह कौड़ी आप अपने पास ही रखिये। यह वृद्धा माँ की पवित्र धरोहर है। सोलह हजार क्या, सोलह लाख या सोलह करोड़ रुपये में भी यह 'कौड़ी' प्राप्त होना दुर्लभ है। इस कौड़ी ने आज मेरे भी पाप धो दिये हैं। गाँधी जी कहते हैं कि मूल्य वस्तु का नहीं, अपितु भाव का होता है। इस प्रकार वह वृद्ध माँ पतित से पावन बन जाती है। त्याग से, दान से जीवन पावन बन सकता है। सर्वस्व समर्पण किये बिना पावन नहीं बना जा सकता। संसार के सभी मानव वाह्य अंग उपांगों की दृष्टि से तो समान ही होते हैं किन्तु व्यवहार, आचरण एवं भावनाओं की दृष्टि से अनेक प्रकार के होते हैं।

मानव के भेद

(1)

1. **सुपारी जैसे**–जो अन्दर से कठोर और बाहर से भी कठोर होते हैं।
2. **बेर जैसे**–जो ऊपर से नरम और अन्दर कठोर हैं।
3. **बादाम जैसे**–जो ऊपर से तो कठोर हैं लेकिन अन्दर नरम हैं।
4. **अंगूर जैसे**–जो अन्दर से भी नरम हैं और बाहर भी नरम हैं।

(2)

1. **सामान्य मानव**–पाक्षिक श्रावक हैं।
2. **विशेष मानव**–अणुव्रती श्रावक हैं।
3. **महामानव**–महाव्रती मुनिराज हैं।
4. **विशेष महामानव**–अरिहंत प्रभु हैं।

(3)

1. **तालाब जैसे**–जैसे तालाब एक जगह पर ही पड़ा-पड़ा समाप्त हो जाता है, उसी तरह मानव भी बिना धर्म किये ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।
2. **सरिता जैसे**–जिस प्रकार सरिता का स्वभाव बहना है और समुद्र में मिलने की इच्छा रहती है, जीवों को स्वच्छ जल का पान कराती है। उसी प्रकार सरिता जैसे मनुष्य स्वयं तो मोक्ष पथ पर चलते हैं और अन्य जीवों को भी उसी का उपदेश देते हैं।

1. **मेरा है, सो मेरा है, तेरा भी मेरा है**–इस तरह का मनुष्य दूसरों का धनादि लूटता रहता है, यह घोर मिथ्यादृष्टि है।
2. **तेरा है सो मेरा है, मेरा है सो मेरा है**–यह मनुष्य भी सही नहीं है यह भी मिथ्यादृष्टि है।
3. **तेरा है सो तेरा है, मेरा है सो मेरा है, वक्त पड़े तो मेरा भी तेरा है**–यह मनुष्य उन दोनों से अच्छा है, इसके अन्दर करुणा भाव है।
4. **मेरा है न तेरा है चिड़िया रैन बसेरा है**–यह मनुष्य उन तीनों से अच्छा है, ऐसा मनुष्य ही उग्र पुरुषार्थ से आत्मा का अनुभव कर मुक्ति को प्राप्त करता है।

कुछ मानव तो मनुष्य रूप में पशु तुल्य ही होते हैं–

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।

जिसके पास न विद्या है, न तप है, न दान देते हैं, न ज्ञान है, न शील है, न गुण है, और न धर्म है, वे पृथ्वी पर भार स्वरूप हैं और मनुष्य रूप में पशु के समान हैं।

इन दृष्टान्तों के आधार पर हम कह सकते हैं कि यह जीव अनादि काल से अपने ही कर्मों से पतित अर्थात् पापमय होकर संसार में भटक रहा है, दुःख भोग रहा है। सही उपाय न जानने के कारण यह अपने सच्चे सुख को नहीं प्राप्त हुआ। आचार्य उपदेश देते हैं कि यदि यह पंचेन्द्रिय विषयों को त्याग दे, अपना क्या है और क्या नहीं है, इसका भेद विज्ञान करके, अपनी स्व आत्मा के अलावा कुछ भी नहीं है, इस संसार में, ऐसी श्रद्धा करके यदि वह अपने आत्मा का ध्यान करे तो, यह अनादि काल का दुःखी पतित प्राणी पवित्र बन सकता है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे मानव! अगर तुम्हें अपना मानव जीवन सफल बनाना है तो महावीर जैसे भव-तारक, कुन्दकुन्द जैसे निर्ग्रंथ, भरत जैसे सम्यक्दृष्टि, श्रेणिक जैसे श्रोता, रामचन्द्र जैसे महान्, सीता जैसी शीलवती, चन्द्रगुप्त और गाँधी जैसे महान बनना चाहिए।

जिनवाणी का गहराई से अध्ययन नहीं करना ही तात्त्विक विवादों का मूल कारण है।

धर्म का स्वरूप

धर्म न बाडी नीपजे, धर्म न हाट बिकाय।
धर्म विवेकी नीपजे, जे समझे ते थाय।।

धर्म के बारे में आचार्य पद्मनन्दि धम्मरसायण में कहते हैं-

बुहिजणमणोहिरामं जाइजरामरणदुक्खणासयरं।
इह परलोयहिय तं धम्मरसायणं वोच्छं।।२।।

मैं उस धर्म रसायन को बताऊँगा जिसके पीने से ज्ञानी जीवों के मन में आनन्द होगा व जन्म, मरण, जरा, रोग के दु:खों का क्षय होगा व इस लोक में और पर लोक में हित होगा यह जब तक जीयेगा, (परलोक में शीघ्र सिद्ध होकर) परमानन्द भोगेगा। इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्र कहते हैं-

देशयामि समीचीनं, धर्मकर्म निवर्हणम्।
संसारदु:खतः सत्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे।।२।।

भावार्थ

जो जीवों को संसार के दु:खों से निकालकर उत्तम सुख में पहुँचाता है मैं उस धर्म को कहूँगा। प्रश्न है धर्म कहते किसे हैं, वह कैसा है इसका उत्तर यह है कि निश्चय से वस्तु का स्वभाव ही धर्म है जैसे आत्मवस्तु का स्वभाव जानना। व्यवहार से अहिंसा, दशलक्षण ही धर्म है, और रत्नत्रय ही धर्म है।

अहिंसा-हिंसा में कभी भी धर्म नहीं हो सकता। हिंसा के दो भेद हैं। द्रव्य हिंसा, भाव हिंसा। द्रव्य हिंसा के दो भेद हैं- स्वद्रव्य हिंसा, परद्रव्य हिंसा।

भाव हिंसा के भी दो भेद हैं। स्वभावी भावहिंसा और विभावी भावहिंसा।

दशलक्षण धर्म-दशलक्षण धर्म को भी धर्म कहते हैं उसके दस भेद हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य। इनमें से पहले चार धर्म उपर्युक्त चार कषायों के विरोधी हैं; संयम, सत्य, त्याग, ब्रह्मचर्य और आकिञ्चन्य क्रमश: हिंसादि पांच पापों के विरोधी हैं, और तप का सम्बन्ध निर्जरा से है। इसी कारण इनको दश धर्म न कहकर 'दशलक्षण धर्म कहा जाता है अर्थात् दस लक्षणों या अंगो का एक अखण्ड धर्म। यद्यपि उत्कृष्ट रूप से ये परिणाम अन्तर्मुखी साधु जनों के ही हैं, तदपि गृहस्थ जीवन में इनका सर्वथा अभाव हो ऐसा नहीं है। अत: भले ही श्रावक अथवा गृहस्थ धर्म में इनका

उल्लेख न हो, तदपि यथोचित रूप में वहाँ भी इन्हें अपने पर लागू कर लेना चाहिए अथवा आप भी इन्हें यथाशक्ति अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करें।

विशेष–कायरों की क्षमा-क्षमा नहीं, स्वार्थियों की विनय-विनय नहीं, बगुले भक्तों की पवित्रता-पवित्रता नहीं। मूर्खों की सरलता-सरलता नहीं। एकांतियों का सत्य-सत्य नहीं। रोगियों का संयम-संयम नहीं। ढोंगियों का तप-तप नहीं। छद्मियों का त्याग-त्याग नहीं। गरीबों का आकिंञ्चन-आकिंञ्चन नहीं। नपुंसक का ब्रह्मचर्य-ब्रह्मचर्य नहीं।

रत्नत्रय धर्म–रत्नत्रय धर्म है। **द्यानतराय जी** कहते हैं–

सोई लोकालोक निहारे, परमानन्द-दशा विस्तारे।
आप तिरे औरनतिरवावे, जो सम्यक्रत्नत्रयध्यावे॥

जो रत्नत्रय को ध्याता है, लोकालोक को निहारने वाला कैवल्य प्राप्त करके परमानन्द को प्राप्त करता है और उस बताए हुए मार्ग पर चलकर वह भव्य प्राणी संसार सागर से पार होता है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं–

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीय-प्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धति॥३॥

धर्म के उपदेशक तीर्थङ्करदेव ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र को धर्म कहा है और इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र को संसार बढ़ाने की पद्धति कहा है। तत्त्वार्थसार के उपसंहार में आचार्य अमृतचन्द्र देव कहते हैं–

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम्॥२॥

श्रद्धानाधिगमोपेक्षाः शुद्धस्य स्वात्मनो हि याः।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः स निश्चयः॥३॥

श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनःस्युः परात्मनाम्।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः॥४॥

मोक्षमार्ग निश्चय तथा व्यवहार से दो प्रकार का है। निश्चय मार्ग साध्य है, व्यवहार साधन है। अपनी ही शुद्ध आत्मा का श्रद्धान ज्ञान व स्व पर से उदासीन भाव रूप अपेक्षा या स्वरूप में लीनता ऐसा निश्चय रत्नत्रय स्वरुप आत्मा का शुद्ध भाव निश्चय मार्ग है। षट् पदार्थों की अपेक्षा से श्रद्धान, ज्ञान व त्याग करना व्यवहार रत्नत्रय मोक्षमार्ग है। व्यवहार के द्वारा निश्चय को प्राप्त करना चाहिए।

इसी को **'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय'** में **आचार्य अमृतचन्द्र** कहते हैं–

> **दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।**
> **स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥२१६॥**
>
> **सम्यक्त्वबोधचरित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।**
> **मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्॥२२२॥**

अपनी आत्मा का निश्चय होना सम्यग्दर्शन है। अपनी आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। अपनी आत्मा में स्थिरता सम्यग्चारित्र है। इन तीनों से कर्म बन्ध नहीं होता। निश्चय व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग आत्मा को परमपद में पहुँचा देता है।

धर्म का लक्षण–"धर्म के अनेक लक्षण बताये जाते हैं, प्रत्येक में कुछ न कुछ स्वार्थ छिपा हुआ है, अतः परीक्षा करके तू स्वयं पहिचान सकता है उनकी असत्यार्थता को। जिसे रोटी खाने को नहीं मिलती, वह कहता है कि भूखों को भोजन बांटना धर्म है। जिसे ख्याति की भावना है, वह कह रहा है कि जन्मदिन मनवाने में धर्म है। जिसे पैसों की भूख लगी है वह कह रहा है कि दिवाली पर जुआ खेलना धर्म है। जिसे मांस खाने की पड़ी है, वह कह रहा है कि देवता पर बलि चढ़ाना धर्म है। जिसे स्वयं धनिक जनों से द्वेष है वह कह रहा है कि उनका धन छीन लिया जाना ही धर्म है। जिसे भोगों की अभिलाषा है, वह कह रहा है कि धर्म-कर्म नहीं है खाओ पिओ मौज उड़ाओ यही धर्म है। जो उपायहीन है, वह कहता है, कि भगवान को भोग लगाना धर्म है। जिसमें द्वेष की अग्नि अधिक है, वह कह रहा है कि शास्त्रार्थ करना धर्म है। फलितार्थ, जितने मुँह उतनी बातें, जितनी जाति की रुचि उतने जाति के धर्म। इस जाति के लक्षणों की असत्यार्थता तो स्पष्ट ही है, कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि इसमें स्वार्थ का ही नग्न नृत्य हो रहा है।

'धर्म क्या है?' अब इस बात की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। धर्म एक ऐसा विज्ञान है जिसके माध्यम से मानव अपनी चेतना को, मन को केन्द्रित करता है व्यवस्थित करता है जिससे अनादि की विक्षिप्त-चेतना, विक्षिप्त मन, विक्षिप्त संगीत एक स्वर में जाग्रत हो जाए, अंतरंग के स्वरों के साथ सामंजस्य स्थापित हो जाए। धर्म के माध्यम से अनादि का विक्षिप्त मन शांत हो जाता है और आत्मा से शांति के झरने फूटने लगते हैं। धर्म के माध्यम से चेतना में शांति की एक ऐसी भूमिका का सृजन हो जाए कि, उस शांति का सामीप्य पाकर स्वयं शांति का अनुभव कर सकें। इन सबकी प्राप्ति के लिए ही यत्न करना चाहिए।

सम्पत्ति और धर्म

एक छोटी सी कहानी आपसे कहता हूँ, शायद आपकी समझ में आ जाय कि सम्पत्ति क्या है और 'धर्म क्या है'? अरे जिसे हमने अपने प्राणों की आहुति देकर खरीदा है, एकत्र किया है, जिसके प्रति रात और दिन एक किए हैं, उस सम्पत्ति का जीवन में धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है।

नानक जी एक गांव में ठहरे हुए थे वहाँ के स्थानीय सम्पत्तिशाली व्यक्ति ने उनसे जाकर कहा कि मेरे पास अटूट सम्पदा है मुझे सदुपयोग करना है आप कोई उचित मार्ग बतायें, मैं आप पर बहुत विश्वास करता हूँ, आप मुझे जीवन में सेवा का अवसर अवश्य ही दें, जिससे मैं समय और सम्पत्ति का सदुपयोग कर सकूँ। नानक ने सेठ की ओर देखा, तत्क्षण ही कहा "तुम तो दरिद्र दिखते हो, तुम्हारे पास सम्पत्ति कहाँ है।" सेठ ने कहा, "आप मुझे जानते नहीं हैं, यदि आप आज्ञा दें तो अपनी सम्पत्ति का हिसाब आपको दिखाऊँ, आपको मेरे बराबर इस क्षेत्र में कोई धनाढ्य नहीं दिखेगा। आपको गलतफहमी हो गई है या फिर मेरे सम्बन्ध में आपको किसी ने गलत बता दिया है। आप आज्ञा दें तो सम्पत्ति दिखाऊँ, जो कहोगे उसे करके अवश्य दिखाऊँगा।" नानक ने उसे छोटी सी सुई दी, और कहा कि इसे, मरने के बाद मुझे वापिस कर देना, अपनी सारी सम्पदा का प्रयोग करना, और यह सुई मरने के बाद अवश्य लौटा देना, वह नानक की बात सुनकर हैरान हो गया, किन्तु सब लोगों के सामने उसने कुछ नहीं कहा। रात भर बिस्तर पर पड़ा-पड़ा सोचता रहा। शायद कोई अपूर्व रास्ता निकल जाए कि मृत्यु के उपरांत सुई को साथ में ले जाऊँ। लेकिन कोई भी उपाय दिमाग में नहीं आया। सुबह वह अपने मित्रों से मिला "उसने पूछा क्या कोई ऐसा रास्ता हो सकता है कि मृत्यु के बाद सुई को साथ ले जा सकूँ।" मित्रों ने कहा "यह तो बिलकुल असंभव है इस जगत की जरा सी सम्पत्ति को समस्त शक्ति मिलकार भी मृत्यु के साथ ले जाने में असमर्थ है फिर सुई तो मृत्यु के बाद जा ही नहीं सकती।" अरे यह शरीर ही साथ नहीं जा सकता तो फिर ये कहाँ से चली जायेगी।

काफी सोचने-विचारने के बाद सेठ नानक के पास पहुँच गया और नानक को सुई वापिस कर दी और कहा कि कृपा करके मुझे क्षमा कर दो तथा इस सुई को वापिस ले लो। मेरी सारी सम्पत्ति भी इसे, मृत्यु के बाद ले जाने में असमर्थ है।

तब नानक ने कहा, "एक सुई मृत्यु के बाद ले जाना असमर्थ है तो फिर तुम्हारे पास क्या है जो मृत्यु के बाद उसे पार ले जाया जा सके, और ऐसा तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है, जिससे अपने आप को धनवान समझो। सम्पत्तिशाली वे ही हैं, जिनके पास मृत्यु के उस पार ले जाने वाली सम्पदा है वे ही धनी हैं, वह सम्पदा धर्म है, अगर धनी बनना चाहते हो तो धर्म में लगो।

बीज बने पुष्प

एक विदेशी महिला थी। एक बार उसने सम्पूर्ण विश्व का परिभ्रमण करने का निश्चय किया। वह पर्याप्त संपन्न थी। अपने निश्चय के अनुसार वह विश्व परिभ्रमण के लिए निकल पड़ी। उसके पास मात्र एक झोला था। लोग उसे देखते, उसका संकल्प देखकर आश्चर्य से उनकी आँखें विस्फारित हो उठती। बात आश्चर्य के योग्य भी थी।

जब वह गाड़ी से अलग पैदल यात्रा करती, तो झोले में से कुछ निकालकर निरंतर बाहर फेंकती जाती। लोगों ने उससे पूछा—देवी जी, अन्यथा न माने। हमारी जिज्ञासा हमें आपसे पूछने के लिए बाध्य कर रही है। आप अपने झोले से, निरंतर 'कुछ' निकालकर यत्र-तत्र फेंकती जा रही हैं हमें बताये वह क्या है? देवी जी ने अपनी मधुर मुस्कान विकीर्ण करते हुए समस्त वातावरण को मैत्रीपूर्ण भाव से आलोकित करते हुए कहा—ये सुन्दर-सुन्दर फूलों के बीज हैं। मैं इन्हें इस तप्त भूमि पर इसलिए फेंक रही हूँ, कि जब भी वर्षा होगी, वातावरण शांत, अनुकूल होगा, ये अंकुरित होंगे-और तब मौसम में इन पर सुन्दर-सुन्दर रंग-बिरंगे फूल खिलेंगे।

लोगों ने उनसे पूछा—"देवी जी, क्या उन सुन्दर-सुन्दर फूलों को देखने के लिए आप पुनः इसी मार्ग से लौटेंगी?"

उसने पुनः उसी सहज मुस्कान में कहा—"मैं निकलूं या न निकलूं इससे क्या फर्क पड़ता है। अरे! सुन्दर-सुन्दर फूल अनुकूल वातावरण में पुष्पित होंगे, खिलेंगे, उनकी मधुर भीनी-भीनी गंध से वातावरण प्रसन्न होगा। उसे देखकर मानवता मुकुलित होगी, आनन्द विभोर होगी, क्या यही मेरे लिए पर्याप्त आनन्ददायी नहीं है। मैंने अपने जीवन में प्रभु से यही वरदान मांगा है। उसने मेरे जीवन में फूल खिलाये हैं—मैंने भी मुक्तहस्त से बाँटना शुरू कर दिया है।" सच बिल्कुल इसी प्रकार होता है धर्मी का स्वभाव। एक और दृष्टान्त—

सिंह पुत्र की कहानी

एक सिंह का बच्चा था, वह भूल से बकरों के झुण्ड में शामिल हो गया और स्वयं को बकरा समझकर बकरों के समान व्यवहार करने लगा। एक अनुभवी वृद्ध सिंह ने उसे देखा और जाग्रत करने के लिए उसने सिंहनाद किया। सिंह की गर्जना सुनकर झुण्ड के सारे बकरे डरकर भाग गये लेकिन सिंह का बच्चा वहीं निर्भयता से खड़ा रहा, उसे सिंह से डर नहीं लगा। तब वह वृद्ध सिंह उसके पास जाकर प्रेम से बोला—

'अरे बच्चे! तू मैं.....मैं..... करने वाली बकरी नहीं है। तू तो महा पराक्रमी सिंह है। देखो मेरा सिंहनाद सुनकर बकरे तो सब भाग गये, लेकिन तुझे क्यों नहीं डर लगा? क्योंकि तुम तो सिंह हो। हमारी जाति के हो। यदि विश्वास न हो तो विशेष परिचय करने के लिए मेरे साथ

चल।'' ऐसा कहकर वह अनुभवी सिंह उसे अपने साथ ले गया, और एक कुएँ के पास जाकर बोला–'स्वच्छ पानी में देख तेरा चेहरा किसके समान है–सिंह के समान है या बकरे के समान।' और भी विशेष लक्षण बताने के लिए सिंह ने उसे कहा–'तू एक आवाज लगा और पहिचानकर, कि तेरी आवाज किसके समान है, शेर के समान या बकरे के समान।'' सिंह के बच्चे ने जैसे ही गर्जना की, वहीं उसे विश्वास हो गया, कि मैं शेर हूँ। वह भूल से सिंहपना भूलकर अपने को बकरे के समान मान रहा था। इस प्रकार लक्षण के द्वारा उसका असली स्वरूप बताकर अनुभवी सिंह ने उससे कहा 'अरे सिंह के बच्चे! तू इन बकरों की टोली में शोभा नहीं देता आ....आ.... हमारी टोली में।''

इसी प्रकार यहाँ भी सिंह के समान अर्थात् सिद्ध भगवान के समान भगवान आत्मा अपने परमात्मस्वरूप को भूलकर स्वयं को बकरी के बच्चे के समान दीन-हीन-पामर-रागी, द्वेषी मानकर भव-भव में भटक रहा है। उसे जाग्रत करने के लिए धर्म-केशरी सर्वज्ञ परमात्मा और संत भगवन्त चैतन्य का सिंहनाद करके बताते हैं, कि अरे! जीव! तू तो हमारी जाति का परमात्मा है। जैसे परमात्मा हम हैं वैसा ही परमात्मा तू है। तू देहवाला या रागी या दीन-हीन बकरी के समान नहीं है, तू तो सिद्ध जैसा है। निर्मल ज्ञान दर्पण में तू अपने स्वरूप को देख। तेरी चैतन्य मुद्रा हमारे साथ मेल खाती है। जड़ के साथ, तुझे स्वसंवेदन होने पर ही ऐसा दृढ़ विश्वास होगा, कि तू हमारे समान परमात्मा है और 'मैं सिद्ध हूँ'–ऐसे स्वसम्मुख वीर्य के साथ श्रद्धा का सिंहनाद कर-तुझे तेरा सिद्धपना स्पष्ट प्रतीत में आ जायेगा। 'बेटा तू सिद्ध प्रभु के समान है, इस संसार में पुद्‌गल की टोली में तुझे रहना शोभा नहीं देता। आ.....जा.... हमारी सिद्धों की टोली में''

इस प्रकार सर्वज्ञ प्रभु की वाणी के सिंहनाद से अपने सिद्ध प्रभु का भान करके ही मुमुक्षु जीव आनन्दित होता है, उसका हृदय उल्लसित हो जाता है, और मोक्ष को साधकर वह भी फिर सिद्धों की टोली में मिल जाता है। अहो! देखो तो सही, वीतरागी संतों की पुकार!! आत्मा का परमात्मपना बताकर हम जैसे पामर प्राणियों पर कितना उपकार किया है।

— —

भगवान महावीर अपनी वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशी पने से पूज्य है न कि कोई सन्तान देने, चमत्कार या वरदान के लिये।

कर्म व पुरुषार्थ

यह आत्मा अनन्त शक्ति का धारक होकर भी अपनी शक्ति को भूल रहा है। अपनी शक्ति को भूलने के कारण ही यह संसार में भटक रहा है। अपनी शक्ति को न पहिचानकर कर्म जनित दु:खों को भोग रहा है और दु:खी हो रहा है। अगर यह अपनी शक्ति को पहिचान कर यथार्थ पुरुषार्थ करे तो सर्व कर्मों के बंधन तोड़कर स्वतंत्र एवं सुखी हो जावे।

कर्म के भेद

सामान्य रूप से कर्म के तीन भेद हैं। विशेष 8 हैं और उत्तर भेद 148 हैं।

सामान्य भेद

1. **द्रव्यकर्म**–ज्ञानावरणादि 8 कर्मों को द्रव्यकर्म कहते हैं।
2. **भावकर्म**–राग, द्वेषादि को भावकर्म कहते हैं।
3. **नोकर्म**–शरीरादि अन्य सहयोगियों को नोकर्म कहते हैं।

जड़ कर्म घुमाता है मुझको, यह मिथ्याभ्राँति रही मेरी।
मैं राग, द्वेष किया करता, जब परिणति होती जड़ केरी॥

द्रव्यकर्म–मूल में कर्म के 8 भेद हैं और उत्तर में 148 भेद हैं।

1. **ज्ञानावरण**–ज्ञानावरण कर्म के पाँच भेद हैं, जो उत्कृष्ट में 30 कोडाकोडी सागर तक सत्ता में रह सकता है, यह पर्दे का काम करता है। (जैसे–अरिहंत भगवान के ऊपर परदा डाल दिया जावे)।
2. **दर्शनावरण**–दर्शनावरण कर्म के नौ भेद हैं। जो उत्कृष्ट में 30 कोडाकोडी सागर तक सत्ता में रह सकता है। वह द्वारपाल का काम करता है। (जैसे–द्वारपाल राजा के दर्शन नहीं होने देता)।
3. **मोहनीय**–मोहनीय कर्म के 28 भेद हैं। (मोहनीय के दो भेद हैं)।
   1. **दर्शन मोहनीय**–दर्शन मोहनीय उत्कृष्ट 70 कोडाकोडी सागर सत्ता में रह सकता है।
   2. **चारित्र मोहनीय**–चारित्र मोहनीय उत्कृष्ट 40 कोडाकोडी सागर तक सत्ता में रह सकता है।
4. **अंतराय**–अंतराय कर्म के 5 भेद हैं। जो उत्कृष्ट रूप में 30 कोडाकोडी सागर तक सत्ता में रह सकता है। यह खजान्ची का काम करता है। (ये आत्मा के अनुजीवी गुणों का घात करते हैं)।

चार अघातियाकर्म—आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय की दलीलें।

आयु कर्म—आयु कर्म कहता है, मेरे चार भेद हैं, मैं उत्कृष्ट में 33 सागर तक सत्ता में रह सकता हूँ, मैं जेल का काम करता हूँ।

नाम कर्म—नाम कर्म कहता है, मेरे 93 भेद हैं, मैं उत्कृष्ट में 20 कोडाकोडी सागर तक सत्ता में रह सकता हूँ, मैं चित्रकार का काम करता हूँ।

गोत्र कर्म—गोत्र कर्म कहता है, मेरे 2 भेद हैं, मैं उत्कृष्ट में 20 कोडाकोडी सागर तक सत्ता में रह सकता हूँ, मैं कुम्भकार का काम करता हूँ।

वेदनीय कर्म—वेदनीय कर्म कहता है, मेरे 2 भेद हैं, मैं उत्कृष्ट में 30 कोडाकोडी सागर तक सत्ता में रह सकता हूँ, मैं शहद लिपटी तलवार का काम करता हूँ (जैसे—तलवार चाटने पर तो मीठी लगे लेकिन जीभ को काट देती है)।

1. **ज्ञानावरण**—ज्ञानावरण कर्म कहता है कि मैंने बाहुबली जैसे महापराक्रमी को एक साल तक खड़े रखा केवलज्ञान नहीं होने दिया।
2. **दर्शनावरण**—दर्शनावरण कर्म कहता है, कि मैंने बड़े-बड़े योगियों को आत्मा के दर्शन नहीं होने दिये।
3. **मोहनीय**—मोहनीय कर्म कहता है, मैंने राम जैसे महान पुरुष को लक्ष्मण के मृतक शरीर को छः मास तक कन्धे पर लेकर घुमवाया। सीता को पत्तों, पहाड़ियों आदि में ढुँढवाया। उपशमश्रेणी लगाने वाले मुनि को ग्यारहवें गुणस्थान से पहले गुणस्थान में पहुँचाया।
4. **अंतराय**—अंतराय कर्म कहता है, मैंने आदिनाथ तीर्थंकर को छः माह तक आहार नहीं लेने दिया।
5. **नामकर्म**—नामकर्म कहता है, मैंने अनेकों को गूँगा, बहरा, कुबड़ा, काला, बना दिया।
6. **आयु कर्म**—आयु कर्म कहता है, मैंने अर्धचक्री, प्रतिनारायण, रावण, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, सुभौम चक्रवर्ती और राजा श्रेणिक को नर्क पहुँचाया।
7. **गोत्र कर्म**—गोत्र कर्म कहता है, मैंने बहुतों को ऊँच नीच पर्याय में डाला।
8. **वेदनीय कर्म**—वेदनीय कर्म कहता है, मैंने सनतकुमार मुनिराज की देह में सात सौ वर्ष कुष्ट रोग कराया। मुनि वादिराज के शरीर में 100 साल तक कुष्ट रोग कराया। श्रीपाल जैसे कोटिभट को कोढ़ी बनाकर निकलवाया।

सामान्य—कर्म कहते हैं, मैंने अंजना जैसी सती को 22 साल तक पति से वियोग कराया। सीता जैसी महान सती को रावण के द्वारा अपहरण कराया व शीलभंग का झूठा दोष लगाया। सुकमाल जैसे महान मुनि को स्यालनी के द्वारा भक्षण करवाया।

पुरुषार्थ–पुरुषार्थ के चार भेद हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

पुरुषार्थ से चमकता है किसमत का सितारा।
विश्वास करोगे तो जरूर मिलेगा सहारा।।
वैसे भोगों का चारों ओर दिखता है बोलबाला।
त्याग करोगे तो मिलेगा भव का किनारा।।१।।

कोशिश से धूल में फूल खिल जाता है।
कोशिश से मौसम अनुकूल मिल जाता है।।
अगर समुन्दर की लहरों से हार न मानो।
तैरते ही आ कूल मिल जाता है।।२।।

बेमौसम पानी बरसते देखा है।
समझदार इन्सान बहकते देखा है।।
अगर दिन बुरे हैं घबरा मत हे भैया।
मैंने उजाड़ गुलशनमहकतेदेखाहै।।३।।

पुरुषार्थ द्वारा कर्मों का प्रतिकार

1. बाहुबली को जब तक कषाय रही, आत्मिक पुरुषार्थ नहीं किया तब तक केवलज्ञान नहीं हुआ। जब कषाय मिटी आत्मिक पुरुषार्थ जागा तुरन्त केवली हुए।
2. राम ने आत्मिक पुरुषार्थ जगाया तुरन्त मोक्ष चले गये।
3. सीता के जीव ने पहले भव में मुनियों को दोष लगाया था। पुरुषार्थ गलत करने के कारण सीता का हरण हुआ। जब सीता ने पुरुषार्थ जगाया, तो स्वर्ग में जाकर प्रतीन्द्र बन गई, अगले भव में मोक्ष चली जाएगी।
4. आदिनाथ ने बैलों के छींका लगाने का उपदेश देकर गलत पुरुषार्थ किया तब अंतराय हुआ, जब आत्मिक पुरुषार्थ जगाया तो मोक्ष को प्राप्त हुए।
5. रावण ने पुरुषार्थ गलत किया इसलिए नरक चला गया।
6. श्रीपाल कोटिभट्ट ने पहले भव में मुनियों को कोढ़ी-कोढ़ी कहकर उनकी निन्दा की, इस कारण उनके शरीर में कोढ़ हो गया, जब उन्होंने आत्म पुरुषार्थ जगाया तो मोक्ष को प्राप्त किया।
7. सुकमाल को स्यालनी ने खाया, क्योंकि उसने पूर्वभव में अपनी भाभी को लात मारी थी

इसी कारण उसकी भाभी ने स्यालनी बनकर बदला चुकाया और जब उन्होंने सही पुरुषार्थ जगाया तो वही सुकमाल सर्वार्थसिद्धि में अहिमिन्द्र हो गये।

8. सुभौम चक्रवर्ती ने पानी में णमोकार मंत्र लिखकर महामंत्र की अविनय की। ऐसे गलत पुरुषार्थ के कारण सातवें नरक गया।
9. ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने जंगल में जाकर शिला को तपाया, उस शिला पर मुनि आकर बैठ गये, इस प्रकार उसने मुनि पर उपसर्ग किया, गलत पुरुषार्थ के कारण नरक गया।
10. अंजना ने सौत से विरोध करके 22 पल के लिए प्रतिमा जी को छिपाकर गलत पुरुषार्थ किया, इसलिए 22 साल तक पति का वियोग सहा।
11. राजा श्रेणिक ने यशोधर मुनिराज के गले में सर्प डाला, इस गलत पुरुषार्थ के कारण सातवें नरक का बन्ध हुआ। जब उसने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया तो उत्तम पुरुषार्थ के कारण सातवें नरक से हटकर पहले नरक का बन्ध हुआ। किन्तु उचित पुरुषार्थ से वही श्रेणिक भावी चौबीसी में महापद्म नाम का प्रथम तीर्थंकर होगा। जिसकी आयु 116 वर्ष होगी।

आत्मा का पुरुषार्थ

1. चाहे कितना सुन्दर या चतुर कारीगर हो, तो भी दो घड़ी में मकान तैयार नहीं कर सकता। किन्तु यदि मनुष्य पुरुषार्थ करे तो दो घड़ी में आत्मा को जानकर उसमें लीन हो केवली बन सकता है।
2. आठ वर्ष का बालक भारी बोझ नहीं उठा सकता, किन्तु यथार्थ समझ के द्वारा, आत्मा की प्रतीति करके कैवल्य को प्राप्त कर सकता है।
3. आत्मा का पर द्रव्य से कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, किन्तु स्वद्रव्य में पुरुषार्थ के द्वारा समस्त विभावों को नष्ट कर सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करके केवल ज्ञान को प्राप्त कर सकता है।
4. स्व पुरुषार्थ से आत्मा सम्पूर्ण स्वतंत्र है किन्तु पर में कुछ करने की आत्मा में किंचित् मात्र भी सामर्थ्य नहीं है।
5. आत्मा में इतना स्वाधीन पुरुषार्थ विद्यमान है यदि वह उल्टा चले तो दो घड़ी में सातवें नरक में पहुँच सकता है और यदि सीधा चले तो दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

आत्म पुरुषार्थ वह है, जो कल के पुरुषार्थ को आज भगवान बना दे। जैसे–अंजन चोर ने पुरुषार्थ जगाया और उसी भव से मोक्ष चला गया। अगर पुरुषार्थ हीन होंगे तो कायर हो जाएगें

और कर्मों के वशीभूत होकर नाना योनियों में भ्रमण करेंगे। न केवल मनुष्य बल्कि प्रत्येक जीव जैसा परिणाम करता है, जैसा भाव करता है उसी के अनुसार वह कर्म बन्ध या मुक्त होता है। यदि स्वभाव की ओर उन्मुख होता है तो कर्मों से मुक्त हो जाता है, किन्तु यदि पर वस्तओं में अपनी परिणति करता है तब कर्म बन्ध करता है, शुभ या अशुभ जैसी भी उस समय स्थिति हो। इन कर्मों के अनुरूप ही वे उदय में आते हैं, किन्तु यदि यह वर्तमान में शुभ प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होता है तब पूर्व के अशुभ कर्मों के फल में भी शिथिलता आ जाती है, इसी प्रकार यदि वह वर्तमान में अशुभ प्रवृत्ति कर रहा है तो पूर्व किये शुभ कर्मों के फल में भी शिथिलता आ जाती है। इस बात को समझने के लिए निम्न दृष्टान्त समझना होगा।

कर्मानुसार फल

किसी नगर में दो भाई साथ-साथ रहते थे। दोनों के स्वभाव में बहुत अन्तर था। एक भाई चोरी आदि अशुभ कर्म किया करता था, जबकि दूसरा भाई जिनेन्द्र भगवान की भक्ति आदि शुभ कर्मों में अपना समय बिताता था। बहुत समय व्यतीत हो गया। दोनों अपने-अपने कार्य करते रहे। एक दिन एक भाई चोरी करने जाता है, दूसरा भाई भी उसी समय घर से पूजा आदि करने के लिए निकलता है। रास्ते में पुजारी अचानक ठोकर खाकर गिरता है, पूजा की सामग्री भी बिखर जाती है। वह घायल हो जाता है। उसी समय अचानक उसकी दृष्टि अपने चोर भाई पर पड़ती है। देखता है कि वह नीचे से एक थैली उठा रहा है। यह थैली अशर्फियों से भरी थी। चोर भाई बहुत प्रसन्न हो घर लौट आता है।

अब पुजारी विचार करता है कि मैं दिन-रात अच्छे कार्य करता हूँ, लेकिन फिर भी ठोकर खाकर गिरा और घायल हो गया। किन्तु मेरा भाई चोरी आदि पाप करता आ रहा है फिर भी उसे वहीं से अशफियों की थैली मिल गयी। यह सोच वह आगे मन्दिर नहीं जाता और वापिस अपने घर लौटने लगता है।

रास्ते में उसे एक अवधि ज्ञानी मुनिराज के दर्शन होते हैं। वे पूछते हैं कि तुम वापिस क्यों आ रहे हो? पुजारी सम्पूर्ण वृतान्त कह देता है। अब मुनिराज कहते हैं कि-'अगर तुम जीवन में पूजा नहीं करते तो तुमने पूर्व में इतना अशुभ कर्म बांध लिया था कि आज तुम्हें फाँसी लगती, किन्तु तुम्हारा वह कर्म आज मात्र ठोकर बनकर रह गया। तुम्हारा भाई जो चोरी करता है वह यदि जीवन में चोरी न करता तो उसने पूर्व में इतना शुभ कर्म का बन्ध कर रखा था कि उसे आज अपार धन की प्राप्ति होती, किन्तु उसका शुभ कर्म क्षीण हो गया, मात्र अशर्फियों की थैली ही मिली।

मुनिराज के वचन सुनकर दोनों गृहस्थोचित शुभ कार्यों में लग गए।

उपर्युक्त दृष्टान्त से यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो जैसा पुरुषार्थ करता है उसे तदनुरूप वैसा ही फल मिलता है। यही कर्म सिद्धान्त है।

कर्म बड़ा है या पुरुषार्थ-इस तथ्य को समझने के लिए निम्न दृष्टान्त को समझना होगा-

पुरुषार्थ या कर्म

एक समय की बात है कि कर्म और पुरुषार्थ में वाद-विवाद हो जाता है। कर्म कहता है कि मैं बड़ा हूँ, पुरुषार्थ कहता है कि मैं बड़ा हूँ। निर्णय इन्द्र के पास चला जाता है। इन्द्र विचार करने लगता है कि मैं कर्म के कारण ही वर्तमान में सुख भोग रहा हूँ। अच्छा पुरुषार्थ किया था तो ऐसा कर्म बना लिया। तब इन्द्र कहता है कि तुम्हारा फैसला मुझसे नहीं होगा। कर्म और पुरुषार्थ वापिस आ जाते हैं। उन्हें रास्ते में एक गरीब बूढ़ा बैठा मिलता है। कर्म कहने लगता है कि मैंने कर्म से इसे दुःखी बनाया है। पुरुषार्थ कहता है कि बूढ़े बाबा तुम जंगल में जाओ, वहाँ से सुगंधमयी चन्दन लाओ और राजा को भेंट करो। बूढ़ा व्यक्ति चंदन लाकर राजा के पास ले जाता है। राजा प्रसन्न होकर उसे सोने का हार दे देता है। बूढ़ा प्रसन्न हो घर वापिस आ जाता है। बूढ़ा हार को एक खूँटी पर टाँग देता है। इतने में एक चील आती है और उसे उठाकर ले जाती है। अब कर्म कहता है कि–'कहो पुरुषार्थ! तुम बड़े हो या मैं बड़ा हूँ?' पुरुषार्थ बोला–'*अभी मेरी क्रिया शेष है।*' पुरुषार्थ फिर बूढ़े को राजा के पास भेजता है। राजा से बूढ़ा कहता है कि हार तो चील ले गयी, मैं क्या करूँ? राजा एक अशर्फी की थैली उस बूढ़े व्यक्ति को दे देता है। बूढ़ा व्यक्ति इस बार घर आकर चूल्हे की राख के ढेर में उस अशर्फियों की थैली को छुपा देता है। थोड़ी देर में पड़ौसिन राख लेने आती है और वह अशर्फियों की थैली उसी राख के साथ चली जाती है। अब कर्म उपहास करते हुए बोला–'मैं बड़ा हूँ कि नहीं, अब बोलो।' पुरुषार्थ कहता है कि अभी खेल खत्म नहीं हुआ है। वह बूढ़े व्यक्ति को पुनः राजा के पास भेजता है। राजा इस बार एक मूल्यवान अँगूठी दे देता है। बूढ़ा व्यक्ति उसे बड़ी सावधानी से अपने घर ले जा रहा था, किन्तु रास्ते में नींद आ जाने से वह अँगूठी नदी में गिर जाती है। बूढ़ा व्यक्ति इस बार भी खाली हाथ हो जाता है। अब कर्म कहता है कि देखो पुरुषार्थ–'मैंने अपना बड़ापन दिखा दिया, तूने अपना सब जोर दिखा दिया, अब भी तुझे मेरे बड़ेपन पर विश्वास नहीं है क्या?' अब पुरुषार्थ कहता है कि–अभी 'धर्म' बाकी है। वह ऐसा पुरुषार्थ है कि क्षण भर में तुम्हें भगा सकता है।

अब पुरुषार्थ बूढ़े से कहता है कि तुम प्रतिदिन पूजा किया करो, साधु की सेवा किया करो, स्वाध्याय किया करो, कुछ त्याग, संयम आदि का पालन करो, इस प्रकार तुम धर्म में समय व्यतीत करना शुरू कर दो। अब बूढ़ा व्यक्ति सब क्रिया करने लगता है। अतः वह धर्म के बल से अपने पाप कर्म काटना प्रारंभ कर देता है। एक दिन बूढ़ा व्यक्ति अपनी स्त्री से कहता है कि खाना बनाना है, इसलिए तुम पानी नदी से ले आओ, मैं वृक्ष से लकड़ी काटकर लाता हूँ। दोनों चले जाते हैं। स्त्री नदी पर पहुँचती है तो उसे नदी के किनारे अँगूठी पड़ी हुयी मिल जाती है। अँगूठी और पानी वह घर ले आती है। इधर बूढ़ा व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ता है तो उसे वहाँ हार

लटका हुआ मिल जाता है। वह उसे उतारकर घर ले आता है। अब दोनों बूढ़ा और उसकी पत्नी बातें कर ही रहे थे कि पड़ौसन भी चुपके से अशर्फियों की थैली आँगन में डाल जाती है।

अब पुरुषार्थ कर्म से कहता है कि–भैय्या! अब दिखाओ तुम अपना पुरुषार्थ। कर्म लाचार हो जाता है। चुप रह जाता है। सत्य यही है कि पुरुषार्थ में अपार शक्ति है। यद्यपि कर्म की भी सत्ता अवश्य है, किन्तु पुरुषार्थ ही प्रधान है, या यूँ कहिये दोनों साथ-साथ चलते हैं। मात्र कर्म पर आश्रित रहना महान् मूर्खता है। सब पुरुषार्थ आत्मा का है। स्वआत्मा का पुरुषार्थ ही सम्यग् पुरुषार्थ होता है, जिससे कर्म बन्धन सदा-सदा के लिए नष्ट हो जाता है। हमारा आज का पुरुषार्थ ही तो कल का कर्म होता है।

ज्ञानवरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय आत्मा के स्वभाव का घात करते हैं। इनमें भी मोहनीय सबसे खतरनाक कर्म है क्योंकि यह आत्मा के सम्यकत्व गुण का घात करता है। आत्मा के सम्यक् पुरुषार्थ से इन घातिया कर्मों को नष्ट किया जा सकता है और केवलज्ञान प्रकट किया जा सकता है। शेष चार कर्मों (वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र) को अघातिया कर्म कहते हैं। ये भी जब समय रहते नष्ट हो जाते हैं तो जीव मुक्त हो जाता है। कर्म बन्धन से छूट जाता है। कर्म और पुरुषार्थ में सूक्ष्म भेद है। ये अपना फल इस प्रकार देते हैं कि साधारण व्यक्ति चकरा जाता है कि कौन प्रधान है और कौन नहीं? कर्म तो जड़ है, जड़ का कोई सम्बन्ध आत्मा से होता नहीं, किन्तु दिखता ऐसे है कि कर्म ही मुझे घुमाया करते हैं, किन्तु जब यह भ्रान्ति टूट जाती है, तब कर्म शनैः शनैः कमजोर पड़ते जाते हैं और पुरुषार्थ, जो आत्मा का अपना गुण है, कर्मों का अन्त कर देता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि पुरुषार्थ ही प्रधान है, क्योंकि वही कर्मों को काटने वाला होता है। अतः सभी को अपनी स्वआत्मा को प्राप्त करने के लिए सम्यक् पुरुषार्थ करना चाहिए।

— —

पुत्रार्थ-लोकादि-समेषणासु, नूनं हि सर्वोपरि तिष्ठतीयम्।
द्वयोर्विनाशेषि लयो न चास्याः, अस्या विनाशे तु तयोर्न सत्वम्॥

विद्वानों ने एषणाएँ तीन प्रकार मानी हैं –लोकैषणा, पुत्रैषणा और धनैषणा। इन तीनों एषणाओं में लोकैषणा का छूटना सबसे कठिन है। धनैषणा और पुत्रैषणा नष्ट हो जाने पर भी लोकैषणा नष्ट नहीं होती। यदि यह लोकैषणा ही किसी तरह नष्ट हो जाए तो धनैषणा और पुत्रैषणा की तो अलग कोई सत्ता ही नहीं रहती।

तृतीय अध्याय : मिथ्यात्व

अनादि से सभी संसारी प्राणी मिथ्यात्व बैरी के वशीभूत होकर इस विकट संसार में दुःख उठा रहे हैं, लेकिन आज तक इनका सम्यग्दर्शन रूपी मित्र से मिलाप नहीं हुआ है। वस्तुतः दर्शनमोह को मिथ्यात्व कहते हैं। इसके दो भेद हैं। मिथ्यात्व के दो भेद बताने के लिए आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं–

मिथ्यादर्शनं द्विविधं नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च तत्रपरोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशात् आविर्भवति तत्वार्थश्रद्धानलक्षणं नैसर्गिकम्।

मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है–एक नैसर्गिक (अगृहीत) दूसरा अधिगमज (गृहीत) या पर उपदेशपूर्वक।

अगृहीत मिथ्यात्व–जो पर के उपदेश के बिना ही मिथ्यात्व कर्म के उदय के बस से जीव-अजीवादि सात तत्त्वों का अश्रद्धान प्रकट होता है वह नैसर्गिक मिथ्यात्व है। 'इसी को दौलतराम छहढाला में कहते हैं–

मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, वे रूप सुभग मूरखप्रवीन।।४।।

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रकट ये दुःखदेन, तिनहीं को सेवत गिनत चैन।।५।।

यह साधारणतः सर्व ही एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों तक के पाया जाता है, जब तक मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं मिटेगा तब तक यह मिथ्यात्व भाव होता ही रहेगा।

गृहीत मिथ्यात्व–यह पर उपदेश (कुगुरु कुदेव, कुशास्त्र) से होता है। मिथ्यात्व के पांच भेद हैं–एकांत, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान। इनका विस्तार आगे करते हैं–

1. **एकान्त मिथ्यादर्शन**–अनेक धर्मवस्तु का एक धर्म रूप श्रद्धान होने को एकान्त मिथ्यादर्शन कहते हैं। जैसे–वस्तु नित्य ही है, अनित्य ही हैं, सत् ही है, असत् ही है, इत्यादि रूप श्रद्धा को एकांत कहते हैं।

कोई नर निश्चय से आत्मा को शुद्धमान,
हुआ है स्वच्छन्द न पिछाने निज शुद्धता।
कोई व्यवहार दान तप शीलभाव को ही,
आत्मा का हितमान छोड़ै नहीं मूढ़ता।

कोई व्यवहार नय निश्चय के मारग को,
भिन्न-भिन्न जानकर करत निज उद्धता।
जाने जब निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण को उपचार माने तब बुद्धता।।५।।

2. **विपरीत मिथ्यादर्शन**—परिग्रह सहित भी गुरु हो सकता है, केवली कवलाहार करते हैं, स्त्री को भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है, इत्यादि विपरीत श्रद्धान को, विपरीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।
3. **संशय मिथ्यादर्शन**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं या नहीं? ऐसी द्विविधा को संशय मिथ्यादर्शन कहते हैं।
4. **वैनयिक मिथ्यादर्शन**—सब प्रकार के देवों तथा सब प्रकार के मतों में समान श्रद्धा का होना, वैनयिक मिथ्यादर्शन हैं।
5. **अज्ञान मिथ्यादर्शन**—हित और अहित के विचार रहित श्रद्धा को, अज्ञान मिथ्यादर्शन कहते हैं।

मिथ्यादृष्टि का लक्षण

धर्म न जानत बखानत भरमरूप,
ठौर-ठौर-ठानत लराई पक्षपात की।
भूल्यो अभिमान में न पाउधरे धरनी मैं,
हिरदै मैं करनी विचारै उत्पाद की।।
फिरे डांमाडोलसौ करम के फलोलिन मैं,
है रही अवस्था सुबद्युते कैसे पात की।
जाकी धाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी,
ऐसौ ब्रह्मघाती है मिथ्यात्वी महापातकी।।

जो वस्तु स्वभाव से अनभिज्ञ है, जिसका कथन मिथ्यात्वमय है और एकांत का पक्ष लेकर जगह-जगह लड़ाई करता है, अपने मिथ्याज्ञान के अहंकार में भूलकर धरती पर पांव नहीं टिकाता और चित्त में उपद्रव ही सोचता है, कर्मों के झकोरों से डांवाडोल हुआ घूमता है, अर्थात् विश्राम नहीं पाता, जिसकी ऐसी दशा हो रही है, जैसे बघरुडे में पत्ता उड़ता रहता है, जो हृदय में (क्रोध से) तप्त रहता है (लोभ से) मलिन रहता है, (माया से) कुटिल रहता है, (मान से)

बड़े कुबोल बोलता है, ऐसा आत्मघाती और महापापी मिथ्यात्वी होता है। इसी प्रकार आचार्य योगीन्दु योगसार में कहते हैं–

कालु अणाइ अणाइ जीउ भवसायरु जि अणंतु।
मिच्छादंसणमोहियउ णवि सुह दुक्ख जि पत्तु॥४॥

काल का चक्र अनादि से चल रहा है, जब काल अनादि से चल रहा है, तब काल के भीतर काम करने वाले जीव भी अनादि से है, इसीलिए संसारी जीवों का भ्रमण रूप संसार भी अनादि से है, इस प्रकार यह जीव मिथ्यादर्शन कर्म के कारण मोही होता हुआ सुख नहीं पाता, दुःख ही पाता है।

समाधिशतक में **आचार्य पूज्यपाद** स्वामी कहते हैं–

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात्॥५५॥

इन्द्रियों के भोग के भीतर आत्मा का हित नहीं है, तो भी मिथ्यादृष्टि अज्ञान की भावना से उन्हीं में रमण करता रहता है। वे आगे और कहते हैं–

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति॥५६॥

अनादिकाल से मूढ़ आत्माएं अपने स्वरूप में सोई हुई हैं, खोटी योनियों में भ्रमण करती हुई स्त्री पुत्रादि पर पदार्थों के व अपने शरीर व रागादि विभावों को अपना मानकर इसी विभाव में जाग रही हैं और भी–

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेह निस्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना॥६४॥

इस शरीर में स्वयं को मानना ही पुनः पुनः देह ग्रहण करने का बीज है। जबकि अपने आत्मा में ही रमण करना देह से छूट जाने का बीज है।

योगसार में आचार्य योगीन्दुदेव कहते हैं–

वयतवसंजममूलगुण मूढहं मोक्ख णवुत्तु।
जाव ण जाणइ इक्क पर सुद्धउ भाउ पवित्तु॥२९॥

जब तक एक परम शुद्ध व पवित्र भाव का अनुभव नहीं होता, तब तक मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव के द्वारा किए गए व्रत, तप, संयम व मूलगुण पालन को मोक्ष का उपाय नहीं कहा जा सकता है।

इसलिए श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं-

मिथ्यात्वं परमं बीजं संसारस्य दुरात्मनः।
तस्मात्तदेव मोक्तव्यं मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा॥५२॥

इस दुष्ट संसार का परम बीज एक मिथ्यादर्शन है, इसलिए मोक्ष के सुख की प्राप्ति चाहने वालों को मिथ्यादर्शन का त्याग करना उचित है। आगे और भी

सम्यक्त्वेन हि मुक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा॥४१॥

सम्यग्यदृष्टि जीव को अवश्य निर्वाण का लाभ होता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव का सदा ही संसार रहेगा। अनादि कालीन संसार में यह संसारी जीव मिथ्यादर्शन से अन्धा होकर भटक रहा है, इसलिए इस मिथ्यात्व का त्याग आवश्यक है।

गृहीत मिथ्यात्व

जो कुगुरु कुदेव कुधर्मसेव, पोषै चिर दर्शन मोह एव।
अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन अम्बर तैंसनेह॥९॥

धारैं कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जन्म-जल-उपल नाव।
जे राग-द्वेष मलकरि मलीन, वनिता गदादि जुत चिन्ह चीन॥१०॥

ते हैं कुदेव तिनकी जो सेव, शठ करत न तिन भव भ्रमण छेव।
रागादि भाव हिंसा समेत, दर्वित त्रस-थावर मरणखेत॥११॥

जे क्रिया तिन्हैं जानहु कुधर्म, तिन सरधै जीवलहैं अशर्म।
याकूँ गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जोहै अजान॥१२॥

(छहढाला)

गृहीत मिथ्यात्व के विषय में कुछ जिज्ञासाएं और समाधान

प्रश्न-जिस कुल में जीव जन्मा हो उस कुल में माने हुए देव-गुरु-शास्त्र सच्चे हों, यदि जीव लौकिक दृष्टि से सच्चा मानता हो तो उसको गृहीत मिथ्यात्व दूर हुआ या नहीं?

उत्तर-नहीं, उसके भी गृहीत मिथ्यात्व है, क्योंकि सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र का स्वरूप क्या है, तथा कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र में क्या दोष है, इसका सूक्ष्मदृष्टि से ज्ञान

करके, सभी पहलुओं से, जब तक उसके गुण और दोष का यथार्थ निर्णय न किया हो, तब तक जीव के गृहीत मिथ्यात्व है और वह सर्वज्ञ वीतराग का सच्चा अनुयायी नहीं है।

प्रश्न-इस जीव ने पहले कई बार गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा होगा या नहीं?

उत्तर–हाँ, जीव ने कई बार गृहीत मिथ्यात्व छोड़ा और द्रव्यलिंगी मुनि हो निरतिचार महाव्रत पाले, परन्तु अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा इसलिए संसारी बना रहा और फिर गृहीत मिथ्यात्व स्वीकार किया। निर्ग्रन्थदशापूर्वक पंच महाव्रत तथा 28 मूलगुण आदि का जो शुभ विकल्प है वह द्रव्यलिंग है। गृहीत मिथ्यात्व छोड़े बिना जीव द्रव्यलिंगी नहीं हो सकता और द्रव्यलिंग के बिना निरतिचार महाव्रत नहीं हो सकते। वीतराग भगवान ने द्रव्यलिंगी के ही निरतिचार महाव्रत को भी बालव्रत और असंयम कहा है क्योंकि उसने अगृहीत मिथ्यात्व नहीं छोड़ा है। प्रस्तुत दृष्टान्त से स्पष्ट है–

मिथ्यात्व का त्याग

एक बार एक बस्ती में एक साधु ठहरे हुए थे, प्रतिदिन वे भोजन के लिए गृहस्थों के यहाँ जाया करते थे। जिस रास्ते से वे गुजरते थे, उसी रास्ते में एक सेठ जी की दुकान पड़ती थी। सेठ जी उन साधु से रोज कहते कि साधु जी आज हमारे यहाँ भोजन कर लो। साधु जी कहते किसी दिन करेंगे बच्चा। सेठ जी प्रतिदिन कहते और साधु जी वही उत्तर देते।

एक दिन साधु जी के मन में आया, कि आज सेठ जी के यहाँ से भोजन लेंगे। उन्होंने अपने साथ एक टिफिन कैरियर लिया। साधु जी सेठ की दुकान पर जाकर बोले- "बच्चा आज हम भोजन तुम्हारे घर लेंगे सेठ जी ने अपना धन्यभाग्य समझा, सेठ जी साधु जी को घर ले गये। साधु जी ने अपना टिफिन कैरियर भोजन परोसने के लिए दे दिया।

टिफिन कैरियर जब खोलकर देखा गया, तब देखा उसके हर डिब्बे में, किसी में मिट्टी, किसी में रेत, किसी में भूसा, किसी में पत्थर के टुकड़े, यह देखकर सब आश्चर्य करने लगे। साधु जी कहने लगे- "क्या बात है, आप लोग भोजन इसी में परोस दो।" यह सुनकर सब लोग एक दूसरे की तरफ देखने लगे। साधु जी कहने लगे- "अरे! इस में भोजन परोस दो।" हिम्मत करके घर के लोग बोले- "साधु जी भोजन अपवित्र हो जायेगा। खाने के योग्य नहीं रहेगा।" साधु जी कहने लगे- "भोजन मुझे करना है, तुम परोस दो", पर किसी की हिम्मत भोजन परोसने की नहीं हुई। अन्त में साधु ने कहा- "क्या चाहते हो", घर वालों ने कहा, "साधु जी पहले डिब्बे को साफ करेंगे, उसके बाद भोजन परोसा जायेगा।" सबने ऐसा ही किया साधु भोजन लेकर चले गए। कुछ दिन बाद सेठ जी ने सोचा, साधु जी ने भोजन तो घर से ले ही लिया। अब तो जान-पहिचान हो गई है। कुछ कृपा दृष्टि की बात हो जाए, एक दिन सेठ जी साधु जी

के पास गए और कहने लगे, साधु जी हमारे ऊपर कुछ कृपादृष्टि कर दो, साधु जी बोले- "बच्चे तुझे उस दिन की घटना याद है, या नहीं जिस दिन मैं भोजन लेने तुम्हारे घर पर गया था तुम लोगों ने मेरे टिफिन में भोजन, टिफिन साफ किये बिना नहीं परोसा था और कहा था कि बिना साफ किये भोजन अपवित्र हो जायेगा। खाने योग्य नहीं रहेगा। इसलिए बच्चा, उसी प्रकार, तुम हमसे कुछ पूछने से पहले तुम भी अपने मन को साफ करो क्योंकि मन के साफ किये बिना जो भी बात हम तुम्हें बतायेंगे वह एकदम अपवित्र हो जायेगी। इसलिए पहले अपने मन को साफ करके अर्थात् सब विकल्प छोड़कर आना तब हम तुम्हें बात बतायेंगे।" सेठ साधु के मन्तव्य को समझकर चरणों में गिर गया।

गृहीत मिथ्यात्व का परिणाम

एक व्यक्ति था, वह बहुत दु:खी था, क्योंकि उसके घर में दीमक बहुत लगती थीं, यहाँ तक कि कपड़ों में खाने-पीने की वस्तु में भी दीमक लग जाती थी, एक दिन उस गांव में एक ढोंगी पंडित आया और कहने लगा किसी को भूत-प्रेत का प्रकोप हो, मैं उसे दूर भगा देता हूँ, वह व्यक्ति बोला- "पंडित जी पता नहीं, किसका प्रकोप है मेरे घर में दीमक बहुत लगती हैं। कृपाकर आप चलकर देख लें।" वह गया, वहाँ जाकर कहता है कि किसी जिन्द का प्रकोप है, वह व्यक्ति कहता है- "अब क्या होगा पंडित जी?" पंडित बोला आप चिंता न करें, मैं जैसा कहूँ वैसा करें, आप सब अपनी आँखें बन्द कर लें तब मैं, उस जिन्द को घर से निकालूँगा, सब ने अपनी-अपनी आँखें बन्द कर ली, पंडित घर में गया, और जितना भी सोने, चांदी का जेवर था वह एक मटके में भर लिया, बाहर आया तो उन लोगों से कहता है- "अभी आप आँखें मत खोलना, नहीं तो सब करी-कराई मेहनत पर पानी फिर जाएगा, मैंने जिन्द को इस मटके में बन्द कर लिया है। इसे इतनी दूर छोड़कर आऊँगा, ताकि फिर यह कभी भी यहाँ पर न आवे।" यह कहकर वह पंडित चलता बना। वे सब लोग आँखें ही बन्द किये रहे, जब बहुत देर हो गई पंडित लौटकर नहीं आया, उन्होंने अपनी आँखें खोली और घर में जाकर देखा, तो सब सामान बिखरा पड़ा था, जब व्यक्ति ने सन्दूक में जाकर अपनी जिन्दगी भर की कमाई देखी तो वहाँ फूटी कौड़ी भी नहीं, वह माथे पर हाथ लगाकर रोने लगा, और कहने लगा अरे! मैं लुट गया-मैं लुट गया। अब पछताय होत क्या जब चिड़ियां चुग गई खेत। इसी प्रकार बन्धुओं आप तो जैन हो, आप लोग किसी अन्य पर विश्वास नहीं करना, यह बहुत बड़ा मिथ्यात्व है।

एक और दृष्टान्त देखिए

एक व्यक्ति था, वह सोचता है कि मुझे धर्म-कर्म करना चाहिए, पर पूजूँ किसको। वह सबसे पूछता, "भाई! पूजना किसे चाहिए।" कोई कहता लक्ष्मी को पूजो, कोई कहता ब्रह्मा को,

कोई कहता विष्णु को, कोई कहता भैरों को, कोई कहता महावीर को, वह व्यक्ति कहता है ये सब तो अपने-अपने धर्म के पक्ष में बोल रहे हैं। यह बात जमी नहीं। एक बार की बात है वह एक जंगल में जा रहा था, वहाँ उसने एक दिगम्बर मुनि को देखा, देखते ही वह उनसे प्रभावित हो गया और जाकर बोला महाराज जी नमोस्तु! नमस्कार करके वह उनके चरणों में बैठ गया और उनसे पूछने लगा, महाराज जी मुझे एक बहुत बड़ी शंका उठ रही है कि पूजूँ किसे, कृपा करके इस शंका का निवारण करो, यह सुनकर वे वीतरागी संत बोले-

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते, सब जगजान लिया।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया॥
बुद्ध वीर जिन हरि-हर ब्रह्मा या उनको स्वाधीन कहो।
भक्ति भाव से प्रेरित हो, यह चित्त उसी में लीन रहो॥

अर्थात् जिस किसी में ये गुण मिलें वही पूज्य है, चाहे वह किसी भी नाम से पुकारा जावे।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि जीव के अनादि संसार भ्रमण का कारण उसका मिथ्यात्व भाव है। मोहनीय कर्म के दो भेद होते हैं-दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय कर्म ही सम्यक्त्व का घात करता है। मिथ्यात्व भी दो प्रकार का हो जाता है-1. गृहीत मित्यात्व; व 2. अगृहीत मिथ्यात्व। गृहीत मिथ्यात्व के भी पाँच भेद हो जाते हैं। इस मिथ्यात्व से छूटने का केवल एक उपाय है-स्व-आत्मा का चिंतन, सात तत्त्वों का श्रद्धान, देव, शास्त्र-गुरु पर अटूट श्रद्धान। स्व-पर भेद विज्ञान होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति और मिथ्यात्व का अभाव होता है।

ये कामयन्ते क्षणभंगुरायै, कीर्त्यै स्थिराप्तौ न विवेकवन्तः।
व्यपोह्य मूलं खलु जीर्णपत्रं, गृह्णन्ति ते मूढधियो द्रुमस्य॥

कीर्ति तो क्षणभंगुर वस्तु है। उसमें आत्मीयता की बुद्धि अविवेक है। जो स्थिर वस्तु की प्राप्ति की ओर कुछ भी लक्ष्य न रखते हुये इस अनित्य कीर्ति को चाहते हैं वे उस मनुष्य के समान हैं जो अपनी मूर्खतावश वृक्ष के मूल की तरफ कोई ध्यान नहीं देता हुआ केवल उसके जीर्ण-शीर्ण पत्तों की तरफ लक्ष्य देता है। कीर्ति की चाह भी वास्तव में ऐसी ही मूर्खता है।

चतुर्थ अध्याय : सम्यग्दर्शन

"सम्यग्दर्शन का अर्थ आत्मा को अपनी अनन्त शक्ति की जो विस्मृति हो गयी है, उसकी स्मृति करना है। जो असत्य है संसार का कारण है, स्वभाव नहीं परन्तु अज्ञानता से उसे अपना समझ लिया है, उस भ्रम को दूर करना एवं हेय का त्याग और उपादेय का ग्रहण करना है।" "मिथ्यादृष्टि जिसे आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान नहीं है वह व्यक्ति दु:ख रूपी जंगल की पीड़ा में घास तथा लकड़ी की तरह जलकर राख हो जाता है। उसके जीवन में वासना के काले धब्बे पड़ जाते हैं। कष्टों से मुक्ति ही नहीं मिल पाती। सांसारिक भोग सामग्री में ही फँसे रहते हैं और सड़-गलकर तड़पते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि जानता है कि आत्मा को केवल दु:ख नहीं जलाता, यह इन्द्रिय जनित सुख भी जलाता है। इसलिए दोनों में समताभाव रखता है और संसार में उदासीन होकर रहता है।

भगवान महावीर की परम्परा में एवं जिनागम में सम्यग्दर्शन का विशेष महत्त्व है। जिस प्रकार बिना नींव के भवन एवं बिना जड़ के वृक्ष का महत्त्व नहीं है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना किये गये त्याग-व्रत निप्रयोजन हैं। सम्यग्दर्शन के अभाव में न तो ज्ञान सम्यक् होता है और न चारित्र ही। इसीलिए सम्यग्दर्शन को मोक्षमहल की सीढ़ी कहा गया है, सम्यग्दर्शन से ही सम्यक् चारित्र का तेज प्रकट होता है। सम्यग्दर्शन रहित चारित्र उस अन्धे व्यक्ति की तरह है जो निरन्तर चलना तो जानता है पर लक्ष्य का पता नहीं। लक्ष्यविहीन यात्रा, यात्रा नहीं भटकन है। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने चारित्र निरूपक चरणानुयोग का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से किया है। एक साधक को प्रत्येक समय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की भावना करनी ही चाहिए जिससे वह अपने इष्ट लक्ष्य को पा सके। अब प्रश्न आता है– सम्यग्दर्शन क्या है? इसकी जीवन में क्या सार्थकता है? इसे समझना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसे समझे बिना हमारे मूल लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव है। आध्यात्म की साधना करने वाला अन्य विषय समझे या न समझे, किन्तु सम्यग्दर्शन के महत्त्व को समझना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिसने सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया।

इस चेतन आत्मा ने अनन्त बार स्वर्ग सुख भोगा भू-मण्डल पर राजेश्वरी वैभव पाया किन्तु सम्यग्दर्शन के अभाव में आत्मा को नहीं पा सका। नरक के दु:ख व स्वर्ग के सुख आत्मा को पवित्रता प्रदान नहीं कर सकते। आत्मपवित्रता का कारण है सम्यग्दर्शन। यदि आप भी इस आत्मसाधना में प्रवेश करना चाहते हैं, आत्मदेव की पूजा आराधना करना चाहते हैं एवं आत्म मन्दिर में प्रवेश करना चाहते हैं, तो इन सबका प्रवेश द्वार है सम्यग्दर्शन।

आचार्य कुन्दकुन्द ने **मोक्षपाहुड** में सम्यक्त्व सहित मुनियों की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है–

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं॥१४॥

नियम से निज द्रव्य में रत श्रमण सम्यकवंत है।
सम्यक्त्व-परिणत श्रमण ही क्षय करें कर्मानन्त है॥

जो मुनि स्व अर्थात् अपनी आत्मा में रत है, रुचि सहित है, वह नियम से सम्यग्दृष्टि है और वही सम्यक्त्व भाव रूप परिणमन करता हुआ, दुष्ट आठ कर्मों का नाश करता है। अब आगे आचार्य सम्यक्त्व को व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार का बताते हैं–

जीवादीसद्दहणं सम्मतं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं॥२०॥

दर्शनपाहुड

जीवादि का श्रद्धान ही व्यवहार से सम्यक्त्व है।
पर नियत नय से आत्म का श्रद्धान ही सम्यक्त्व है॥

तत्त्वार्थ का श्रद्धान व्यवहार से सम्यक्त्व है, और अपनी (और) आत्मा का श्रद्धान ही निश्चय सम्यक्त्व है। आगे **आचार्य योगीन्दु देव** ने कहा है कि जो अपने को पर से भिन्न जानता है वही संसार से छूटता है–

जो परियाणइ अप्प परु जो परभाव चएइ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहु सो संसारु मुएइ॥८॥

निज पर का अनुभव करे, पर तज ध्यावे आप।
सम्यग्दृष्टि जीव सो, नाश करे त्रय आप॥

जो आत्मा को और पर को अर्थात् अपने से भिन्न पदार्थ को भले प्रकार पहचानता है तथा सब पर भावों का त्याग कर देता है, वही पंडित भेद विज्ञानी सम्यग्दृष्टि है वह अपने आत्मा का अनुभव करता है, वही संसार से छूट जाता है।

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की मुख्यता बताते हुए **आचार्य समन्तभद्र** कहते हैं–

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्, साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते॥

(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चारित्र की अपेक्षा उत्कृष्टपने को प्राप्त होता है, इसलिए सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में खेवटिया के समान कहा जाता है। जिस प्रकार नौका को तटान्तर ले जाने में खेवटिया मुख्य है उसी प्रकार रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन मुख्य है–

सम्यग्दर्शन की मुख्यता का कारण बताते हुए **आचार्य समंतभद्र** कहते हैं–

विद्यावृत्तस्य सम्भूति-स्थितिवृद्धिफलोदया:।
न सत्यसति सम्यक्त्वे, बीजाभावे तरोरिव।।

(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

बीज न होने पर वृक्ष की उत्पत्ति, वृद्धि और फलोत्पत्ति न होने के समान सम्यग्दर्शन के न होने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की स्थिति, वृद्धि और फलोत्पत्ति नहीं हो सकती।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि मुनि से सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अच्छा है।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुने:।

(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

दर्शनमोह रहित सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है, किन्तु दर्शनमोह सहित मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है, अतएव इस कारण मिथ्यात्वी द्रव्यलिंगी मुनि से मिथ्यात्व रहित सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है।

पंडित दौलतराम कहते हैं–

मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यकता न लहै सो दर्शन, धारौ भव्य पवित्रा।
'दौल' समझ सुन चेत सयाने, कालवृथा मत खोवे।
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक् नहिं होवै।

(छहढाला)

आचार्य समंतभद्र कहते हैं कि सम्यक्त्व समान उपकारक और मिथ्यात्व समान कोई बैरी नहीं है–

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व-समं नान्यत्तनूभृताम्।

(रत्नकरण्डश्रावकचार)

तीनों कालों में और तीनों लोकों में जीवों को सम्यक्त्व के समान कोई दूसरा उपकारक नहीं है, और मिथ्यात्व के समान कोई अनुपकारक नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं–कि सम्यग्दृष्टि निम्न गतियाँ में नहीं जाता है–

सम्यग्दर्शनशुद्धा, नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः॥

(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

व्रत रहित भी शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव, नरक, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री, अकुलीनता, विकलाङ्गता, अल्पआयुष्कता और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते।

सम्यग्दृष्टि के उत्पत्ति के स्थान बताते हुये **आचार्य समन्तभद्र** कहते हैं–

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं, राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं, लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैतिभव्यः॥

(रत्नकरण्डश्रा.)

सम्यग्दृष्टि जीव मरने पर योग्यतानुसार अपरिमित इन्द्र के ऐश्वर्य को 32 हजार मुकुट-बद्ध राजाओं के द्वारा पूज्य चक्रवर्ती के पद को त्रैलोक्य के पूज्य तीर्थंकर पद को और मोक्ष को भी पाता है। आचार्यों ने कहा है–

मुक्ति गये या जायेंगे माहात्म्य है सम्यक्त्व का।
यह जानलो हे भव्य जन, इससे अधिक अब कहें क्या॥

सम्यग्दर्शन का महत्त्व अधोलिखित दृष्टान्तों से समझा जा सकता है–

1. एक जंगल में से दो मुनि जा रहे थे। शरीर की दृष्टि से वे पिता-पुत्र थे। पुत्र आगे-आगे चल रहा था, पिता पीछे थे। जंगल एकदम भयानक था। दोनों तत्त्वचर्चा करते जा रहे थे शरीर अलग है और चैतन्य आत्मा अलग है, शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। इतने ही में अचानक सिंह का गर्जन हुआ। पिता ने पुत्र से कहा, 'तुम पीछे आ जाओ, यहाँ खतरा है।' किन्तु पुत्र नहीं आया। पिता ने पुनः कहा, किन्तु पुत्र नहीं आया। सिंह सामने आ चुका था। मृत्यु सामने खड़ी थी। पुत्र बोला, 'मैं शरीर नहीं हूँ, मैं चैतन्य हूँ, मेरा नाश हो ही नहीं सकता, मेरी मृत्यु कैसी?' पिता तो भाग गया, लेकिन पुत्र आगे बढ़ता गया; सिंह ने उस पर हमला कर दिया। वह गिर पड़ा था, पर उसे दिखाई पड़ रहा था कि जो गिरा है वह मैं नहीं हूँ। वह शरीर नहीं था, इसलिए उसकी मृत्यु नहीं हुई। पिता मात्र कहता था, कि शरीर हमारा नहीं है, परन्तु दिखाई उसको यह दे रहा था कि शरीर हमारा है। वस्तुतः कहने और दिखने में मौलिक अन्तर है। सही दिखने से जीवन परिवर्तन होता है। कहने से नहीं। इसलिए सम्यग्दर्शन अर्थात् सही देखने को 'मोक्षमार्ग' कहा है।

2. एक बार एक व्यक्ति की बूढ़ी माँ बीमार पड़ी। उसके एक बगीचा था, जिसकी वह देख-रेख किया करती थी। वह बहुत सुन्दर था। वह अपने बगीचे के लिए बड़ी चिन्तित थी। उसकी यह हालत देखकर उसका लड़का बोला, माँ आपके बगीचे की देखरेख मैं अच्छी तरह किया करूँगा। तुम बेफ़िक्र रहो, दूसरे दिन से वह एक-एक पत्ते की मिट्टी झाड़ने लगा, एक-एक फूल को कपड़े से पोंछने लगा। परन्तु पेड़ और पौधे मुरझाने लगे, पन्द्रह दिन में उसकी माँ की सारी बगिया उजड़ गई। पन्द्रह दिन बाद उसकी माँ बीमारी से ठीक होकर आई, उसने अपने लड़के से पूछा कि यह क्या हुआ? उसने कहा कि 'मैंने तो एक-एक फूल पर पानी छिड़का, एक-एक पौधे को गले लगाकर प्रेम किया, परन्तु फिर भी सब सूख गए। उसकी माँ हँसने लगी और कहा, कि फूलों के प्राण उनकी जड़ में होते हैं। जो दिखाई नहीं देते। पानी फूलों को नहीं देना पड़ता। जड़ों को देना पड़ता है। फिक्र पत्तों की नहीं, जड़ों की करनी पड़ती है। इसी प्रकार से हम लोग आचरण पर जोर देते हैं, परन्तु उसकी जड़ का पता नहीं है। यदि सम्यक्दर्शन रूपी जड़ को (श्रद्धा रूपी) पानी देंगे तो, आचरण रूपी फल पत्ते अपने आप लगते चले जायेंगे। अतः निरन्तर आत्मस्वभाव को प्राप्त करने की चेष्टा करो।

3. जैनधर्म की परमभक्त चेलना उदास थी बहुत समझाने पर भी राजा श्रेणिक को जैन-धर्म पर श्रद्धा आती ही नहीं थी। परम जैन संत यशोधर मुनिराज जंगल में ध्यानस्थ थे, राजा श्रेणिक ने उन्हें द्वेष बुद्धि से देखा और 'यह तो दंभी है'–इस प्रकार मुनि के प्रति द्वेष से उनके गले में मृत सांप डाल दिया। राजभवन में आकर रानी चेलना को जब यह बात बतलाई। तब ये सुनते ही रानी चेलना का भक्तहृदय आकुल-व्याकुल हो गया। उदास होकर तत्काल मुनिराज का उपसर्ग दूर करने के लिए वह तत्पर हुई। राजा श्रेणिक कहने लगे। अरे! तेरा गुरू तो कभी का सांप दूर करके अन्यत्र चला गया होगा। चेलना ने कहा, "नहीं राजन्–आत्मसाधना में लीन मेरे गुरु को, वीतरागी जैन सन्तों को, शरीर का ऐसा ममत्व नहीं होता। वे जैसे के तैसे ही बैठे होंगे। अगर आपको प्रत्यक्ष देखना हो तो मेरे साथ चलिए।"

राजा श्रेणिक जब रानी चेलना के साथ वहाँ जाकर यशोधर मुनिराज को जैसे के तैसे ही समाधि में बैठे देखते हैं तो वे स्तब्ध रह जाते हैं–उनका द्वेष पिघल जाता है। हृदय गद्गद हो जाता है। रानी मुनिराज की भक्ति करते हुए सावधानी पूर्वक सांप को दूर करती है। तभी ध्यान पूर्ण होने पर मुनिराज राजा और रानी दोनों को धर्मवृद्धि का एक-सा आशीर्वाद देते हैं। मुनिराज की ऐसी महान् समता देखकर राजा श्रेणिक चकित हो जाते हैं। धन्य हैं ऐसे जैन मुनिराज, धन्य हैं ऐसा वीतरागी जैनधर्म। श्रेणिक ने बहुमान पूर्वक अपने अपराध की

क्षमा माँगी और राजा ने जैनधर्म अंगीकार किया, सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, उनका तो जीवन ही बदल गया। उस समय चेलना रानी की प्रसन्नता का क्या कहना!

4. मुनिराज के सम्बोधन से वैराग्य प्राप्त सिंह की आँसुओं की धारा बहती है और वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। यह सिंह कौन है? वह है भगवान महावीर का जीव। दस भवपूर्व का यह प्रसंग है विदेह क्षेत्रस्थ तीर्थकर की वाणी से मुनियों ने जाना कि सिंह का यह जीव 10वें भव में तीर्थंकर होगा। जिस जंगल से वह वनराज एक हिरण को पकड़कर खा रहा था, उसी जंगल में, ऊपर से दो मुनिराज उतरे और सिंह के सामने आकर खड़े हो गए। सिंह तो आश्चर्य से देखता ही रह गया। मुनियों ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा– "अरे सिंह! अरे आत्मा! तुझे यह शोभा नहीं देता, 10वें भव में तो तू त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर होने वाला है। अरे! भविष्य में जगत को वीतरागी अहिंसा का सन्देश देने वाला तू आज ऐसी हिंसा में पड़ा है। छोड़! छोड़! यह हिंसा के भाव.......जाग.......जाग! यह सुनते ही सिंह को पूर्वभव का ज्ञान होता है, पश्चाताप से मिथ्यात्व, आँसुओं के रूप में पिघलकर बाहर निकल जाता है और वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। बहुमान और भक्ति से मुनियों की प्रदक्षिणा करता है और बाद में अनुक्रम से आत्मसाधना में वृद्धिगत होता हुआ महावीर होता है। अहा! सिंह की सम्यक्त्व प्राप्ति का यह प्रसंग। जब एक क्रूर पशु भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, तब फिर हम मनुष्य होकर भी सम्यग्दर्शन से रहित जीवन जियें–यह हमारे लिए शोभा की बात नहीं है।

— —

आत्मा की रमणता ही सम्यग्दर्शन है।

जैनाहार विज्ञान का मूल आधार अंहिसा है।

अन्धश्रद्धा तर्क स्वीकार नहीं करती।

सम्यग्दर्शन के सोपान

सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के चार सोपान हैं। पहला सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का यथार्थ श्रद्धान। दूसरा उनके बताये हुए तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान। तीसरा स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान। चौथा आत्मानुभूति। इनमें पहला साधन है तो दूसरा साध्य है, दूसरा साधन है तो तीसरा साध्य है, तीसरा साधन है तो चौथा साध्य है। अर्थात् जब सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की यथार्थ श्रद्धा होगी, तब उनके बताये हुए सात तत्त्वों की भी यथार्थ श्रद्धा होगी। जब तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान होगा तब स्व-पर की श्रद्धा भी होगी। जब स्व-पर की श्रद्धा होगी तब आत्मानुभूति भी होगी। जब आत्मानुभूति होगी, तब वीतरागता आएगी। जब वीतरागता आएगी तब सुख अर्थात् मुक्ति होगी।

सम्यग्दर्शन का प्रथम सोपान : सच्चे देव, शास्त्र और गुरु का यथार्थ श्रद्धान

सबसे पहले हमें सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का निर्णय करके उन पर यथार्थ श्रद्धा करनी चाहिए।

सच्चे देव, शास्त्र, गुरु

सांचो देव सोई जामे दोष को न लेश कोई
वही गुरु जाके उर काहूकी न चाह है
सही धर्म वही जहाँ करुणा प्रधान कही
ग्रन्थ जहाँ आदि अन्त एक सौ निबाह है
यही जग रत्न चार इनको परख यार
सांचे लेउ झूठे डार नर भाव को लाय है
मानुष विवेक बिना पशु के समान गिना
ताते यह ठीक बात पारनी सलाह है।

देव का स्वरूप

क्षुत्पिपासे भयद्वेषौ मोहरागौ स्मृतिर्जरा।
रुग्मृतौ स्वेदखेदौ च मदः स्वापो रतिर्जनिः।।७।।

विषादविस्मयावेतौ दोषा अष्टादशेरिताः।
एभिर्मुक्तो भवेदाप्तो निरञ्जनपदाश्रितः।।

(धर्मसंग्रह श्रा.)

क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, मोह, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, स्वेद, खेद, निद्रा, मद, विस्मय (आश्चर्य), रति और चिन्ता ये 18 दोष समान रूप से सब संसारी जीवों के होते हैं। इन 18 दोषों से जो रहित हो वही आप्त और कर्ममल रहित होने से सच्चा देव है।

आप्त की मुख्य तीन पहिचान-

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥५॥

सच्चा देव नियम से अठारह दोष रहित वीतरागी सर्वज्ञ और हितोपदेशी होना चाहिए। ऐसा न होने पर सच्चा देवत्व नहीं हो सकता।

वीतराग का लक्षण

क्षुत्पिपासाजरातङ्क जन्मान्तकभयस्मयाः
न रागद्वेषमोहाश्च, यस्याप्तः सःप्रकीर्त्यते॥६॥

(रत्नकरण्डश्रा.)

जो भूख, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्भ, राग, द्वेष, मोह, आश्चर्य, अरति, खेद, शोक, निद्रा, चिन्ता, स्वेद इन 18 दोषों से रहित होता है उसे वीतराग कहते हैं।

सर्वज्ञ का लक्षण

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥१॥

अमृतचन्द्र देव, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

जिसमें दर्पण के तल की तरह समस्त पदार्थों का समूह अतीत, अनागत और वर्तमान काल की समस्त पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित होता है, उस सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतना रूप प्रकाश की जय हो।

हितोपदेशी का लक्षण

परमेष्ठी परंज्योति-र्विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः, सार्वःशास्तोपलाल्यते॥७॥

-समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार

जो इन्द्रादिक से पूज्य परमपद में स्थित अक्षय केवलज्ञान सहित, राग, द्वेषादि भावकर्म रहित, घातिया कर्म रूप द्रव्यकर्म रहित, कृतकृत्य, सत्यार्थ देव के प्रवाह की अपेक्षा आदि, अन्त, मध्य

रहित, सर्व पदार्थों का ज्ञाता-दृष्टा और सब जीवों का हितकारक होता है। वह हितोपदेशी कहलाता है।

शास्त्र का स्वरूप

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्।।

(अमृतचन्द्र देव, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

यहाँ गुणों को नमस्कार किया है। जन्मान्ध पुरुषों के हस्ति विधान का निषेध करने वाला, समस्त नयों से प्रकाशित वस्तु स्वभाव का विरोध दूर करने वाला, उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का जीव भूत अनेकान्त को (एक पक्ष रहित स्याद्वाद को) मैं नमस्कार करता हूँ।

इसका समर्थन **आचार्य समंतभद्र** के निम्न कथन से होता है।

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य-मदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम्।।

(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

जो वीतराग का कहा हुआ हो, इन्द्रादिक से खंडित रहित, प्रत्यक्ष व परोक्ष आदि प्रमाणों से निर्बाध, तत्त्वों या वस्तु स्वरूप का उपदेशक, सबका हितकारी और मिथ्यात्व आदि कुमार्गों का नाशक हो, उसे सच्चा शास्त्र कहते हैं।

जिनवाणी और मिथ्यावाणी में अन्तर

कैसे करि केतकी-कनेर एक कहि जाय, आक दूध-गाय दूध अन्तर घनेर है।
पीरी होत री री पैन रीस करे कंचन की, कहाँ काक वाणी कहाँ कोयल की टेर है।।
कहाँ भान भारौ कहाँ आगिया बिचारौ कहाँ, पूनौ को उजारौ-कहाँ मावस-अंधेर है।
पच्छ छोरि पारखी निहारो नेक नीके करि, जैन वेन और बैन इतनो ही फेर है।।

केतकी और कनेर को एक समान कैसे कहा जा सकता है। उन दोनों में तो बहुत अन्तर है। आक के दूध और गाय के दूध को एक समान कैसे कहा जा सकता है? उन दोनों में तो बहुत अन्तर है। इसी प्रकार यद्यपि पीतल भी पीला होता है, पर वह कंचन की समानता नहीं कर सकता है।

हे भाई! जरा तुम विचारो! कहाँ कोए की आवाज और कहाँ कोयल की टेर! कहाँ दैदीप्यमान सूर्य और कहाँ बेचारा जुगनू! कहाँ पूर्णिमा का प्रकाश और कहाँ अमावस्या का अन्ध

कार। हे! पारखी! अपना पक्ष (दुराग्रह) छोड़कर जरा सावधानी पूर्वक देखो, जिनवाणी और अन्यवाणी में उपर्युक्त उदाहरणों की भाँति बहुत अन्तर हैं।

गुरु का स्वरूप

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते।।

(आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार)

जो पांचों इन्द्रिय की विषयों की चाह की पराधीनता से रहित, आरम्भ रहित, परिग्रह रहित और ज्ञान, ध्यान, तथा तप में लवलीन होता है वह सच्चा गुरु कहलाता है।

श्री साधु स्तुति का महत्त्व

शीतरितु जौरैं अंग सब ही सकोरैं तहाँ,
तन को न मोरैं नदीधौरैं धीर जे खरे।
जेठ की झकोरैं जहाँ अण्डा चील छोरैं,
पशु-पंछी छाँह लौरैं गिरिकोरैं तूप वे धरें।
घोर घन घोरैं घटा चहूँ ओर डोरैं ज्यौं-ज्यौं,
चलत हिलोरैं त्यौं-त्यौं फोरैं बल ये अरे।
देह नेह तोरै परमारथ सौं प्रीतिजोरैं,
ऐसे गुरु ओरैं हम हाथ अंजुली करैं।।१३।।

-जैनशतक भूधरदास

जब सब लोग अपने शरीर को संकुचित किए रहते हैं ऐसे कड़ाके की सर्दी में, अपने शरीर को बिना कहीं से भी मोड़े, नदी किनारे खड़े रहते हैं, जब चील अण्डा छोड़ दे और पशु पक्षी छाया चाहते हैं ऐसी जेठ माह की लू वाली तेज गर्मी में पर्वत शिखर पर तप करते हैं तथा गरजती हुई घनघोर घटाओं और प्रबल पवनों के झोंकों में अपने पुरुषार्थ को अधिकाधिक स्फुरायमान करते हुए स्थिर रहते हैं, शरीर सम्बन्धी राग को तोड़कर परमार्थ से प्रीति जोड़ते हैं, उन गुरुओं को हम हाथ जोड़कर प्रणाम करें।

जो वीतरागी को छोड़कर रागी को पूजते हैं वे निगोद के विहारी हैं।

वीतराग वाणी जगजीवन को सुखदानी,
मिथ्या भ्रम हानि जगदेखन को जारी है।

ऐसे वीतराग पाय सेवत कुदेव जाय,
सोतो मूढ़ प्राणी निगोद के विहारी है॥
राज्यपद मांहि व्रत बिना पूज्य नाहीं भये,
चक्रवर्ती काम-हली ओर की कहा चली।
देवन के व्रत नाहि, समकित हू काहू मांहि
श्रुत हूँ में अपूज्य तिन्हें पूजैं श्रद्धा टली है।

1. एक बार एक विद्याधर राजा (अर्धचक्री) दशानन से आकर बोलता है कि वानरवंशी राजा सूर्यरज व अक्षरज को राजा इन्द्र के यम नामक लोकपाल ने बन्दी बना लिया है और उन्हें नरक नामक बन्दीगृह में डाल दिया है, जहाँ उन्हें नरक समान ही कष्ट दिये जा रहे हैं।

   यह सुनकर राजा दशानन ने यम पर चढ़ाई की और उसे जीत लिया। यम परास्त होकर राजा इन्द्र के पास जाकर छिप गया। दशानन ने जीते हुए राज्यों में से किष्किंधपुर सूर्यरज को किष्कुपुर अक्षरज को दिया जहाँ वे सुख पूर्वक राज्य करने लगे।

   कालान्तर में सूर्यरज के बालि व सुग्रीव नामक दो पुत्र और श्री प्रभा नाम एक पुत्री हुई। राजा सूर्यरज का युवा पुत्र बालि अपने शक्ति मद में चूर दशानन की आज्ञा भंग करने लगा। अत: दशानन ने बालि के पास दूत भेजकर कहलवाया कि तुम सदा से हमारे मित्र रहे हो। हमने तुम्हारे पिता के शत्रु यम को हराकर उन्हें किष्किंधपुर का राज्य दिया, जहाँ अभी तुम सुख से राज्य कर रहे हो। तुम्हारे और हमारे वंशज बहुत समय से एक-दूसरे के मित्र रहे हैं; पर अब तुम उपकार भूलकर हमसे पराङ्मुख हो गये हो। यह कार्य सज्जनोचित नहीं है। मैं तुम्हारे पिता से अधिक तुमसे स्नेह करूँगा। अत: शीघ्र आकर मुझे प्रणाम करो और अपनी बहन का विवाह हमसे करो। इससे तुम्हें सब प्रकार की सुख-सुविधा मिलेगी।

   पराक्रम के मद में चूर बालि अपने सामने किसी को कुछ न गिनता हुआ लंकापति दशानन से युद्ध के लिए तैयार होने लगा। पर विवेकशील मंत्रियों के समझाने पर युद्ध से विरत हो उसने सोचा, कि मैंने प्रतिज्ञा ली हुई है कि मैं वीतरागी देव, निग्रंथ गुरु और अनेकान्त-स्याद्वाद रूपी जिनवाणी के अतिरिक्त अन्य किसी को प्रणाम नहीं करूँगा; अत: मैं दशानन को प्रणाम करने वाली बात को स्वीकार नहीं कर सकता और प्रणाम न करने पर वे आक्रमण करेंगे अब मैं युद्ध भी नहीं चाहता, क्योंकि मेरे मान के कारण व्यर्थ ही हजारों जीवों की मृत्यु होगी।

   बहुत सोच-विचार के पश्चात् बालि ने अपना राज्य अपने छोटे भाई सुग्रीव को देकर जिनदीक्षा ले ली। कठिन तपस्या में रत बालि मुनि को अनेक ऋद्धियों की प्राप्ति हुई। बालि

का छोटा भाई सुग्रीव अपनी बहन दशानन को देकर उनकी अनुमति से वंश परम्परागत राज्य का सुखपूर्वक पालन करने लगा।

दशानन नित्यालोक नगर के राजा की बेटी रत्नाव्रलि से विवाह कर लौट रहें थे कि कैलाश पर्वत पर उनका विमान रुक गया। कारण जानने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि इस पर्वत पर कोई मुनि तपस्या कर रहे हैं। अत: मुनि के दर्शन करने के लिए वे नीचे उतरे तो देखकर गुस्से से लाल-पीले हो गए, और विवेक रहित होकर मुनि से कहने लगे कि राज्य अवस्था में तो तुम्हें मान था ही, पर निर्ग्रंथ वेश धारण करने पर भी तुम्हारा मान नहीं गया, जो मेरे जाते हुए विमान को रोक लिया। अब मैं तेरा यह मान चूर-चूर करके रहूँगा-इतना कहकर शक्ति के गर्व में चूर दशानन ने मुनि को कष्ट देने के लिए कैलाश पर्वत को उठाकर फैंकने का उपक्रम किया। जिससे पर्वत हिलने लगा, पशु-पक्षी डर कर भयानक शब्द करने लगे। इन आवाजों से मुनिराज बालि का ध्यान भंग हुआ, तब पर्वत पर विद्यमान मंदिरों व प्राणियों के लिए बालि मुनि ने अपने पैर का अँगूठा धीरे से दबाया। उस दबाव से दशानन पृथ्वी में धँसने लगा, उसके हाथ पैरों में चोटें आ गई और जब उससे दर्द सहन नहीं हुआ तो वह रोने लगा। तभी से सभी दशानन को 'रावण' कहने लगे।

रत्नावलि ने मुनिराज से विनय पूर्वक माफी मांगी, तब मुनिराज बालि ने दयालु होकर अँगूठा छोड़ दिया। दशानन पर्वत के नीचे से निकलकर मुनिराज के पास आए और उन्हें नमस्कार कर क्षमा मांगी तथा मंदिर में जाकर मुनिराज के अपमान के प्रायश्चित के लिए, भगवान की पूजा स्तुति करने लगा। मुनिराज बालि ने भी गुरु के निकट जाकर प्रायश्चित किया फिर ध्यान में ऐसे लवलीन हुए कि अन्तर्मुहूर्त में चारों घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान की प्राप्ति कर ली।

2. दशांगपुर नामक नगर में जन्म से ही बलवान, क्रूर, कर्मी राजा वज्रकर्ण राज्य करता था। एक दिन जब वह जंगल में शिकार खेलने गया, तब वहाँ मुनिराज को देखकर उसका मन कुछ शांत हुआ और उसने उन मुनिराज के समक्ष प्रतिज्ञा की, मैं जिनेन्द्र देव, जिनवाणी और जिन गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी को नमस्कार नहीं करूँगा। साथ ही उन्होंने श्रावक के व्रत लिए, उचित ही है; क्योंकि निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज के समक्ष, जब जन्मजात बैर भाव वाले मांसाहारी पशु भी अपनी क्रूरता छोड़ देते हैं तो मानव का तो कहना ही क्या है?

राजमहल छोड़ने पर वज्रकर्ण को चिन्ता हुई कि मैं तो उज्जयिनी के राजा सिंहोदर का सेवक हूँ, उन्हें नमस्कार करना अनिवार्य है। यदि उन्हें नमस्कार नहीं करूँगा, तो वे दण्ड देंगे। नमस्कार करके मैं अपनी प्रतिज्ञा भी भंग नहीं करना चाहता। अब मुझे क्या करना चाहिए? इस प्रकार बहुत सोच-विचार के पश्चात् उन्होंने एक अँगूठी में मुनिसुव्रत भगवान

की प्रतिमा बनवाकर उसे दाहिने हाथ में पहिन ली तथा सिंहोदर के पास जाते समय वे उस अँगूठी को आगे रखते। एक दिन यह भेद राजा सिंहोदर को किसी ने बता दिया। तब उन्होंने क्रोधित होकर राजा वज्रकर्ण को मारने का विचार बनाया। अत: उन्होंने राजा वज्रकर्ण को मिलने के बहाने बुलवाया।

सिंहोदर की कुटिलता से अनभिज्ञ वज्रकर्ण जब राजा से मिलने के लिए जा रहे थे कि रास्ते में ही विद्युदंग नामक एक व्यक्ति ने राजा वज्रकर्ण को बताया कि राजा ने तुमको मारने के लिए बुलवाया है क्योंकि उसको तुम्हारी अँगूठी वाली बात किसी ने बता दी है। जब वज्रकर्ण को उस पर विश्वास नहीं हुआ तो उसने अपनी पूरी कहानी बताई। तब वज्रकर्ण ने उस पर विश्वास कर लिया।

इतने में सिंहोदर सेना सहित राजा वज्रकर्ण की ओर आ गया। यह देखकर वज्रकर्ण और वह व्यक्ति दोनों वज्रकर्ण के महल में जाकर छिप गये। तब सिंहोंदर ने कहा वज्रकर्ण मैंने तुझे इतना (राज्य देकर रांजा बनाया) अब तू मुझको नमस्कार नहीं करता? तब वज्रकर्ण कहता है कि सब कुछ ले जाओ लेकिन मैं (सच्चे देव गुरु और सच्चे शास्त्र के) अलावा किसी को नमस्कार नहीं करूँगा। तब सिंहोदर ने क्रोधित होकर वज्रकर्ण पर आक्रमण कर दिया। किन्तु उसकी सेना वज्रकर्ण के अभेद्य किले में प्रवेश न कर सकी। इससे बौखलाए हुए सिंहोंदर ने बाहर का सब गाँव जला डाला।

कुछ समय के पश्चात् वहाँ पर राम, छोटे भाई लक्ष्मण और सीता के साथ आए। जब राम को सिंहोंदर की करतूत का पता चला तो उन्होंने कहा, कि हम वज्रकर्ण जैसे धर्मात्मा को शीघ्र ही सिंहोंदर के चंगुल से छुड़ायेंगे। राम ने लक्ष्मण से कहा, जाओ, वज्रकर्ण की रक्षा करो। लक्ष्मण सीधे सिंहोंदर को बन्दी बनाकर राम के पास लाए। राम वे वज्रकर्ण से कहा कि इसको क्या दण्ड दें, वज्रकर्ण ने कहा कि मैं किसी को भी दु:ख न दूं, दु:खी न देखूँ, अत: इन्हें छोड़ दो।

सम्यग्दर्शन का द्वितीय सोपान : तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के पहले अध्याय के दूसरे सूत्र में कहा है, 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात्– तत्त्व=वस्तु के भाव को, अर्थ=जानकर, श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्=उसका यथार्थ श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।।4।। अर्थात्– जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

छहढाला में पंडित दौलराम कहते हैं–

जीव अजीव तत्त्व अरुआश्रव, बंधरु संवर जानो।
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको, ज्यौं का त्यौं सरधानों।।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते है–

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्य पावं च।
आसवसंवरणिज्जरबन्धो मोक्खो य सम्मत्तं।।

-आचार्य कुन्दकुन्द समयसार, 13

द्रव्यसंग्रह में **आचार्य नेमिचन्द्र** आचार्य कहते हैं–

आसवबंधणसंवर-णिज्जरमोक्खो सपुण्णपावा जे।
जीवाजीव-विसेसा, तेवि समासेण पभणामो।।२८

जो जीव और अजीव के विशेष भेद पुण्य और पाप सहित आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हैं उनको भी संक्षेप से कहता हूँ।

जीव-तत्त्व का भाव–

कत्ताभोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य।
दंसणणाणुवओगो णिद्धिट्ठो जिणवरिंदेहिं।।

-आचार्य कुन्दकुन्द भावप्राभृत, 48

श्री जिन्नेन्द्र देव ने जीव को कर्ता, भोक्ता, अमूर्त, शरीर-प्रमाण, नित्य तथा दर्शन और ज्ञान रूप उपयोग का धारक कहा है।

जीव के नव अधिकार–

जीवो उबओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।।

- द्रव्यसंग्रह, 2

जीवत्व (जीने वाला), उपयोगमयत्व, अमूर्तिकत्व, कर्तृत्व, स्वदेह-परिमाणत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, सिद्धत्व और स्वभाव से ऊर्ध्वगमनत्व, ये जीव के नौ अधिकार हैं।

अजीव तत्त्व

अजीव के पांच भेद हैं–

अज्जीवो पुण णेओ, पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो, रुबादिगुणो अमुत्तिसेसा दु।। 15।।

(द्रव्यसंग्रह आचार्य नेमिचन्द्र)

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को अजीव द्रव्य जानना चाहिए। उनमें रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण वाला पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है और शेष चार द्रव्य अमूर्तिक हैं।

धर्म–गतिहेतुत्व, **अर्धम**-ठहराना, **आकाश**-अवगाहना, **काल**-वर्तना।

आस्रव तत्त्व

कर्मों के आने को **आस्रव** कहते हैं–इसके दो भेदों को बताते हुए आचार्य नेमिचन्द कहते हैं।

आसवदि जेण कम्मं, परिणामेणप्पणो स विण्णेयो।
भावासवो जिणुत्तो, कम्मासवणं परो होदि॥29॥

आत्मा के जिस परिणाम से कर्म आता है, वह जिनेन्द्र देव का कहा हुआ भावास्रव है और ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों का आना द्रव्यास्रव है।

बंध तत्त्व

भावबन्ध और द्रव्यबन्ध का लक्षण"

बज्झदि कम्मं जेण दु, चेदण भावेण भावबन्धो सो।
कम्मादपदेसाणं, अण्णोण्णपवेसणं इदरो॥

- द्रव्यसंग्रह, 32

आत्मा के जिस परिणाम से कर्म बंधता है, वह परिणाम भाव बन्ध है। कर्म और आत्मा के प्रदेशों का परस्पर एकमेक होकर मिल जाना द्रव्य बन्ध है।

संवर तत्त्व

संवर तत्त्व को बताते हुए कहते हैं–

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।
सो भाव संवरो खलु, दव्वासवरोहणे अण्णो॥

- द्रव्यसंग्रह, 7

आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव के रोकने में कारण है, वह परिणाम निश्चय से भाव संवर है और जो द्रव्यकर्म को आने से रोकता है उसे द्रव्य संवर कहते हैं।

निर्जरा तत्त्व

जहकालेण तवेण य, भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया, तस्सडणं णिज्जरादुविहा॥

- द्रव्यसंग्रह

निर्जरा के दो भेद हैं। 1. द्रव्य और 2. भाव। आत्मा के जिन परिणामों से कर्मों का एक देश छूटता हैं उन परिणामों को भाव निर्जरा कहते हैं। ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मों का एक देश छूटना द्रव्य निर्जरा है।

विशेष–द्रव्य और भाव निर्जरा के भी सविपाक (अकाम) तथा अविपाक (सकाम) निर्जरा के भेद से दो-दो प्रकार हैं। कर्मों की स्थिति पूर्ण होने पर अर्थात् फल देकर आत्मा से कर्मों का एक देश छूटना सविपाक निर्जरा कहलाती है तथा तपश्चरण से कर्मों का एक देश छूटना अविपाक निर्जरा कहलाती है।

मोक्ष तत्त्व

सव्वस्स कम्मणो जो, खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेयो स भावमोक्खो, दव्वविमोक्खोय कम्मपुहभावो।।

-द्रव्यसंग्रह, 37

आत्मा का जो परिणाम समस्त कर्मों के क्षय होने का कारण है वह परिणाम ही भावमोक्ष जानना चाहिए और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का छूट जाना ही द्रव्यमोक्ष है।

पुण्य और पाप पदार्थ

सुहअसुहहभावजुत्ता, पुण्णं पाबं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं, गोदं पुण्णं पराणि पावं च।।

- द्रव्यसंग्रह, 38

अच्छे और खोटे परिणामों सहित जीव निश्चय से पुण्य रूप और पाप रूप होते हैं। साता वेदनीयशुभ आयु, शुभ नाम, और उच्च गोत्र पुण्य रूप हैं तथा शेष सब कर्म पाप रूप हैं।

हेय और उपादेय की पहचान

1. जीवतत्त्व–उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य।
2. अजीव तत्त्व–ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य।
3. आस्रव तत्त्व–हेय अर्थात् छोड़ने योग्य।
4. बन्धतत्त्व–पहिचान कर अहितकर माने।
5. संवरतत्त्व–पहिचान कर उपादेय माने।
6. निर्जरातत्त्व–पहिचान कर हित कारक माने।
7. मोक्षतत्त्व–पहिचान कर उसको परम उपादेय माने।

सातों तत्त्वों को इन दृष्टान्तों द्वारा भी समझा जा सकता है–

सच्ची श्रद्धा: (नाव वाला)

समुद्र में नाव चल रही थी, उसमें एक मनुष्य बैठा है, उस में 57 छिद्र हैं। इन छिद्रों के द्वारा पानी आ रहा है। अब उस मनुष्य ने 57 छिद्र बन्द कर दिए। तब पानी आना बन्द हो गया, अब चिन्ता पहले पानी की हो रही है। कुछ तो हाथों से निकाल दिया (अविपाक, सकाम निर्जरा) कुछ स्वयं ही सूख गया (सूर्य की गर्मी द्वारा) (सविपाक, अकाम निर्जरा), तब वह नाव पानी से बिल्कुल खाली हो गई और वह नाव समुद्र से पार हो गई।

इसी प्रकार–समुद्र तो यह संसार है, नाव अजीव तत्त्व है। मनुष्य जीव तत्त्व है। नाव के छिद्र आस्रव तत्त्व है, नाव में पानी रुक रहा है, वह बन्ध तत्त्व है, पानी को डाँट के द्वारा रोकना संवर तत्त्व है, पानी को निकालना निर्जरा तत्त्व है, स्वत: पानी सूखना सविपाक निर्जरा है, हाथों से निकालना अविपाक निर्जरा है अब मनुष्य अकेला रह गया, नाव समुद्र से पार हो गई। पार हो जाने के बाद मोक्ष तत्त्व हो जाता है। इसलिए उदाहरण को समझकर श्रद्धा करनी चाहिए।

दिल्ली जाने वाला मनुष्य

जिस प्रकार किसी मकान में कोई मनुष्य रहता है। पुरुष को समझो जीव, वह पुरुष जिस घर के अन्दर रहता है, उस घर को समझो अजीव। उसी प्रकार इस कमरे रूपी शरीर में आत्मा जीव है, और कमरा अजीव अर्थात् शरीर अजीव है, अब इस मनुष्य के मकान में एक घण्टी लगी है, वह उस घण्टी को बजाकर बुलाता है। घण्टी बजी मेहमान आने शुरू हो गए, एकदम आते जा रहे हैं, क्योंकि घण्टी बार-बार बजाई जा रही है, मेहमान आने से क्यों हटें, जब उनको बुलाया जा रहा है, उस मनुष्य के यहाँ तो मेहमान आ रहे हैं, लेकिन आत्मा में क्या आ रहे हैं? कर्म आस्रव आ रहे हैं। राग द्वेष तो हुए मन के द्वार निमंत्रणवचन हुए घण्टी, तथा काय हुई कमरा, इन तीनों के द्वारा ही तो मेहमान आते हैं अर्थात् आस्रव होता है। मन, वचन, काय से, उस मानव को कुछ होश आई अरे ये तो जम के बैठते जा रहे हैं यह हुआ बन्ध तत्त्व। उसने विवेक से सोचकर, मन, वचन, काय रूपी दरवाजे बन्द कर दिए यह हुआ संवर तत्त्व। मेहमान आने बन्द हो गए। अब वह सोचता है कि बाहर से मेहमान आना बन्द हो गये लेकिन अभी अन्दर काफी मेहमान जमे बैठे हैं। अब उसने उनको कठोर बोलना शुरू कर दिया वे उठ-उठकर जाने लगे, यह हुई निर्जरा। जब सब मेहमान चले गए तब उसे जहाँ जाना था वहाँ चला गया, यह हुआ मोक्ष तत्त्व।

सम्यग्दर्शनति का तीसरा सोपान : स्व-पर की यथार्थ श्रद्धा

जब जीवों को स्व-पर की (अर्थात् अपना क्या है? पराया क्या है?) अर्थात् अपना आत्मा क्या है, और जो भी आत्मा से भिन्न पदार्थ है वे अपने नहीं हैं, ऐसी श्रद्धा होती है, तब उसका जीवन सुधर जाता है, अगर हमको भी अपना जीवन सुधारना है तो हमें जिनवाणी की बात ध्यान से सुनना चाहिए और अज्ञानता छोड़कर भेद विज्ञानी बनना चाहिए।

अज्ञानी व ज्ञानी में अन्तर

संयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढधीः।
बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम्॥३२.११

(शुभचन्द्र ज्ञानार्णव)

जो बहिरात्मा है वह चैतन्यस्वरूप आत्मा का देह के साथ संयोजन करता (जोड़ता) है अर्थात् एक समझता है; और जो ज्ञानी (अन्तरात्मा) है वह देह से देही (चैतन्यस्वरूप आत्मा) को पृथक् ही देखता है। यही अज्ञान और ज्ञानी के ज्ञान में भेद है।

सुरं त्रिदशपर्यायैर्नृपर्यायैस्तथा नरम्।
तिर्यञ्चं च तदङ्गे स्व नारकाङ्गे च नारकम्॥३२.१३॥

अविद्या (मिथ्याज्ञान) से परिश्रान्त (खेद खिन्न) मूढ़ वहिरात्मा, देव की पर्यायों सहित आत्मा को देव मानता है और मनुष्य पर्याय सहित अपने को मनुष्य मानता है, तथा तिर्यंच के अंग में रहते हुए को तिर्यंच, और नारकी के शरीर में रहते हुए को नारकी मानता है।

आचार्य और भी कहते हैं-

स्वशरीरमिवान्विष्य पराङ्गच्युतचेतनम्।
परमात्मानमज्ञानी परबुद्ध्याऽध्यवस्यति॥३२.१५॥

बहिरात्मा अज्ञानी जिस प्रकार अपने शरीर को आत्मा जानता है, उसी प्रकार पर के अचेतन देह को देखकर पर को आत्मा मानता है, अर्थात् उसको पर की बुद्धि से निश्चय करता है॥15॥

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा-

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥१९॥

मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या हैं हमारे ये सभी।
यह मान्यता जब तक रहे अज्ञानी हैं तब तक सभी॥

मुनियों के लिए कहते हैं–

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू॥

(आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार)

जो श्रमण आगमहीन हैं वे स्वपर को नहिं जानते।
वे कर्म क्षय कैसे करें जो स्व-पर को नहिं जानते॥

यहाँ कोई प्रश्न करेगा भाई ये अज्ञानीपना तो मेरे में भी है अब मुझे क्या करना चाहिए–

वपुष्यात्मेति विज्ञानं वपुषा घटयत्यमून्।
स्वस्मिन्नात्मेति बोधस्तु भिनत्यङ्गं शरीरिणाम्॥

शुभचन्द्र, ज्ञानार्णवः, 32.20

शरीर में यह आत्मा है, ऐसा ज्ञान तो जीवों को शरीर सहित करता है, और आप में ही आप हैं अर्थात् आत्मा में ही आत्मा है, इस प्रकार का विज्ञान जीवों को शरीर से भिन्न करता है। आगे और भी कहते हैं–

तनावात्मेति यो भावः स स्याद्बीजं भवस्थितेः।
बहिर्वीताक्षविक्षेपस्तत्यक्त्वान्तर्विशेत्ततः॥३२.२२॥

शरीर में ऐसा जो भाव है कि "यह मैं आत्मा ही हूँ" ऐसा भाव संसार की स्थिति का बीज है। इस कारण, बाह्य में नष्ट हो गया है, इन्द्रियों का विक्षेप जिसके ऐसा पुरुष उस भावरूप संसार के बीज को छोड़कर अंतरग में प्रवेश करो, ऐसा उपदेश है।

द्रव्यकर्म मल से रहित, भाव कर्म के रहित और नोकर्म से रहित चैतन्यरूप आत्मा निश्चय से सिद्ध जानना कहा गया है-

द्रव्यकर्म-मलैर्मुक्तं भावकर्मविवर्जितम्।
नोर्कम-रहितं सिद्धं निश्चयेन चिदात्मकम्॥

(परमानन्दस्तोत्रम्।

अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञान स्वभावी है।
जो कुछ है बाहर सब पर है, कर्माधीन बिनासी है॥२६॥

आगे सबैया कहते हैं–

जैसे राजहंस के बदन के सपरसले।
देखिये प्रकट न्यारै छीर न्यारौ नीर है।।
तैसे समकिती की सुदृष्टि में सहज रूप,
न्यारौ जीव न्यारौ कर्म न्यारौ ही शरीर है।
जब शुद्ध चेतन को अनुभौ अभ्यासे तब,
आसै आप अचल न दूजो ओर सीर है।
पूरव कर्म उदय आय के दिखाई देह,
करता न होय तिनको तमास गीर है।।

जिस प्रकार हंस के स्पर्श होने से दूध और पानी पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवों की सुदृष्टि से, स्वभावत: जीव कर्म और शरीर भिन्न भाते हैं। जब शुद्ध चैतन्य के अनुभव का अभ्यास होता है, तब अपना अचल आत्मद्रव्य प्रतिभसित होता है। उसका किसी दूसरे से मिलाप नहीं दिखता। हाँ पूर्वबद्ध कर्म उदय में आए हुए दिखते हैं, पर अहंबुद्धि के अभाव में उनका कर्ता नहीं होता दर्शक रहता है।

भेद विज्ञान जग्यौ जिनके घट, सीतल चित्त भयो जिमिचंदन।
केलि करै सिव मारग में,जग माहिं जिनेसुर के लघु नंदन।
सत्यसरूप सदाजिन्हके, प्रकटयौ अवदात मिथ्यात्व-निकंदन।
सांत दसा तिन्ह की पहिचानि, करै कर जोरि बनारसि वंदन।।

जिनके हृदय में निज-पर का विवेक प्रकट हुआ है, जिनका चित्त चंदन के समान शीतल है अर्थात् कषायों का आताप नहीं है, जो निज-पर विवेक होने से मोक्षमार्ग में मौज करते हैं, जो संसार में अरहंत देव के लघु पुत्र हैं, अर्थात् थोड़े ही काल में अरहंत पद प्राप्त करने वाले हैं। जिन्हें मिथ्यादर्शन को नष्ट करने वाला निर्मल सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है। उन सम्यग्दृष्टि जीवों की आनन्दमय अवस्था का निश्चय करके पं. बनारसीदास हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं।

शरीर को मरते देख

सिकन्दर जब भारत से वापिस लौट रहा था तो वह कोई अद्‌भुत चीज यूनान में ले जाना चाहता था। किसी ने बताया कि हिमालय की तराई में एक महान साधु बड़ा अद्‌भुत है। परन्तु उसे ले जाना असम्भव है। क्योंकि वह किसी की आज्ञा मानने वाला नहीं है। अपने मन का

मालिक है। सिकंदर नहीं माना। बोला, 'मेरी तलवार कब काम आयेगी।' यद्यपि लोगों ने कहा कि जो तलवार के भय से चला जाए वह साधु नहीं। उसको साथ ले जाना बेकार है। तो भी सिकंदर ने अपने सेनापति को उसके पास भेजा। सेनापति ने साधु को सिकंदर की आज्ञा बताई। साधु ने कहा–''हम किसी के अधीन नहीं हैं। हम तो केवल अपनी आज्ञा मानते हैं।'' सिकंदर खुद आया, नंगी तलवार लेकर। बोला कि आपको हमारे साथ चलना है। अन्यथा हम आपको समाप्त कर देंगे। साधु ने कहा–जिसे तुम समाप्त करोगे हम भी उसे समाप्त होते देखेंगे। जिस प्रकार इस शरीर को तुम कटता देखोगे उसी प्रकार इसे हम भी देखेंगे। क्योंकि तुम जिसे काटोगे वह मैं नहीं हूँ, मैं उससे अलग हूँ। जिस शरीर को तुम साधु समझ रहे हो वह मैं नहीं हूँ। और जो मैं हूँ उसका मरण हो ही नहीं सकता। उसको कोई काट ही नहीं सकता।''

सारे दुःखों का मूल कारण है शरीर में अपनापन। राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण है शरीर में अपनापना। जितना शरीर को अपने रूप में देखोगे, उतना राग-द्वेष-मोह बढ़ेगा और जितना हम शरीर को स्वयं से अलग देखेगे, मोह पिघलने लगेगा। इसलिए हमको खाते-पीते, उठते-जागते, चलते-फिरते, गाते-बजाते हर समय स्वयं को शरीर से भिन्न ही अनुभव करना चाहिए। शरीर आत्मा को एक देखना भ्रम है अज्ञान है, और शरीर आत्मा को अलग देखना विवेक है, सम्यक्ज्ञान है। सिकन्दर अवाक् साधु के वचन सुनता रहा। उसे अनुभव हुआ साधु सत्य ही कह रहे हैं।

मेरा पीछे कुछ नहीं

एक राजा के महल के पास एक साधु रहता था। राजा एक दिन साधु के पास आया और उससे अपने महल में चलकर रहने की प्रार्थना की। साधु ने कुछ सोचकर राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली। राजा ने साधु के बर्तन में भोजन परोसा, साधु ने भोजन कर लिया। राजा ने साधु को बेशकीमती वस्त्र पहनने की प्रार्थना की, साधु ने स्वीकार कर लिया। सुन्दर पलंग पर सोने के लिए कहा, उसे भी मंजूर कर लिया। कहने का तात्पर्य यह है कि वह राजा की तरह ही ऐशोआराम से रहने लगा। यह देखकर राजा को बहुत बेचैनी हुई। आखिर एक दिन राजा ने पूछ ही लिया कि अब आप में और मुझमें क्या अन्तर है? साधु ने कहा कि घूमने चलो तब आपको बतायेंगे। सबेरे राजा और साधु दोनों घूमने के लिए गए। शहर से दूर आए तो राजा ने कहा, महाराज! वापिस चलिए, महल बहुत दूर छूट गया है। साधु ने कहा कि राजन! आपका तो सब कुछ पीछे छूट गया है, परन्तु मेरा तो पीछे कुछ भी नहीं छूटा। आपमें और मुझमें यही अन्तर है। पीछे आपका महल है रानी है सब कुछ है। आपका सब कुछ पीछे रह गया है; इसलिए आपको वापिस जाना है। परन्तु हमें तो आगे जाना है, हमारा पीछे कुछ भी नहीं है।

यही वह अस्पर्श योग है, चीजें हैं परन्तु अपनापना नहीं है। चीजों को काम में भी लिया, परन्तु अंतस में नहीं छुआ। यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति भेद-विज्ञान के साथे निरंतर जल में कमल की भाँति अछूता रहे। ऐसी भेद की भावना पैदा हो, ऐसा साहस पैदा हो तभी जीवन सफल है।

भेद-ज्ञान

एक फकीर किसी गाँव में ठहरा हुआ था। लोग उनके दर्शन करने आते थे और अपनी शंकाओं का समाधान करते थे। एक आदमी आया और पूछा कि यह कैसे सम्भव है, कि शरीर में दर्द हो अथवा चोट लगे, कोई उसको काटे तब पीड़ा न हो। शरीर को काटने से पीड़ा होगी ही। फिर शरीर आत्मा को अलग-अलग देखने से क्या सिद्धि हुई। फकीर ने कहा- यहाँ दो नारियल पड़े हैं। एक कच्चा है, उसमें पानी है, उसको तोड़कर उसकी गिरी अलग करना चाहो तो नहीं होगी, क्योंकि वह गिरी काठ के साथ जुड़ी हुई है। यह.दूसरा नारियल है। इसका पानी सूख गया है। इसकी गिरी काठ से अलग हो गई है। इसका काठ तोड़ने पर गिरी को कोई हानि नहीं होगी। नारियल का खोल और गिरी अलग-अलग हो गई है। फकीर ने कहा, यही गजब है--कुछ लोग शरीर के खोल से जुड़े रहते हैं। शरीर की चोट के साथ उनको भी चोट पहुँचती है, जो अपने को शरीर रूपी खोल से अलग समझते हैं, उनके शरीर को काटने पर भी कोई दु:ख और पीड़ा नहीं होती।

अब अपनी बात है--जिनके भीतर राग पड़ा हुआ है, वे शरीर से जुड़े हुए हैं। जो गीला-पन है वही राग है। जिन्होंने शरीर को ही अपना होना मान रखा है, उनका शरीर और आत्मा का अलग-अलग अस्तित्व होने पर भी वे एक अनुभव करते हैं। वे शरीर के मरण से अपना मरण शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति होना मानते हैं। वे शरीर की पीड़ा को अपनी पीड़ा मानते हैं। ऐसा ही उनके अनुभव में आता है। हमें शरीर ही दिखाई देता है। वह जो भीतर है वह इस तरह से जुड़ा हुआ है, कि उनका हमें पता भी नहीं है। संसार के अनेक उदाहरण हैं। बादाम का ऊपर का काठ अलग है, भीतर भी एक-एक पतला छिलका है, जो गर्म पानी में डालने पर अलग होता हैं, और गिरी अलग है। इसी प्रकार चेतन आत्मा अलग है। शरीर ऊपर का काठ सदृश्य है, और रागादि भीतर का छिलका है। जो तपस्या रूपी अग्नि में तपाने से अलग होता है। आत्मा उन सबसे अलग है, उसी प्रकार पिस्ता है, मूंगफली है, सबमें ऐसा ही है। उनको देखकर हमें अपने भीतर का भेद समझ में आ सकता है। गिरी को ग्रहण करना है और बाकी को छोड़ देना है। वह पर ग्रहण करने वाला तीसरा व्यक्ति है। लेकिन आत्मा के विषय में तो वह आप ही अपने को अपने रूप देखने वाला है।

सम्यग्दर्शन का चौथा सोपान : सम्यक्त्वाचरण

जिणणाणदिदि्ठसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि।।

- अष्टपाहुड-चारित्रपाहुड, 5

सम्यक्त्व का चौथा सोपान सम्यक्त्वाचरण है। जब जीव को आत्मा और आत्मा से भिन्न वस्तु का ज्ञान हो जाता है अर्थात् 'मैं शरीरादि से भिन्न अखण्ड, अविनाशी शुद्धात्म तत्त्व भगवान आत्मा हूँ, ये शरीरादि मेरे नहीं न ही मैं इनका हूँ'' तब उसे पर से भिन्न निज आत्मा की रुचि पैदा हो जाती है, और संसार शरीर भोगों से अरुचि पैदा हो जाती है। और वह हमेशा आत्म सन्मुख रहने का पुरुषार्थ किया करता है, क्योंकि इनके होते हुए उसके इतने निर्मल परिणाम होंगे ही नहीं। वह हमेशा जिनदेव की कही हुई जिनवाणी माँ और दिगम्बर गुरु के उपदेश को अपने आचरण में लाकर अपनी मंजिल की तरफ (सच्चे सुख) बढ़ता जाता है। एक दिन ऐसा आता कि वह सर्व परिग्रह को त्याग, आत्मा में लीन हो, सर्वकर्मों को काटकर सदा के लिए इस दु:खद संसार से पार हो जाता है और आदि अनन्त तक अतिन्द्रिय आनन्द भोगता है। अगर आप लोग भी सच्चे सुख को प्राप्त करना चाहते हैं तो आज के प्रवचन ध्यान से सुनकर आचरण में लाना।

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं–

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झा किं चि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि।।

(समयसार गाथा 38)

मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं।
ये अन्य सब पर द्रव्य किंचित मात्र भी मेरे नहीं।।

निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, और अन्य जो पर द्रव्य हैं वे किंचित मात्र, अणुमात्र भी मेरे नहीं है।

अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि) का स्वरूप बताते हुए **आचार्य योगीन्दु** कहते हैं–

जो परियाणइ अप्पु परु जो परभाव चएइ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहु सो संसारु मुएइ।।८।।

जो कोई आत्मा और पर को अर्थात् आपसे भिन्न पदार्थों को भले प्रकार पहचानता है तथा जो अपने आत्मा के स्वभाव को छोड़कर अन्य सब भावों को त्याग देता है। वही पंडित

भेदविज्ञानी अन्तरात्मा है वह अपने आप का अनुभव करता है वही संसार से छूट जाता है।

सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा का ऐसा विचार करता है–

शुद्ध निश्चयनय से यह भले प्रकार जान लें कि मैं आत्मद्रव्य हूँ, सिद्ध के समान हूँ, अपने ही स्वभाव में परिणमन करने वाला हूँ। रागादि भावों का कर्ता नहीं हूँ, सांसारिक सुख व दुःख का भोगने वाला नहीं हूँ। मैं केवल अपने ही शुद्ध भाव का कर्ता व शुद्ध आत्मिक आनंद का भोक्ता हूँ, मैं आठ कर्मों में शरीरादि से व अन्य सर्व आत्मादि द्रव्यों से निराला हूँ। तथा अपने गुणों से अभेद हूँ।

वह आत्मा का ऐसा विचार करे, समझे जैसा **श्री कुन्द-कुन्दाचार्य** ने **समयसार** में कहा है–

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि।।

जो कोई अपने आत्मा को पाँच तरह से एक अखण्ड शुद्ध द्रव्य समझे, उसे शुद्धनय जानो।

1. यह आत्मा 'अबद्ध स्पष्ट' है–न तो यह कर्मों से बँधा है और न स्पर्शित है।
2. यह अनन्य है–जैसे कमल जल से निर्लेप है, वह सदा एक आत्मा ही है, कभी नारक देव तिर्यंच नहीं है। जैसे मिट्टी अपने बने बर्तनों में मिट्टी ही रहती है।
3. नियत या निश्चल है–जैसे पवन के झकोरे के बिना समुद्र निश्चल रहता है। वैसे यह आत्मा कर्म के उदय के बिना निश्चल है।
4. यह अविशेष या सामान्य है–जैसे सुवर्ण अपने चिकने आदि गुणों से अभेद व सामान्य है, वैसे ही यह आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अपने ही गुणों से अभेद या सामान्य है, एक रूप है।
5. यह असंयुक्त है–जैसे पानी स्वभाव से गर्म नहीं है, ठंडा है, वैसे यह आत्मा स्वभाव से परम वीतराग है, रागी, द्वेषी, मोही नहीं है।

श्री योगीन्दु देव ने **परमात्मप्रकाश** में कहा है–

देह विभिण्णउ णाणमउ, जो परमप्पु णिएइ।
परमसमाहि परिट्ठियउ, पंडिउ सो जि हवेइ।।14।।

जो कोई देह से भिन्न अपने आत्मा को ज्ञानमई परमात्मारूप में देखता है वह परम समाधि में स्थिर होकर ध्यान करता है, वही पंडित अन्तरात्मा है।

आत्मा के मनन के लिए नित्य चार काम करें–

(1) अरिहंत सिद्ध परमात्मा की भक्ति पूजा करें। (2) आचार्य, उपाध्याय, साधु इन तीन प्रकार के गुरुओं की सेवा करके तत्त्वज्ञान को ग्रहण करें। (3) तत्त्व प्रदर्शक ग्रन्थों का अभ्यास करें। (4) एकान्त में बैठकर सवेरे-सांझ कुछ देर सामायिक करे व भेद विज्ञान से अपनी व पर की आत्माओं को एक समान शुद्ध विचारें व राग द्वेष की विषमता मिटावे।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने **दंसणपाहुड** में कहा है–

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताणरुवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥19॥

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं॥२०॥

जीव, पुद्‌गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल ये द्रव्य हैं। काल को छोड़कर पांच अस्तिकाय हैं। जीवादि सात तत्त्व तथा पुण्य पाप मिलाकर नौ पदार्थ हैं। उन सबका जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि जानना योग्य है। जिनेन्द्र ने कहा है कि जीवादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है व अपने ही आत्मा का यथार्थ श्रद्धान निश्चय सम्यक्त्व है।

योगीन्दु देव कहते हैं कि अपनी आत्मा व जिनेन्द्र प्रभु में भेद नहीं–

सुद्धप्पा अरुजिणवरहं भेउ म किंपि वियाणि।
मोक्खहं कारणे जोइया णिच्छइं एउ विजाणि॥२०॥

(योगसार)

हे योगी अपने शुद्धात्मा में और जिनेन्द्र में कोई भी भेद मत समझो मोक्ष का साधन निश्चय से यही है।

आगे आचार्य श्री **परमात्मप्रकाश** में लिखते हैं–

जेहउ णिम्मलु णाणमउ, सिद्धहिँ णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु, देहहं मं करि भेउ॥२६॥

जैसे निर्मल ज्ञानमय परमात्म देव सिद्धगति में निवास करते हैं, वैसे ही परमब्रह्म परमात्मा इस शरीर में निवास करता है, सिद्ध भगवान तथा अपने में कुछ भेद न जानो। आगे द्रव्यसंग्रह की 34वीं गाथा की टीका में ब्रह्मदेव सूरि कहते हैं–

मिथ्यादृष्टि सासादन और मिश्र इन तीनों गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मंदता से अशुभ उपयोग रहता है। उसके आगे असंयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्त नामक तीन गुणस्थान हैं उनमें परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक ऊपर-ऊपर तारतम्य से शुभ उपयोग प्रवर्त्तता है।

आगे **द्रव्यसंग्रह** की 45वीं गाथा की टीका में कहते हैं–

मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय होने पर अथवा आध्यात्म भाषा के अनुसार निज शुद्धात्मा के सन्मुख परिणाम होने पर जो जीव शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न-विकार-रहित-यथार्थ सुख रूपी अमृत को ग्रहण करने योग्य करके, संसार, शरीर, भोगों में हेय बुद्धि है, अर्थात् संसार शरीर और भोग ये सब त्यागने योग्य हैं ऐसा समझता है, और सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, उसको चतुर्थ गुणस्थान में रहने वाला व्रत रहित दार्शनिक कहते हैं।

आगे सवैया कहते हैं–

स्वारत के सांचे परमारथ के सांचे चित्त,
सांचे-सांचे वे न कहें सांचे जैन मति है।
काहू के विरुद्ध नाहि परजाय बुद्धि-नाहि,
आतमावेषी न गृहस्थ है न जती है।।
सिद्धि रिद्धि दीसै घट में प्रकट सदा,
अंतर की लच्छिसौ खजांची लच्छपति है।
दास भगवन्त के उदास रहे जगत सौ,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती है।।

जिन्हें निज आत्मा का सच्चा ज्ञान है और मोक्ष पदार्थ से सच्चा प्रेम है, जो हृदय के सच्चे हैं सत्य वचन बोलते हैं तथा सच्चे जैनी हैं। किसी से भी जिनका विरोध नहीं है, शरीर में जिनको अहंबुद्धि नहीं है आत्म स्वरूप के खोलक हैं, न अणुव्रती हैं न महाव्रती हैं, जिन्हें सदैव ही अपने हृदय में आत्महित की सिद्धि, आत्मशक्ति की ऋद्धि, और आत्मगुणों की वृद्धि प्रकट दिखती है, जो अन्तरंग लक्ष्मी से खजांची लखपती अर्थात् सम्पन्न हैं, जो जिनराज के सेवक हैं, संसार से उदासीन रहते हैं, जो आत्मिक सुख से सदा आनन्द रूप रहते हैं, ऐसे गुणों के धारक सम्यग्दृष्टि जीव हैं।

निम्न दृष्टान्तों द्वारा हम आत्मतत्त्व को भली भाँति समझ सकते हैं–

आगम ज्ञान आत्मज्ञान

एक विद्वान नाव में बैठकर जा रहे थे। बीच में नाविक से बातचीत करते हुए उन्होंने पूछा–

"क्या तुम संगीत जानते हो?" नाविक ने कहा, नहीं। विद्वान ने फिर पूछा– "क्या व्याकरण जानते हो, पढ़ना-लिखना जानते हो?" नाविक ने फिर ना कहा और बोला–"मैं तो मात्र इस पानी में तैरना जानता हूँ।" विद्वान ने कहा "तुम्हारी जिन्दगी तो पानी में ही गयी। मैं तो न्याय, संस्कृत, गणित और बड़े-बड़े ग्रन्थों को जानता हूँ। तैरने पर तो मैंने थिसिस लिखी है।"

अभी यह बात चल ही रही थी कि पानी में तूफान आ गया। नौका डूबने लगी। नाविक ने पूछा "पंडित जी! तैरना जानते हो? पंडित जी ने कहा कि मैं तो कभी पानी में उतरा ही नहीं हूँ।" नाविक ने कहा "आपने थिसिस तो तैरने पर लिखी, न्याय व्याकरण भी पढ़ा परन्तु अब डूबना पड़ेगा।" नाविक ऐसा कहकर नौका से बाहर कूद गया और पंडित जी नाव सहित डूब गए।

अब अपनी बात है। लोग ग्रन्थों का अध्ययन करके आगम ज्ञान तो अच्छी तरह कर लेते हैं औरों को समझा भी देते हैं। परन्तु अब तक उन्होंने आत्मा के बारे में ही जाना है, आत्मा को नहीं जाना। वे जानकारियाँ उनके लिए परिग्रह बन जाती हैं और अन्धकार पैदा कर देती हैं। धनवान से भी ज्यादा अहंकारी पंडित होता है। वह कागज की नाव में बैठकर तिरना चाहता है। आत्मा को जाने तो आत्मज्ञानी हो। इसके बिना जीवन नहीं बदल सकता। आगम से समझकर अपने में देखना है।

स्वयं को देखें

एक राजधानी में एक फकीर भीख माँगता था। वह एक ही जगह बैठकर 30 वर्ष से भीख माँग रहा था। एक दिन वह मर गया। उसके चारों तरफ की जमीन गन्दी हो गई थी। इसलिए उसे जब लोग लेकर जाने लगे तो जहाँ वह बैठता था वहाँ चारों तरफ जमीन खोदी गयी। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। हजारों आदिमी वहाँ इकट्ठे हो गए। वहाँ जमीन के नीचे ध न गड़ा हुआ था। बहुत खजाने भरे हुए थे। उस भिखारी ने सब जगह हाथ फैलाया, परन्तु अपने नीचे खोदकर नहीं देखा। लोग कहने लगे भिखारी पागल था।

अब अपनी बात है। हम भी धन के पीछे दौड़ लगा रहे हैं और उससे सुख की इच्छा कर रहे हैं, लेकिन उसमें सुख था ही कब, जहाँ देखो वहाँ जैसे रेस में घोड़े दौड़ते हैं और हम सोचते हैं कि मेरा घोड़ा पीछे न रह जाए, वैसे धन के मान के प्यासे 24 घण्टे दौड़ रहे हैं कि मैं सबसे आगे निकल जाऊँ परन्तु अपने अन्दर झाँक कर देखें कि तीन लोक का नाथ अपना चैतन्य प्रभु अपने में ही विराजमान हैं। कहीं बाहर में खोजने की जरूरत नहीं है। अनन्त काल बाहर में, मन्दिर में, तीर्थों पर, सब जगह खोजा, परन्तु अपने अन्दर में झाँकर देख ले तो कहीं खोजना नहीं पड़ता, क्योंकि जहाँ था वहाँ हमने खोजा ही नहीं। कबीर ने भी कहा है–

ज्यौं तिल माहिं तेल है ज्यो चकमक में आगि।
तेरा स्वामी तुझमें हैं जाग सके तो जागि।।

कर्म के मध्य में भी चेतना का स्वाद लें

एक बार अकबर बादशाह और बीरबल बैठे थे। बादशाह ने कहा कि 'आज मैंने एक स्वप्न देखा कि आप और हम दोनों भागे जा रहे हैं, और आप एक गोबर के गड्ढ़े में गिर गए और मैं गन्ने के रस के गड्ढ़े में गिर गया। वीरबल ने कहा—'मैंने भी एक स्वप्न देखा है जो इससे थोड़ा आगे तक है, आप तो गन्ने के गड्ढ़े में गिर गए और मैं गोबर के गड्ढ़े में गिर गया। इतना तो ठीक है; परन्तु इससे आगे यह और था कि आप मुझे चाट रहे हैं और मैं आप को चाट रहा हूँ।

अब अपनी बात है। यह आत्मा कर्म के कषाय के गड्ढ़े में गिरी हुई है। परन्तु यह आत्मा कर्म के फल सुख दु:ख का स्वाद भी ले सकती है, अथवा अपने ज्ञान का स्वाद भी ले सकती है। गोबर के गड्ढ़े में पड़ा है अथवा गन्ने के रस के गड्ढ़े में सवाल यह नहीं है। सवाल है स्वाद किसका लेना चाहता है। किसका ले रहा है। कर्म के मध्य में पड़ा हुआ अपने चेतन स्वभाव का स्वाद ले सकता है। ज्ञान भी हमारे पास है और कर्म का फल भी हमारे पास है। स्वाद लेने वाले हम ही हैं। हम चाहे तो ज्ञान का स्वाद ले लेवें, और हम चाहें तो कर्म का स्वाद ले लेवें। चेतना का स्वाद हमने आज तक कभी नहीं लिया। अपने में लगे तो अपना स्वाद आवे। अपना स्वाद आज तक इसने नहीं लिया। जिसके आगे सच्चे स्वाद भी स्वादहीन हो जाते हैं।

अन्त में यहाँ एक बात और स्पष्ट करनी है क्योंकि बात सम्यग्दर्शन की चल रही है, सम्यग्दृष्टि की चल रही है, इसलिए यदि सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में जरा सी भी चूक हो जाये तो वह अपना सम्यकत्व रूपी रत्न भी खो सकता है, फिर उसकी ऐसी ही स्थिति होगी जैसी दोने की निम्न दृष्टान्त में होती है।

दृष्टान्त—एक बहुत प्रतिष्ठित व्यक्ति हलवाई की दुकान पर जाता है, और कुछ गुलाब जामुन खरीदता है। हलवाई ने दोने में गुलाब जामुन दे दिये। सेठ इनको अपने रेशमी रूमाल से ढककर अपने भवन चला जा रहा है। अब दोना (पत्ते का बर्तन) सोचता है कि हम भी रेशमी रूमाल से ढके हुये हैं। वह प्रतिष्ठित व्यक्ति अपने भवन पहुँच जाता है। वहाँ सोफे और टेबल ड्राईंग रूम में सजे हैं। उन पर बढ़िया प्लेटों में गुलाब जामुन को थोड़ी देर के लिए दोने सहित रख दिया जाता है। तब दोना अभिमान में चूर होकर विचार करता है कि—ओह! हम कितने ऊँचे चढ़ गये हैं, हमें कितना सुन्दर आसन बैठने को मिला है। दोने को यह नहीं मालूम कि यह आसन उसे

सिर्फ गुलाब जामुन के कारण ही मिला हुआ है। थोड़ी देर बाद गुलाब जामुन प्लेट में डाल दिये जाते हैं और दोने को खिड़की से नीचे फेंक दिया जाता है, उसे गली के कुत्ते चाटने लगते हैं।

ठीक इसी प्रकार मनुष्य की प्रतिष्ठा मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन के कारण है। सम्यग्दर्शन गुलाब जामुन की भाँति है और यह शरीर दोना है। शरीर पर अभिमान नहीं करना चाहिए इसकी कीमत तो आत्मदर्शन से युक्त आत्मा के कारण है। यह शरीर हमें पूर्व के बहुत पुण्य द्वारा प्राप्त हुआ, यदि यह पुण्य समाप्त हो गया और नवीन का अर्जन नहीं किया तो सीधे नरक में जा पड़ेंगे जैसे गली में दोना जा पड़ा था। सम्यकत्व प्राप्त करने का पुरुषार्थ ही वीतराग भाव है और यदि सम्यकत्व प्राप्त हो जाये तो फिर शरीर रूपी दोने पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए अन्यथा सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग नहीं बन पायेगा चाहे जितना ज्ञान प्राप्त करो। जितना चाहो चारित्र पा लो। सब व्यर्थ ही होगा। सम्यग्दर्शन के बिना स्थिति आपकी दोने से अधिक नहीं होगी।

भत्तीएं पुज्जमाणो विंतरदेवो वि देवि जदि लच्छी।
तो किं धम्मे कीरदि एवं चित्तेह सद्दिट्ठी।।

सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि सरागी देवों की पूजा से यदि लक्ष्मी मिलती हो तो धर्म करने की क्या आवश्यकता है। अत: वह किसी सरागी देवी-देवताओं की भक्ति पूजा नहीं करता और करना भी नहीं चाहिए।

पंचम अध्याय : सात तत्त्व

जैनदर्शन में जीव, अजीव आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों पर श्रद्धान किए बिना सम्यक्त्व नहीं हो सकता है- जिनका विशेष विवरण अधोलिखित है-

जीव तत्त्व

उत्तमगुणाणधामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाण परं तच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो।।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

इस जीवात्मा को अनेक लोग अनेक प्रकार से कहते हैं, कोई 'यह' कहते हैं, अंग्रेजी में 'सोल', कहते हैं, इसी को आगम में जीव, आत्मा कहते हैं, और कहाँ तक कहें ब्रह्मा, ईश्वर, प्रभु, विभु आदि अनेक नाम हैं। यह जीव तत्त्वों में महातत्त्व, द्रव्यों में महाद्रव्य, पदार्थों में महापदार्थ, उत्तम गुणों का धाम है। आज इसी जीव तत्त्व के बारे में बतायेंगे ध्यान से सुनना।

आचार्य शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं-

अनन्तः सर्वदा सर्वे जीवराशिर्द्विधा स्थितः।
सिद्धेतरविकल्पेन त्रैलोक्यभुवनोदरे।।6.10।।

इन तीन लोक में जीव राशि सदा काल है, और वह दो भेद रूप है- (1) सिद्ध (2) संसारी।

मुक्त जीव के भेद

सिद्धस्त्वेकस्वभावः स्याद्दृग्बोधानन्दशक्तिमान्।
मृत्यूत्पादादिजन्मोत्थक्लेशप्रचयविच्युतः।।११।।

(ज्ञा. सर्ग 6)

उन दो भेदों में से जो सिद्ध है सो तो दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य सहित एक स्वभाव है, और मरण, जनम आदि सांसारिक क्लेशों से रहित हैं। संयम प्रकाश ग्रन्थ में क्षेत्रादि की अपेक्षा जीव के भेद बताये हैं-

1. **क्षेत्र**--तद्भव मोक्षगामी (उसी भव से मोक्ष जाने वाले चरमशरीरी) अढ़ाई द्वीप सम्बन्धी भरत क्षेत्रादि 15 कर्म भूमियों में ही जन्म लेते हैं। अतः जन्म की अपेक्षा से 15 कर्म भूमियों से सिद्ध होते हैं और संहरण (उठाकर अन्यत्र कहीं ले जाने)से अढ़ाई द्वीप से सिद्ध होते हैं।

2. **काल**–अवसर्पिणी काल के तीसरे सुषमा दु:षमा काल के अंतिम भाग में और चतुर्थ काल में जन्मे हुए जीव ही सिद्ध होते हैं।

3. **गति**–मनुष्यगति से ही सिद्धगति प्राप्त होती है।

सिद्धों के 12 भेद बताते हुए **तत्त्वार्थसूत्र** में **उमास्वामी** कहते हैं–

1. **क्षेत्र**–कोई भरत क्षेत्र से और कोई ऐरावत क्षेत्र से सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा सिद्धों में भेद होता है।

2. **काल**–कोई उत्सर्पिणी काल में सिद्ध हुए हैं।

3. **गति**–कोई मनुष्य गति से सिद्ध हुए हैं। इस गति से ही सिद्ध होते हैं।

4. **लिंग**–वास्तव में अलिंग से ही सिद्ध होते हैं अथवा द्रव्य पुल्लिंग से ही सिद्ध होते हैं। भावलिंग की अपेक्षा तीनों लिंगों से मोक्ष (मुक्त) हो सकता है।

5. **तीर्थ**–कोई तीर्थंकर बनकर सिद्ध होते हैं, कोई बिना तीर्थंकर हुए सिद्ध होते हैं और कोई तीर्थंकर के मोक्ष चले जाने के बाद सिद्ध होते हैं उनके आम्नाय में।

6. **चारित्र**–चारित्र की अपेक्षा कोई एक-एक से अथवा कोई भूत पूर्व नय की अपेक्षा दो तीन चारित्र से सिद्ध होते हैं।

7. **प्रत्येक बुद्धबोधित**–कोई स्वयं संसार से विरक्त होकर मोक्ष को प्राप्त है और कोई किसी के उपदेश से।

8. **ज्ञान**–कोई एक ही ज्ञान से और कोई भूतपूर्वनय की अपेक्षा दो तीन चार ज्ञान से सिद्ध होते हैं।

9. **अवगाहन**–कोई उत्कृष्ट अवगाहना पांच सौ पच्चीस धनुष से सिद्ध होते हैं, कोई मध्यम अवगाहना से और कोई जघन्य अवगाहना (कुछ कम साढ़े तीन हाथ) से सिद्ध होते हैं।

10. **अन्तर**–एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध होने का अन्तर जघन्य से 'एक' समय और उत्कृष्ट से 'आठ' काय का है तथा विरह काल जघन्य से 'एक' समय और उत्कृष्ट से छ: मास तक होता है।

11. **संख्या**–जघन्य से एक समय में एक ही जीव सिद्ध होता है, और उत्कृष्ट से 'एक सौ आठ' जीव सिद्ध होते हैं तथा विदेहादि क्षेत्रों से सिद्ध होते हैं।

12. **अल्पबहुत्व**–अर्थात् संख्या में हीनाधिकता। उपर्युक्त ग्यारह भेदों में अल्पबहुत्व होता है।

संसारी जीव के भेद

चरस्थिरभवोद्भूतविकल्पैः कल्पिताः पृथक्।
भवन्त्यनेकभेदास्ते जीवाः संसारवर्तिनः॥१२॥

(ज्ञा. सर्ग 6)

संसारी जीव त्रस और स्थावर रूप संसार से उत्पन्न हुए भेदों से भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के हैं।

आचार्य आगे कहते हैं-

पृथिव्यादिविभेदेन स्थावराः पञ्चधा मताः।
त्रसास्त्वनेकभेदास्ते नानायोनिसमाश्रिताः॥१३॥

(ज्ञा. सर्ग 6)

संसारी जीवों में स्थावर जीव-पृथ्वी, अप (जल), तेज, वायु और वनस्पति भेद से पांच प्रकार के हैं और त्रस द्वीन्द्रियादिक के भेद से अनेक भेद रूप हैं तथा अनेक प्रकार की योनि के आश्रित हैं।।3।।

आचार्य आगे कहते हैं-

चतुर्धा गतिभेदेन भिद्यन्ते प्राणिनः परम्।
मनुष्यामरतिर्यञ्चो नारकाश्च यथायथम्॥१४॥

(ज्ञा. सर्ग 6)

संसारी जीव गति के भेद से मनुष्य, देव, त्रिर्यंच और नारक चार प्रकार के हैं।।4।।

आचार्य आगे कहते हैं-

भ्रमन्ति नियतं जन्मकान्तारे कल्मषाशयाः।
दुरन्तकर्मसम्पातप्रपञ्चवशवर्तिनः॥१५॥

(ज्ञा. सर्ग 6)

ये पापाशयरूपी संसारी जीव दुरन्त कर्म के संताप के प्रपंच के वशवर्ती होकर संसार रूपी वन में निरन्तर भ्रमण करते हैं।।5।।

आचार्य आगे कहते हैं-

किन्तु तिर्यग्गतावेव स्थावरा विकलेन्द्रियाः।
असंज्ञिनश्च नान्यत्र प्रभवन्त्यङ्गिनः क्वचित्॥१६॥

(ज्ञा. सर्ग 6)

किन्तु स्थावर, विकलेन्दिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) और असंज्ञी (मनरहित पंचेन्द्रिय) ये तिर्यंच गति में ही होते हैं, अन्यत्र नहीं होते।

आचार्य आगे कहते हैं–

एको द्विधा त्रिधा जीवः चतुः संक्रान्तिपञ्चमः।
षट्कर्म सप्तभङ्गोऽष्टाश्रयो नवदशस्थितिः॥१८॥

(ज्ञा. सर्ग 6)

जीव सामान्य चैतन्यरूप से एक प्रकार के हैं। त्रस, स्थावर भेद से दो प्रकार के हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय से तीन प्रकार के हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञा, असंज्ञी भेद से चार प्रकार के हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के भेद से पाँच प्रकार के हैं। पाँच स्थावर, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय ऐसे भेद करने से सात प्रकार हैं। पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, एक सकलेन्द्रिय ऐसे नव प्रकार के हैं। पाँच स्थावर, विकलेन्द्रिय और संज्ञी तथा असंज्ञी ऐसे भेद करने से दस प्रकार के भी हैं। इस प्रकार सामान्य विशेष के भेद से जीव संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त भेद रूप हैं।।18।।

अब आगे आचार्य कहते हैं–

भव्याभव्यविकल्पोऽयं जीवराशिनिसर्गजः।
मतः पूर्वोऽपवर्गाय जन्मपङ्काय चेतरः॥१९॥

(ज्ञा. सर्ग 6)

यह जीव राशि स्वभाव से भव्य और अभव्य स्वभाव स्वरूप है। पहला अपवर्ग अर्थात् मोक्ष के लिए और इतर अर्थात् दूसरा अभव्य संसार के लिए माना गया है, अर्थात् भव्य मोक्ष मार्गी होता है और अभव्य को कभी मोक्ष नहीं होता है।

आचार्य इसी को आगे कहते हैं–

द्वयोरनादिसंसारः सान्तः पर्यन्तवर्जितः।
वस्तुस्वभावतो ज्ञेयोभव्याभव्याङ्गिनोः क्रमात्॥२४॥

(ज्ञा. सर्ग 6)

भव्य अभव्य दोनों के ही संसार आदि रहित है; परन्तु भव्य का तो संसार अन्त सहित है (क्योंकि इसको मुक्ति होती है) और अभव्य का अन्त रहित है (क्योंकि इसको मुक्ति नहीं होती है) ऐसा वस्तुस्वभाव से ही जानना चाहिए। इसमें कोई अन्य हेतु नहीं है।।24।।

आचार्य आगे कहते हैं–

चतुर्दशसमासेषु मार्गणासु गुणेषु च।
ज्ञात्वा संसारिणो जीवाः श्रद्धेयाः शुद्धदृष्टिभिः॥२५॥

(ज्ञा. सर्ग 6)

संसारी जीवों को चौदह जीवसमास, चौदह मार्गणा और चौदह गुणस्थान में जान करके सम्यग्दृष्टियों को श्रद्धान करना चाहिए।

जीव तत्त्व पर विशेष

आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्यसंग्रह की गाथा 2 में जीव के नव अधिकार कहे हैं।

जीवो उवओगमओ, अमुत्तिकत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥२॥

वह जीव जीने वाला है, उपयोगमय है, अमूर्तिकर है, कर्ता है, छोटे बड़े शरीर के बराबर रहने वाला है, कर्मों के फल को भोगने वाला है, संसारी है, सिद्ध है, और स्वभाव से ऊर्ध्व को गमन करने वाला है।

आचार्य आगे कहते हैं–

तिक्काले चदुपाणाइंदिय बलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो, णिच्चयणयदो दुचेदणा जस्य॥३॥

जिसके व्यवहार से इन्द्रिय, बल, आयु और श्वसोच्छवास चार प्राण होते हैं और निश्चय से जिसके चेतना होती है वह जीव है।

पं. दौलतराम छहढाला में जीव के तीन भेद बताते हुए कहते है–

"बहिरात्म अन्तरातम परमातम जीव त्रिधा हैं॥"

बहिरातम का स्वरूप बताते हुए आचार्य योगीन्दु योगसार में कहते हैं–

मिच्छदंसणमोहियउ परुअप्पा ण मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुण संसार भमेइ॥७॥

मिथ्यादर्शन से मोही जीव परमात्मा को नहीं जानता है, वह बहिरात्मा है वह बारम्बार संसार में भ्रमण करता है। ऐसा श्रीजिनेन्द्र देव ने कहा है।

आगे अन्तरात्मा का स्वरूप बताते हुए परमात्मप्रकाश में योगीन्दु देव कहते हैं–

देह विभिण्णउ णाणमउ, जो परमप्पु णिएइ।
परमसमाहि परिट्ठियउ, पंडिउ सो जि हवेइ॥१४॥

जो देह से भिन्न अपने आत्मा को ज्ञानमयी परमात्मा रूप में देखता है वह परम समाधि में स्थिर हो ध्यान करता है वही पंडित अन्तरात्मा है।

परमात्मा का स्वरूप बताते हुए आचार्य योगीन्दु कहते हैं–

णिम्मलु णिक्कलु सुद्ध जिणुविण्हु बुद्धु सिव संतु।
सो परमप्पा जिणभणिउ एहउ जाणि णिभंतु॥९॥

जो कर्म मल व रागादि मल रहित है, जो निष्कल अर्थात् शरीर रहित है, जो शुद्ध व अभेद एक है, जिसने आत्मा के सर्व शत्रुओं को जीत लिया है, जो विष्णु है अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा सर्वलोकव्यापी है, सर्वज्ञ है, जो बुद्ध है अर्थात् स्वपर तत्त्व को समझने वाला है, जो शिव है परम कल्याणकारी है, जो परमशांत व वीतरागी है वही परमात्मा है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। इस संदर्भ में दृष्टान्त हैं–

अनाज का दाना समझने वाला

एक व्यक्ति था। वह स्वयं को आनाज का दाना समझता था। जब वह घर से बाहर निकलता था तब वह डरता था। कि कहीं मुझे चिड़िया न चुग जाये। इस प्रकार बहुत दिन बीत गये, वह घर में ही रहता कोई काम धन्धा नहीं करता, इससे उसकी पत्नी बहुत परेशान थी। उसने एक दिन अपने पति से कहा–"आप कुछ काम तो करते नहीं हो घर का खर्च कैसे चलेगा। आप को कोई बीमारी हो तो डाक्टर के पास चले जाओ और दिखा आओ।" वह चिड़ियों को देखते-देखते और डरते-डरते डॉक्टर के पास पहुँचा, वह बोला-"डाक्टर जी! मुझे एक बहुत बड़ी बीमारी है। कृपया करके इसका इलाज करें।" डॉक्टर बोला-"कौन सी बीमारी है?" वह बोला-"मुझे यह महसूस होता है कि मैं अनाज का दाना हूँ, इसके कारण मुझे चिड़ियों से बहुत भय रहता है। कृपा कर कुछ इलाज बताओ" डॉक्टर उसे अन्दर ले गया और शांति से उससे कहा कि देखो तुम्हारे हाथ, पैर, कान, मुँह आदि हैं और मानव का शरीर है, तुम तो मनुष्य ही हो दाने का तो तुम्हें भ्रम हो गया है, इस भ्रम को छोड़ो, समझे। वह बोला समझ गया। डॉक्टर बोला अब आराम से घर जाओ। वह घर जाने लगा, जब बाहर निकला और कुछ दूर चला, तो उसे एक मुर्गी दिखाई दी। वह डॉक्टर की बताई बातें सब भूल गया, और स्वयं को दाना समझ प्राण बचाने के लिए डॉक्टर के पास भागा और चिल्लाया डॉक्टर जी बचाओ-बचाओ। डॉक्टर ने कहा क्यों क्या हुआ-"वापिस क्यों आ गये?" क्या अभी भी विश्वास नहीं हुआ कि मैं मनुष्य हूँ दाना नहीं।" वह बोला-"डॉक्टर जी मुझे तो विश्वास है। लेकिन उस मुर्गी को कौन बताता कि मैं मनुष्य हूँ दाना नहीं। वह तो हमें ही दाना समझकर खा जाती।"

स्वयं को भैंसा समझने वाला

दो मित्र एक गाँव में रहते थे। एक का नाम गोपाल और दूसरे का भीखू था। एक दिन भीखू वन में गया और एक गुफा में जाकर बैठ गया तथा विचार करने लगा मैं एक भैंसा हूँ, मेरे सींग बहुत बड़े हैं और वे इस गुफा में फँसे हैं, अब मैं यहाँ से कभी नहीं निकल सकता। उधर गोपाल को भीखू कहीं भी दिखाई नहीं दिया, उसने ढूंढते हुए जंगल में उसी गुफा के पास खड़े होकर आवाज लगाई....भीखू ओ भीखू। जब भीखू ने आवाज सुनी तो वह अन्दर से बोला मित्र मैं यहाँ से उठ नहीं सकता मेरे सींग बहुत बड़े हैं और वे गुफा में अड़े हैं अगर खड़ा हुआ तो टूट जायेंगे। जब ये शब्द गोपाल ने सुने तो वह आश्चर्य में पड़ गया और दौड़कर उस गुफा में गया, देखता है कि भीखू ध्यान में बैठा है। गोपाल ने जाकर भीखू को हिलाया तो वह चिल्लाने लगा मरा..... मरा। गोपाल ने उसे एक थप्पड़ मारा तब उसे होश आया।

शिला की कीमत

किसी नगर में एक मनुष्य रहता था। वह हीरों की खान में काम करता था। पूर्व में वह लखपति था, किन्तु वर्तमान स्थिति उसकी खराब हो गयी थी, वह गरीबी में दिन व्यतीत कर रहा था। एक दिन खान में काम करते-करते उसे वहाँ से एक छोटी-सी शिला मिल जाती है। वह उसे लेकर घर आ जाता है। घर पर उसकी स्त्री इस शिला पर मसाला-नमक आदि पीसने में इसे प्रयोग करने लगी। कुछ दिनों बाद एक जौहरी इस मनुष्य के घर आता है। उसकी दृष्टि इस शिला पर पड़ती है। जौहरी इस शिला रूपी पत्थर की कीमत जान जाता है। वह इसे सौ रुपये में खरीदने के लिए इस मनुष्य से कहता है। यह मनुष्य अपनी स्त्री से पूछता है कि क्या इसे सौ रुपये में बेच दूँ। स्त्री कहती है कि इसको बेचकर बाजार से एक हजार रुपये ले आओ। यह सुन जौहरी कहता है तुम इसके दो हजार रुपये ले लो, तीन हजार रुपये ले लो किन्तु मुझे ही इस शिला को बेचो। यह मनुष्य समझ जाता है कि यह कोई विशेष पत्थर है अत: वह उसे जौहरी को नहीं बेचता है। वह मनुष्य शिलावर को बुलाकर इसके दो टुकड़े करवा देता है। जैसे ही शिला के दो टुकड़े होते हैं उसमें से कई हीरे बाहर निकल पड़ते हैं। अब यह मनुष्य माला-माल हो जाता है।

इसी प्रकार आत्मा भी कर्मों के आवरण से ढका है। वह आत्मा भी हीरे की ज्योति के समान है। जब कर्मों का आवरण छंटता है तो स्व-आत्मा का पूर्ण प्रकाश विकीर्ण होने लगता है। सूर्य की ज्योति भी इस आत्मतत्त्व के आगे कुछ नहीं। यही जीव तत्त्व कहलाता है। इस प्रकार जीव तत्त्व को समझकर उसी में लीन हो जाना चाहिए। जीव तत्त्व को निम्न दृष्टान्त द्वारा और स्पष्ट समझा जा सकता है–

स्व की विस्मृति

एक बाबू जी अपने कमरे को सजा रहे थे। जो चीज जहाँ रखी थी वह उसे लिखकर कॉपी में नोट करते जाते थे। जिस पलंग पर वे स्वयं लेटे उसे भी कॉपी में नोट कर लिया। रात्रि को थक कर सो जाते हैं। प्रात: उठते हैं, यथास्थान सभी वस्तुएं अपने स्थान पर रखी मिलती हैं, फिर भी बारी-बारी से वे उन सभी वस्तुओं की गिनती करते हैं। तब पाते हैं कि जिस पलंग पर 'मैं' लेटा हुआ था वह नहीं है। कहाँ गया, कौन ले गया? सोचते-सोचते ढूँढ़ते-ढूँढ़ते दोपहर हो जाती है। खाना खाना भी भूल जाते हैं। अब इनका नौकर आता है, परेशान होकर पूछता है- "बाबूजी क्या बात है? आज आप खाना खाने भी नहीं आये।" बाबू जी कहते हैं- "'मैं' खो गया है। मिल नहीं रहा है।" तब नौकर कहता है-"बाबू जी आपने 'मैं' कहाँ रखा था?" तब बाबू जी बताते हैं-"यहीं इस पलंग पर 'मैं' था अब नहीं है।" अब नौकर सम्बोधन करता

है- "बाबूजी कृपया कर आप इस पलंग पर लेट जाइये। आपको अपना 'मैं' मिल जायेगा।" यह सुनते ही बाबू जी को तुरन्त ज्ञान हो जाता है।

इस प्रकार आप लोग अपने स्वयं के जीव तत्त्व को भूलकर संगीत में लिप्त हो स्वयं को भूल रहे हो, पर को अपना समझ उसी में आचरण कर रहे हैं।

अजीव तत्त्व

जिसमें चेतना शक्ति का अभाव हो उसे अजीव कहते हैं। अजीव के पाँच भेद हैं– पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल। आचार्यों ने ऐसा निरूपण करने के बाद उनकी पहचान करने के लिए उनका विशेष लक्षण तथा क्षेत्र बताया है। ऐसा मानना कि ईश्वर जगत का कर्ता है, यह भ्रम पूर्ण है। जगत् के सभी द्रव्य स्व की अपेक्षा सत् हैं, उन्हें किसी ने नहीं बनाया है। धर्म के नाम पर संसार में जैन के अतिरिक्त दूसरी भी अनेक मान्यताएं प्रचलित हैं, किन्तु उनमें वस्तु का यथार्थ कथन नहीं मिलता। वे अजीव आदि तत्त्व का स्वरूप अन्य प्रकार से कहते हैं। आकाश और काल का स्वरूप जैसा वे कहते हैं, वह स्थूल और अन्यथा है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के स्वरूप से, वे बिल्कुल ही अनभिज्ञ हैं। इस प्रकार ज्ञान-दर्शन से रहित स्वभाव वाले द्रव्य संसार में पाँच ही तत्त्व हैं। इसमें भी केवल पुद्गल सक्रिय है और चार निष्क्रिय हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र द्रव्यसंग्रह में लिखते हैं–

अज्जीवो पुण णेओ, पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो, रूवदिगुणोअमुत्तिसेसा हु॥१५॥

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल इनको अजीव द्रव्य जानना चाहिए, उनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है और शेष चार द्रव्य अमूर्तिक जानना चाहिए॥15॥

(1) पुद्गल द्रव्य

अणुस्कंधविभेदेन भिन्नाः स्युः पुद्गला द्विधा।
मूर्ता वर्णरसस्पर्शगुणोपेताश्च रूपिणः॥२९॥

अणु स्कंध भेद से यह पुद्गल दो प्रकार का है और वर्ण, रस, स्पर्श गुण सहित होने से रूपी (मूर्त) है।

पुद्गल के भेद

किन्त्वेकं पुद्गलद्रव्यं षड्विकल्पं बुधैर्मतम्।
स्थूलस्थूलादिभेदेन सूक्ष्मसूक्ष्मेणं च क्रमात्।।

(ज्ञा. सर्ग 6.30)

एक-एक पुद्गल द्रव्य को विद्वानों ने स्थूल-स्थूल और सूक्ष्मादि भेदों से क्रमशः छः प्रकार का कहा है। यथा–स्थूलस्थूल-तो पृथ्वी पर्वतादिक हैं, स्थूल-जल दुग्धादिक तरल पदार्थ हैं, स्थूल सूक्ष्म-छाया आतापादि नेत्र इन्द्रिय गोचर हैं, सूक्ष्म स्थूल–नेत्र के विना अन्य चार इन्द्रियों के गोचर आने वाले शब्द गंधादिक, सूक्ष्म-कर्मवर्गणा हैं, सूक्ष्म सूक्ष्म-परमाणु हैं। इस प्रकार पुद्गल के छः भेद हुए।

संख्या में एक-एक और निष्क्रिय द्रव्य

प्रत्येकमेकद्रव्याणि धर्मादीनि यथायथम्।
आकाशान्तान्यमूर्तानि निःक्रियाणि स्थिराणि च।।

- ज्ञा. सर्ग 6.31

धर्म, अधर्म, आकाश, ये तीन द्रव्य भिन्न-भिन्न एक-एक द्रव्य हैं और तीनों ही अमूर्तिक हैं, और निष्क्रिय हैं, स्थिर हैं।

(2) धर्म और अधर्म द्रव्य

सलोकगगनव्यापी धर्मस्याद्गतिलक्षणः।
तावन्मात्रोऽप्यधर्मोऽयं स्थितिलक्ष्मःप्रकीर्तितः।।

-ज्ञा. सर्ग 6.32

धर्म द्रव्य लोकाकाश में व्याप्त है और गति में सहकारी होना उसका लक्षण है व स्वभाव है और अधर्म द्रव्य भी लोकाकाश व्यापी है और स्थिति-सहकारी उसका स्वभाव है।

धर्म द्रव्य

स्वयं गन्तुं प्रवृत्तेषु जीवाजीवेषु सर्वदा।
धर्मोऽयं सहकारी स्याज्जलं यदोऽङ्गिनामिव।।

-ज्ञा. सर्ग 6.33

यह धर्म द्रव्य जीव, पुद्गल का प्रेरक सहकारी नहीं है, किन्तु जीव पुद्गल स्वयं गमन करने में प्रवृत्ति करे तब यह सर्वकाल सहकारी है, जैसे–जल में रहने वाले मत्स्यादि को जल सहकारी

है, जल प्रेरणा करके मत्स्यादि जलचरों को नहीं चलाता, किन्तु वे चलते हैं तो उनको सहायक होता है।

अधर्म द्रव्य

दत्ते स्थितिं प्रपन्नानां जीवादीनामयं स्थितिम्।
अधर्मः सहकारित्वाद्यथा छायाऽध्ववर्तिनाम्।।

- ज्ञा. सर्ग 6.34

अधर्म द्रव्य स्थिति को प्राप्त हुए जीव पुद्गलों की स्थिति करने में सहकारी है। जैसे स्वर्ग प्राप्त करते हुए पथिकों को बैठने के लिए छाया सहकारी है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी जीवों के ठहराने में सहकारी है, प्रेरक नहीं।

आकाशद्रव्य

अवकाशप्रदं व्योमंसर्वगं स्वप्रतिष्ठितम्।
लोकालोकविकल्पेन तस्य लक्ष्म प्रकीर्तितम्।।

-ज्ञा. सर्ग 6.35

आकाश द्रव्य अन्य पाँच द्रव्यों को अवकाश देने वाला और सर्वव्यापी है तथा स्वप्रतिष्ठित है अर्थात् स्वयं में ही आधार है, अन्य कोई आधार (आश्रय) नहीं है। यह लोक अलोक के भेद से दो प्रकार का है।

काल द्रव्य

लोकाकाशप्रदेशेषु ये भिन्ना अणवःस्थिताः।
परिवर्त्ताय भावानां मुख्यकालः स वर्णितः।।

-ज्ञा. सर्ग 6.36

लोकाकाश के प्रदेश में जो काल के भिन्न-भिन्न अणु द्रव्यों का परिवर्तन करने के लिए स्थित हैं उन्हें मुख्यकाल अर्थात् निश्चयकाल कहते हैं। आचार्य आगे कहते हैं–

समयादिकृतं यस्य मानं ज्योतिर्गणाश्रितम्।
व्यवहाराभिधः कालः सः कालज्ञै प्रपञ्चितः।।

- ज्ञा. सर्ग 6.37

जिस काल का परिणाम ज्योतिषि देवों के समूह के गमनागमन के आश्रय से समयादि भेदरूप

किया गया है, उसे काल के जानने वाले विद्वानों ने व्यवहार काल कहा है। आचार्य आगे कहते हैं–

यदमी परिवर्तन्ते पदार्था विश्ववर्तिनः।
नवजीर्णादिरूपेण तत्कालस्यैव चेष्टितम्॥

-ज्ञा. सर्ग 6.38

लोक में रहने वाले ये समस्त पदार्थ जो नय से पुरानी अवस्था को धारण करते हैं, सब काल की चेष्टा से ही करते हैं अर्थात् समस्त द्रव्यों के परिणमन में काल की चेष्टा ही निमित्त है।

श्री गुरू की पारमार्थिक शिक्षा

भैया जगवासी तू उदासीह्वैकैं जगतसौं,
एक छः महीना उपदेश मेरौ मानु रे।
और संकलप विकलप के विकार तजि,
बैठिकैं एकांत मन एक ठौरू आनु रे॥
तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ,
तूही मधुकर ह्वै सुवास पहिचानु रे।
प्रापति न ह्वै है कछु ऐसौ तू विचारतु है,
सही ह्वै है प्रापति सरूप यौं ही जानु रे॥३॥

-समयसार नाटक बनारसीदास

हे भाई संसारी जीव! तू संसार से विरक्त होकर एक छह महीने के लिए मेरी सीख मान, और एकान्त स्थान में बैठकर रागद्वेष की तरंगें छोड़कर चित्त को एकाग्रकर। तेरे हृदय रूप सरोवर में तू ही कमल बन और तू ही भौंरा बनकर अपने स्वभाव की सुगंध ले। जो तू यह सोचे कि इससे कुछ नहीं मिलेगा, नियम से स्वरूप की प्राप्ति होगी; आत्मसिद्धि का यही एक उपाय है।

जड़ चेतन की भिन्नता

वरनादिक रागादि यह, रूप हमारो नांहि।
एक ब्रह्म नहि दूसरौ, दीसै अनुभव मांहि॥६॥

(समयसार नाटक)

शरीर सम्बन्धी रूप, रस, गंध, स्पर्श, आदि व राग-द्वेष आदि विभाव सब अचेतन हैं, ये हमारे स्वरूप नहीं हैं; आत्मानुभव में एक ब्रह्म के सिवाय अन्य कुछ नहीं भासता।

देह और जीव की भिन्नता पर दूसरा दृष्टान्त

ज्यौं घट कहिये घीवकौ, घट कौ रूप न घीव।
त्यौं वरनादिक नामसौं, जड़ता लहै न जीव।। ९।।

समयसार नाटक

जिस प्रकार घी के संयोग से मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहते हैं परन्तु घड़ा घी रूप नहीं हो जाता, उसी प्रकार शरीर के सम्बन्ध से जीव छोटा, बड़ा, काला, गोरा आदि अनेक नाम पाता है, परन्तु वह शरीर के समान अचेतन नहीं हो जाता।

आत्मा का प्रत्यक्ष स्वरूप

निराबाध चेतन अलख, जानै सहज स्वकीव।
अचल अनादि अनंत नित, प्रगट जगत मैं जीव।।१०।।

समयसार नाटक

जीव पदार्थ निराबाध है (साता असाता की बाधा से रहित), चैतन्य, अरूपी, स्वाभाविक, ज्ञाता, अचल, (अपने ज्ञान स्वभाव से डिगता नहीं) अनन्त है (अनन्त गुण सहित है) और नित्य है यह संसार में प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अनुभव विधान

रूप-रसवंत मूर्तिक एक पुद्गल,
रूप बिनु औरू यौं अजीव दर्व दुधा है।
चारि हैं अमूरतीक जीव भी अमूरतीक,
याहीतैं अमूरतीक-वस्तु-ध्यान मुधा है।
औरसौं न कबहूं प्रगट आप अपुहीसौं,
ऐसौं थिर चेतन-सुभाउ सुद्ध सुधा है।
चेतनकौ अनुभौ अराधैं जग तेइ जीव,
जिन्हकौं अखंड रस चाखिवेकी छुधा है।।११।।

समयसार नाटक

पुद्गल द्रव्य वर्ण रस आदि सहित मूर्तिक है, शेष, धर्म, अधर्म, आदि चार द्रव्य अमूर्तिक हैं। इस प्रकार अजीव द्रव्य मूर्तिक और अमूर्तिक दो भेद रूप हैं; जीव भी अमूर्तिक है इसलिए अमूर्तिक वस्तु का ध्यान करना व्यर्थ है। आत्मा स्वयं सिद्ध, स्थिर, चैतन्यस्वभावी, ज्ञानामृत स्वरूप है, इस संसार में जिन्हें परिपूर्ण अमृतरस का स्वाद लेने की अभिलाषा है, वे ऐसे ही आत्मा का अनुभव करते हैं।

मूढ़ स्वभाव वर्णन

चेतन जीवन अजीव अचेतन, लच्छन-भेद उभै पदन्यारे।
सम्यक्दृष्टि-उदोत विचच्छन, भिन्न लखै लखिकैं निखारे।
जे जगमांहि अनादि अखंडित, मोह महामद के मतवारे।
ते जड़ चेतन एक कहैं, तिन्हकी फिरि टेक करैं नहि टारे।।१२।।

समयसार नाटक

जीव चैतन्य है, अजीव जड़ है; इस प्रकार लक्षण भेद से दोनों प्रकार के पदार्थ पृथक-पृथक हैं। विद्वान लोग सम्यग्दर्शन के प्रकाश से उन्हें जुदे-जुदे देखते हैं और निश्चय करते हैं, परन्तु संसार में जो मनुष्य अनादि काल से दुर्निवार मोह की तीक्ष्ण मदिरा से उन्मत हो रहे हैं वे जीव और जड़ को एक ही कहते हैं। इस प्रकार जीव की जब तक तत्त्व दृष्टि नहीं होगी तब तक, जीव दुःखी रहेगा। पर्याय दृष्टि खत्म होते ही जीव सुखी हो जाता है। इस बात को समझनेके लिए निम्न दृष्टान्त सहायक होगा–

एक व्यक्ति किसी जंगल को जा रहा था। रास्ते में देखता है कि एक हाथी किसी बच्चे को अपनी सूँड में लपेटकर मार रहा है। यह दृश्य देखकर वह चिल्लाने लगता है कि–"अरे! मेरा बच्चा मारा जा रहा है, इसे बचाओ-बचाओ।" यह कहता हुआ वह बेहोश हो जाता है। वह बच्चा वास्तव में उसका नहीं था। अन्य मनुष्यों ने जब यह देखा तो उसका अपना बच्चा लाकर दिखाया गया। कुछ समय बाद जब वह होश में आता है तब वह अपने बच्चे को देखता है तो बहुत प्रसन्न होता है। वस्तुतः उस व्यक्ति के सुख का कारण उस बच्चे को देखने का नहीं था, किन्तु उसे सुख इस बात का हुआ कि वह हाथी द्वारा लपेटा गया बच्चा उसका नहीं था। यह जानने के बाद वह प्रसन्न होता है। इस प्रकार जब तक जीव पर पदार्थों में अपनी ममत्व बुद्धि रखता है, तब तक ही मनुष्य को बेहोशी का नशा जाल छाया रहता है। जैसे ही परपदार्थों में अपनत्व बुद्धि दूर होती है, उसको आनन्द की लहर आने लगती है। इसप्रकार इस ममत्व

पिशाचनी ने कितनों को ही इस संसार में अपना ग्रास बनाया है। मोही जीव इस प्रकार इस ममत्व में मोहित होकर अपने अनन्तानंत भव व्यतीत कर चुके हैं। अत: 'पर' को 'पर' जानकर उससे अपना मोह नष्ट करना चाहिए।

अज्ञान में पड़ा चेतन स्वयं को पुद्गल मान रहा है जिससे उसको पर्याय पुद्गल ही मिलती है। जिस जाति का शरीर मिलता है, बस उसी को अपना मानता है, जानता है। जैसे कोई कुत्ते की पर्याय में पहुँचता है तो उसी पर्याय को अपना मानता है, जानता है। देव हो जाये तो समझता है मैं देव ही हूँ, नरक में पहुँच जाये तो मैं नारकी हूँ, ऐसा विचार करता है। यह विचार नहीं करता कि ये सब तो अजीव तत्त्व है, मैं तो चेतन हूँ और कल भी रहूँगा। हे चेतन्, जिसे तू अपना मान रहा है वह तो अजीव तत्त्व की पर्याय है। तू तो महान् शक्तिरूप महान् आत्मा है। इसी प्रकार किसी पुण्य के उदय से कुछ लौकिक सुख मिल जाये तो मैं सुखी हूँ और किसी पाप के उदय से कोई दु:ख आ जाये तो मैं दु:खी हूँ। इससे यह बात निकलती है कि क्या आत्मा का रूप परिवर्तनशील है? नहीं आत्मा का स्वरूप तो एक ही है किन्तु पर्याय परिवर्तशील है, अजीव तत्त्व की ही सारी पर्याय दृष्टिगोचर है। इस बात को समझने के लिये निम्न दृष्टान्त दृष्टव्य है–

विस्मृत शक्ति की पहचान

किसी जंगल में बहुत सारे जीव-जन्तु रहते थे। जब सावन का महीना आया तो आकाश में घनघोर घटा छा जाती है। वन के अन्दर अँधेरा छा जाता है। शेर कहता है कि मैं गुफा के अन्दर जाकर छिप जाऊँगा, जब बादल छँट जायेंगे तब बाहर निकलूँगा। सब पशु अपने-अपने स्थान पर जाकर छिप जाते हैं। उसी समय एक कुम्हार बहुत से गधे लेकर वहाँ आता है। इन गधों पर सामान लदा था, किन्तु उनमें से एक चंचल सा गधा समान फेंक कर चला जाता है। कुम्हार उसे पकड़ने के लिए उसके पीछे-पीछे भागता है। वह दौड़ता हुआ वहाँ तक पहुँच जाता है जहाँ शेर अपनी गुफा में छिप गया था। इतनी देर में शेर अपनी गुफा से बाहर आ जाता है। जैसे ही शेर बाहर आता है कुम्हार सोचता है यही मेरा गधा है और उसे दो डण्डे लगा कर कहता है कि चल मेरे आगे-आगे, तेरी आगे चलकर खबर लूँगा। बेचारा शेर काँप जाता है कि पहले तो घटा छा गयी थी, अब अँधियारी आ गयी, अब मुझ पर मार पड़ेगी। इसलिए वह शेर गधों में जाकर मिल जाता है और बोझा लादकर चलने लगता है। वह अपनी दहाड़ शक्ति सब भूल जाता है। अब गधों के संग जाते हुए उसे पहाड़ी पर बैठा एक शेर देख लेता है। सोचता है यह शेर गधों के बीच सामान लादकर काँपता हुआ कहाँ जा रहा है? वह पहाड़ी से कूदता है और दहाड़ने लगता है। उसे देखकर गधों में मिला शेर भी एकदम दहाड़ने लगता है।

दोनों की दहाड़ से जंगल गूँज जाता है। सारे गधे और वह कुम्हार यह देख डर के मारे भाग जाते हैं।

इसी प्रकार यह मनुष्य है। जब तक यह अपनी शक्ति को भूला रहता है तब तक ही वह अपने अन्य रूप को मानता रहता है। इसीलिए आचार्य कहते हैं चेतन रूप हीरा तो निराला है, लेकिन तू अज्ञानता में, जैसा तुझे शरीर मिलता है, उसको वैसा ही अपना रूप समझ लेता है। इस प्रकार यदि तू अजीव तत्त्व की पर्याय को अपना रूप न जाने तो क्या इतना दु:खी हो सकता है? कदापि नहीं। मैं कुरूप हूँ, मैं सुन्दर हूँ, यह घर-परिवार, धन-सम्पत्ति, पुत्र-पुत्री मेरे हैं, स्त्री-पति आदि मेरे हैं। ऐसी भावना ही नहीं बननी चाहिए। तू अपना जिसको सम्बन्धी कह रहा है वह सब तेरा परिवार नहीं, वह तो अजीव तत्त्व का परिवार है। तेरा परिवार तो ज्ञान शक्ति आनन्द-सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र है। तू तो धर्म ज्योति से भरा एक पिंड है।

इसलिए हे भव्य जीवों, यदि तुम अपने संसार भ्रमण को नष्ट करना चाहते हो, संसार दु:खों से छूटना चाहते हो और अपनी आत्मा सुखी करना चाहते हो तो इस पर्याय बुद्धि को समाप्त करो और अपने को पहिचानो। चाहे तुम्हें नारकी पर्याय मिले, या देव गति, मनुष्य पर्याय मिले या तिर्यंच गति; शरीर सुन्दर मिले या कुरूप, इन सबको अपना स्वरूप न जानो। यह सब तो अजीव तत्त्व की पर्यायें हैं, नश्वर हैं, इनके लिए क्या दु:खी, सुखी होना। अत: जीव को जीव समझना तथा अजीव को अजीव समझना, यही भेद विज्ञान है और यही सच्चा मार्ग है।

आस्रव तत्त्व

आस्रव का स्वरूप

आतमसिद्ध स्वरूपमय, निश्चयदृष्टि निहार।
सब विभावपरिणाममय, आस्रवभावविडार॥

अभिप्राय यह है कि यद्यपि यह आत्मा शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से तो आस्रव से रहित सिद्ध रूप है, तथापि अनादि कर्म के संबंध से मिथ्यात्वादि परिणामस्वरूप परिणमता है, अतएव नवीन कर्मों का आस्रव करता है। जब उन मिथ्यात्वादि परिणामों से निवृत्ति पाकर अपने स्वरूप का ध्यान करे तब कर्मास्रवों से रहित मुक्त होकर सुखमय हो जावे।

आस्रव के भेद

आचार्य नेमिचन्द्र आस्रव के मुख्य दो भेद बताते हुए कहते हैं–

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि॥२९॥

(द्रव्यसंग्रह)

जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आस्रव होता है, उसको जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ भावास्रव जानना चाहिए और भावास्रव से भिन्न ज्ञानावरणादि रूप कर्मों का जो आस्रव है वह द्रव्य आस्रव है।

भावास्रव का स्वरूप

मिच्छताविरदिपमादजोगकोधादओथ विण्णेया।
पण पण पणदस तियचदु, कमसो भेदा दु पुव्वस्स।।

- द्रव्यसंग्रह, 30

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय से भावास्रव के पांच भेद हैं। मिथ्यात्व के पाँच, अविरति के पांच, प्रमाद के पन्द्रह, योग के तीन, कषाय के चार भेद जानना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द वारस अणुवेक्खा में कहते हैं–

एयंतविणयविवरियसंसयण्णाणमिदिहवे पंच।
अविरमणं हिंसादि पंचविहो सो हवइ णियमेण।।48

मिथ्यात्व के पांच भेद हैं–एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान। अविरति के, नियम से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह पांच भेद हैं।

1. **मिथ्यात्व**–जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष इन सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान न होकर मिथ्या श्रद्धा होना मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व पांच प्रकार का है।

अ. **एकान्त मिथ्यात्व**–वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, परन्तु संसार के अल्पज्ञ जीव वस्तु के एक ही धर्म को लेकर हठधर्मिता से उसी के अनुसार उसका श्रद्धान कर लेते हैं। जैसे–द्रव्य मूल स्वभाव की अपेक्षा नित्य है, पर्याय पलटने की अपेक्षा अनित्य है। नित्य अनित्यरूप वस्तु है, ऐसा न मानकर यह हठ करना कि वस्तु नित्य ही है या अनित्य ही है। ये एकान्त मिथ्यात्व हैं। श्री वीतराग प्रभु न हमारा कुछ बिगाड़ते हैं और न कुछ संवारते हैं क्योंकि वे सर्वथा राग-द्वेष से रहित हैं, उनका ध्यान करने से, उनकी वीतरागता का चिंतन करने से हमारे अपने परिणामों में वीतरागता आती है। जिससे पाप कर्मों का क्षय होता है, इस हेतु उपचार नय से वह हमारे दुःख को दूर करने वाले हैं, परन्तु उनको साक्षात् दुःखों का दूर करने वाला कर्ता परमेश्वर मानना एकांत मिथ्यात्व है।

ब. **विनय मिथ्यात्व**–सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपेक्षा न करके अर्थात् इस बात को बिना बिचारे कि जिसकी मैं विनय करता हूँ उसमें रत्नत्रय रूप गुण हैं या नहीं,

समस्त देव कुदेवों की, गुरु कुगुरू की समान भक्ति करना और समस्त प्रकार के मत-मतान्तरों को बिना विवेक के एक समान ही मानना और उनका आदर करना विनय मिथात्व है।

स. **विपरीत मिथ्यात्व**–उल्टी बात मानने को विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे–हिंसा में धर्म मानना, शरीर को ही आत्मा समझना आदि।

द. **संशय मिथ्यात्व**–किसी वस्तु को संशय रूप मानना संशय मिथ्यात्व है, यथार्थ श्रद्धान न होकर भ्रम में पड़े रहना संशय मिथ्यात्वी, जैसे–सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है या नहीं, यह संशय मिथ्यात्व है।

इ. **अज्ञान मिथ्यात्व**–तत्त्वों को जानने की चेष्टा न करके अन्धा-धुन्ध देखा देखी किसी भी तत्त्व को मान लेना अज्ञान मिथ्यात्व है। पशु बलि को या अन्य पाप क्रिया को दूसरों की देखादेखी करके धर्म मान लेना अज्ञान मिथ्यात्व है।

2. **अविरति**–अपने ही शुद्ध आत्मिक स्वभाव में आनंदित रहना आत्मा का निज स्वभाव है, उस परम आनंद से विमुख होकर जब जीव बाह्य विषयों में लिप्त होता है तब उसको अविरति कहते हैं, यह पांच प्रकार की भी है और बारह प्रकार की भी। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप अविरति भाव हैं, इन्हीं के त्याग को व्रत कहते हैं; अथवा ये ही अविरति पांचों इन्द्रिय और छठे मन को वश में न रखकर उनका दास होने रूप प्रवृत्ति करना तथा पृथ्वी आदि छह काय के प्राणियों की विराधना रूपभाव रखना ऐसे छह इन्द्रिय असंयम और छह प्रकार प्राणी असंयम दोनों को मिलाकर बारह प्रकार अविरति भाव है।

3. **प्रमाद**– प्रमाद का अर्थ है असावधानी। कुशल कार्यों में अनादर या अनुत्साह को प्रमाद कहते हैं। चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रिय, निद्रा और राग (स्नेह) ऐसे पन्द्रह प्रमाद होते हैं। हिंसा का प्रमुख कारण प्रमाद है।

विकथा–भोजन कथा, चोर कथा, स्त्री कथा, और राज कथा।

क. भोजन कथा–सबेरे से शाम तक भोजन की (खाने-पीने की) हर समय चर्चा करना।

ख. चोर कथा–चोरों की कथा करते रहना कि अमुक व्यक्ति बड़ा निर्भय है वह चाहे जिसको मार डाले, चाहे जिसको लूट लेवे, चाहे किसी का धन, धान्य चुरा लेवे, चाहे जिसके मकान, जायदाद पर अधिकार कर लेवे, उसकी प्रशंसा करना उस जैसा होने की इच्छा करना।

ग. स्त्री कथा–स्त्रियों के रूप रंग का वर्णन करते रहना कि उसकी स्त्री अच्छी है- आदि अनेक प्रकार से रंग रूप की प्रशंसा करना।

घ. **राज कथा**–राजाओं के भोग विलास एवं युद्ध, मार–काट हिंसा आदि की चर्चा करते रहना।

कषाय–क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं।

क. **क्रोध**–क्रोध करने को क्रोधकषाय कहते हैं।

ख. **मान**–मान (घमण्ड, अहंकार) करने को मान कहते हैं।

ग. **माया**–मायाचारी करने को अर्थात् कुछ का कुछ दिखाने को माया कहते हैं।

घ. **लोभ**–लालच करने को लोभ कहते हैं।

पांचों इन्द्रियों के विषय में लंपटता रखना।

(क) **स्पर्शन**–स्पर्शन इन्द्रिय के बस में होकर न करने योग्य कार्य करना।

(ख) **रसना**–रसना इन्द्रिय की लम्पटता से भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान न करना।

(ग) **घ्राण**–बहुत जीवों की हिंसा से बने इत्र आदि को सूंघना।

(घ) **चक्षु**–सिनेमा आदि का देखना।

(ङ) **कर्ण**–फिल्मी गाने अथवा किसी की गुप्त बातें सुनना।

निद्रा–अधिक सोना क्योंकि इससे दर्शनावरण का आस्रव होता है।

स्नेह–राग करने को स्नेह कहते हैं।

4. **योग**–जीव के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन, प्रकम्पन या हलन चलन होता है उसे योग कहते हैं। मन, वचन, काय से होने वाली आत्मा की क्रिया ही कर्म परमाणुओं के साथ आत्मा का योग अर्थात् सम्बन्ध कराती है। इसी अर्थ में इसे योग कहा जाता है। आचार्य कहते हैं–

मनस्तनुवचः कर्मयोग मित्यभिधीयते।
स एवास्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदैः॥१॥

(ज्ञा. सर्ग 2)

मन, वचन, काय की क्रिया को योग कहते हैं और इस योग को ही तत्त्वविशारदों ने (ऋषियों ने) आस्रव कहा है। तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है–

''कायवाङ्मनःकर्मयोगः स आस्रवः''

शुभ–मनयोग

यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम्।
मैत्र्यादिभावनारूढं मनः सूते शुभास्रवम्॥३॥

(ज्ञा. सर्ग 2)

यम (अणुव्रत, महाव्रत) प्रशम (कषायों की मंदता), निर्वेद (संसार से विरागता अथवा धर्मानुयोग), तथा तत्त्वों का चिन्तन अत्यधिक अवलंबन हो, एवं मैत्री, प्रमोद, कारूण्य और माध्यस्थ इन चार भावों की जिस मन में भावना हो, वही मन शुभास्रव को उत्पन्न करता है।

अशुभ मनयोग

कषायदहनोद्दीप्तं विषयैर्व्याकुलीकृतम्।
संचिनोति मनः कर्म जन्मसम्बन्धसूचकम्॥४॥

(ज्ञा. सर्ग 2)

कषायरूप अग्नि से प्रज्वलित और इन्द्रियों के विषयों से व्याकुल मन संसार के सम्बन्ध के सूचक अशुभ कर्मों का संचय करता है।

वचनयोग

विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम्।
शुभास्रवाय विज्ञेयं वचः सत्यं प्रतिष्ठितम्॥

- ज्ञा. सर्ग 2.5

समस्त विश्व के व्यापारों से रहित तथा श्रुतज्ञान के अवलम्बन मुक्त और सत्यरूप प्रमाणिक वचन शुभास्रव के लिए होते हैं। आगे भी कहते हैं–

अपवादास्पदीभूतमसन्मार्गोपदेशकम्।
पापास्रवाय विज्ञेयमसत्यं परुषं वचः॥

- ज्ञा. सर्ग 2.6

अपवाद (निन्दा) का स्थान, असन्मार्ग का उपदेशक, असत्य, कठोर, कानों से सुनते ही जो दूसरे के कषाय उत्पन्न कर दें, और जिससे पर का बुरा हो जाय, ऐसे वचन अशुभास्रव के कारण होते हैं॥

काययोग

सुगुप्तेन सुकायेन कायोत्सर्गेण वानिशम्।
संचिनोति शुभं कर्म काययोगेन संयमी॥

-ज्ञा. सर्ग 2.7

भली प्रकार गुप्त रूप किये हुए, अर्थात् अपने वशीभूत किये हुए काय से तथा निरन्तर कायोत्सर्ग से संयमी मुनि शुभ कर्मों को संचय (आस्रवरूप) करते हैं।

सततारम्भयोगैश्च व्यापारैर्जन्तुघातकैः।
शरीरं पापकर्माणि संयोजयति देहिनाम्।।

-ज्ञा. सर्ग 2.8

निरन्तर आरम्भ करने वाला और जीवघात के कार्य से तथा व्यापारों से जीवों का शरीर (काययोग) पाप कर्मों को संग्रह करता है अर्थात् काययोग से अशुभास्रव करता है।

5. **कषाय**-आत्मा का विभाव परिणाम जो सम्यक्त्व देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यात चारित्र रूप परिणामों का घात करे और जीव को चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण कराए कषाय कहलाता है। कषाय के चार भेद हैं-क्रोध, मान, माया और लोभ। इन चारों कषायों में से प्रत्येक के चार-चार भेद हैं-

क. **अनंतानुबन्धी** (क्रोध, मान, माया, लोभ)-यह कषाय दीर्घकाल तक बनी रहती हैं, कठिनता से मिटती हैं। इसके उदय से सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट नहीं होता।

ख. **अप्रत्याख्यान** (क्रोध, मान, माया, लोभ)-कषायों की यह चौकड़ी निश्चय पूर्वक एक देशचारित्र को रोकती है और इसीलिए इनको अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं, इनकी वासना छः माह तक रहती है।

ग. **प्रत्याख्यानावरण**-(क्रोध, मान, माया, लोभ)-यह चौकड़ी सकल संयम अर्थात् मुनि चारित्र को रोकती है। कषायों की इस चौकड़ी के नष्ट होने से ही मुनिपद प्राप्त होता है, इस चौकड़ी का वासना काल एक पक्ष (15 दिन) का है।

घ. **संज्वलन**-(क्रोध, मान, माया, लोभ)-यह चौकड़ी संयम के साथ दैदीप्यमान रहती है; यह संज्वलन कषाय की चौकड़ी और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद इनके नष्ट होने से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती हैं।

उपर्युक्त आस्रव के भेदों को समझने के लिए निम्न चार दृष्टान्त समझना चाहिए।

1. एक मुसाफिर कहीं जा रहा था। रास्ते में उसके साथ एक दुर्घटना हो जाती है। थोड़ी-बहुत चोट अवश्य लगती है किन्तु वह बच जाता है। घर वापिस आता है, सब हाल अपनी पत्नी को बताता है। कहता है-आज मैं बच गया। गाड़ी से एक्सीडेन्ट हो गया था। चोट लगी है; मरते-मरते बचा हूँ। पत्नी यह सुन रोने लगती है, विलाप करने लगती है मानो वह वास्तव में मर ही गया हो, सोचती है अगर यह मर जाता तो मेरी क्या दशा होती, यह सोच और जोर-जोर से रोने लगती है। रोने की आवाज सुन आसपास की औरतें भी इकट्ठी होकर आ जाती हैं और पूछती हैं कि क्या हो गया है? पत्नी कहती है कि पूछो नहीं, आज तो बहुत बुरा हो गया। यह सुन सब औरतें रोने लगती हैं। इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है

कि दुर्घटना हुई बात को बार-बार याद करके विलाप करने से कोई लाभ नहीं होता किन्तु कर्मों का अशुभ आस्रव होता है। यह विलाप आस्रव का कारण है।

2. किसी नगर में एक बहुत गरीब परिवार रहता था। उनके यहां कभी समय पर भोजन नहीं बनता था। बहुत ही कठिनता से ये अपना जीवन-यापन कर रहे थे। एक दिन परिवार के सदस्य दो लॉटरी के टिकट खरीद लेते हैं। जिनका प्रथम पुरस्कार एक लाख रुपये का था। समय आने पर एक टिकट का प्रथम पुरस्कार का नम्बर निकल जाता है। पूरे घर में यह देख खुशी की लहर छा जाती है। घर में बहुत अच्छा खाना बनता है। हलवा-पूरी-मिठाई आदि भाँति-भाँति के व्यंजन बनते हैं। शाम को घर का मुखिया आता है तो घर में खुशी का वातावरण देखकर पूछता है कि आज किस कारण घर में ये व्यंजन आदि बन रहे हैं। पत्नी कहती है कि आज हमारी गरीबी, के दिनों का अन्त हो गया। हमारी एक लाख रुपये की लॉटरी खुल गयी है। क्या तुम्हें पता नहीं? पति कहता है कि पता तो है किन्तु मुझे आज अत्यन्त दु:ख है कि मेरी दूसरी लॉटरी नहीं निकली। दूसरा टिकट व्यर्थ चला गया। अत: एक लाख रुपये का नुकसान हो गया। इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि मनुष्य वर्तमान में भी सुख-सुविधा होने पर भी चिंता में बैठा हुआ आस्रव करता है।

3. किसी नगर में एक सेठ जी रहते थे। वे बहुत धनवान थे। उनके यहाँ अनेक कारखाने मिलें चलती थीं। इनके मुनीम भी बहुत कार्य करते थे। अचानक एक दिन सेठ जी मुनीम से कहते हैं कि–"मुनीम जी सारी सम्पदा का हिसाब लगाकर यह बताओ कि यह सम्पदा कितनी पीढ़ी तक चलेगी? मुनीम हिसाब लगाकर बताता है कि–"सेठ जी आपके पास इतनी सम्पदा है कि यह 21 पीढ़ी तक समाप्त न होगी। सेठ जी यह सुनकर कहते हैं कि फिर 22वीं पीढ़ी का क्या होगा? इसी बात की चिन्ता में सेठ जी रात-दिन रहने लगते हैं। एक दिन पत्नी पूछती है कि आप इतनी चिन्ता में क्यों रहते हैं? सेठ जी कहते हैं कि मुझे, चिन्ता इस बात की है कि मुनीम ने धन केवल 21 पीढ़ी का बताया है, फिर 22वीं पीढ़ी का क्या होगा? तब सेठानी कहती है तुम सब धन-दौलत व्यापार मुझे सौंप दो। मैं बाइसवीं पीढ़ी का भी धन कमा लूँगी। सेठ जी सब चार्ज पत्नी को सौंप देते हैं। अब सेठानी भण्डारे लगाने लगती है, खुलेहाथ से दान देना शुरू कर देती है। यह देख सेठ जी को और चिंता सताने लगती है। सोचते हैं यह तो धन को बढ़ाने की बजाये घटाने लगी। यह सोच सेठानी से कहते हैं कि यह तुम क्या कर रही हो? तुम तो कहती थी कि मैं तुम्हारे धन को बढ़ाऊँगी, उल्टा धन को घटा रही हो। सेठानी यह सुन उत्तर देती है कि–मैं बाइसवीं पीढ़ी का धन ही कमा रही हूँ, यही मैंने वायदा किया था आपसे। सेठ जी फिर कहते हैं कि यह धन को कमा रही हो या लुटा रही हो? पत्नी चतुर थी। यह सुन वह सेठ जी से कहती है कि अच्छा ऐसा करो आज आप जंगल में बैठे हुए एक भिखारी को यह चावल दे आओ। सेठ जी उस भिखारी को चावल देने पहुँच जाते हैं। अब वह भिखारी सेठ जी से

कहता है कि सेठ जी आज का तो मैंने खाना खा लिया है और कल का मेरे पास है। मुझे परसों की कोई चिंता नहीं है। यह सुन सेठ जी को कुछ ज्ञान हो जाता है वे सोचते हैं मैं व्यर्थ ही बाइसवीं पीढ़ी की चिन्ता कर रहा हूँ। इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि भविष्य की चिंता में डूबे रहने से कर्मों का आस्रव होता है। भूत-वर्तमान और भविष्य की चिन्ता से ही आस्रव हुआ करता है।

4. किसी नगर में एक मकान में एक साध्वी रहती थी उसके मकान के सामने एक वेश्या रहती थी। वेश्या के यहाँ भोगी-दुश्चरित्र मानव आते और बहुत सी मिठाइयाँ, फल, मेवा लाते। यह साध्वी विचारती है कि मैं कितनी दु:खी हूँ और वेश्या को कितना आनन्द है। 'सुख से रहती, मौज उड़ाती है। उसका वेश्या में ही मन रहता। इधर वेश्या जब साध्वी को देखती, उसकी क्रिया को देखकर विचारती है कि यह तो हर समय भजन करती रहती है। तपस्या में लीन रहती है। मैं कितनी पापिन हूँ। यदि मैं साध्वी बन जाती तो कितनी सुखी रहती? एक दिन साध्वी का देहान्त हो जाता है। उसकी आत्मा नरक पहुँचकर दु:ख उठाने लगती है। यहाँ इस साध्वी के मृत शरीर को गाजे-बाजे के साथ निकाल रहे हैं। एक दिन वेश्या का भी देहान्त हो जाता है। इसकी आत्मा स्वर्ग पहुँच जाती है। किन्तु इसके शरीर को यहाँ के लोग बाहर जंगल में डाल आते हैं। उसके शरीर को पशु-पक्षी खाने लगते हैं।

अब आप ही तुलना करें कि वह साध्वी शरीर से भजन करती थी और उसकी आत्मा वेश्या की क्रिया में रहती थी। कल उसकी आत्मा नरक में चली गयी और शरीर पूजा जा रहा है, शरीर से ही तो पूजा-पाठ किया था न, आत्मिक भाव नहीं थे। उधर वेश्या के शरीर की क्रिया गलत थी तो शरीर को पशु-पक्षी खाते हैं। आत्मा साध्वी की क्रिया में थी, सो आत्मा स्वर्ग में पहुँच जाती है। अत: धर्मप्रेमी बन्धुओं इन कर्मों के आने के दरवाजों को रोको, तभी संसार बन्धन छूटेगा। यदि आस्रव को नहीं रोका तो संसार परिभ्रमण से नहीं छूट पाओगे।

बन्ध तत्त्व

आचार्य नेमिचन्द्र बन्ध के दो भेद बताते हुए कहते हैं–

वज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबन्धो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो।।

–द्रव्यसंग्रह, 32

जिस चैतन्य भाव से कर्म बँधता है वह परिणाम भावबन्ध है और कर्म तथा आत्मा प्रदेशों का एक दूसरे में मिलना द्रव्यबन्ध है।

बन्ध के भेद

पयडिट्ठिदिअणुभागपदेसभेदादु चदुविधोबंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।।

–द्रव्यसंग्रह, 33

बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। उनमें प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग से तथा स्थिति और अनुभाग कषाय से होता है।

प्रकृति–कर्म के स्वभाव को प्रकृति कहते हैं। जैसे–ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति पदार्थों को न जानने में निमित्त होती है और दर्शनावरण कर्म की प्रकृति पदार्थों को न देखने में निमित्त होती है। जैसे–नीम कड़वा गुण मीठा है वैसे ही समस्त कर्मों की प्रकृतियाँ समझना चाहिए।

प्रदेश–बँधे हुए कर्म परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्र में अवगाहन पूर्वक रहना अथवा कर्म रुप से परिणत पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेश बन्ध कहते हैं।

स्थिति–स्वभाव से निश्चित समय तक छूटना। जिस प्रकार बकरी आदि के दूध में मिठास है, मिठास का न छूटना, स्थिति है। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मों का पदार्थों को न जानने देना आदि स्वभाव निश्चित समय तक न छूटना, स्थिति बन्ध है।

अनुभाग–कर्मों के रस-विशेष (फल दान की शक्ति) को अनुभाग बन्ध कहते हैं बकरी गाय और भैंस आदि के दूध में चिकनाहट कम, साधारण तथा विशेष ज्ञात होती है, उसी प्रकार कर्म पुद्गलों की शक्ति विशेष को अनुभाग अथवा अनुभव बन्ध कहते हैं।

विशेष-बन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कारण है और बन्ध कार्य है।

इनमें पहले गुणस्थान में, पाँचों से ही बन्ध होता है। दूसरे, तीसरे तथा चौथे इन तीनोंगुण स्थानों में मिथ्यात्व को छोड़कर शेष चार कारणों से पांचवें में अविरति और विरति दोनों से मिले हुए प्रमाद, कषाय और योगों से छट्ठे में प्रमाद कषाय और योगों से सातवें, आठवें, नवमें और दशवें में कषाय और योगों से ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें इन तीनों में केवल योग के द्वारा बन्ध होता है। चौदहवें में न कर्म का आश्रव होता है न बन्ध ही होता है।

यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं–

रागह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा।।

–समयसार, 282

राग, द्वेष और कषाय कर्मों के होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) जो भाव होते हैं, उन रूप परिणमता हुआ आत्मा रागादि को बाँधता है।

संसारी जीवों की दशा कोल्हू के बैल के समान है-

पाटी बांधी लोचनिसौं सकुचै दबोचनिसौं,
कोचनिके सोचसौं न बेदै खेदतन कौ।
धाराबो ही धंधा अरू कंधामांहिलाग्यौ जोत,
बारबार आर सहै कायर है मनकौ।।
भूख सहै प्यास सहै दुर्जन को त्रास सहै,
थिरता न गहै न उसास लहै छनकौ।
पराधीन घूमै जैसो कोल्हूकौ कमेरौ वैल,
तैसौई स्वभाव या जगतवासी जनकौ।।

–समयसार, नाटक, 42

संसारी जीवों की दशा कोल्हू के बैल के समान हो रही है, वह इस प्रकार है–नेत्रों पर ढँकना बँधा हुआ है, स्थान की कमी के कारण दबोच से सिकुड़ा-सा रहता है, चाबुक की मार के डर से शरीर के कष्ट की जरा भी परवाह नहीं करता, दौड़ना ही उसका काम है, उसके कंधे में जोत लगा हुआ है (जिससे निकल नहीं सकता), हर समय अरई की मार सहता हुआ मन में हत-साहस होता है, भूखा-प्यासा और निर्दय पुरुषों द्वारा प्राप्त कष्ट भोगता है, क्षणभर भी विश्राम लेने की थिरता नहीं पाता और पराधीन हुआ चक्कर लगाता है।।

पाप बन्ध के कारण

इस प्रकार अज्ञान से जो हिंसा में अध्यवसाय किया जाता है उसी प्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह में भी जो (अध्यवसाय) किया जाता है वह सब पाप बन्ध का एक मात्र कारण है और जो अहिंसा में अध्यवसाय किया जाता है उसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में भी (अध्यवसाय) किया जावे, वह सब पुण्य बन्ध का एकमात्र कारण है।

संसारी जीवों की स्थिति

जगत मैं डोलैं जगवासी नररूप धरैं,
प्रेतकेसे दीप किधौ रेतकेसे पूहे हैं।
दीसैं पट भूषन आडंबरसौं नीके फिरि,
फीके छिनमांझ सांझ-अंबर ज्यौं सूहे हैं।।

मोहके अनल दगे माया की मनीसौं पगे,
डाभकी अनसौं लगें ओसकेसे फूहे हैं।
धरमकी बूझ नांहि उरझे भरममांहि।
नाचि नाचि मर जांहि मरी केसे चूहे हैं।।

—समयसार, नाटक, 243

संसारी जीव मनुष्य आदि का शरीर धारण करके भटक रहे हैं, जो मरघट के दीपक, रेत के टीले के समान क्षणभंगुर हैं। वस्त्र आभूषण आदि से अच्छे दिखाई देते हैं। परन्तु सांझ के आकाश के समान क्षणभर में मलिन हो जाते हैं और घास पर पड़ी हुई ओस के समान क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। उन्हें निज स्वरूप की पहिचान नहीं है, भ्रम में भूल रहे हैं और प्लेग के चूहों की तरह नाच-नाचकर शीघ्र मर जाते हैं।

आत्मानुभव करने का उपदेश

अलख अमूरति अरूपी अविनासी अज,
निराधार निगम निरंजन निरंध है।
नाना रूप भेस धरै भेसकौ न लेस धरै,
चेतन प्रदेश धरै चेतन को खंध है।।
मोह धरै मोहीसौ विराजै तोमैं तो ही सौ,
न तोही सौ न मोही सौ न रागी निरबन्ध है।
ऐसौ चिदानन्द याही घट मैं निकट तेरे,
ताहि तू विचारू मन और सब धंध है।।

—समयसार, नाटक, 54

यह आत्मा अलख, अमूर्तिक, अरूपी, नित्य, अजन्मा, निराधार, ज्ञानी, निर्विकार और अखण्ड है। अनेक शरीर धारण करता है पर उन शरीरों के किसी अंशरूप नहीं हो जाता, चेतन प्रदेशों को धारण किये हुए चैतन्य का पिण्ड ही है। जब आत्मा शरीरादि से मोह करता है तब मोही हो जाता है और जब अन्य वस्तुओं में राग करता है तब उन रूप हो जाता है। वास्तव में न शरीर रूप है और न अन्य वस्तु रूप है, वह बिल्कुल वीतरागी और कर्म बन्ध रहित है। हे मन्! ऐसा चिदानन्द इसी घट में तेरे निकट है उसका तू विचार कर, उसके सिवाय और सब जंजाल है।

आगे कहते हैं कि पुद्गलस्कन्ध कैसे कर्म रूप होते हैं फिर कैसे छूटते हैं–

खंधा जे पुव्वुत्ता हवंति कम्माणि जीव भावेण।
लद्धा पुण ठिदिकालं गलंति ते णियफलं दत्ता।।

–णयचक्को, माइल्लधवल, 127

वे पुद्गल स्कन्ध जीव के भावों को निमित्त पाकर स्वयं ही कर्म रूप हो जाते हैं और अपने स्थिति, काल तक ठहरने के बाद अपना फल देकर गल जाते हैं।

विशेष–जीव के राग, द्वेष, मोह रूप भावों का निमित्त पाकर कर्मवर्गणा रूप से आया रूप पुद्गल द्रव्य स्वयं ही ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप परिणमित हो जाता है और उसी समय उसमें स्थितिबन्ध भी हो जाता है। अपने स्थितिबन्ध काल तक वह कर्म आत्मा के साथ बंध जाता है। स्थिति पूर्ण होने पर वह अपना फल देकर झड़ जाता है। यह परम्परा संसार छूटने तक बराबर चलती रहती है।

भोत्ता हु होइ जइया तइया सो फुणइ रायमादीहिं।
एवं बन्धो जीवे णाणावरणादिकम्मेहिं।।

–णयचक्को, माइल्लधवल, 128

जब जीव पूर्वबद्ध कर्मों का फल भोगता है तो राग-द्वेष रूप परिणमन करता है, इस तरह से जीव में ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध होता रहता है।

विशेष–भावार्थ यह है कि जब जीव के पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मों का उदय होता है, तो वह जीव स्वयं ही अपने अज्ञान भाव से मिथ्यात्व रागादि रूप परिणमन करता हुआ नवीन कर्म बन्ध का कारण होता है। इसका आशय यह है कि द्रव्यकर्म का उदय होने मात्र से जीव के कर्म बन्ध नहीं होता; किन्तु जीव के रागादि रूप परिणमन करने से नवीन कर्म का बन्ध होता है। यदि कर्म के उदय मात्र से बन्ध होता तो संसार का कभी बन्ध नहीं होता; क्योंकि संसारी जीवों के सर्वदा ही कर्म का उदय रहता है।

आत्मानुभव से कर्मबन्ध नहीं

इह विधि वस्तु व्यवस्था जानै।
रागादिक निज रूप न मानै।
तातैं ग्यानवंत जग मांहि।
कर्म बंध को कर्ता नांहि।।५६।।

संसार में सम्यग्दृष्टि जीव ऊपर कहे अनुसार आत्मा का स्वरूप जानता है और राग, द्वेषादि को अपना स्वरूप नहीं मानता है इसलिए वह कर्म बन्ध का कर्ता नहीं है।

बन्ध तत्त्व को समझने के लिए निम्न दृष्टान्त को समझना होगा।

पराधीनता में सुख नहीं

किसी समय एक राजा ने एक तोता पाल रखा था। वह उस तोते को अत्यधिक प्रेम करता था। उसके लिए राजा ने सुन्दर सोने का पिंजरा तथा हीरे-मोतियों से जड़ित कपड़े का कवर बनवा रखा था। वह कवर को उस पिंजरे के ऊपर डाल दिया करता था। राजा ने तोते की देखरेख के लिए एक नौकर भी नियुक्त किया हुआ था। एक दिन राजा शिकार खेलने के लिए जंगल को जाता है। वह अपने पालतू तोते से पूछता है कि मैं जंगल जा रहा हूँ, तुम्हें अपने साथियों को कोई सूचना देनी हो तो मुझे बता दो, मैं वहाँ कह दूँगा। तोता कहता है कि मेरे साथियों से कह देना कि मैं बहुत आनन्द से हूँ, मेरी पूर्ण सुरक्षा है। देख-रेख के लिए नौकर नियुक्त कर रखे हैं। रानी और राजा की मुझ पर बहुत कृपा है। किन्तु स्वतंत्रता सुख के हाथों कभी बेची जा सकती है क्या? बन्धनों की कितनी भी पूर्ण सुरक्षा हो किन्तु वे कभी भी चाहे नहीं जा सकते, अत: तुम सब लोग सचेत रहना।

राजा यह सुन विचारता है कि समाचार तो बहुत खराब है, किन्तु मैंने तो कहने का वायदा किया है। इसलिए कहूँगा अवश्य। राजा ने पेड़ के नीचे खड़े होकर तोतों को अपने पालतू तोते का सन्देश सुना डाला। समाचार सुनते ही एक तोता पेड़ से नीचे गिर पड़ता है। इसे देख अन्य सारे तोते भी एक-एक करके पेड़ से नीचे गिरने लगते हैं और मरे हुओं के समान निश्चल हो जाते हैं। यह देख राजा को बहुत पश्चाताप होता है कि मैंने कैसा अशुभ समाचार इन तोतों को सुना डाला। ये समाचार सुनते ही सारे के सारे मर गये। अब यह बात अपने पालतू तोते से अवश्य कहूँगा तोता भी समाचार सुनकर पँख फड़फड़ाकर मरे हुये के समान हो जाता है।

यह देख राजा विचारने लगता है कि यह मेरा पालतू तोता भी उनका समाचार सुनकर मर गया। मैं भी कैसा पागल हूँ कि मैंने अपने इस तोते को उनका समाचार ही क्यों सुनाया, उन्होंने मुझ से कुछ नहीं कहा था? तोता राजा को बहुत प्यारा था। अत: राजा ने शाही सम्मान के साथ तोते की अर्थी तैयार करा ली। अब तोते ने जैसे ही यह देखा कि मैं खुले आकाश के नीचे अर्थी पर पड़ा हूँ, वह तुरन्त अवसर का लाभ उठा लेता है। वह अपने पँख फड़फड़ाता हुआ आकाश में उड़ जाता है और एक ऊँचे शिखर पर जाकर बैठ जाता है। राजा कहता है कि यह कैसा धोखा है? क्या मामला है? वह जहाँ तोता बैठा था उस शिखर के नीचे जाता है और कहने लगता है कि 'नीचे आओ-नीचे आओ, मेरे प्यारे तोते।'' अब तोता कहता है कि मुझे मेरे मित्रों ने मुक्त होने का सन्देश दे दिया था। उसी का उत्तर मैंने तुम्हें दिया है।

हमारा भी अब आपको यह सन्देश है कि आप लोग भी इस संसार-शरीर-भोगों से उदासीन हो जाओ। अपनी वासनाओं को त्याग दो। अपनी अनन्त इच्छाओं को छोड़ दो। अपने पापों को, अपने अपराधों का प्रायश्चित कर लो। अपने अपराधों के प्रति निष्क्रिय हो जाओ, जड़ हो जाओ और पुनः उन अपराधों को न करो। एकदम मुर्दे के समान बन जाओ। इस प्रकार करने से अपराध आप पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकेंगे। अत्याचार-अनाचार की ओर आपकी दृष्टि कभी भी नहीं हो सकेगी। जब एक तोता भी अँगूर-मिष्ठान्न के बन्धन में रहना पसन्द नहीं करता फिर आप लोग तो मानव हो। राजा अपने पालतू तोते की बात को समझ जाता है। राजा तोते का पिंजरा समुद्र में फेंक देता है। इस दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बन्ध तत्त्व जीव की स्वतंत्रता को नष्ट करता है, दुःख देता है, बंध कभी भी सुख नहीं दे सकता चाहे कितने भी लौकिक सुखों का संयोग हो। बन्ध तत्त्व को समझकर ऐसा प्रयास करना चाहिए जिससे हम आगे कर्मों का बन्ध न कर सकें।

संवर तत्त्व

संवर का स्वरूप

आचार्य नेमिचन्द्र आचार्य द्रव्यसंग्रह में कहते हैं-

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो॥३४॥

जो आत्मा का परिणाम कर्म के आश्रव को रोकने में कारण है वही भाव संवर है, और द्रव्यास्रव का न होना, द्रव्य संवर है।

वदसमिदिगुत्तिओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेयं णायव्वा भावसंवरविसेसा॥३५॥

व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुपेक्षा, परीषहजय और अनेक भेद वाला चारित्र ये भाव संवर के भेद ज़ानना चाहिए।

नोट-यहाँ पर आचार्य निश्चयव्रत, निश्चयसमिति, तथा निश्चय गुप्ति को भाव संवर कहतें हैं।

प्रमाद के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाले असंयम के अभाव में संवर होता है. जो कर्म प्रमाद निमित्त से आस्रव को प्राप्त होता है, उसका प्रमत्त संयत गुणस्थान के आगे प्रमाद न रहने के कारण संवर जानना चाहिए।

व्यवहारसंवर–आचार्य कुन्दकुन्द वारस अणुवेक्खा में कहते हैं–

पंचमहव्वयमणसा अविरमणणिरोहणं हवे णियमा।
कोहादि आसवाणं दाराणि कसायरहिय पल्लगेहि।।62

अहिंसादि पंचमहाव्रत रूप परिणामों द्वारा हिंसादि पंच आस्रवों का आगमन निश्चयपूर्वक रोक दिया जाता है। क्रोधादि कषाय रहित परिणामों के द्वारा क्रोधादि कषायों का द्वार रोक दिया जाता है अर्थात् पंच महाव्रत के पालन करने से पंच पापों का संवर हो जाता है और क्रोधादि कषायों का निरोध करने से कषाय संवर हो जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द आगे कहते हैं–

सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि।।

(वारस अणुवेक्खा)

मन, वचन की शुभ प्रवृत्ति से अशुभ योगों के द्वारा होने वाला कर्म आस्रव रुक जाता है और जब शुद्धोपयोग में प्रवृत्ति होती है तो शुभ योगों का भी निरोध हो जाता है।

सिद्धान्त में संवर के साधन व्रत, समिति, गुप्ति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय चारित्र तथा तप को बताया गया है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह इन पंच पापों के त्याग रूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, तथा परिग्रह त्याग ये पांच व्रत हैं। गृहस्थ इनका पालन एकदेश से करते हैं साधु इनका पालन पूर्ण रूप से किया करते हैं।

पांच समितियां–इन पंचमहाव्रतों की रक्षा हेतु पंचसमितियों का पालन साधु किया करते हैं। प्रमाद रहित प्रवृत्ति को समिति कहते हैं–ये पांच हैं–

1. **ईर्या समिति**–जीव जन्तु रहित प्रासुक तथा रौंदी हुई भूमि पर दिन के समय चार हाथ प्रमाण आगे देखकर चलना। अच्छी तरह देखकर मन को स्थिर कर गमनागमन करना।
2. **भाषा समिति**–हित, मितवचन बोलना। आगम से अविरुद्ध, पूर्वापर सम्बन्ध से रहित, निष्ठुरता, कर्कश आदि दोषों से रहित भाषण करना।
3. **एषणा समिति**–शुद्ध भोजन भिक्षावृत्ति से शास्त्रोक्त मर्यादानुसार (छयालीस दोष और बत्तीस अंतराय टालकर) ग्रहण करना।
4. **आदान निक्षेपण समिति**–किसी भी वस्तु को देखभाल कर शुद्ध, प्रासुक निर्जन्तु भूमि पर-पिच्छिक से शोधन कर यत्नपूर्वक वस्तु को उठाना और रखना।
5. **प्रतिष्ठापन या उत्सर्ग समिति**–मल, मूत्रादि को देखभाल कर शुद्ध, प्रासुक निर्जन्तु भूमि पर त्याग करना।

तीन गुप्तियां—पाप क्रियाओं से आत्मा को बचाना गुप्ति है ये तीन हैं मनोगुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति।

मनोगुप्ति—मन को वश में करके धर्म ध्यान में लगाना तथा रागद्वेष से अप्रभावित रखना मनोगुप्ति है।

वचनगुप्ति—मौन रहना या शास्त्रोक्त वचन कहना तथा असत्य वाणी का निरोध करना या मौन रहना वचन गुप्ति है।

कायगुप्ति—एकासन से बैठना, ध्यान स्वाध्याय में काय को लगाना तथा शरीर को वश में रखकर हिंसादि क्रियाओं से दूर रहना कायगुप्ति है।

इस प्रकार पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तियाँ मिलाकर कुल तेरह प्रकार का चारित्र साधु का होता है।

दश धर्म—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य।

बारह भावना—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, धर्म, बोधि-दुर्लभ भावना।

बाईस परीषह जय—धर्म मार्ग में स्थिर रहने के लिए तथा कर्म बन्ध के विनाश के लिए समस्त प्रतिकूल विचारों और परिस्थितियों को समता पूर्वक सहन करते रहकर चलना परीषह जय है, कहा है- 'मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या:परिषहा:'

परीषह शब्द "परि" और "षह" इन दो शब्दों के सम्मेलन से बना है। "परि" अर्थात् सब ओर से, सह अर्थात् सहन करना अर्थात् आन्तरिक संवेदनाओं से तथा वाह्य संयोगों वियोगों से उत्पन्न सभी प्रकार के कष्टों तथा दु:खों को समता पूर्वक सहन करना ही परीषहजय है। ये हैं-

(1) क्षुधा (2) तृषा (3) शीत (4) उष्ण (5) डंश मशक (6) नग्नता (7) अरति (8) स्त्री (9) चर्या-(चलने की) (10) निषद्या-(बैठने की) (11) शय्या (12) आक्रोश-(गाली आदि) (13) वध (14) याचना-(मांगने के अवसर पर भी न मांगना) (15) अलाभ-(भोजन अंतराय पर संतोष) (16) रोग (17) तृण स्पर्श (18) मल (19) सत्कार-पुरस्कार आदर निरादर (20) प्रज्ञा-(ज्ञान का मद न करना) (21) अज्ञान-(अज्ञान पर खेद न करना) (22) अदर्शन (श्रद्धा न बिगाड़ना)।

चारित्र पंच प्रकार—(1) सामायिक—(सम भाव रखना।) (2) छेदोपस्थापना—(सामायिक से गिरने पर फिर सामायिक में स्थिर होना।) (3) परिहार विशुद्धि—(ऐसा आचरण जिसमें हिंसा का विशेष त्याग हो)। (4) सूक्ष्म सांपराय—(दसवें गुस्थानवर्ती साधु का चारित्र, जहाँ मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय है)। यथाख्यात—पूर्ण वीतराग चारित्र।

निश्चय संवर

निश्चय व्रत–(द्रव्यसंग्रह गाथा 34 की टीका) निश्चय से विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव.निज आत्मा तत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखामृत के आस्वादरूपी बल से समस्त शुभाशुभ रागादि विकल्प से निवृत्ति का होना, व्रत है।

निश्चय समिति–अभेद–(नियमसार गाथा 61) अनुपचार रत्नत्रय रूपी मार्ग में परमधर्मी ऐसे अपने आत्मा के प्रति सम्यक् 'इति' अर्थात् परिणति, समिति है अथवा निज परमतत्त्व में लीन सहज परम ज्ञानादिक परमधर्मों की संहति (मिलन-संगठन), समिति है।

निश्चय गुप्ति–निश्चय से सहज शुद्धात्म भावना लक्षण गूढ़स्थान में संसार कारण रागादि के भय से स्वात्मा में गोपन (रक्षण), गुप्ति है।

निश्चय धर्म–(बृहद् द्रव्यसंग्रह पृष्ठ 90) निश्चय से संसार में गिरते हुए आत्मा को जो धारण करे ऐसे विशुद्ध ज्ञान-दर्शन लक्षण निज शुद्धात्म की भावना, धर्म है।

निश्चय अनुप्रेक्षा–जैसा अपना शारीरिक स्वभाव है उसे वैसा जानकर भ्रम छोड़कर उन्हें भला मान कर राग न करना और बुरा समझकर द्वेष न करना ऐसी सच्ची उदासीनता के लिए अनित्यादि का यथार्थ चितंन करना, सच्ची अनुप्रेक्षा है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक पेज 336)

निश्चय चारित्र–निश्चय से जो निष्कषाय भाव है वही सच्चा चारित्र है (कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 99वें में लिखा है–'हे भव्यो! जो आत्मस्वरूप वस्तु है उसका रागादि दोषों से रहित धर्म और शुक्ल ध्यान में लीन होना है उसको तू उत्तम चारित्र जान।

186 वीं समयसार की गाथा की अत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं–

जो सदा ही अच्छिन्नधारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह 'ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही होता है। इस न्याय के अनुसार आगामी कर्मों के आस्रव का निमित्त जो रागद्वेष मोह की संतति (परम्परा) उसका निरोध होने से शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है और जो सदा ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह अज्ञानमय भावों में से अज्ञान मय भाव ही होता है इस न्याय के अनुसार आगामी कर्मों के आस्रव का निमित्त जो राग द्वेष, मोह की संतति उसका निरोध न होने से, अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। अत: शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव) ही संवर होता है।

भेदज्ञान परम्परा मोक्ष का कारण

भेदज्ञान संवर जिन्ह पायौ।
सो चेतन शिवरूप कहायौ।।

भेद ग्यान जिनके घट नाहीं।
ते जड़ जीव बंधै घट मांहि॥८॥

(समयसार नाटक संवर अधिकार)

संवर की विधि

राग द्वेष मोह जिसके मूल हैं ऐसे शुभाशुभ योगों में प्रवर्तमान जो जीव दृढ़तर भेद विज्ञान के आलम्बन से आत्मा के द्वारा ही अत्यन्त रोककर, शुद्धदर्शन ज्ञानरूप आत्मद्रव्य में भलीभाँति प्रतिष्ठित (स्थिर) करके, समस्त परद्रव्यों की इच्छा के त्याग से सर्व संग से रहित होकर, निरन्तर अति निष्कम्प वर्तता हुआ कर्म नोकर्म का किंचित मात्र भी स्पर्श किए बिना अपने आत्मा को ही आत्मा के द्वारा ध्याता हुआ, स्वयं को सहज चेतयितापन होने से एकत्व को ही चेतता (अनुभव करता) है (ज्ञान चेतनारूप रहता है) वह जीव वास्तव में एकत्व चेतन द्वारा अर्थात् एकत्व के अनुभव द्वारा (परद्रव्य से) अत्यन्त भिन्न चैतन्य चमत्कार द्वारा आत्मा को ध्याता हुआ शुद्धदर्शन ज्ञानमय आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ, शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (प्राप्ति) होने पर समस्त पर द्रव्यमयता से अतिक्रान्त होता हुआ अल्पकाल में ही सर्व कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है।

यह संवर का प्रकार (विधि) है। (गाथा 187, 188, 189 की आत्मख्याति टीका से)

भेदज्ञान की क्रिया के दृष्टान्त

जैसे रजसोधा रज सोधिकैं दरब काढ़ै,
पावक कनक काढ़ि दाहत उपलकौं।
पंक के गरभमैं ज्यौ डारिये कतक फल,
नीर करै उज्जल नितारि डारै मलकौं॥
दधिकौ मथैया मथि काढै जैसे माखन कौं,
राजहंस जैसैं दूध पीवै त्यागि जलकौं।
तैसैं ग्यानवंत भेदग्यान की सकति साधि,
वेदै निज संपति उछेदै पर-दलकौं॥१०॥

जैसे रजतसोधा धूल शोधकर सोना चांदी ग्रहण कर लेता है, अग्नि धाड़को गलाकर सोना निकालती है, कर्दम में फिटकरी (निर्मली) डालने से वह पानी को साफ करके मैल हटा देती है, दही का मथने वाला दही मथकर मक्खन को निकाल देता है, हंस दूध भी पी लेता है और पानी छोड़ देता है; उसी प्रकार ज्ञानी लोग भेद विज्ञान के बल से आत्म सम्पदा ग्रहण करते हैं और राग द्वेषादि व पुद्गलादि पर पदार्थों को त्याग देते है।

आचार्य कार्तिकेय कहते हैं –

एदे संवरहेदू, वियारमाणो वि जोण आयरइ।
सो भमइ चिरंकालुं, संसारे दुक्खसंतत्तो॥१००॥

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

जो पुरुष इन संवरों के कारणों को विचारता हुआ भी आचरण नहीं करता है, वह दुःखों से तप्तायमान होकर बहुत समय तक संसार में भ्रमण करता है।

जो पुण विसयविरतो, अप्पाणं सव्वदोविसंवरइ।
मणाहरविसएहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि॥

कार्तिकेयानुप्रेक्षा॥ 101॥

जो मुनि इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होता हुआ, मन को प्रिय लगने वाले विषयों से आत्मा को सदाकाल संवर रूप करता है उसके प्रगटरूप से संवर होता है।

सम्यग्दृष्टि की महिमा

भेदिमिथ्यात सुबेदि महारस, भेद-विज्ञान कला जिनपाई।
जो अपनी महिमा अवधारत, त्याग करैं उर सौज पराई॥
उद्धत रीति फुरी जिन्हके घट, होत निरंतर जोति सवाई।
ते मतिमान सुवर्न समान, लगै तिन्हकौं न सुभासुभ काई॥

समयसार नाटक 5

जिन्होंने मिथ्यात्व का विनाश करके और सम्यक्त्व का अमृत रस चखकर ज्ञानज्योति प्रगट की है, अपने निज गुणदर्शन-ज्ञान-चारित्र ग्रहण किये हैं, हृदय से पर द्रव्यों की ममता छोड़ दी है और देशव्रत, महाव्रतादि ऊँची क्रियायें ग्रहण करके ज्ञानज्योति को सवाया बढ़ाया है। वे विद्वान स्वर्ण के समान हैं; उन्हें शुभाशुभ कर्म मल नहीं लगता है।

भेद ज्ञान साबू भयौ, समरस निरमल नीर।
धोबी अंतर आतमा, धोबे निजगुन चीर॥९॥

दृष्टान्त द्वारा इसे समझा जा सकता है–

जिसप्रकार सपेरे साँप को यों ही पकड़ लेते हैं जैसे कि फूलमाला, अन्यथा उनकी क्या हिम्मत कि वे उसे पकड़ लें। फिर भी पकड़ते तो हैं ही, इसमें कोई सन्देह नहीं। सपेरे जब सांप को पकड़ने से पहले वे उसे जगाते हैं, साँप जहाँ कहीं भी होता है वह उसकी ओर आ जाता है। सपेरा अपनी बीन बजाता रहता है तब वह साँप उसके सामने आकर बैठ जाता है। काटता नहीं है, किन्तु यदि साँप को कोई छेड़ता है तब वह उसे ही काटता है। जो बाँसुरी बजाने वाला

सपेरा है उसे नहीं काटता, बल्कि उस बीन के साथ-साथ अपना स्वर समाहित करके वह नाचने लगता है, उसका नाच ऐसा साधारण नहीं होता, वह बीन के संगीत में खो जाता है, बस वह अपने आप को ही जानता है, अपने स्वभाव को जानता है, वह उसी समय सपेरे द्वारा पकड़ा जाता है। बाद में सपेरा उसके दाँत भी तोड़ देता है।

इसी प्रकार जब कर्म का उदय आवे तब वीतराग रूपी बीन को बजाना प्रारम्भ करना चाहिए। इस प्रकार बन्धुओं वीतरागता में अपार शक्ति निहित है यही शक्ति संवर मोक्ष का कारण है। दूसरे शब्दों में आस्त्रवका रोकना ही संवर तत्त्व है। इसके लिए गुण समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र आवश्यक है।

उपर्युक्त तत्त्व को एक और छोटे से दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है।

एक स्त्री की अन्धेरे में सुई खो जाती है, वह स्त्री उस सुई को किसी अन्य के कहने से उजाले में ढूँढ़ने लग जाती है। उजाले में तो वह सुई गिरी नहीं थी, इसलिए उजाले में वह कहाँ से मिले? खोई तो सुई अन्धेरे में है इसलिए अंधेरे में खोजने से ही मिलेगी।

ठीक इसी प्रकार राग की एकता में आत्मा अनादि से खो रहा है। इसे यदि राग से भिन्न होकर देखें तो भी भेद-विज्ञान द्वारा यह हाथ में आ सकता है।

इस प्रकार जीव को बन्धन कैसे होता है, और मुक्ति कैसे हो, यह बात यहाँ बहुत संक्षेप में कह दी गई है। कर्म के उदय से जीव बँधे हैं ऐसा यहाँ नहीं कहा गया है। जीव की हीन दशा स्वयं द्वारा ही की गई। कर्म ने हीन दशा नहीं की है। शास्त्र में जो कर्म द्वारा होने की बात लिखी है वह भाव निमित्त का कथन है। इस जीव को संसार की अशुभ प्रकृति से निवृत्ति मिलती है नहीं। इससे कदाचित निवृत्ति मिले, तो शुभ भावों में आवे। परन्तु शुभ भाव से भी मैं भिन्न हूँ। यह बात सुनने को मिलना भी बहुत दुर्लभ है।

निर्जरा तत्व

कर्मों के आंशिक रूप से झड़ने को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो भेद हैं- द्रव्य निर्जरा और भाव निर्जरा। कर्म परमाणुओं का आत्मा से झड़कर अलग हो जाना द्रव्य निर्जरा है तथा आत्मा के जिन विशुद्ध भावों के कारण कर्म परमाणु आत्मा से पृथक होते हैं वह भाव निर्जरा है।

जो संवर पद पाई अनदै, सो पूरव कृत कर्म निकंदै।
जो अफंद है बहुरिन फंदैं, सो निरजरा बनारसि बंदै।।

जो संवर की अवस्था प्राप्त करके आनन्द करता है, जो पूर्व में बांधे हुए कर्मों को नष्ट करता है, जो कर्म के फंदे से छूटकर फिर नहीं फँसता; वह निर्जरा है।

निर्जरा के भेद

द्रव्यसंग्रह में आचार्य नेमिचन्द कहते हैं–

जहकालेण तवेण से भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा।।

कर्मों की स्थिति पूर्ण होने से जिसका फल भोगा जा चुका है। ऐसा पुद्गलमय कर्म जिस परिणाम से छूटता है, वह परिणाम सविपाक भाव निर्जरा है और तप के द्वारा आत्मा के जिस परिणाम से कर्म छूटता है वही परिणाम अविपाक भाव निर्जरा है तथा स्थिति पूर्व होने से या तप से ज्ञानावरणदि द्रव्य कर्मों कर छूटना (सविपाक और अविपाक) द्रव्य निर्जरा है। इस प्रकार निर्जरा दो प्रकार जानना चाहिए।।

आचार्य कुन्दकुन्द देव वारस अणुवेक्खा में कहते हैं।

बंधपदेसग्गलणं णिज्जरणं इदि जिणेहिं पण्णत्तं।
जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे।।66

कर्मबन्ध को प्राप्त पुद्गल वर्गणा रूप प्रदेशों का गलन निर्जरा है, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। जिन परिणामों से संवर होता है, उन्हीं से निर्जरा होती है ऐसा जानों।

सा पुण दुविहा णेया सकालपक्का तवेण कयमाणा।
चदुगदियाणं पढमा वयजुत्ताणं हवे बिदिया।67

निर्जरा दो प्रकार की है। एक तो कर्मों का अपनी स्थिति पूर्ण होने के पश्चात् झड़ना, दूसरे स्थिति पूर्ण होने से पहले ही तपश्चरण द्वारा कर्मों को नष्ट करना। इनमें से पहली निर्जरा चारों गतियों में सर्व ही जीवों के होती है, दूसरी निर्जरा व्रतियों के अर्थात् सम्यक्दृष्टि श्रावक तथा मुनियों के होती है। पहली निर्जरा को सविपाक और दूसरी निर्जरा को अविपाक कहते हैं।

किसी कर्म के नष्ट होने का नाम निर्जरा है, जब किसी कर्म का फल हो चुकता है तो वह कर्म झड़ जाता है अर्थात् दूर हो जाता है। इस प्रकार फल देकर कर्म का झड़ जाना सविपाक निर्जरा है और पककरके समय से पहले ही किसी कर्म को नष्ट कर देना अविपाक निर्जरा है।

सविपाक निर्जरा:-जब कर्म बंधते हैं उसके पीछे कुछ समय उनके पकने में लगता है, उस पकने के काल को आबाधा काल कहते हैं। एक कोडाकोडी सागर की स्थिति के लिए सौ वर्ष का आबाधा काल है, तब एक सागर की स्थिति के लिए बहुत ही अल्प एक उच्छ्वास मात्र होगा -आबाधा काल के समाप्त होने के पीछे जितनी स्थिति जिस कर्म में शेष रहती है, उतनी स्थिति के समयों में उस कर्म की वर्गणाएं बंट जाती है। बंटवारा इस तरह होता है कि पहले अधिक संख्या होती है फिर क्रमश: कम होती जाती है। अंत में सबसे कर्म वर्गणाएं रह जाती हैं।

इस तरह ये कर्म वर्गणाएं समय-समय पर कम होती रहती हैं, इन को सविपाक निर्जरा कहते हैं। यदि बाहरी निमित्त अनुकूल होता है, तो फल प्रगट कर ये वर्गणाएं झड़ जाती हैं। यदि निमित्त अनुकूल नहीं होता तो बिना फल दिये ही झड़ जाती हैं। यह निर्जरा सभी संसारी प्राणियों के पाई जाती है।

2. अविपाक निर्जरा: वीतराग शुद्ध भावों के द्वारा कर्मों को उनके विपाक समय से या नियत पतन समय से पहले ही दूर कर दिया जाता है, इसको अविपाक निर्जरा कहते हैं, इसका मुख्य कारण आत्मा का शुद्ध वीतराग भाव है, यह भाव शुद्ध आत्मिक ध्यान से प्राप्त होता है इस निर्जरा के लिए बारह प्रकार के तप का अभ्यास आवश्यक है, उसमें मुख्य तप ध्यान है। 12 तप निम्न प्रकार हैं-

1. **अनशन** : खाद्य, स्वाद्य, लेह, पेय चार प्रकार के आहार का त्याग कर दिन रात धर्मध्यान में समय व्यतीत करना।
2. **अवमौदर्य** : भर पेट भोजन न करके यथासंभव कम भोजन करना।
3. **वृत्तिपरिसंख्यान** : भिक्षा के लिए जाते समय इस प्रकार की कोई कड़ी प्रतिज्ञा करना कि अमुक प्रकार का आहार मिलेगा, अमुक मौहल्ले में मिलेगा या अमुक रीति से मिलेगा तो लूँगा, अन्यथा नहीं। यदि योग्य भिक्षा विधि न मिले तो वापस वन में जाकर समता भाव के साथ उपवास आदि करना। इस तप के करने में आशा तृष्णा का नाश होता है।
4. **रसपरित्याग** : दूध, दही, घी, मीठा, लवण (नमक) तैल इन छह रसों में से एक या अधिक का त्याग कर देना। इन्द्रिय दमन, आलस्य परिहार (छोडना) तथा स्वाध्याय में आनन्द प्राप्ति के अर्थ यह तप जरूरी है।
5. **विविक्त-शय्यासन** : जीवों के रक्षार्थ प्रासुक क्षेत्र में ब्रह्मचर्य पालन तथा स्वाध्याय, ध्यानाध्ययनादिक क्रियाओं को निर्विघ्न करने के लिए पर्वत गुफा, वस्तिका, श्मशान भूमि, वन, खण्डहर आदि एकान्त स्थानों में सोने बैठने का नाम विविक्त शय्यासन है।

6. **कायक्लेश :** शरीर का सुखियापना मिटाने के लिए कठिन स्थानों में बैठ कर या खड़े होकर ध्यान लगाना - जैस कभी धूप में आतापन योग धारण करना और कभी शीत में नदी किनारे ध्यान करना।

7. **प्रायश्चित :** अपने व्रतों में कोई अतिचार होने पर उसका दण्ड लेकर स्वयं को शुद्ध करना।

8. **विनय :** सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र तथा तप इन चारों का और इनके धारण करने वालों का आदर करना।

9. **वैय्यावृत्य** - पूज्य पुरूषों की भक्ति पूर्वक सेवा, चाकरी तथा टहल करना।

10. **स्वाध्याय :** शास्त्रों का पढ़ना, विचारना, मनन करना, कण्ठस्थ करना और धर्मोपदेश देना।

11. **व्युत्सर्ग :** शरीर से, सांसारिक भोगों तथा पर पदार्थो से विशेष ममत्व का त्यागना।

12. **ध्यान :** समस्त चिताओं का निरोध करके धर्म में या आत्म चिंतवन में एकाग्र होने का नाम धर्म है।

इन बारह व्रतों का पालन करते हुए जितने अंशों में वीतराग भाव होगें उतने अंश में कर्मों की निर्जरा होगी। वीतराग भावों की प्रबलता से कभी-कभी अनेक जन्मों के बाँधे हुए पाप कर्म क्षण मात्र में क्षय हो जाते हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं:-

रत्तो बंधदि कम्मं मुँचदि जीवो विराग सम्पत्तो।
एसो जिणो वदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज॥150॥

रागी जीव कर्मो को बाँधता है, वीतरागी जीव कर्मो से छूट जाता है, ऐसा श्री जिनेन्द्रप्रभु ने कहा है, इसलिए शुभ व अशुभ कर्मो से राग द्वेष मत करो।

उत्कृष्ट निर्जरा

जो समसोक्खणिलीणो, वारंवारं सरेइ अप्पाणं।
इंन्दियकसायविजई, तस्स हवेणिज्जरा परमा॥

- कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 114

जो मुनि साम्यरुप सुख में लीन होकर बार बार आत्मा का स्मरण करता है तथा इन्द्रिय और कषायों को जीतता है, उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है। गुणश्रेणी निर्जरा को बताते हुए स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा 106, 107, 108 में लिखते हैं।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति में करणत्रयवर्ती विशुद्ध परिणाम युक्त मिथ्यादृष्टि से असंयत सम्यग्दृष्टि के असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है, उससे देशव्रती श्रावक की असंख्यातगुणी निर्जरा होती है, उससे महाव्रती मुनियों के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है, उनसे अनन्तानुबन्धी कषाय का विंसयोजन (अप्रत्याख्यानादि रूप परिणमाना) करने वाले के असंख्यात गुणी होती है, उससे दर्शनमोह के क्षय करने वाले के असंख्यात गुणी होती है, उससे उपशम श्रेणी वाले तीन गुणस्थानों में असंख्यात गुणी होती है, उससे उपशांत मोह ग्यारहवें गुण्स्थान वाले के असंख्यात गुणी होती है, उससे क्षपक श्रेणी वाले तीन गुणस्थानों में असंख्यात गुणी होती है, उससे क्षीणमोह बारहवें गुणस्थान में असंख्यात गुणी होती है, उससे सयोग केवली के असंख्यात गुणी होती हे, उससे अयोग केवली के असंख्यात गुणी होती है, ये ऊपर-ऊपर असंख्यात गुणाकार है इसलिए इनको गुण निर्जरा कहते हैं।

आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानाणर्व में कहते हैं–

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्‌भवम्।
सद्यः प्रक्षीयते कर्मशुद्धयत्यङ्गी सवर्णवत्॥८॥

यद्यपि कर्म अनादि काल से जीव के साथ लगे हुए हैं, तथापि वे ध्यान रूपी अग्नि से स्पर्श होने पर तत्काल ही क्षय हो जाते हैं। उनके क्षय हो जाने से जैसे अग्नि के ताप से सुवर्ण शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी तप से कर्म नष्ट करके शुद्ध (मुक्त) हो जाता है।

सम्यग्ज्ञान के बिना सम्पूर्ण चरित्र निस्सार है

जो नर सम्यकवंत कहावत, सम्यग्ज्ञान कला नहि जागी।
आतम अंग अबंध विचारत, धारत संग कहै हम त्यागी॥
भेष धरै मुनिराज-पटंतर, अंतर मोह-महा-नल दागी।
सुन्न हिये करतूति करै वर, सो सठजीव न होय विरागी॥

(समयसार नाटक)

जिस मनुष्य के सम्यक् ज्ञान की कला तो प्रगट हुई नहीं और स्वयं को सम्यग्दृष्टि मानता है, वह निजात्म स्वरूप को अबंध चिंतवन करता है, (एकांत पक्ष लेकर), शरीरादि पर वस्तुओं में ममत्व रखता है और कहता है कि हम त्यागी हैं, वह मुनिराज के समान भेष धरता है परन्तु अंतरंग में मोह की महा ज्वाला धधकती है, वह शून्य हृदय होकर मुनिराज जैसी क्रिया करता है परन्तु वह मूर्ख है, साधु नहीं द्रव्य लिंगी है।

जो बिनु ज्ञान क्रिया अवगा है, जो बिनु क्रिया मोख पद चाहै॥
जो बिनु मोख कहै मैं सुखिया, सो अजान मूढनि में मुखिया॥

(समयसार नाटक)

जो सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र धारण करता है, या बिना चारित्र के मोक्षपद चाहता है तथा बिना मोक्ष के अपने को सुखी कहता है, वह अज्ञानी है मूर्खों में प्रधान अर्थात् महामूर्ख है।

आत्मानुभव ग्रहण की शिक्षा

जो पद भौपद भय हरें, सो पद सेऊ अनूप।
जिह्नि पद परसत और पद, लगै आपदा रूप

(नाटक समयसार)

जो जन्म मरण के भय को हटाता है, उपमा रहित है जिसे ग्रहण करने से सब पद विपत्ति रूप भाने लगते हैं उस आत्मानुभव पद को अंगीकार करो।

अज्ञानी जीव श्रीगुरु उपदेश नहीं मानते–

जगवासी जीवन सौं गुरु उपदेश कहै,
तुम्हें इहां सोवत अनंत काल वीते हैं।
जागौ है सचेत चित्त समता समेत सुनौ,
केवल-बचन जागै अक्ष-रस जीते हैं।।
आवौ मेरे निकट बताऊं मै तुम्हारे गुन,
परम सुरस-भरे करम सौ रीते हैं।
ऐसे बैन कहे गुरू तोऊ ते न धरैं उर,
मित्र कैसे पुत्र किधौं चित्र कैसे चीते हैं।

(समयसार नाटक)

श्री गुरु जगवासी जीवों को उपदेश करते हैं कि तुम्हें इस संसार में मोह निद्रा लेते हुए अनन्त काल बीत गया; अबतो जागो और सावधान व शान्तचित होकर भगवान की वाणी सुनो, जिससे इन्द्रियों के विषय जीते जा सकते हैं। मेरे समीप आओ, मैं कर्म-कलंक रहित परम आनन्दमय तुम्हारे आत्मा के गुण तुम्हें बताऊँ। श्री गुरु ऐसे वचन कहते हैं तो भी संसारी जीव कुछ ध्यान नहीं देते मानों वे मिट्टी के पुतले हैं अथवा चित्र में बने हुए मनुष्य हैं। निर्जरा तत्त्व निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट है–

दरिद्र कौन

किसी जंगल में एक मुनिराज तपश्चरण कर रहे थे। कुछ समय बाद वहां से राजा और उसके साथी गुजरते हैं। मुनिराज की निर्ग्रंथ मुद्रा को देख कर राजा विचार करता है कि यह तो बहुत दरिद्र है, उसके पास तो कुछ भी नहीं है। अत: हमें उसकी मदद करना चाहिए। राजा वापस

महल आकर अपने किसी सेवक को एक हजार रूपये देकर कहता है कि जाओ अमुक दरिद्र को ये रूपये उस जंगल में दे आओ। सेवक उस जंगल में पहुँचता है और कहता है कि राजा ने तुम्हारे लिए ये हजार रूपये भिजवाए हैं, इन्हें आप ले कर अपनी दरिद्रता समाप्त कर लें। मुनिराज कहते हैं जाओ इन्हें गरीबों में बंटवा दो। सेवक राजा के पास आकर कहता है कि महाराज वह दरिद्र तो कहता है कि इन्हें गरीबों में बाँट दो। यह सुन राजा विचारता है कि शायद रूपये कम भिजवाए गये इसीलिए वह इस प्रकार कह रहा है। अतः राजा दो हजार रूपये देकर सेवक को पुनः उस दरिद्र के पास भेजता है। सेवक पुनः जंगल जाता है और कहता है कि ये दो हजार रूपये ले लो, राजा ने भिजवाए हैं। इनसे अपना जीवन सुखी बना लो। इस बार भी वे मुनिराज यही कहते हैं कि जाओ इन्हें गरीबों में बाँट दो। वह दरिद्र तो इस बार भी कहता है कि इन्हें गरीबों में बाँट दो, उसने रूपये नहीं लिए हैं। इस बार राजा विचारने लगता है कि शायद मैंने सेवक को भेजा इसलिए दरिद्र ने इससे रूपये नहीं लिए राजा उस दरिद्र के पास लाख रूपये लेकर पहुँच जाता है। राजा कहता है ये रूपये लीजिये। मुनिराज अब भी वही बात कहते हैं कि जाओ ये रूपये गरीबों में बँटवा दो। अब राजा यह सुन कहता है अरे। तुम से गरीब और कौन होगा? यह सुन मुनिराज कहते हैं – राजन्! तुम हमें नहीं जानते, हम तो श्रीमन्त हैं। हमारे पास तो अपना अनन्त वैभव का खजाना है अतः हमे इन तुच्छ रूपयों की कोई आवश्यकता नहीं है। यह खजाने की बात सुनते ही राजा कहता है कि उस खजाने की चाबी मुझे दे दो मैं भी जाकर उसे देख लूगाँ। यह सुन मुनिराज कहने लगे कि अरे। कुछ दिन मेरे साथ यहाँ मेरी तरह रहना। राजा ने अपने साथ आये सेवकों को वापिस भेज दिया और स्वयं मुनिराज के साथ मुनिराज की तरह रहने लगा। मुनिराज के साथ राजा को रहते-रहते कुछ दिन व्यतीत हो जाते हैं। मुनिराज उसे कुछ धर्म का उपदेश भी दे देते हैं। कुछ दिन बाद मुनिराज कहते हैं कि, अच्छा तुम्हें देखना है हमारा खजाना तो हमारे जैसे ही बन जाओ। यह सुन राजा सोचता है कि, शायद खजाना प्राप्त करने की यही विधि होगी, इसलिए राजा नग्न हो मुनिराज बन जाता है। अब कुछ दिन बाद मुनिराज कहते हैं – राजन्! अब तुम्हें वह सम्पदा चाहिए जो तुम माँगते थे। यह सुन वह पूर्व राजा कहता है–स्वामी। अब मुझे वह खजाना नहीं चाहिए अब तो मुझे अपने अनन्त वैभव, सम्पन्नता, साम्राज्य का पता चल गया है। मुझे अपने रत्नत्रय खजाने का पता चल गया है। आत्मा का सच्चा वैभव तो यही है।

अपने कर्म रूपी शत्रुओं को संवर पूर्वक बाहर निकालना ही निर्जरा तत्त्व कहलाता है।

मोक्षतत्त्व

आत्मा का समस्त कर्म बन्धनों से सर्वथा छूट जाना ही मोक्ष है। वह मोक्ष दो प्रकार का है–द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष। आत्मा का जो परिणाम समस्त कर्म बन्धनों के क्षय में कारण है

वह भावमोक्ष है और आत्मा से समस्त कर्मों का अत्यन्त छिन्न हो जाना द्रव्यमोक्ष है। वह द्रव्यमोक्ष अयोगकेवली के अंतिम समय में होता है। वह मोक्ष आत्मस्वरूप ही है। जैसे सुवर्ण से आंतरिक और बाह्य मैल निकल जाने पर सुवर्ण के स्वाभाविक गुण चमक उठते हैं, वैसे ही कर्म बन्धन से सर्वथा छूट जाने पर आत्मा स्वाभाविक रूप में स्थिर हो जाता है, यही मोक्ष है। अत: मोक्ष आत्म स्वभाव के अविरूद्ध है। मुक्तावस्था प्राप्त होने पर, उसके किसी भी गुण का नाश नहीं होता। कुछ ऐसे भी मतावलम्बी है जो मुक्तावस्था में आत्मा के विशेष गुणों का नाश मानते हैं। परन्तु आत्मा का अभाव नहीं होता और न ही उसके किसी गुण का अभाव होता है; बल्कि ज्ञान, सुख आदि गुण और चमक उठते हैं। संसार अवस्था में इन्द्रिय जन्य ज्ञान इन्द्रिय जन्य सुख होता था जो कि एक तरह से पराधीन होने से दु:खरूप ही था। इन्द्रियों की पराधीनता के मिट जाने से मुक्तावस्था में स्वाधीन, स्वाभाविक अतिन्द्रिय ज्ञान और अतिन्द्रिय सुख प्रगट हो जाते हैं जो कभी नष्ट नहीं होते।

भेदज्ञान आरा सौं दुफारा करै, ग्यानी जीव, आतम करम धार भिन्न चरचै।
अउभौ अभ्यास लहै परम धरम वाहै, करम भरम कौ खजाना खोल खरचै॥
यौही मोख मुख धावै केवल निकट आवै, पूरन समाधि लहै परमकौ परचै।
भयौ निरदौर यहि करनौ न कछु और, ऐसौ विश्वनाथ तहि बनारसी अरचै॥

(समयसार नाटक)

ज्ञानी जीव भेदज्ञान की करौंत से आत्म परिणति और कर्मपरिणति को पृथक करके उनको पृथक-पृथक जानता है और अनुभव का अभ्यास तथा रत्नत्रय ग्रहण करके ज्ञानावरणादि कर्म व राग द्वेषादि विभाव का खजाना खाली कर देता है। इस रीति से वह मोक्ष के सन्मुख दौड़ता है। जब केवलज्ञान उसी के समीप आता है तब पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा बन जाता है और ससांर की भटकन मिट जाती है तथा करने को कुछ बाकी नहीं रह जाता है अर्थात् कृत्य कृत्य हो जाता है। ऐसे त्रिलोकीनाथ को पं॰ बनारसीदास नमस्कार करते हैं।

मोक्ष के भेद

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।
णेओ सभावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुहूभावो॥

आत्मा के जो परिणाम समस्त कर्मों के क्षय होने में कारण हैं वही भावमोक्ष जानना चाहिए और आत्मा से द्रव्यकर्मों का छूटना सो द्रव्यमोक्ष है।

मोक्षतत्त्व की भूल :- आत्मा की परिपूर्ण शुद्ध दशा का प्रकट होना, मोक्ष है। उसमें आकुलता का अभाव है- पूर्ण स्वाधीनता निराकुल सुख है, किन्तु अज्ञानी जीव ऐसा न मानकर

शरीर के – मौज शौक में ही सुख मानता है। मोक्ष में देह, इन्द्रिय, खान पान आदि कुछ भी नहीं होता, इसलिए अज्ञानी अतीन्द्रिय मोक्ष सुख को नहीं मानता यह उसकी मोक्ष तत्व सम्बन्धी भूल है।

योगीन्दु देव कहते हैं कि आत्मध्यान ही मोक्ष का कारण है:-

जइ वीहउ चउगइगमणा तो परभाव चएहि।
अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिवसुक्ख लहेहि॥

- योगसार

यदि चारों गतियों के भ्रमण से भयभीत है तो परभावों को छोड़ दे निर्मल आत्मा का ध्यान कर जिससे मोक्ष के सुख को तू पा सके।

आचार्य कहते हैं कि पुण्य कर्म मोक्ष सुख नहीं दे सकता:-

अह पुणु अप्पा णवि मुणहि पुण्णु जिकरइ असेसु।
तउ वि ण पावहि सिद्धसुहु पुणु संसारू भमेस॥

- योगसार

यदि तू आत्मा को नहीं जानेगा सर्व पुण्य कर्म को ही करता रहेगा तो भी तू सिद्ध के सुख को नहीं पावेगा पुन: पुन: संसार में ही भ्रमण करेगा।

आचार्य कहते हैं- परिणामों से ही बन्ध व मोक्ष होता है:-

परिणामे बंधु जि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ तहभावहु परियाणि॥

- योगसार

परिणाम से ही कर्म का बंध कहा गया है वैसे ही परिणामों से ही मोक्ष को जान, हे आत्मन! ऐसा समझकर तू उन भावों की पहिचान कर।

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं–

वदणियमाणि धरन्ता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्टबाहिस जेण तेण ते होंति अण्णाणी ॥
अर्थपरमट्ट बाहिरा जेते अणुणसामेपासापुण्ण मिच्छति।
संसारगमणाहेतु विम्मोक्ख हेदुं अयाणंता॥

जो व्रत नियम धारे, पाले, तप करे, परन्तु निश्चय आत्म स्वभाव के धर्म से बाहर हो तो ये सब अज्ञानी वहिरात्मा है। परमार्थ आत्म तत्त्व को जो नहीं समझते वे अज्ञान से संसार भ्रमण के कारण पुण्य की ही वांछा करते हैं। क्योंकि उनको मोक्ष के कारण का ज्ञान ही नहीं है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक में कहते हैं : –

यो न वेत्ति पर देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते न स निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः।।

जो कोई शरीरादि से भिन्न इस प्रकार के ज्ञाता-दृष्टा अविनाशी आत्मा को नहीं जानता हैं वह उत्कृष्ट तप तपते हुए भी निर्वाण को नहीं पाता।

आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षपाहुड में कहते हैं:-

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि वहुविहं च खवणं तु।
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो।।99।।

जो आत्मा के स्वभाव से विपरीत है, आत्मा का अनुभव नहीं करता है, उसके लिए बाहरी क्रिया काण्ड क्या फल दे सकता है? नाना प्रकार उपवासादि तप क्या कर सकता है। आतापन योगादि काय क्लेश क्या कर सकता है? अर्थात् वे मोक्ष के साधक नहीं हो सकते। मोक्ष का साधन एक आत्मज्ञान है।

आचार्य योगीन्दु स्वामी कहते हैं कि गृहस्थ भी निर्वाणमार्ग पर चल सकता है–

गिहिवावारपरट्ठिया हेयाहेउ मुणंति।
अणुदिणु झायहि देउ जिणु लहु णिव्वाणु लहंति।।

जो गृहस्थ के व्यापार में लगे हुए हैं तथा हेय-उपादेय (त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य को) जानते हैं तथा रातदिन जिनेन्द्रदेव का ध्यान करते हैं वे शीघ्र निर्वाण को पाते हैं।

शुद्ध आत्मा का मनन ही मोक्षमार्ग है।

सद्धु सचेयणु बुद्धु जिणु केवलणाणसहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहहु सिवलाहु।।

- योगसार, 26

यदि मोक्ष का लाभ चाहते हो तो रातदिन उस आत्मा का मनन करो जो शुद्ध वीतराग निरंजन कर्म रहित है चेतना गुण धारी है, या ज्ञान चेतना मय है, जो स्वयं बुद्ध है, जो जिनेन्द्र है वे जो पूर्ण निरावरण ज्ञान स्वभाव का धारी है अर्थात् केवलज्ञान का धारी है। जो पर की संगति करता है वह बंध को प्राप्त करता है और जो निज सत्ता में मगन रहता है, वह मुक्त होता है:-

पर की संगति जौ रचै, बन्ध बढ़ावै सोइ।
जो निज सत्ता में मगन, सहज मुक्त सो होई।।

जिन्हकी धरम ध्यान पावक प्रगट भयौ, संसै मोह विभ्रम बिरख तीनौं डढ़े हैं।
जिन्ह की चितोनि आगै उदै स्वान भूसि भागै, लागै न करम रज ग्यान गज चढ़े हैं।
जिन्हकी समुझिकी तरंग अंग आगम मैं, आगम मैं निपुन अध्यातममैं कढ़े है।
तेई परमारथी पुनीत नर आठो जाम, राम रस गाढ़ करैं यहै पाठ पढ़े हैं।

(नाटक समयसार)

जिनकी धर्मध्यान रूप अग्नि में संशय-विमोह-विभ्रम ये तीनों वृक्ष जल गये हैं, जिनकी सुदृष्टि के आगे उदय रूपी कुत्ते भौंकते-2 भाग जाते हैं, वे ज्ञान रूपी हाथी पर सवार हैं इससे कर्म रूपी धूल उन तक नहीं पहुँचती। जिनके विचार में शास्त्रज्ञान की तरंगें उठती हैं, जो सिद्धान्त में प्रवीण हैं, जो अध्यात्मिक विद्या के पारगामी हैं, वे ही मोक्ष मार्गी हैं– वे ही पवित्र हैं, सदा आत्मानुभाव का रस दृढ़ करते हैं और आत्मानुभव का ही पाठ पढ़ते हैं।

छह द्रव्यों का समूह ही संसार है

एई छहौं दर्व इन्हीं कौ है जगत जाल, तामैं पाँच जड़ एक चेतन सुजान है।
काहूकी अनन्त सत्ता काहूसौं न मिलै कोई।, एक एक सत्ता मैं अनन्त गुण गान हैं।।
एक एक सत्ता मैं अनन्त परजाइ फिरै, एक मैं अनेक इहि भांति परवान हैं।
यहै स्याद्वाद यहै संतनि की मरजाद, यहै सुख पोख यहै मोख कौ निदान है।।

नाटक समयसार

जो छह द्रव्य हैं, इन्हीं का समूह ही संसार है। इन छह द्रव्यों में पाँच अचेतन हैं, एक चेतन द्रव्य ज्ञानमय है। किसी की अनन्त सत्ता किसी से कभी नहीं मिलती। प्रत्येक सत्ता में अनन्तगुण समूह हैं, और अनन्त पर्यायें हैं, एक प्रकार एक में अनेक जानना। यही स्याद्वाद है,यही सत्पुरुषों का अखंडित कथन है यही आनन्द वर्धक है और यही ज्ञान मोक्ष का कारण है।

जिन्हकी चिहुंटि चिमटासी गुन चुनिबेकौं,
कुकथा के सुनिबेकौं दोऊ कान मढ़े हैं।
जिन्हकौ सरल चित्त कोमल बचन बोलैं,
सोमदृष्टि लियैं डालैं मोम कैसे गढ़े हैं।।
जिन्हकी सकति जागी अलख अराधिबे कौं,
परम समाधि साधिबेकौं मन बढे हैं।
तेई परमारथी पुनीत नर आठौं जाम,
रामरसगाढ़करैं यहै पाठ पढे हैं।

नाटक समयसार

जिनकी बुद्धि गुण चुनने के लिए चिमटी के समान हैं, विकथा सुनने के लिए जिनके कान मढ़े हुए अर्थात् बहरे हैं, जिनका चित्त निष्कपट है, जो मृदु भाषण करते हैं, जिनकी क्रोधादि रहित सोमदृष्टि है, जो ऐसे कोमल स्वभावी हैं कि मानों मोम के ही बने हों जिन्हें आत्मध्यान की शक्ति प्रगट हुई है, परम समाधि साधने के लिए जिनका चित्त उत्साहित रहता है, वे ही मोक्ष मार्गी हैं, वे ही पवित्र हैं, सदा आत्मानुभव का रस दृढ़ करते हैं और आत्मानुभव का ही पाठ पढ़ते हैं अर्थात् उनको आत्मा की ही रटन लगी रहती है।

मोक्षतत्व को निम्न दृष्टान्तों द्वारा भी समझा जा सकता है –

दृढ़ निश्चय

अयोध्या नगरी में सुरेन्द्र मन्यु नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी पत्नी का नाम रानी कीर्ति समा था। इनके बज्रबाहु नाम का एक बहुत ही सुन्दर रूपवान एवं गुणवान पुत्र था। वह अपने माता-पिता को बहुत ही प्यारा था। माता उसे बाल्यपन से ही मुनिराजों के समीप ले जाती थी। इस बालक के हृदय में मुनिराज की छवि व वचन अंकित हो गये थे। जब यह बालक युवा हो गया तब इसका विवाह हस्तिनापुर के राजा इमवाहन व रानी चूड़ामणि की पुत्री मनोदया से हो जाता है। मनोदया भी इतनी रूपवान व गुणवान थी कि उसकी उपमा चाँद से बढ़कर दी जाती थी। बज्रबाहु अपनी पत्नी मनोदया को एक क्षण भी नहीं छोड़ता था। एक दिन मनोरमा का भाई विवाह के दो दिन बाद ही बहन को लेने आ जाता है। जब मनोदया अपने घर (माँ के घर) अपने भाई उदयसुन्दर के साथ जाने लगी तब वह भी इनके साथ अपनी ससुराल चल देता है। रास्ते में चलते-चलते बज्रबाहु की दृष्टि एक पर्वत पर बैठे हुये ध्यान में लीन मुनिराज पर पड़ती है। यह देख कर बज्रबाहु के मन में अनेक विचार उत्पन्न होने लगते हैं। क्या यह पर्वत का अंग है? या यह कोई ठूंठ पड़ा है, अथवा कोई साधु है। जब यह निश्चय हो जाता है कि ये दिगम्बर साधु हैं, और अत्यन्त शान्त मुद्रा को धारण करने वाले हैं। तब वे उसे निहारते ही रहे। उनके लिए शत्रु-मित्र, महल-मसान, सोना-चाँदी सब एकसमान थे। घोर तपश्चरण करते, बाईस परीषह को धारण करने वाले वे महामुनिराज, बिल्कुल निस्पृही थे। इस प्रकार मुनिराज को देखकर बज्रबाहु की दृष्टि मुनिराज के ऊपर खम्भे में उत्कीर्ण के समान निश्चल हो जाती है। ऐसी चेष्टा देखकर उदय सुन्दर उपहास करता हुआ, हँसी करते हुए अपने जीजा जी से कहता है कि - जीजा जी आप मुनिराज को बहुत देर से देख रहे हैं। क्या आपका विचार मुनिराज बनने का है? बज्रबाहु कहते हैं उदय सुन्दर तेरा क्या विचार है? उदय सुन्दर हँस कर बोलते हैं कि– मेरा क्या विचार, जो जीजा जी का विचार है सो मेरा विचार है? उदय सुन्दर जानता था कि जो अपनी पत्नी में इतना आसक्त हो कि दो दिन भी अपनी पत्नी को माँ के यहाँ अकेला नहीं भेज सका,

स्वयं साथ हो लिया वह क्या मुनि दीक्षा लेगा बज्रबाहु उदय सुन्दर का उत्तर सुन अपने रथ से उतरते हैं और महाराज के पास जाकर मुनिदीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लेते हैं। अब उदय सुन्दर जीजा जी को बहुत समझाते हैं, माफी माँगते है कि मैंने तो मजाक किया था, आप तो सच में ही समझ गये। मनोदया भी बहुत समझाती है, किन्तु सब व्यर्थ हो जाता है। अब बज्रबाहु मुनिराज के पास जा अपने सब वस्त्र, आभूषण उतार मुनि दीक्षा ले लेते है। अपने केशों को अपने हाथों से घास के सदृश उखाड़ देते हैं, और वहीं पद्मासन में बैठ आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं। यह देख उदयसुन्दर और मनोदया भी मुनिदीक्षा एवं आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। ये सब संसारी जीव संसार को क्षणभंगुर समझ कर जीर्ण तृण के समान संसार के वैभव का त्याग कर देते हैं। बज्रबाहु विचारने लगते हैं कि आज में इस भयंकर संसार रूपी कारागृह से निकल गया हूँ।

जिस प्रकार उलझा हुआ ऊनी सूत एक मिनट में सुलझ जाता है, उसी प्रकार जिनके संस्कार उत्तम होते हैं, वे जीव भी शीघ्र निमित्त पाकर सुलझ जाते हैं, मुक्त हो जाते हैं। यह कर्मों से मुक्त होना ही मोक्षतत्व है।

विशेष:-संसार में दो प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं– भव्य प्राणी और अभव्य प्राणी।

1. **भव्य प्राणी** :- जो जीव संसार से आज नहीं तो कल अवश्य मुक्ति को प्राप्त होने वाले हैं वे जीव भव्य कहलाते हैं। ये काल की अपेक्षा तीन प्रकार के होते हैं –

   अ. **निकट भव्य** :- जो इसी भव से या दो-तीन भव में मोक्ष चले जाने वाले हैं, उसे निकट भव्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में जो थोड़े काल में मुक्त हों वे निकट भव्य जीव कहलाते हैं।

   क. **दूर भव्य** :- जो आगे जाकर मोक्ष प्राप्त करेंगे, उन्हें दूर भव्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में जो बहुत काल में मोक्ष प्राप्त करेंगे उसे दूर भव्य जीव कहते है।

   स. **दूरान्दूर भव्य या अभव्यसम भव्य** :- जो तीन काल में भी मुक्त नहीं होंगे अर्थात् जो जीव कभी भी मुक्त नहीं होंगे, किन्तु उन जीवों में मुक्त होने की पूर्ण योग्यता होती है। ये दूरान्दूर भव्य या अभव्यसम भव्य कहलाते हैं।

2. **अभव्य प्राणी** :- जिन जीवों के सम्यग्दर्शन आदि प्रकट होने की योग्यता ही नहीं हैं उन्हें अभव्य प्राणी कहते हैं। ये जीव कभी भी मुक्त नहीं हो सकते हैं। जैसे टर्रा मूँग को कितना भी पकाना चाहो, सिझाना चाहो, भले ही एक टन ईंधन कोयला उसे पकाने में लग जाये, वह टर्रा मूँग वैसा का वैसा ही रहता है, पकता-गलता नहीं। पत्थर सीझ सकता है किन्तु वह टर्रा मूँग नहीं सीझेगा। जिस जीव का ऐसा विचित्र स्वभाव होता है उसे अभव्य प्राणी कहते हैं।

दूसरी ओर-जिस मूँग को कभी अग्नि का संयोग ही न मिले, पानी का संयोग ही न मिले, वह मूँग भी टर्रा मूँग के बराबर ही माना जाता है, ऐसे जीवों को ही दूरान्दूर भव्य या अभव्यसम जीव कहते हैं।

अभव्य प्राणी और दूरान्दूर भव्य या अभव्य सम भव्य को इस प्रकार भी समझना चाहिए कि जैसे – एक बन्ध्या स्त्री होती है, उसको कभी भी पुत्र प्राप्ति नहीं हो सकती है, चाहे सभी निमित्त जो पुत्र प्राप्ति के लिए आवश्यक होते हैं, प्राप्त हो जाएँ यह अभव्य के समान है।

दूसरी ओर एक विधवा स्त्री, जिसमें पुत्र उत्पन्न करने की पूर्ण क्षमता तो होती है, अच्छे घराने की व शीलवती भी है, किन्तु अनुकूल निमित्तों का अभाव हो जाने से कभी भी पुत्र को नहीं जन्म दे सकती। इसकी स्थिति दूरान्दूर भव्य के बराबर होती है, जिसमें योग्यता तो है किन्तु निमित्तों के अभाव में उसको कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती हैं।

—— ——

जिन्दगी इक पल कभी कोई बढ़ा नहीं पायगा।
रस रसायन सुत सुभट कोई बचा न पायगा।।
सत्यार्थ है बस बात यह कुछ भी कहो व्यवहार में।
जीवन-मरण अशरण शरण कोई नहीं संसार में।

संयोग है अशरण सभी निज आतमा ध्रुवधाम है।
पर्याय व्ययधर्मा परन्तु शाश्वत धाम है।।
इस सत्य को पहिचानना ही भावना का सार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है।।

षष्ठ अध्याय : सम्यक्त्व

सम्यक्त्व के अन्तर्गत उसके पच्चीस दोष और निःशंक, निःकांक्ष, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना अंगों का विस्तृत विवरण यहाँ प्रस्तुत है–

सम्यक्त्व के 25 दोष

सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर उसको शुद्ध और निर्मल बनाना होगा। निर्मल सम्यग्दर्शन ही संसार भ्रमण को नष्ट करने में समर्थ होता है। जिस प्रकार आटे में जरा सी धूल मिलने पर आटे की रोटी का स्वाद नष्ट हो जाता है उसी प्रकार 25 दोष धूल के समान होते हैं। इन्हें न करना ही निर्मल सम्यक्त को प्राप्त करना है। अतः उनसे बचने के लिए उन्हें जानना आवश्यक है।

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः॥

(ज्ञानार्णव 6 सर्ग से ग्रंथान्तरे)

तीन मूढ़ता (लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता, गुरु मूढ़ता), आठ मद, छह अनायतन, आठ शंकादि दोष ये सब मिलाकर 25 दोष होते हैं। सम्यग्दर्शन 25 दोषों रहित होता है।

इसी को पं. बनारसीदास भी कहते हैं:-

अष्ट महामद अष्ट मल, षट् अनायतन विशेष।
तीन मूढता संजुगत, दोष पचीसौं एष॥

लोक मूढ़ता:-

आपगा-सागर-स्नान-मुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥

रत्नकरण्डश्रावकाचार

जो, लौकिक मिथ्याधर्मी लोगों का आचरण देखकर नदी में स्नान करने में धर्म मानते हैं, समुद्र में स्नान करने में धर्म मानते हैं, रेत का ढेर अथवा पाषाण का ढेर लगाने में धर्म मानते हैं, अग्नि में जलने में धर्म मानते हैं उसे लोक मूढ़ता कहते हैं। सम्यग्दर्शन लोक मूढ़ता रहित होता है।

बालू का पिण्ड बनाने में, पर्वत से गिरने में, अग्नि में जलने में, पंचाग्नि तप तपने में धर्म मानना लोक मूढ़ता है। सूर्यचन्द्र ग्रहणादि में सूतक मानना, स्नान करना, चांडाल आदिको दान देना, संक्राति मानकर दान देना; कुंआ पूजना, पीपल पूजना, गाय को पूजना, रूपया-सिक्का-मोहर को पूजना, लक्ष्मी को पूजना, मृत पितरों को पूजना, छींक पूजना; मृतकों को तृप्त करने के लिए

तर्पण करना, श्राद्ध करना, देवताओं के लिए रात्रि जागरण करना; गंगा जल को पवित्र मानना, तिर्यंचों के रूप को देव मानना; कुंआ, बावडी वापिका, तालाब खुदवाने में धर्म मानना: मृत्युंजय आदि के जप कराने से अपनी मृत्यु का टल जाना मानना, ग्रहों का दान देने से अपने दुःख दूर होना मानना; यह सब लोक मूढता है। जो योग्य-अयोग्य, सत्य-असत्य, हित-अहित, आराध्य-अनाराध्य, के विचार रहित लौकिक जीवों की प्रवृति देखकर जैसे अज्ञानी अनादि के मिथ्यादृष्टि प्रवर्त्त हैं उसी प्रकार की प्रवृत्ति को सत्य मान कर विचार रहित होकर प्रवर्तन करना वही लोक मूढता है।

देव मूढ़ता

देव मूढ़ता - वरोपलिप्सयाशावान रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवता मूढमुच्यते।।

जो स्वयं को अच्छा लगता है उसे वर कहते हैं। वर की इच्छा करके आशावान होकर जो राग द्वेष से मलिन देवताओं को सेवन करता है-पूजन करता है उसे देवमूढ़ता कहते हैं।

संसारी जीव इस लोक में राज्य, सम्पति, स्त्री, पुत्र, आभूषण वस्त्र, वाहन, धन, ऐश्वर्य आदि की इच्छा सहित निरन्तर रहते हैं। इनकी प्राप्ति के लिए रागी, द्वेषी, मोही देवों की सेवा पूजा करना देव मूढ़ता है। राज्य, सुख, सम्पति आदि तो साता वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं, वह सातावेदनीय कर्म कोई हमें देने में समर्थ नहीं है। लाभ तो लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होता है। भोग-उपभोग सामग्री की प्राप्ति भोग-उपभोग नाम के अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती है। अपने भावों द्वारा बांधे गये कर्मों को भी देवी-देवता देने व लेने में समर्थ नहीं है।

जगत में कई जीव कुल की वृद्धि के लिए कुल देवी को पूजते हैं, किन्तु पूजते-2 भी किसी के कुल का विध्वंस होते देखा जाता है। लक्ष्मी के (रूपये-पैसों के) लिए लक्ष्मी देवी को, रूपयों को मोहरों को पूजते हैं, किन्तु इन्हें पूजते-2 भी अनेक दरिद्र होते दिखाई देते हैं। शीतला की पूजा करते-2 भी संतान का मरण होते देखा जाता है। पितरों को मानते हुए भी रोगादि बढते देखे जाते हैं। व्यन्तर-क्षेत्रपालादि को, पद्मावती - धरणेन्द्र को अपनी सहायता करने वाला मानते हैं, यह मिथ्यात्व के उदय का ही प्रभाव है।

स्वामी कार्तिकेय कहते हैं किः-

णय को वि देदि लच्छी, ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं, कम्मं पि सुहासुहं कुणदि।।

इस जीव को कोई व्यन्तर आदि देव लक्ष्मी नहीं देते हैं इस जीव का कोई अन्य उपकार भी नहीं करता है जीव के पूर्व संचित शुभ-अशुभ कर्म ही उपकार तथा अपकार करते हैं।

गुरु मूढता

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्।।24

- रत्नकरण्डश्रावकाचार

परिग्रह, आरंभ और हिंसा सहित संसार भंवरों में प्रवर्तन करने वाले पाखण्डियों को प्रधान मानकर उनके वचनों में आदर पूर्वक प्रवर्तन करना पाखण्ड मूढता है।

जिनेन्द्र के धर्म के श्रद्धान और ज्ञान रहित होकर जो अनेक प्रकार का भेष धारण करके, स्वयं को ऊँचा मानकर, जगत के जीवों के पूजा-वन्दना-सत्कार चाहते हुए परिग्रह रखते हैं, अनेक प्रकार के आरम्भ करते हैं, हिंसा के कार्यों में प्रवर्तते हैं, इन्द्रियों के विषयों के रागी-संसारी-असंयमी-अज्ञानियों से गोष्ठी वर्ता करके अभिमानी होकर, स्वयं को आचार्य, पूज्य, धर्मात्मा कहते हुए रागी-द्वेषी होकर प्रवर्तते है ; युद्ध शास्त्र, श्रृंगार के शास्त्र, हिंसा के आरंभ के शास्त्र, राग के बढ़ाने वाले शास्त्रों का स्वयं महन्त होकर उपदेश देते हैं वे सब पाखण्डी हैं।

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः।।25

- रत्नकरण्डश्रावकाचार

जिनका मद नष्ट हो गया है ऐसे गणधर देव ने मद आठ प्रकार के कहे हैं- (1) ज्ञान (2) पूजा (3) कुल (4) जाति (5) बल (6) ऋद्धि (7) तप और (8) शरीर इन आठों का आश्रय कर जो मान होता है उसे स्मय (मद) कहते हैं।

ज्ञानमदः- शास्त्र ज्ञान-श्रुत ज्ञान का गर्व नहीं करना चाहिए। आत्मज्ञान रहित का श्रुतज्ञान निष्फल है, क्योंकि ग्यारह अंग का ज्ञान धारी होकर के भी अभव्य संसार ही में परिभ्रमण करता है। सम्यक्दर्शन बिना अनेक व्याकरण, छन्द, अलंकार काव्य, कोष आदि का पढ़ना विपरीत धर्म में अभिमान और लोक में प्रवर्तन कराकर संसार रूप अंधकूप में डुबोनेवाला ही जानना। इस इंद्रियजनित ज्ञान का क्या गर्व करना है? एक क्षण में वात, पित्त, कफ आदि के घटने बढने से चलायमान हो जाता है।

पूजामदः- ऐश्वर्य पाकर उसका मद कैसे किया जा सकता है? यह ऐश्वर्य तो अपनी आत्मा का स्वरूप भुलाएं बहुत आरम्भ, राग द्वेष आदि में प्रवृति कराकर चतुर्गति में परिभ्रमण का कारण है। निर्ग्रन्थपना तीन लोक में ध्याने योग्य है। पूज्य है। यह ऐश्वर्य क्षणभंगुर है। बड़े-बड़े इन्द्र-अहमिन्द्रों का ऐश्वर्य भी पतन सहित है। बलभद्र नारायण का भी ऐश्वर्य क्षणमात्र में नष्ट हो गया, अन्य जीवों का तो कितना सा ऐश्वर्य है? ऐसा जानकर यदि दो दिन के लिए ऐश्वर्य

पाया है तो दु:खित जीवों के उपकार में लगाओ, विनयवान होकर दान दो। अपना परमात्मस्वरूप ऐश्वर्य जानकर इस कर्मकृत ऐश्वर्य से विरक्त होना ही योग्य हैं।

कुलमद:- पिता के वंश को कुल कहते हैं। ऊँच-नीच कुल भी अनन्तवार प्राप्त हुआ है। संसार में जाति का, कुल का मद कैसे किया जा सकता है? स्वर्ग के महान ऋद्धिधारी देव मरकर एकेन्द्रिय में आकर उत्पन्न हो जाते हैं। श्वान आदि निंद्य तिर्यंचों में उत्पन्न हो जाते हैं तथा उत्तम कुल के धारी होकर भी चांडाल आदि में उत्पन्न हो जाते हैं। हे आत्मन् ! तुम्हारा जातिकुल तो सिद्धों के समान है। ऐसा जानकर कभी भी कुल का मद नहीं करना चाहिए।

जातिमद:- सम्यग्दृष्टि के ऐसा सच्चा विचार होता है- हे आत्मन् । यह उच्च जाति है वह तुम्हारा स्वभाव नहीं है। यह तो कर्म का परिणमन है। परकृत है, विनाशशील है, कर्माधीन है। माता के वंश को जाति कहते हैं। संसार में अनेक बार अनेक जाति पाई हैं। यह जीव अनेक बार चांडाली, भीलनी, म्लेच्छनी, चमारी, धोबिन, नाईन, डोमनी, नटनी, वैश्या, दासी, कलारिन, धीवरी आदि मनुष्यनी के गर्भ में उत्पन्न हुआ है। सूकरी, कूकरी, गर्दभी, स्यालनी, कागली, इत्यादि तिर्यंचनी के गर्भ में अनन्त बार उत्पन्न होकर मरा है। अनन्त बार नीच जाति में उत्पन्न होने के बाद उच्च जाति पाता है। इसी प्रकार से अनंत बार उच्च जाति भी पायी है तो भी संसार परिभ्रमण ही करता रहा इसलिए जाति का मद नहीं करना चाहिए।

बलमद:- जिस बल से कर्म रूपी बैरी को जीता जाता है। काम क्रोध लोभ को जीता जाता है। वह बल प्रशंसा योग्य है। देह का बल, यौवन का बल, ऐश्वर्य का बल पाकर अन्य निर्बल अनाथ जीवों को मार डालना, ठग लेना, धन छीन लेना, जमीन-जीविका छीन लेना, कुशील सेवन करना, दुराचार में प्रवर्तन करना, वह बल प्रशंसा योग्य नहीं है। वह बलमद तो नरक के घोर दुखों को असंख्यात काल तक भोगकर तिर्यंचगति में मारण, ताड़न, लादन द्वारा तथा दुर्वचन, क्षुधा, तृषा आदि के अनेक दु:ख अनेक पर्यायों में भोगकर, एकेन्द्रियों में समस्त बल रहित असमर्थ कर देगा। अत: बल का मद छोड़कर संयम धारण करके उत्तम तप करना योग्य है।

ऋद्धिमद:- ज्ञानी को ऋद्धि अर्थात् धनसंपति पाने का गर्व नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि तो धन आदि के परिग्रह को महाभार मानते है। वह विचारता है कि – ऐसा दिन कब आयेगा जब मैं समस्त परिग्रह के भार को छोड़कर अपने आत्मधन की सम्भाल करूँगा? धन परिग्रह के भार का महाबन्धन है। राग द्वेष, भय, संताप, शोक, क्लेश, बैर, हानि महाआरम्भ के कारण है। मद उत्पन्न करने वाले हैं और दु:ख रूपी दुर्गति के बीज हैं।

तपमद:- सम्यक्त्व बिना मिथ्यादृष्टि का तप निष्फल है। जो तप का ऐसा मद करता है कि– मैं बड़ा तपस्वी हूँ वह तप के मद के प्रभाव से बुद्धि को नष्ट करके दुर्गति में परिभ्रमण करेगा।

अतः तप के गर्व को महान अनर्थ का कारण जानकर भव्य जीवों को तप का गर्व करना उचित नही है।

शरीर या रूप मद :- सम्यग्दृष्टि को शरीर के रूप का गर्व नहीं होता क्योंकि वह अपना रूप तो ज्ञानमय जानता देखता है जिसमें सभी पदार्थों का यथार्थ स्वरूप दिखाई देता है। ये चमड़े का शरीर का रूप मेरा रूप नहीं है। इस देह का रूप क्षण-क्षण में विनाशशील है। एक दिन आहार पान नहीं करे तो महा विरूप दिखने लगता है। इस देह का रूप समय-समय विनशता रहता है। यदि बुढ़ापा आ जाये तो -अभद्र भयकारी दिखने लगता है। यदि रोग दरिद्रता आदि आ जाये तो किसी के देखने लायक छूने लायक भी नहीं रह जाता है। इस रूप का गर्व कौन ज्ञानी करता है। यह तो एक ही क्षण में अंधा हो जाये, काना हो जाये, कुबड़ा, लूला, डूंठा, वक्रमुख, वक्रग्रीव, लम्बोदर, विद्रूप हो जाये, इसका कौन ठिकाना? यहाँ रूप का गर्व करना बड़ा अनर्थ है। सुन्दर रूप पाकर शील को मलिन नहीं करो दरिद्री, दुखी, रोगी, अंगहीन, कुरूप, मलिन देखकर उसका तिरस्कार नहीं करो, ग्लानि नहीं करो, दया ही करो संसार महाकुरूप मनुष्य तिर्यंचों का महाअभद्र, भयंकर, रूप आदि अनेकों बार पाया है।

छह अनायतन

(दोहा)

कुगुरु कुदेव कुधर्म धर, कुगुरू कुदेव कुधर्म।
इनकी करै सराहना, यह षडायतन कर्म।।

कुगुरु, कुदेव, कुधर्म के उपासकों और कुगुरु, कुदेव, कुधर्म की प्रशंसा करना ये छह अनायतन है।

आठ शंकादि दोष

1. शंका 2. कांक्षा 3. विचिकित्सा 4. मूढ़दृष्टि 5. अनुपगूहन 6. अस्थितिकरण 7. अवात्सल्य और 8. अप्रभावना।

1. **शंका:-** जिन धर्म में शंका का होना।
2. **कांक्षा:-** धर्म का सेवन करके भी विषयों की वांछा करना।
3. **विचिकित्सा:-** अशुभ कर्म के उदय से प्राप्त हुई अशुभ सामग्री में ग्लानि करना।
4. **मूढदृष्टि:-** खोटे शास्त्रों से, व्यन्तर आदि देव कृत विक्रिया से, मणि-मंत्र औषधि आदि के प्रभाव से अनेक वस्तुओं का विपरीत स्वभाव देखकर सच्चे धर्म से चलायमान होना।

5. **अनुपगूहनः**- अन्य जीवों के अज्ञान से अशक्ता से लगे हुए दोष सबको बताना।

6. **अस्थितिकरणः**- धर्म से विचलित होते हुए जीवों को धर्म में न लगाना और धर्म से विचलित करना।

7. **अवात्सल्यः**- अपने साधर्मी भाइयों से द्वेष रखना, प्रीति न रखना।

8. **अप्रभावनाः**- जिन धार्मिक कार्यों की प्रभावना न करना, प्रमाद करना।

कुदेव का दृष्टान्तः- एक बार एक माली अपने बाग से फूल तोड़कर रास्ते में ले जा रहा था उसी रास्ते में विष्टा पडी थी, उसने सामने देखा कि एक विद्वानों की टोली चली आ रही है। उसने विष्टा पर फूल डाल दिये ताकि विद्वानों को विष्टा का स्पर्श न हो। फूल डालकर वह माली वहाँ से चला गया, जब नगर के लोगों ने यह देखा तब उन्होंने समझा कि यहाँ देव प्रकट हुये है। इसलिए यहाँ फूल चढ़े हैं। हम लोगों को भी देव की पूजा करना चाहिए। फिर क्या था नगर के लोगों ने फूल चढाना शुरू कर दिये, वहाँ इतने फूल चढ़े कि बहुत ढेर बन गया। जब नगर के राजा को मालूम पड़ा तो उसने अपने मन्त्री को बुलाकर कहा, कि हमारे नगर में देव प्रकट हुये हैं, सभी नगर जन वहाँ पूजा करने जा रहे हैं। हमको भी वहाँ पूजा करने जाना चाहिए। यह कहकर राजा और मन्त्री वहाँ पहुँचे, राजा फूल चढाने लगा, मन्त्री होशयार था। उसने राजा से कहा राजाजी अभी ठहरो पहले देव के दर्शन तो कर ले मन्त्री की बात सुनकर राजा ने अनुचरों को आज्ञा दी कि ये सब फूल हटा दो, जब अनुचरों ने फूल हटाये तो वहाँ पर विष्टा पडी थी यह देखकर सभी हँसने लगे।

कुदेव सेवन अज्ञानता का, मिथ्यात्व का लक्षण है। जो तथ्यों से, सच्चाई से अनभिज्ञ होता है, वही अन्धानुकरण करता है। उसको कभी इष्ट फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह उपहास का पात्र बन जाता है, जैसा निम्न दृष्टान्त में भी समझाया गया है-

किसी नगर में एक राजा एवं उनकी पत्नी रहती थीं। एक दिन नगर में एक बहुत सुन्दर मेला का आयोजन होता है। रानी राजा से कहती है कि आज मैं बाजार घूमने जाना चाहती हूँ। नगर में मेला भी बहुत सुन्दर लगा है। राजा यह सुन स्वीकृति नहीं देते। रानी हट कर बैठती है कि मैं तो आज अवश्य जाऊँगी। अब राजा कहते हैं कि ठीक है- अगर तुम जाना ही चाहती हो तो जाओ, किन्तु मेले में यदि कोई तुम्हें गधा मिल जाये तो उसका एक बाल तोड़ लेना और महल में ले आना।

रानी सेवकों के साथ, बाजार घूमती हुई मेले में पहुँच जाती है। मेले में उसे एक गधा मिल जाता है। उसे राजा की कही बात तुरन्त याद आ जाती है। राजा के कहे अनुसार वह गधे का एक बाल तोड़ लेती है। यह आने-जाने वाले भी देखते हैं। अब यह देख दर्शक विचारने लगते

हैं कि नगर की रानी ने गधे का एक बाल तोड़ा है हम भी तोड़ेगे। परिणाम यह निकलता है कि गधा गंजा हो जाता है। किंतु अब भी कुछ लोग ऐसे रह जाते हैं जिन्हें एक भी बाल नहीं मिलता उनको तो गधा करामाती दिख रहा था, इसलिए वे अब गधे की खाल नोंचने लगते हैं। खाल-नोंचते-नोंचते आखिर क्या होता है कि बेचारे गधे के प्राण निकल जाते हैं।

इसी का नाम रूढ़िवाद है, इसी का नाम कुदेव सेवन है और इसी का नाम भेड़िया चाल है। इन सभी को सम्मिलित रूप से मिथ्यात्व कहा गया है, जिसका फल अनन्त संसार रूप दुःख ही है।

सम्यक्त्व का पहला अंग [निःशंक]

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्म बन्ध मोह करे।
सो णिस्सको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वों।।

जो चेतयिता कर्म बन्ध सम्बन्धी मोह करने वाले [अतः जीव निश्चयतः कर्मो के द्वारा बंधा हुआ है ऐसा भ्रम करने वाले] मिथ्यात्वादि भाव रूप चारों पादों [स्वामित्व, कृतत्व, भोक्तृत्व, ममत्व] को छेदता है। उसको निःशंक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

आचार्य समन्तभद्र कहते है :-

इदमेवे - दृशमेव, तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्, सन्मार्गेऽसंशयारूचि।।

- रत्नक०, 11

परमार्थ स्वरूप, [निश्चय से] देव, शास्त्र, गुरु का लक्षण इसी प्रकार है और किसी प्रकार नहीं, देव, शास्त्र, गुरू के प्रवाह में तलवार की धार पर रखे हुए पानी के समान अटल श्रद्धान निःशंकित अंग है।

अंजन चोर का दृष्टान्त

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कशमीर नाम का एक देश है। इसमें तालाब और कमलों से सुशोभित जिन मन्दिरों से युक्त विजयपुर नाम का सुन्दर नगर है। इस नगर में, इन्द्र के समान वैभव धारी, कामदेव के समान सुन्दर, पराक्रमी, जिनेन्द्र भगवान का भक्त, परोपकारी प्रजा वात्सल्य, अरिमित नाम का राजा राज्य करता था।

इस राजा की भगवान जिनेन्द्र के चरणाविन्दों में भ्रमर की तरह घूमने वाली कमलनयनी, गजगामिनी, सुन्दरी नाम की पटरानी थी, इन दोनों को सुखपूर्वक समय बिताते हुए, नयनों को

आनन्द रूप सौन्दर्ययुक्त ललितांग नाम का पुत्र हुआ। उन राजा रानी के लाड़ प्यार के कारण ललितांग को विद्यार्जन भी नहीं कराई, इस कारण वह बुरीसंगति में पड़ गया और वह चोरी करने लगा। जब यह बात राज को पता लगी तो राजकुमार ललितांग को दुराचारी जानकर राज्य से बाहर निकाल दिया। उसने एक ऐसे अंजन (काजल) को सिद्ध कर लिया जिसके लगाने से वह अदृश्य हो जाता था वह काजल उसे चोरी करने में सहायक बना था। इसलिए वह अंजन चोर नाम से प्रसिद्ध हुआ। चोरी करने के उपरान्त वह जुआ और वेश्या-सेवन जैसे महापाप भी करने लगा।

एक बार उसकी प्रेमिका अनंतसुन्दरी ने रानी के गले में सुन्दर रत्नहार देखा और उसे पहनने की उसके मन में तीव्र इच्छा हुई। जब अंजन चोर उसके पास आया तो उसने कहा-हे अंजन। अगर तुम्हारा मुझ पर सच्चा प्रेम है तो रानी के गले का रत्नहार मुझे लाकर दो। अंजन ने कहा देवी, यह बात तो मेरे लिए बहुत आसान है। वह चतुर्दशी के रात में राजमहल में गया और रानी के गले का हार चुराकर भागने लगा। रानी का अमूल्यरत्नहार चोरी होने से चारों ओर हा-हाकार मच गया। सिपाही दौड़े उन्हें चोर तो दिखाई नहीं देता था लेकिन उसके हाथ में पकड़ा हुआ हार अन्धेरे में जगमगाता हुआ दिखाई देता था। उसे देखकर सिपाही उसे पकडने के लिए पीछे-पीछे भागे। पकडे जाने के भय से अंजन चोर पीछे की तरफ हार फेंककर भाग गया और श्मशान में पहुँचा। थक जाने के कारण एक पेड़ के नीचे खड़ा हो गया। तब वहाँ उसने एक आश्चर्य कारी घटना देखी एक मनुष्य को उसने पेड पर छीकां बाधकर उसमें चढते उतरते देखा जो कुछ बोल भी रहा था – जब छींके पर चढ़ता तब नीचे लगे भालों को देखकर उसे डर लगता था क्योंकि जिनदत्त सेठ का बताये हुआ णमोकार मन्त्र में उसे शंका थी। वह विचार करता था कि कदाचित, मन्त्र सच्चा नहीं रहा और मैं नीचे गिर पड़ा तो मेरा शरीर छिद जायेगा ऐसी शंका से वह नीचे उतर जाता थोड़ी देर पश्चात् उसे ऐसा विचार आता कि सेठ जी ने जैसा कहा वह सच्चा होगा। अत: फिर छींके मे जाकर बैठ जाता इस प्रकार वह बार-बार छींके से चढ़ता उतरता, लेकिन वह नि:शंक होकर उस रस्सीको नहीं काट सका। जिस प्रकार चैतन्य भाव की नि:शंकता बिना शुद्ध, अशुद्ध के विकल्प में झूलता हुआ जीव निर्विकल अनुभव रूप आत्म विद्या को साध नहीं सकता उसी प्रकार मन्त्र के सन्देह में झूलता हुआ वह माली मन्त्र सिद्ध नहीं कर सका। इतने में अंजन चोर माली को ऐसी विचित्र क्रिया करते हुये देखकर पूछता है। अरे भाई। यहाँ रात में तुम यह क्या कर रहे हो। सोमदत्त माली ने उसे सब बात बताई उसे सुनते ही अंजन चोर का णमोकार मन्त्र पर परम विश्वास हो गया, उसने माली से कहा-'लाओ मैं इस मन्त्र को सिद्ध करता हूँ।'

ऐसा कहकर श्रद्धापूर्वक मन्त्र बोलकर निःशंक होकर छीकें की रस्सी काट दी अहो। आश्चर्य नीचे गिरने के पहले ही उसे देव देवियो ने ऊपर ही झेल लिया और कहा मन्त्र के ऊपर तुम्हारी निशंक श्रद्धा से तुम्हें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो गयी हैं। उसकी वजह से तुम्हें आकाश मार्ग से जहाँ भी जाना हो जा सकते हो। तब से अंजन चोर को चोरी के भाव का अभाव हो गया। वह जैनधर्म का परम भक्त बन गया वह कहने लगा जिनदत्त सेठ के प्रताप से मुझे यह विद्या सिद्ध हुई है। जिस प्रकार वे भगवान के दर्शन करने के लिए जहाँ जाते है। वहाँ जाने की मेरी इच्छा हुई है। वहाँ जाकर जो वे करते है। वैसा ही करने की मेरी इच्छा है। विद्या सिद्ध होने पर अंजन ने विचार किया - "अहो! जिस जैनधर्म के मन्त्र के प्रभाव से मेरे जैसे चोर को यह विद्या सिद्ध हुई तो वह जैनधर्म कितना महान होगा। उसका स्वरूप कितना पवित्र होगा। जिस सेठ के प्रताप से मुझे यह विद्या मिली, उसी सेठ के पास जाकर जैनधर्म के स्वरूप को समझूँ और उन्हीं से वह मन्त्र भी सीखलूँ जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सके" ऐसा विचार कर विद्या के बल से मेरू पर्वत पर पहुँचा।

वहाँ पर रत्नमयी अद्‌भुत अरिहन्त-भगवन्तों की वीतरागता देखकर बहुत प्रसन्न हुआ उस समय जिनदत्त सेठ वहाँ पर मुनिवरों का उपदेश सुन रहे थे। अंजन ने उनका बहुत उपकार माना और मुनिराजों के उपदेश को सुनकर शुद्धात्म के स्वरूप को समझा शुद्धात्मा की निःशंक श्रद्धा पूर्वक निर्विकल्प अनुभव करके उसने सम्यक्‌दर्शन प्राप्त किया, इतना ही नहीं, पूर्व के पापों का पश्चाताप करके उसने मुनि के पास दीक्षा ली, साधु बनकर आत्मध्यान करते-करते उन्हें केवलज्ञान हुआ, पश्चात् वे कैलाश गिरि से मोक्ष पाकर सिद्ध हुए। जो अजंन से निरंजन बने उन्हें हमारा नमस्कार हो।

पुरूषार्थसिद्‌ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं:-

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातुशंकेतिकर्तव्या॥२३॥

सर्वज्ञ देव द्वारा कहा गया समस्त वस्तु समूह अनेकान्त स्वभाव रूप है, वह क्या सत्य है अथवा असत्य है? ऐसी शंका कभी भी नहीं करना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं:-

सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सतभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्सं का॥
सम्यक्ति जीव होते निःशंकित इसही से निर्भय रहें।
हैं सप्तभय अविमुक्त वे, इसही से वे निःशंक है॥

सप्तभयों के नाम

इह भव-भय परलोक-भय, मरन वेदना-जात।
अनरच्छा अनगुप्त-भय, अकस्मात-भय सात।।

इहभव-भय परलोक-भय, मरण-भय, वेदना-भय अनरक्षा-भय अनगुप्त भय और अकस्मात्-भय-ये सात भय हैं।

सप्तभयका स्वरूप

दसधा परिग्रह वियोग-चिंता इह भव,
दुर्गति-शमन भय परलोक मानिये।
प्राननि कौ हरन मरन म कहावै सोइ,
रोगादिक कष्ट यह वेदना बखानिये।।
इच्छुक हमारौ कोऊ नंहि अनरच्छा-भय,
चोर मैं विचार अनगुप्त मन आनिये।
अनचित्यौं अबही अचानक कहाध्यैं होइ,
ऐसौ भय अकस्मात् जगत मैं जानिये।।

1. **इस भव का भय:-** क्षेत्र वास्तु आदि दस प्रकार के परिग्रह का वियोग होने की चिंता करना इस भव का भय है।
2. **परलोक का भय:-** कुगति में जन्म होने का डर मानना परलोक भय है।
3. **मरण भय:-** दस प्रकार के प्राणों का वियोग हो जाने का डर मानना मरण भय है।
4. **वेवना भय:-** रोगादिक दुख होने का डर मानना वेदना भय है।
5. **अनरक्षा भय:-** कोई हमारा रक्षक नहीं है, ऐसी चिन्ता करना अनरक्षा भय है।
6. **अगुप्त भय:-** चोर व दुश्मन आवे तो कैसे बचेगें, ऐसी चिन्ता अगुप्त भय है।
7. **अकस्मात् भय:-** अचानक कुछ विपति न आ जाये ऐसी चिन्ता अकस्मात् भय है।

इह भव भय निवारण का उपाय

नख सिख मित परवान, ग्यान अवगाह निरक्खत।
आतम अंग अभंग संग, पर धन इम अक्खत।।
छिनभंगुर संसार-विभव, परिवार-भार जसु।
जहाँ उतपति तहाँ प्रलय, जासु संयोग विरह तसु।।

परिग्रह प्रपंच परगट परखि, इहभव भय उपजै न चित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यान रूप निरखत नित॥

आत्मा सिर से पैर तक ज्ञानमयी है, नित्य है, शरीर आदि पर पदार्थ हैं। संसार का सब वैभव और कुटुम्बियों का समागम क्षणभंगुर है। जिसकी उत्पति है, उसका नाश है। जिसका संयोग है, उसका वियोग है और परिग्रह समूह जंजाल के समान है। इस प्रकार चिंतन करने से चित्त में इस भव का भय नहीं उपजता। ज्ञानी लोग अपने आत्मा को सदा निष्कलंक ज्ञान रूप देखते हैं, इससे निःशंक रहते हैं।

परभव का भय निवारण का उपाय

ग्यानचक्र मम लोक, जासु अवलोक, मोख-सुख।
इतर लोक मम नाहिं, नाहिं जिसमाहीं दोख दुख॥
पुन्न सुगति दातार, पाप दुरगति पद-दायक।
दोऊ खंडित खानि, मैं अखंण्डित सिवनायक॥
इहविधि विचार परलोक-भय, नहि व्यापत वरतै सुखित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यान रूप निरखत नित॥

ज्ञान का पिण्ड आत्मा ही हमारा लोक है, जिसमें मोक्ष का सुख मिलता है। जिसमें दोष और दुख हैं ऐसे स्वर्ग आदि अन्य लोक मेरे नहीं हैं। सुगति दाता पुण्य और दुःखदायक दुर्गति पद का दाता पाप है सो दो ही नाश्वान हैं और मैं अविनाशी हूँ - मोक्षपुरी का बादशाह हूँ ऐसा विचार करने से परलोक का भय नहीं सताता। मनुष्य अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं। इससे निःशंक रहते हैं।

मरण का भय निवारण करने का उपाय

फरस जीभ नासिका, नैन अरु श्रवने अच्छ इति।
मन वच तन बल तीन, स्वास उस्वास आउ-थिति॥
ये दस प्रान-विनास, ताहि जग मरन कहिज्जई।
ग्यान-प्रान संजुगत, जीव तिहुं काल न छिज्जई॥
यह चिंत करत नहि मरन भय, नय प्रवीन जिनवर कथित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यान रूप निरखत नित॥

स्पर्श, जीभ, नाक, नेत्र और कान ये पाँच इन्द्रियाँ मन, वचन, काय ये तीन बल श्वासोच्छवास और आयु दस प्राणों के वियोग को लोक में लोग मरण कहते है, परन्तु आत्मा

ज्ञानप्राण सयुंक्त है, वह तीन काल में कभी भी नाश होने वाला नहीं इस प्रकार जिनराज का कहा हुआ नय-प्रमाण सहित तत्त्वस्वरूप चिन्तन करने से मरण का भय नहीं उत्पन्न होता। ज्ञानी मनुष्य आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञान रूप देखते हैं। इससे निःशंक रहते हैं।।

वेदना के भय निवारण हेतु उपाय–

वेदनवारौ जीव, जाहि वेदत सोऊ जिय।
यह वेदना अभंग, सु तौ मम अंग नांहि विय।।
करम वेदना दुविध, एक सुखमय दुतीय दुःख।
दोऊ मोह विकार, युगलाकार बहिरमुख।।
जब तक विवेक मनमाहिं धरत, तब न वेदना भय विदित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यान रूप निरखंत नित।।

जीव ज्ञानी है और ज्ञान जीव का अभंग अंग है। मेरे ज्ञानरूप अंग में जड़ कर्मों की वेदना का प्रवेश ही नहीं हो सकता। दोनों प्रकार का सुखद रूप कर्म-अनुभव मोह का विकार है, पौद्‌गलिक है और आत्मा से बाह्य है। इस प्रकार का विवेक जब मन में आता है। तब वेदना-जनित भय विदित नहीं होता। ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञान-रूप देखते हैं। इससे निःशंक रहते हैं।

अनरक्षा का भय निवारण करने का उपाय

जो स्ववस्तु सत्तासरूप जग महिं त्रिकाल गत।
तासु विनास न होई सहज निहचै प्रवान मत।।
सो मम आतम दरब सरवथा नहिं सहाय घर।
तिहि कारन रक्षक न होई, भच्छक न कोई पर।।
जब इति प्रकार निरधार किय, तब अनरच्छा-भय नसित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ज्ञान रूप निरखंत नित।।

सत्स्वरूप आत्मवस्तु जगत में सदा नित्य है, उसका कभी नाश नहीं हो सकता, यह बात निश्चयनय से निश्चय है। मेरा आत्मपदार्थ कभी किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, इससे आत्मा का न कोई रक्षक है न भक्षक। इस प्रकार जब निश्चय हो जाता है तब अनरक्षा भय का अभाव हो जाता है। ज्ञानी लोक में अपनी आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते है। इससे निःशंक रहते हैं।

चोर भय निवारण करने का उपाय

परम रूप परतच्छ, जासु लच्छन चिन्मंडित।
पर प्रवेस वहां नाहिं, माहिं महि अगम अखंडित।।
सो मम रूप अनूप, अकृत अनमित अटूट धन।
ताहि चोर किम गहै, ठौर नहि लहै और जन।।
चितवंत एम धरि ध्यान जब, तब अगुप्त भय उपसमित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यान रूप निरखंत नित।।

आत्मा साक्षात्, परमात्मा रूप है, ज्ञान लक्षण से विभूषित है, उसकी अगम्य और नित्य भूमि में परद्रव्य का प्रवेश नहीं है। इससे मेरा धन अनुपम, स्वयं सिद्ध अपरंपार और अक्षय है, उसे चोर कैसे ले सकता है? दूसरे मनुष्य के पहुँचने को उसमें स्थान ही नहीं है। जब ऐसा चिंतवन किया जाता है। तब अगुप्त भय नहीं रहता। ज्ञानी लोग अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं। इससे निंशक रहते हैं।

अकस्मात् भय निवारण करने का उपाय

सुद्ध बुद्ध अविरूद्ध, सहज सुसमृद्ध सिद्ध सम।
अलख अनादि अनंत, अतुल अविचल सरूप मम।।
चिदविलास परगास, वीत-विकलप सुखथानक।
जहाँ दुविधा नहि कोई होई वहां कहु न अचानक।।
जब यह विचार उपजंत तब, अकस्मात् भय नहि उदित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यानरूप निरखंत नित।।

मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञान तथा वीतरागभावमय है। और सिद्ध भगवान के समान समृद्धिशाली है। मेरा स्वरूप अरूपी, अनादि, अनंत, अनुपम, नित्य, चैतन्यज्योति, निर्विकल्प, आनंदकंद और निर्द्वंद है। उस पर कोई आकस्मिक घटना नहीं हो सकती, जब इस प्रकार का भाव उपजता है तब अकस्मात्-भय उदय नहीं होता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं। इससे निःशंक रहते हैं।

सम्यक्त्व का दूसरा अंग [निकांक्ष]

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं:-

जो दुण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।230

सब धर्म एवं कर्म फल की ना करें आकांक्षा।
वे आत्मा निकांक्ष सम्यग्दृष्टि हैं-यह जानना।।

आचार्य कार्तिकेय, कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहते हैं:-

जो सग्गसुहणिमित्तं, धम्मं णायरदि दूसह तवेहिं।
मोक्खं समीहमाणे, णिक्खंखा जायदे तस्स।।416।।

जो सम्यग्दृष्टि दुर्द्धर तप से भी मोक्ष की ही वांछा करता हुआ स्वर्ग सुख के लिए धर्म का आचरण नहीं करता है, उसके निःकांक्षित गुण होता है।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं:-

कर्म परवशे सान्ते, दःुखैरन्तरितोदये।
पापवीजे सुखेऽनास्था, श्रद्धानाकाङ्क्षणास्मृता।।12

रत्नकरण्डश्रावकाचार

कर्मों के अधीन नश्वर दुःखों से मिश्रित और पाप के कारण इंद्रिय सम्बन्धी सुखों में अनित्य रूप श्रद्धान निकांक्षित अंग है।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं:-

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत्।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

इस लोक में ऐश्वर्य, सम्पदा, आदि परलोक में चक्रवर्ती, नारायण आदि पदों को और एकान्त वादसे दूषित अन्य धर्मों को भी न चाहे।

निकांक्षित अंग में अनन्तमती की कथा

भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में अंग नाम का देश है इस देश में मोती और पद्मराग मणियों से युक्त उन्नत शिखरबद्ध जिनचैत्यालयों के द्वारा समस्त पाप को दूर करने वाली चम्पापुरी नाम की नगरी है। इस नगरी में जिनागम रूपी समुद्र का पारगामी श्रेष्ठ वणिक वंश में उत्पन्न प्रियदत्त नाम का सेठ था इसकी रूप लावण्यवाली अंगमती नाम की भार्या थी। इन दोनों के गुणवती होनहार अनन्तमती नाम की कन्या थी वह कन्या अपने रूप गुणों से सभी के चित्त को प्रसन्न करती थी। इसका बाल्यकाल बच्चों के साथ क्रीड़ा करते हुये बीतने लगा।

जब अनन्तमती की उम्र सात-आठ वर्ष थी तब एक बार अष्टाह्निका के समय उनके नगर में धर्मकीर्ति मुनिराज पधारे। उन्होंने सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का उपदेश दिया। निःकांक्षित गुण का उपदेश देते हुये उन्होंने कहा-

"हे जीवो! संसार के सुख की आकांक्षा छोड़कर आत्मा के धर्म की आराधना करो। धर्म के फल में जो संसार-सुख की इच्छा करता है, वह अज्ञानी है। सम्यकत्व के या व्रत के बदले में मुझे स्वर्ग की अथवा राज्य की विभूति मिले-ऐसी जो इच्छा है, वह तो संसार सुख के बदले में सम्यक्त्वादि धर्म को बेचता है, यह तो छाछ के बदले में रत्न-चिन्तामणि को बेचने जैसी मूर्खता है। अहा! स्वयं की चैतन्य-चिन्तामणि को जिसने देखा है, वह वाह्य विषयों की आकांक्षा क्यों करे? अनन्तमती के माता पिता भी मुनिराज का उपदेश सुनने के लिए आये थे और अनन्तमती को भी साथ में लाये थे। उपदेश के पश्चात् उन्होनें आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य का व्रत लिया और मजाक में अनन्तमती से कहा -"तू भी ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर ले।" तब अनन्तमती ने कहा – "ठीक है, मैं भी शीलव्रत अंगीकार करती हूँ।"

इस प्रसंग के बाद अनेक वर्ष बीत गये, अनन्तमती अब युवती हो गयी थी, उसका यौवन सोलह कलाओं के समान खिल उठा था। रूप के साथ उसके धर्म के संस्कार भी वृद्धिंगत हो गये थे। एक बार सखियों के साथ वह बगीचे में घूमने गई थी और एक झूले पर झूल रही थी। उसी समय विजयार्द्ध श्रेणी का निवासी कुंडलमंडित नाम का विद्याधर राजा अपनी पटरानी सुकेशिनी सहित क्रीड़ा करने जा रहा था। विमान में बैठे हुए उस विद्याधर राजा ने अनन्तमती के अद्‌भुत रूप को देखा तो वह उस पर मोहित हो गया। वह विमान में बैठी अपनी रानी से बोला- "हे प्रिये। मुझे आज अपने मित्र राजा से मिलने के लिए जाना है। इसलिए भ्रमण के लिए फिर कभी चलेगें।" और वह अपनी रानी को छोड़ आया। फिर वापिस आकर बगीचे से अनन्तमतीको विमान में उठा ले गया। उधर उसकी रानी को शंका हुयी कि पता नहीं आज हमारे पति अचानक मुझे यहाँ क्यों छोड़ गये। जब उसने विद्याबल से देखा तो उसे सब पता चला गया और वह तुरन्त वहाँ जा पहुँची तो घबरा कर विद्याधर ने अनन्तमती को एक भयंकर वन में छोड़ दिया। ऐसे घोर वन में पड़ी हुयी अनन्तमती भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगी और कहने लगी–"अरे ! इस वन में मैं कहा जाऊँ क्या करूँ? यहाँ कोई मनुष्य भी तो दिखता नहीं। थोड़ी देर पश्चात् वह पूर्व संस्कार वश पंच-परमेष्ठी भगवन्तों का स्मरण करने लगी।

दुर्भाग्य से उस वन का भील राजा शिकार करने के लिए वहाँ आया, उसने अनन्तमती को देखा और वह उस पर मोहित हो गया। उसके मन में विचार आया कि यह कोई वन देवी दिखाई देती है। ऐसी अद्‌भुत सुन्दरी दैवयोग से मुझे मिली है। वह उसे घर ले गया। घर पहुँच कर वह कहने लगा – "हे देवी ! मैं तुझ पर मुग्ध हो गया हूँ और मैं तुझे अपनी रानी बनाना चाहता हूँ तू मेरी आशा पूरी कर।"

निर्दोष अनन्तमती उस कामी भील राजा की बात सुनकर बहुत घबरायी पर विचारने लगी "अरे ! मैं शीलव्रत की धारक और मुझ पर यह क्या हो रहा है? पूर्व में किन्हीं गुणीजनों के

शील पर अवश्य मैंने झूठा कलंक लगाया होगा अथवा उनका अनादर किया होगा। उस दुष्ट कर्म के कारण जहाँ भी जाती हूँ, वहाँ मेरे ऊपर ऐसी विपत्ति आ रही है। परन्तु अब मैंने वीतराग ध र्म की शरण ली है, इसके प्रताप से शीलव्रत से मैं डगमगाऊँगी नहीं। भले ही प्राण चलें जायें, परन्तु मैं अपने शील को नहीं छोड़ूँगी। तब उसने भील से कहा– "अरे दुष्ट! अपनी दुर्बुद्धि को छोड़। तेरे धन-वैभव में मैं ललचाने वाली नहीं हूँ। तेरे वैभव को मैं धिक्कारती हूँ।"

अनन्तमती की यह दृढ़ता देख भील राजा को गुस्सा आया और निर्दयता पूर्वक उस पर बलात्कार करने के लिए तैयार हुआ। इतने में अचानक मानों आकाश चीर कर एक महादेवी वहाँ प्रगट हुई। उस देवी का तेज वह दुष्ट भील सहन नहीं कर सका, उसके होश उड़ गये और हाथ जोड़कर क्षमा याचना करने लगा। देवी ने कहा – "यह महान शीलव्रती सती है, यदि तू उसे जरा भी सतायेगा तो तेरी मौत आ जायेगी।"

अनन्तमती के शीश पर हाथ रख कर उसने कहा-"बेटी! धन्य है तेरे शील को, तू निर्भय रह। शीलवान सती को एक बार भी कोई दोष लगाने में समर्थ नहीं।" इतना कहकर वह देवी अदृश्य हो गयी।

भयभीत होकर उस भील ने अनन्तमती को गाँव के एक सेठ को बेच दिया। वह सेठ प्रथम तो कहने लगा कि वह अनन्तमती को उसके घर पहुँचा देगा, परन्तु वह भी अनन्तमती का रूप देख कर कामान्ध हो गया और कहने लगा – "हे देवी ! अपने हृदय में मुझे स्थान दे और मेरा यह अपार वैभव तू भोग।" उस पापी की बात सुनकर अनन्तमती स्तब्ध रह गयी "अरे! यह क्या हो गया?"

वह सेठ को समझाने लगी –"अरे सेठ! आप तो मेरे पिता तुल्य हैं। दुष्ट भील के पास से यहाँ आई तो समझने लगी थी के मेरे पिता मुझे मिल गये और आप मुझे मेरे घर पहुँचायेंगे। अरे! आप भले आदमी होकर भी ऐसी नीच बात क्यों कर रहे हो? यह आपको शोभा नहीं देता, इसलिए आप इस-बुद्धि को छोड़ दीजिये।"

बहुत समझाने पर भी दुष्ट सेठ नहीं समझा तो अनन्तमती ने विचार किया कि इस दुष्ट पापी का हृदय विनय-प्रार्थना से नहीं पिघलेगा। इसलिए क्रोधित होकर उस सती ने कहा -"अरे दुष्ट कामान्ध! दूर हो जा मेरी आँखों के सामने से मैं तेरा मुख भी देखना नहीं चाहती।" उसका क्रोध देख कर सेठ भी भयभीत हुआ और उसकी अक्ल ठिकाने आ गई, परन्तु बदले की भावना से क्रोधित होकर उसने अनन्तमती को कामसेना नामक वेश्या को सौंप दिया।

अनन्तमती के अन्तःकरण में वेदना का पार नहीं रहा, परन्तु अपने शीलव्रत में वह अडिग रही। संसार के वैभव को देख कर वह बिलकुल ललचाई नहीं।

ऐसी सुन्दरी प्राप्त होने से कामसेना वेश्या अत्यन्त खुश हुई, अब मैं बहुत धन कमाऊँगी-ऐसा समझ कर वह अनन्तमती को भ्रष्ट करने का प्रयत्न करने लगी। उसने अनन्तमती से अनेक प्रकार की कामोत्तेजक बातें की, बहुत लालच दिखलाया तथा न मानने पर बहुत दु:ख दिया, परन्तु अनन्तमती अपने शीलधर्म से रंच मात्र भी डिगी नहीं।

कामसेना ने तो ऐसी आशा की थी कि इस युवती का व्यापार करके वह बहुत धन कमायेगी लेकिन उसकी आशा पर पानी फिर गया। उस विषय लोलुपी बाई को क्या मालूम था कि उस युवती कन्या ने तो धर्म के लिए ही अपना जीवन अर्पित किया है और संसार के विषय भोगों की उसे थोडी भी आकांक्षा नहीं है, सांसारिक भोगों के प्रति उसका चित्त बिलकुल नि:कांक्ष है अत: शील की रक्षा करने के लिए जो भी दु:ख उसे भोगने पड़े, उससे वह भयभीत नहीं हुई।

जिसका चित्त नि:कांक्ष होता है, वह भयभीत होने पर भी संसार के सुख की क्यों इच्छा करेगा। जिसने अपने आत्मा में ही परम सुख का निधान देखा है, वह धर्मात्मा धर्म के फल में सांसारिक सुख की स्वप्न में भी इच्छा नहीं करता, ऐसा नि:कांक्ष होता है।

अनन्तमती ने भी शील गुण की दृढ़ता से संसार के सभी वैभव की आकांक्षा छोड़ दी थी, अत: किसी भी वैभव से ललचाए बिना वह शील में अटल रही।

अहो! स्वभाव के सुख के सामने संसार के सुख की आकांक्षा कौन करेगा सच देखा जाये तो संसार के सुख की आकांक्षा छोड़कर नि:कांक्ष होती हुयी अनन्तमती की यह दशा ऐसा सूचित करती है कि उसके परिणाम का रुख स्वभाव की ओर झुक रहा है। धर्मोन्मुख जीव संसार के दु:ख से कभी डरते नहीं और अपना धर्म कभी छोड़ते नहीं, परन्तु अन्य संसारी जीव संसार के सुख की इच्छा से अपने धर्म में अटल नहीं रह सकते, दु:ख से डर कर अपने स्वधर्म को छोड़ देते हैं।

जब कामसेना ने जान लिया कि अनन्तमती उसको किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं हो सकती, तब उसे उसने बहुत धन लेकर सिंहरत्न नामक राजा को सौंप दिया। अब बेचारी अनन्तमती मानो मगर के मुँह से निकलकर सिंह के जबड़े में जा पड़ी। वहाँ उस पर और नई मुसीबत आ गयी। दुष्ट सिंह राजा भी उस पर मोहित हो गया, परन्तु अनन्तमती ने उसका भी तिरस्कार किया।

तब विषान्ध बनकर वह पापी सिंह राजा अभिमान पूर्वक उस सती पर बलात्कार करने के लिए तैयार हुआ परन्तु एक क्षण में उसका अभिमान चूर-चूर हो गया। सती के पुण्य-प्रताप से वहाँ वन देवी प्रगट हुयी और दुष्ट राजा को फटकारते हुए कहने लगी – सरदार! भूलकर भी इस सती को हाथ लगाना नहीं।" सिंहराजा तो वनदेवी को देखकर ही पत्थर जैसा हो गया,

उसका हृदय भय से काँपने लगा। उसने क्षमा माँगी और तुरन्त ही सेवक को बुलाकर अनंतमती को सम्मान पूर्वक वन में छुड़वाया।

इतने सारे अत्याचार होने पर भी उसके शीलधर्म की रक्षा हुई इसलिए सन्तोष पूर्वक घने वन में भी वह पंच परमेष्ठी का स्मरण करते हुये आगे बढ़ने लगी। पुण्योदय से थोड़ी देर पश्चात् उसने आर्यिकाओं का संघ देखा। अत्यंत उल्लसित होकर आनंद पूर्वक वह आर्यिका माता की शरण में गई।

आँसू भरी आँखों से उसने अपनी बीती हुई कहानी आर्यिका माता को सुनायी उसे सुनकर भगवती माता ने वैराग्य पूर्वक उसे आश्वस्त किया और उसके शील की प्रशंसा की भगवती माता के सान्निध्य में रहकर अनन्तमती शान्तिपूर्वक आत्म-साधना करने लगी।

इधर चम्पापुरी में जब से अनन्तमती को विद्याधर उठा कर ले गया था तब ही से उसके माता-पिता बहुत दु:खी थे। पुत्री के वियोग से खेद खिन्न होकर मन को शान्त करने के लिए वे तीर्थ-यात्रा करने निकले और यात्रा करते-करते तीर्थंकर भगवन्तों की जन्मभूमि अयोध्या नगरी में पहुँचे। प्रियदत्त का साला (अनन्तमती का मामा) जिनदत्त सेठ यहीं रहता था। वहाँ उसके घर आने पर आँगन में एक सुन्दर रंगोली देखकर प्रियदत्त कहने लगे "हमारी पुत्री अनन्तमती भी ऐसी ही रंगोली निकाला करती थी।"

उन्हें अपनी प्रिय पुत्री की याद आई, उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। सचमुच यह रंगोली निकालने वाली और कोई नहीं थी बल्कि स्वयं अनन्तमती ही थी। भोजन करने जब वह यहाँ आई थी, तब उसने यह रंगोली निकाली और बाद में वह आर्यिका संघ में वापस चली गयी थी। जब वे संघ में पहुँचे और वहाँ अपनी पुत्री को देखकर और उस पर बीती हुयी कहानी सुनकर अत्यंत दु:खी हुये और कहने लगे-"बेटी! तुमने बहुत कष्ट भोगे है, अब हमारे साथ घर चलो। तुम्हारी शादी-धूमधाम से रचायेगें।"

शादी की बात सुनते ही अनन्तमती भभक उठी और बोली – पिताजी आप यह क्या कह रहे हो? मैं तो ब्रह्मचर्य व्रत ले चुकी हूँ। आप तो यह सब जानते हैं आपने ही मुझे यह व्रत दिलवाया था। पिताजी ने कहा-"बेटी वह तो बचपन का मजाक था, ऐसी मजाक में ली हुई प्रतिज्ञा को तुम सत्य मानती हो? वैसे भी उस वक्त सिर्फ आठ ही दिन के लिए प्रतिज्ञा लेने की बात थी, इसलिए अब तू शादी कर ले। तब अनन्तमती ने दृढ़ता पूर्वक कहा-"पिताजी, आप भले ही आठ दिन के लिए समझे हों, परन्तु मैंने तो अपने मन में आजीवन के लिए प्रतिज्ञा धारण कर ली थी। अपनी प्रतिज्ञा मैं प्राणान्त होने पर भी नहीं तोडूँगी इसलिए आप शादी का नाम न लें।"

अनन्तमती कहती है–"पिताजी इस संसार की लीला मैंने देख ली संसार में भोग-लालसा के अलावा अन्य क्या है? इसलिए अब बस करो पिताजी इस संसार सम्बन्धी भोगों की मुझे आकांक्षा नहीं रही। मैं तो अब दीक्षा लेकर आर्यिका बनूँगी और इन धर्मात्मा आर्यिका-माता के साथ रहकर आत्मिक सुख को साधूँगी।"

पिताजी ने उसे रोकने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु जिसके रोम रोम में वैराग्य छा गया हो, वह इस संसार में क्यों रहे? संसार-सुखों की स्वप्न में भी इच्छा न करने वाली वह अनन्तमती निःकाक्ष भावना के दृढ़ संस्कार के बल से बन्धन को तोड़कर वीतराग धर्म की साधना में तत्पर हो गयी थी। पश्चात् उसने पद्मश्री आर्यिका के समीप दीक्षा अंगीकार कर ली और धर्मध्यान पूर्वक समाधि-धारण करके स्त्री पर्याय को छेद कर बारहवें देवलोक में महर्द्धिक देव हुई।

अज्ञान अवस्था में लिए हुए शील व्रत को भी जिसने दृढ़ता-पूर्वक पालन किया और स्वप्न में भी संसार सुख की तथा अन्य किसी ऋद्धि की कामना न करते हुये आत्मध्यान किया, उस अनन्तमती को देवलोक की प्राप्ति हुई। देवलोक के आश्चर्यकारी वैभव की तो क्या बात! परन्तु निःकांक्ष को लिए हुये वहाँ पर भी उदासीन रहकर वह अनन्तमती अपना आत्महित साध रही है। धन्य है ऐसी निःकांक्षता को! धन्य है ऐसे निःकांक्षित अंग को।

निर्विचिकित्सा अंग

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं:-

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।231
जो नहीं करते जुगुप्सा सब वस्तु धर्मों के प्रति।
वे आत्मा ही निर्जुगुप्सक उन्हें जानना तुम समकिती।।

आचार्य-कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहते हैं:-

दहविहधम्मजुदाणं, सहावदुग्गंध असुइदेहेसु
जं णिंदणं णा कीरदि, णिव्विदिगिंछा गुणो सो हु।।

दस प्रकार के धर्म सहित मुनिराज का शरीर पहले तो जो स्वभाव से ही दुर्गन्धित और अशुचि है और स्नानादि संस्कार के अभाव से बाहर में विशेष अशुचि और दुर्गन्धित दिखाई देता है उसकी निन्दा नहीं करना सो निर्विचिकित्सा गुण है।

आचार्य समंतभद्र कहते हैं:-

स्वभावातोऽशुचौकाये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिः मताः निर्विचिकित्सिता।

- रत्नक०, 13

स्वभाव से अपवित्र, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र से पवित्र शरीर में ग्लानि रहित मुक्त साधक के गुणों में प्रेम करना निर्विचिकित्सिता अंग है।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं:-

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णाप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया।।

भूख प्यास सर्दी गर्मी इत्यादि नाना प्रकार के भावों में और विष्टा आदि पदार्थों में ग्लानि नहीं करना चाहिए।

उद्दायन राजा की कहानी

भरत क्षेत्र में अनुपम सुन्दर रत्न और मणियों से परिपूर्ण कच्छ नाम का देश है। यह देश स्वर्गपुरी जैसी शोभायुक्त है। इसी सुन्दर मनोज्ञ धनधान्य से परिपूर्ण देश में शैरपुर नाम का एक नगर था। इसमे महामण्डलीक उद्दायन नाम का राजा राज्य करता था इस सर्वगुण सम्पन्न राजा की रानी का नाम प्रभावती था।

सौधर्म स्वर्ग में देव सभा चल रही थी और इन्द्र महाराज देवों को सम्यग्दर्शन की महिमा समझा रहे थे-अहो! सम्यग्दर्शन में आत्मा का अपूर्व सुख होता हैं। इस सुख के सामने स्वर्ग के वैभव की कोई गिनती नहीं है। इस स्वर्ग लोक में साधु दशा नहीं हो सकती, परन्तु सम्यग्दर्शन की आराधना तो यहाँ पर भी हो सकती है।

जीव धन्य हैं इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवों की हम स्वर्ग में प्रशंसा करते हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है। सम्यक्त्व के बिना धर्म प्रारम्भ नहीं होता। ऐसे सम्यक्त्व के धारक इस भरत क्षेत्र में उद्दायन राजा हैं। वे निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने में बहुत दृढ़ हैं। मुनिवरों की सेवा में वे इतने तत्पर हैं कि रोगादि भी हो तो वे जरा ग्लानि नहीं करते और बिना घृणा के परम भक्ति से धर्मात्मा की सेवा करते हैं। धन्य हैं उन्हें अहो।

राजा के गुणों की ऐसी प्रशंसा सुनकर वासव नामक एक देव के मन में उन्हें देखने की इच्छा हुई और वह स्वर्ग से उतर कर मनुष्य लोक में आया। इधर उद्दायन राजा एक मुनिराज को देखकर भक्ति पूर्वक आहार दान के लिए पड़गाह रहे है। हे स्वामी! हे स्वामी !! हे स्वामी!!! पश्चात् रानी सहित उद्दायन राजा नवधा भक्ति पूर्वक मुनिराज को आहार दान देने लगे।

अरे! लेकिन यह क्या? बहुत से लोग मुनि वेषधारी वासव देव से दूर भागने लगे। बहुतों ने तो अपने चेहरे को कपड़े से ढक लिया क्योंकि मुनि के काने-कुबड़े शरीर में भयंकर कोढ़ रोग हुआ था और उसमें से असह्य दुर्गन्ध आ रही थी, हाथ पैर से पीव पड़ रही थी।

राजा का उनके रोग पर कोई लक्ष्य नहीं था, वे तो प्रसन्न होकर परम भक्ति से एक चित्त होकर आहारदान दे रहे थे और अपने को धन्य मान रहे थे अहो। रत्नत्रय धारी मुनिराज मेरे आंगन में आये इनकी सेवा से मेरा जीवन सफल होगा इतने में मुनि के पेट में अचानक गड़बड़ी हुई और उनको एकाएक उल्टी हो गयी वह दुर्गंन्ध भरी उलटी राजा रानी के शरीर पर जा गिरी किन्तु उन्हें किंचित ग्लानि नहीं हुई और मुनिराज के प्रति जरा भी घृणा नहीं हुई। बल्कि अत्यंन्त सावधानी पूर्वक वे मुनिराज के दुर्गंन्धयुक्त शरीर को साफ करने लगे और उनके मन में ऐसा विचार आया अरे। रे! हमारे आहार दान में अवश्य कोई भूल हुई होगी जिस कारण मुनिराज को इतना कष्ट हुआ। मुनिराज की पूर्ण सेवा हमसे नहीं हो सकी। यहाँ तो राजा विचार कर ही रहे थे कि वे मुनि अकस्मात् अदृश्य हो गये और उनके स्थान पर एक देव दिखने लगा। अत्यंन्त प्रसन्न होकर वह कहने लगा हे राजन! धन्य है आपके सम्यक्त्व को और धन्य है आपके निर्विचिकित्सा अंग का। इन्द्र ने आपके गुणों की बहुत प्रशंसा की थी। मुनि का वेष धारण करके मैं आपकी परीक्षा के लिए ही आया था धन्य है आपके गुणों को। ऐसा कहकर देव ने नमस्कार किया वास्तव में मुनिराज को कष्ट नहीं है ऐसा जानकर सबका चित्त प्रसन्न हो गया और वे कहने लगे हे देव। यह मनुष्य शरीर तो स्वभाव से ही मलिन है और रोगों का घर है। यह अचेतन शरीर मलिन हो तो भी उसमें आत्मा का क्या बिगड़ता है। धर्मी का आत्मा तो सम्यक्त्व आदि पवित्र गुणों से ही शोभित है। शरीर की मलिनता को देखकर जो धर्मात्मा के गुणों के प्रति ग्लानि करते हैं, उन्हें आत्मा की दृष्टि नहीं होती परन्तु देह की दृष्टि होती है। अरे। चमड़े के शरीर से ढका हुआ आत्मा के अन्दर सम्यक्त्वादि गुणों के प्रभाव से शोभायमान हो रहा है।

राजा उद्दायन की यह उत्तम बात सुनकर वह देव बहुत प्रसन्न हुआ और उसने राजा को अनेक विद्यायें दी वस्त्राभूषण दिये, परन्तु उद्दायन राजा को उनकी आकांक्षा न थी वे तो सम्पूर्ण परिग्रह छोड़कर वर्द्धमान भगवान के समवशरण में गये और दीक्षा लेकर मुनि बनकर केवलज्ञान प्राप्त करके उन्होंने मोक्ष पाया, अहो, सम्यग्दर्शन के प्रताप से वे सिद्ध हुये, उन्हें नमस्कार हो।

अमूढदृष्टि अंग

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं:-

जो हवदि असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।
सर्व भावों के प्रति सद्दृष्टि हैं असंमूढ हैं।
अमूढदृष्टि समकितीवे आत्मा ही जानना।।

जो चेतयिता (जीव) समस्त भावों में अमूढ है-यथार्थ दृष्टि वाला है इसको निश्चय से अमूढ़ दृष्टि जानना चाहिए।

आचार्य कार्तिकेय स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहते हैं:-

भयलज्जालाहादो, हिंसारंभो ण मण्णदे धम्मो।
जो जिणवयणो लीणो, अमूढ़दिट्ठी हवे सो दु॥४१८॥

जो भय, लज्जा और लाभ से हिंसा के आरम्भ को धर्म नहीं मानता है और जिन बचनों में लीन है, भगवान ने धर्म अहिंसा ही कहा है जो ऐसी दृढ़ श्रद्धा युक्त है वह पुरुष अमूढदृष्टि गुण संयुक्त है।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहते हैं:-

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरूचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम्॥

लोक में शास्त्राभास में [जो सच्चे शास्त्र न हों] धर्माभाष में [यथार्थ धर्म नहीं] और देवाभाष में [यर्थाथ देव नहीं], तत्त्वों में रूचिवान सम्यग्दृष्टि पुरुष को सदा ही मूढता रहित श्रद्धान करना चाहिए।

आचार्य समंतभद्र कहते हैं:-

कापथे पथि दु:खानां, कापथस्थेऽप्यसम्मति:।
असम्पृक्ति - रनुत्कीर्ति - रमूढा दृष्टिरुच्यते॥

- रत्नक०, 14

नरकादि दु:खों के देने वाले मिथ्यात्व के धारकों के विषय में मन से सम्मत नहीं होना काय से सराहना नहीं करना और वचन से प्रशंसा नहीं करना अमूढ़दृष्टि अंग कहलाता है।

रेवती रानी की कहानी

चौथा अंग 'अमूढ़दृष्टि' यह जग में अतिशय सुखकारी।
इसको धार रेवती रानी ख्यात हुई जग में जारी॥

इस भरत क्षेत्र के मध्य में विजयार्ध पर्वत है। वहाँ विधाधर मनुष्य रहते हैं। उन विद्याधरों के राजा चन्द्रप्रभ का चित्त संसार से विरक्त हुआ, राज्य का कार्य-भार अपने पुत्र को सौंपकर वे तीर्थयात्रा करने निकल पड़े। कुछ समय वे दक्षिण देश में रहे। दक्षिण देश के प्रसिद्ध तीर्थों के और रत्नों के जिनबिम्बों का दर्शन करके उन्हें बहुत आनन्द हुआ। दक्षिण देश में उस समय

गुप्ताचार्य नाम के महान मुनिराज विराजमान थे विशेष ज्ञान के धारक थे और मोक्ष मार्ग का उत्तम उपदेश देते थे। चन्द्र राजा ने कुछ दिन वहाँ मुनिराज का उपदेश सुनकर और भक्ति पूर्वक उनकी सेवा की। तत्पश्चात् उन्होंने मथुरा नगरी की यात्रा पर जाकर विचार किया, क्योंकि वहाँ से जम्मू स्वामी ने मोक्ष पाया था और वर्तमान में वहाँ अनेक मुनिराज विराजमान थे उनमें भव्यसेन नाम के एक मुनिराज बहुत ही प्रसिद्ध थे वहाँ वरूण राजा भी राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम था रेवती।

चन्द्र राजा ने मथुरा जाने की अपनी इच्छा गुप्ताचार्य के सामने प्रगट की और आज्ञा माँगी तथा वहाँ विद्यमान संघ के लिए कोई सन्देश देने के सम्बन्ध में पूछा।

उस पर श्री आचार्य देव के सम्यक्त्व की दृढ़ता का उपदेश देते हुए कहा – "आत्मा का सच्चा स्वरूप समझने वाला जीव वीतराग अरहन्त देव के अतिरिक्त किसी को भी देव नहीं मानता है।

मथुरा की राजरानी रेवती देवी भी सम्यक्त्व की धारक है। जिनधर्म की श्रद्धा में वह बहुत ही दृढ़ है, उन्हें धर्म वृद्धि का आशीर्वाद कहना तथा वहाँ विराजमान मुनि को, जिनका चित्त रत्नत्रय में रत है उन्हें वात्सल्य पूर्वक नमस्कार कहना।

इस प्रकार आचार्य देव ने मुनिराज को तथा रेवतीरानी के लिए सन्देश कहा, परन्तु भव्यसेन मुनि को याद भी नहीं किया इस पर राजा को बहुत आश्चर्य हुआ फिर भी आचार्य महाराज को याद दिलाने के उद्देश्य से पूछा 'क्या और अन्य किसी को कुछ कहना है।

परन्तु आचार्यदेव ने इस पर विशेष कुछ नहीं कहा इससे चन्द्र राजा को ऐसा लगा कि क्या आचार्य देव भव्यसेन मुनि को भूल गये हैं। नहीं। नहीं, वे तो भूलेंगे नहीं वे तो विशेष ज्ञान के धारक हैं। इसलिए उनकी इस आज्ञा में अवश्य कोई रहस्य होगा। जो होगा वह प्रत्यक्ष दिखेगा।

मन ही मन में ऐसा समाधान करके चन्द्र राजा आचार्य देव के चरणों में नमस्कार किया और वे मथुरा की तरफ निकल पड़े मथुरा में आते ही प्रथम उन्होंने मुनिराज के दर्शन किये, वे बहुत ही शान्त और शुद्ध रत्नत्रय के पालन करने वाले थे। चन्द्र राजा ने उन्हें नमोऽस्तु किया और उन्हें गुप्ताचार्य का सन्देश कहा चन्द्र राजा की बात सुनकर मुनिराज ने प्रसन्नता व्यक्त की और स्वयं भी विनय पूर्वक हाथ जोड़कर श्री गुप्ताचार्य के प्रति परोक्ष नमस्कार किया। मुनिवरों का एक दूसरे के प्रति ऐसा वात्सल्य भाव देख कर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। मुनिराज ने कहा हे वत्स! वात्सल्य से धर्म शोभता है। धन्य है, उन रत्नत्रय के धारक आचार्य देव को जिन्होंने इतनी दूर से साधर्मी के रूप में मुझे याद किया शास्त्र में सच ही कहा है।

ये कुर्वन्ति सुवात्सल्यं भव्या धर्मानुरागतः।
साधर्मिकेषु तेषां हि, सफलं जन्म भूतले।।

अर्थ:- अहो। जो भव्यजीव धर्म से प्रीति होने के कारण साधर्मी जनों के प्रति वात्सल्य करते हैं। उनका जन्म जगत में सफल है।

प्रसन्नचित भावपूर्वक बारम्बार मुनिराज को नमस्कार करके राजा वहाँ से निकले और भव्यसेन मुनिराज के पास आये उन्हें बहुत शास्त्रज्ञान था वे बहुत प्रसिद्ध थे। राजा उनके साथ थोडे समय रहे। परन्तु उन मुनिराज ने न तो आचार्य संघ का कोई समाचार पूछा और न कोई उत्तम धर्मचर्चा की। मुनि के योग्य आचार-व्यवहार ही उनका नहीं था। यद्यपि वे शास्त्र पढ़ते थे फिर भी शास्त्रानुसार उनका आचरण नहीं था। मुनि को नहीं करने योग्य प्रवृति वे करते थे। यह सब अपनी आँखों से देखकर राजा की समझ में आ गया, ये भव्यसेन मुनि चाहे जितने प्रसिद्ध हों परन्तु वे सच्चे मुनि नहीं हैं। तो फिर गुप्ताचार्य उन्हें क्यों याद करेंगे सच में, उन चतुर आचार्य भगवान ने योग्य ही किया।

इस प्रकार चन्द्र राजा ने सुरत मुनि और भव्यसेन मुनि की स्वयं आँखों से देखकर परीक्षा की। रेवती रानी को भी आचार्य महाराज ने धर्मवृद्धि का आशीर्वाद कहा। इसलिए इनकी भी परीक्षा करनी चाहिए ऐसा राजा के मन में विचार आया। अगले दिन मथुरा नगरी के उद्यान में अकस्मात् साक्षात् ब्रह्मा प्रगट हुये। इस सृष्टि के साक्षात् ब्रह्माजी पृथ्वी पर आये है। वे कह रहें है मैं इस सृष्टि का कर्ता हूँ और दर्शन देने के लिए आया हूँ।

यह बात नगरजनों में फैल गयी नगरजनों की टोलिया उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ी और उन्हें गाँव लाने की चर्चा हुई मूढ़ लोगों का तो क्या कहना बहुत लोग इन ब्रह्माजी के दर्शन करने आये। प्रसिद्ध भव्यसेन मुनि कौतुहल वश उस जगह आये और नहीं रेवती रानी उस जगह गयी।

जैसे ही राजा ने साक्षात् ब्रहमा की बात की वैसे ही महारानी रेवती ने नि:शंक होकर कहा – महाराज! कोई ब्रह्मा हो ही नहीं सकते किसी मायाचारी ने इन्द्रजाल खड़ा किया है। क्योंकि कोई ब्रह्मा या कोई इस सृष्टि का कर्ता है ही नहीं। साक्षात् ब्रह्मा तो अपना ज्ञान स्वरूप आत्मा है। अथवा भरतक्षेत्र में भगवान् ऋषभ देव ने मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया इसलिए उन्हें आदि ब्रह्मा कहते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई ब्रह्मा है ही नहीं, जिसे मैं वन्दन करूँ।

दूसरे दिन मथुरा नगरी में एक अन्य दरवाजे से नागशैय्या पर विराजमान विष्णु भगवान प्रगट हुए जिन्होंने अनेक अलंकार पहने हुए थे और उनके चारों हाथों में शस्त्र थे लोगों में फिर हलचल भर गयी। लोग बिना कोई विचार किये पुन: उस तरफ भागे वे कहने लगे अहा! मथुरा नगरी का महाभाग्य खुल गया है। कल साक्षात ब्रह्मा ने दर्शन दिये और आज विष्णु भगवान पधारे हैं। राजा को ऐसा लगा कि आज तो रानी अवश्य जायेगी। इसलिए उन्होंने स्वयं रानी से बात की परन्तु रेवती जिसका नाम था, जो वीतरागदेव के शरण में ही समर्पित थी उसका मन जरा भी डिगा नहीं।

श्री कृष्ण आदि नौ विष्णु, वासुदेव होते है और वे चौथे काल में हो चुके है। दसवां विष्णु

या नारायण होता नहीं है। इसलिए अवश्य यह सब बनावटी है क्योंकि जिनवाणी मिथ्या नहीं होती इस प्रकार जिनवाणी की दृढ़ श्रद्धा पूर्वक अमूढ़दृष्टि अंग से वह जरा भी विचलित नहीं हुई।

तीसरे दिन वहाँ एक नई बात हुई ब्रह्मा और विष्णु के बाद तो पार्वती सहित जटाधारी महादेव शंकर प्रगट हुये गाँव के बहुत लोग उनके दर्शन करने चल दिये। कोई भक्ति से गया तो कोई कौतुहल से गया, परन्तु जिसके रोम-रोम में वीतराग देव बसे हैं ऐसी रेवती रानी पर तो कुछ भी असर नहीं हुआ, उसे कोई आश्चर्य भी नहीं हुआ, उल्टे उसे लोगों पर दया आ गई।

रेवती रानी सोचने लगी– "अरे! परम वीतराग सर्वज्ञ देव, मोक्षमार्ग को दिखाने वाले भगवान को भूल कर मूढ़ता से लोग इन्द्रजाल में कैसे फँस रहे हैं! सच में, भगवान अरहन्त देव का मार्ग प्राप्त होना जीवों को बहुत दुर्लभ है।"

अब चौथे दिन तो मथुरा के विशाल प्रागंण में साक्षात् तीर्थंकर भगवान प्रगट हुये अद्‌भुत समवसरण की रचना, गंधकुटी जैसा दृश्य और उसमें चतुर्मुख सहित विराजमान तीर्थंकर भगवान! लोग फिर दर्शन करने दौड़े।

राजा ने सोचा– "इस बार तो तीर्थंकर भगवान आये हैं, इसलिए रेवती रानी अवश्य जायेगी।" परन्तु रेवती रानी ने कहा– "हे महाराज! अभी इस पंचम काल में तीर्थंकर कैसे? भगवान ने इस भरत क्षेत्र में एक काल खण्ड चौबीस तीर्थंकर होने का विधान कहा हैं और वे ऋषभ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर मोक्ष चले गये हैं। यह पच्चीसवाँ तीर्थकर कैसा? यह तो कोई कपटी का मायाजाल है। मूढ़ लोग देव के स्वरूप का विचार करते नहीं और एक के पीछे एक दौड़े चले जा रहे हैं।"

बस, परीक्षा हो चुकी। विद्याधर राजा को निश्चय हो गया कि रेवती रानी की जो प्रशंसा श्री गुप्ताचार्य ने की थी, वह यथार्थ ही है। यह तो सम्यक्त्व के सर्व अंगों से शोभायमान है। क्या पवन से कभी मेरु पर्वत हिलता है? नहीं, उस सम्यग्दर्शन में मेरु जैसा अकम्प सम्यग्दृष्टि जीव कुधर्म रूपी पवन से जरा भी डिगता नहीं, देव-गुरु-धर्म सम्बन्धी मूढ़ता उसे भाती नहीं, उनकी उचित पहिचान करके सच्चे वीतरागी देव-गुरु-धर्म को ही वह नमन करता है। रेवती रानी की ऐसी दृढ़ धर्म-श्रद्धा देख कर विद्याधर राजा चन्द्रप्रभ को बहुत प्रसन्नता हुई, जब अपने असली स्वरूप में प्रगट होकर उसने कहा– "हे माता! मुझे क्षमा करो। चार दिन से इन ब्रह्मा, विष्णु, महादेव शंकर इत्यादि का इन्द्रजाल मैंने ही खड़ा किया था। पूज्य श्री गुप्ताचार्य महाराज ने आपके सम्यक्त्व की प्रशंसा की थी, इसलिए आपकी परीक्षा करने के लिए ही मैंने यह सब किया था। अहा! धन्य है आपके श्रद्धान को! धन्य है आपके अमूढ़दृष्टि अंग को! हे माता! आपके सम्यकत्व की प्रशंसा पूर्वक श्री गुप्ताचार्य महाराज ने आपके लिए धर्मवृद्धि आशीर्वाद भेजा है।"

अहो! मुनिराज के आशीर्वाद की बात सुनते ही रेवती रानी को अपार हर्ष हुआ। हर्ष से गद्गद होकर उन्होंने यह आशीर्वाद स्वीकार किया और जिस दिशा में मुनिराज विराजित थे, उस तरफ सात पाँव चलकर परम भक्ति से मस्तक नवाँ कर उन मुनिराज को परोक्ष नमस्कार किया।

विद्याधर राजा ने रेवती माता का बहुत सम्मान किया और उनकी प्रशंसा करके सम्पूर्ण मथुरा नगरी में उनकी महिमा फैला दी। राजमाता की ऐसी दृढ़ श्रद्धा और जिनमार्ग की ऐसी महिमा देखकर मथुरा नगरी के कितने ही जीव कुमार्ग छोड़कर जिनधर्म के भक्त बन गये और बहुत से जीवों की श्रद्धा दृढ़ हो गई। इस प्रकार जैनधर्म की महान प्रभावना हुई।

यह कहानी हमें यह बताती है कि वीतराग परमात्मा अरहन्त देव का सच्चा स्वरूप पहचान कर उनके अलावा अन्य दूसरे किसी भी देव को – भले ही साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु, शंकर दिखाई दें– नमस्कार नहीं करें। जिनवचन के विरुद्ध किसी बात को नहीं माने। भले सारा जगत् कुछ भी माने और तुम अकेले पड़ जाओ तो भी जिनधर्म की श्रद्धा नहीं छोड़ना चाहिए। सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं की देव-गुरु-धर्म के प्रति मूढ़ता नहीं होती उन्हें वीतरागी देव, निर्ग्रन्थ गुरु एवं दयामय धर्म का यथार्थ निर्णय होता है।

सम्यक्त्व का पाँचवा अंग [उपगूहन]

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं :-

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।233

यथार्थ:-

जो सिद्ध भक्ति युक्त हैं सब धर्म का गोपन करें।
वे आत्मा गोपन करी सद्दृष्टि हैं यह जानना।।

जो जीव सिद्धों की शुद्धात्मा की शक्ति से युक्त हैं और पर वस्तुओं के सर्व धर्मों को गोपने वाला है अर्थात् रागादि पर भावों से युक्त नहीं होता उसको को उपगूहन करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

रत्नकरण्डश्रा० में आचार्य संमतभद्र कहते है:-

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य, बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति, तद्वदन्त्युपगूहनम्।।

रत्नत्रय स्वयं शुद्ध-निर्दोष है, यदि रत्नत्रय स्वरूप उस मोक्षमार्ग में अज्ञानी और असमर्थ पुरुषों के द्वारा कोई निन्दा आदि दोष लगाया जाय तो उसका निराकरण करना उपगूहन अंग है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं:-

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्॥

उपगूहन नामक गुण के लिए [उपगूहन का अर्थ छिपाना है।] मार्दव, क्षमा, सन्तोष भावनाओं से निरन्तर अपने आत्मा के धर्म की अर्थात् शुद्ध स्वभाव की वृद्धि करना चाहिए और दूसरों के दोषों को गुप्त भी रखना चाहिए।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में आचार्य कार्तिकेय कहते हैं:-

जो परदोस गोवदि, णियसुकयं जो ण पयडदे लोए।
भवियव्वभावणरओ, उवगूहणकारओ सो हु॥१९॥

जो सम्यग्दृष्टि दूसरे के दोषों को छिपाता है। अपने सुकृत (पुण्य) को लोक में प्रकाशित नहीं करता फिरता है, ऐसी भावनाओं में लीन रहता है कि जो भवितव्य है वही होता है तथा होगा वह उपगूहन गुण करने वाला है।

[जिन-भक्त सेठ की कहानी]

स्वयं शुद्ध जो सत्यमार्ग है, उत्तम सुख देने वाला।
अज्ञानी असमर्थ मनुज-कृत, उसकी हो निन्दा माला॥
उसे तोड़कर दूर फेंकना, 'उपगूहन' हैं पंचम अंग।
इसे पाल निर्मल यश पाया, सेठ 'जिनेन्द्र भक्त' सुख अंग॥

पादलिप्त नगर में एक सेठ रहता था, वह महान जिनभक्त था, सम्यक्त्व का धारक था और धर्मात्माओं के गुणों की वृद्धि तथा दोषों का उपगूहन करने के लिए प्रसिद्ध था। पुण्य-प्रताप से वह बहुत वैभव-सम्पन्न था उसका सात मंजिल का महल था वहाँ सबसे ऊपर के भाग में उसने एक अद्भुत चैत्यालय बनाया था। उसमें बहुमूल्य रत्न से बनाई हुई भगवान पार्श्वनाथ की मनोहर मूर्ति थी, उसके ऊपर रत्न जड़ित तीन छत्र थे, उनमें एक नीलम रत्न बहुत ही कीमती था जो अन्धेरे में भी जगमगाता था।

उस समय सौराष्ट्र के पाटलीपुत्र नगर का राजकुमार सुवीर कुसंगति में दुराचारी तथा चोर हो गया था वह एक बार सेठ के जिनमंदिर में गया वहाँ उसका मन ललचाया-भगवान की भक्ति के कारण नहीं, बल्कि कीमती नीलम रत्न की चोरी के भाव से।

उसने चोरों की सभा में घोषणा की-जो कोई उस जिनभक्त सेठ के महल से कीमती रत्न लेकर आयेगा उसे बड़ा इनाम मिलेगा।"

सूर्य नामक एक चोर उसके लिए तैयार हो गया उसने कहा– "अरे, इन्द्र के मुकुट में लगा हुआ रत्न भी में क्षण भर में लाकर दे सकता हूँ तो वह कौनसी बड़ी बात है?

महल से उस रत्न की चोरी करना कोई सरल बात नहीं थी। वह चोर किसी भी तरह से वहाँ पहुँच नहीं सका इसलिए अन्त में एक त्यागी ब्रह्मचारी का कपटी वेश धारण करके वह उस सेठ के यहाँ पहुँचा उस त्यागी बने चोर में वक्तृत्व की अच्छी कला थी, जिस किसी से वह बात करता उसे अपनी तरफ आकर्षित कर लेता, उसी तरह व्रत उपवास इत्यादि को दिखा-दिखाकर लोगों में उसने प्रसिद्धि भी पा ली थी तथा उसे धर्मात्मा समझ कर जिनभक्त सेठ ने स्वयं चैत्यालय की देखरेख का काम उसे सौंप दिया।

सूर्य चोर तो उस नीलम मणि को देखते ही आनन्द विभोर हो गया और विचार करने लगा–"कब मौका मिले और कब इसे लेकर भाँगू? इन्ही दिनों सेठ को बाहर गाँव जाना था। इसलिए उस बनावटी ब्रह्मचारी श्रावक से चैत्यालय संभालने के बारे में कहकर सेठ चले गये जब रात होने लगी तो गाँव से थोड़ी दूर जाकर उन्होंने पड़ाव डाला।

रात हो गई। सूर्य चोर उठा। नीलम मणिरत्न को जेब में रखा और भागने लगा, परन्तु नीलम मणि का प्रकाश छिपा नहीं वह अन्धेरे में भी जगमगाता था। इससे चौकीदारों को शंका हुई और उसे पकड़ने के लिए वे उसके पीछे दौड़ पड़े। "अरे मन्दिर के नीलम मणि की चोरी करके चोर भाग रहा है। पकड़ो-पकड़ो - पकड़ो" चारों ओर सिपाहियों ने हल्ला मचा दिया।

इधर सूर्य चोर को भागने का कोई मार्ग नहीं रहा इसलिए वह तो जहाँ जिनभक्त सेठ का पडाव था, वहीं पर घुस गया चौकीदार चिल्लाते हुए चोर को पकड़ने के लिए पीछे से आये। सेठ सब कुछ समझ गया।

"लेकिन त्यागी के रूप में प्रसिद्ध यह मनुष्य चोर है। ऐसा लोगों में प्रसिद्ध हुआ तो धर्म की बहुत निन्दा होगी" ऐसा विचार कर बुद्धिमान सेठ ने चौकीदारों को रोक कर कहा–"अरे। तुम लोग यह क्या कर रहे हो? यह कोई चोर नहीं है। यह तो धर्मात्मा है। नीलमणि लाने के लिए तो मैंने उसे कहा था, तुम गलती से इसे चोर समझकर तंग कर रहे हो।" सेठ की बात सुनकर लोग चुपचाप वापिस चले गये। इस तरह एक दुष्ट मनुष्य की भूल के कारण होने वाली धर्म की बदनामी बच गयी। इसे ही उपगूहन अंग कहते है।

जिस तरह माता इच्छा करती है कि मेरा पुत्र उत्तम गुणवान हो फिर भी यदि पुत्र में कोई छोटा-बड़ा दोष देखकर वह उसे प्रसिद्ध नहीं करती परन्तु ऐसा उपाय करती है कि उसके गुण

की वृद्धि हो उसी प्रकार धर्मात्मा के भी धर्म में कोई अपवाद हो, तो ऐसा कार्य नहीं करते परन्तु धर्म की प्रभावना हो, वही करते हैं यदि कभी कोई गुणवान धर्मात्मा में कदाचित् दोष आ जाय उसे गौण करके उसके गुणों को मुख्य करते हैं और एकान्त में बुलाकर उसे प्रेम से समझाते हैं, जिससे उसका दोष दूर हो तो धर्म की शोभा बढ़े।

उसी प्रकार यहाँ जब सभी लोग चले गये, बाद में जिनभक्त सेठ ने भी उस सूर्य नामक चोर को एकान्त में बुला लिया और कहा– "भाई! ऐसा पाप कार्य तुम्हें शोभा नहीं देता। विचार तो कर कि तू यदि पकड़ा जाता तो कितना दुख भोगना पड़ता तथा इससे जैनधर्म की भी कितनी बदनामी होती। लोग कहते हैं कि जैनधर्म के त्यागी ब्रह्मचारी भी चोरी करते हैं। इसलिए इस धन्धे को तू छोड़ दे।" वह चोर भी सेठ के ऐसे उत्तम व्यवहार से प्रभावित हुआ और स्वयं के अपराध की क्षमा माँगते हुए उसने कहा "सेठ जी! आपने ही मुझे बचाया है, आप जैनधर्म के सच्चे भक्त हो। लोगों के समक्ष आपने मुझे सज्जन धर्मात्मा कर पहचान करायी, अतः मैं भी चोरी छोड़कर सच्चा धर्मात्मा बनने का प्रयत्न करूँगा। सच में जैनधर्म महान् है और आप जैसे सम्यग्दृष्टि जीवों को ही वह शोभा देता है।" इस प्रकार उस सेठ के उपगूहन गुण से धर्म की प्रभावना हुई।

सम्यक्त्व का छठा अंग (स्थितिकरण)

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते है:-

उम्मग्गं गच्छतं संग पि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।234
उन्मार्गत निजभाव को लावें स्वयं सन्मार्ग में।
वे आत्मा थितिकरण सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना।।

जो चेतियता उन्मार्ग में जाते हुए अपनी आत्मा को भी सन्मार्ग में स्थापित करता है, उसे स्थितिकरण युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समंतभद्र कहते हैं:-

दर्शनाचरणाद्वापि, चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते।।16

सम्यग्दर्शन से अथवा सम्यग्चारित्र से भी डिगते हुए जीवों को धर्म प्रेम रखने वाले जीवों के द्वारा फिर से उसी में लगा देना, स्थितिकरण के ज्ञाता विद्वानों द्वारा स्थितिकरण अंग कहा गया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कहते है :-

कामक्रोधमदादिसु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्राम्।।

काम, क्रोध, मदादि विकार न्यायमार्ग से अर्थात् धर्म मार्ग से विचलित करने के लिए प्रगट हुए हों तब शास्त्रानुसार अपनी और पर की स्थिरता भी करनी चाहिए।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आचार्य कार्तिकेय कहते हैं:

जो धर्म से चलायमान होते हुए दूसरे को धर्म में स्थापित करता है और उस आत्मा को भी दृढ़ करता है उसके निश्चय से स्थितिकरण गुण होता है।

मुनि वारिषेण की कहानी

सद्दर्शन से, सदाचरण से, विचलित होते है जो जन।
धर्म-प्रेम वश उन्हें करें फिर, सुस्थिर देकर तन-मन-धन
स्थितिकरण नामक यह छट्ठा, अंग धर्म द्योतक प्रियवर।
'वारिषेण' श्रेणिक का बेटा, ख्यात हुआ चल कर इस पर।।

भगवान महावीर के समय में राजगृही नगरी में राजा श्रेणिक का राज्य था। उनकी महारानी का नाम चेलना था उनका पुत्र वारिषेण था। राजकुमार वारिषेण की अत्यन्त सुन्दर 32 रानियाँ थी। इतना होने पर भी वह वैरागी था और उसे आत्मा का ज्ञान था।

राजकुमार वारिषेण एक समय उद्यान में ध्यान कर रहे थे उधर से ही विद्युत नामक चोर एक कीमती हार की चोरी करके भाग रहा था। उसके पीछे सिपाही लगे थे। पकड़े जाने के भय से हार को वारिषेण के पैर के पास फेंककर वह चोर एक तरफ छिप गया। इधर राजकुमार को ही चोर समझकर राजा ने उसे फाँसी की सजा दी परन्तु जैसे ही जल्लाद ने उस पर तलवार चलाई, वैसे ही उस वारिषेण के गले में तलवार के बदले फूल की माला बन गई। ऐसा होने पर भी राजकुमार वारिषेण ध्यान में ही मग्न थे। ऐसा चमत्कार देखकर चोर को पश्चात्ताप हुआ। उसने राजा से कहा- असली चोर तो मैं हूँ यह राजकुमार निर्दोष है।"

यह बात सुनकर राजा ने राजकुमार से क्षमा माँगी और उसे राजमहल में चलने को कहा, परन्तु इस घटना से राजकुमार वारिषेण के वैराग्य में वृद्धि हुई और दृढ़ता पूर्वक उन्होंने कहा- "पिताजी, यह संसार असार है अब राजपाट में मेरा चित्त नहीं लगता, मेरा चित्त तो एक चैतन्य स्वरूप आत्मा को साधने में ही लग रहा है। इसलिए अब तो मैं दीक्षा लेकर मुनि बनूँगा।" ऐसा कहकर वे तुरन्त ही जंगल में आचार्य भगवन्त के पास गए और दीक्षा ले ली।

राज्य के मन्त्री का पुत्र जिसका नाम पुष्पडाल था, बचपन से ही वारिषेण का मित्र था। उसकी शादी अभी-अभी हुई थी। एक बार वारिषेण मुनि विहार करते-करते पुष्पडाल के गाँव पहुँचे। पुष्पडाल ने उन्हें विधिपूर्वक आहारदान दिया। इस समय अपने पूर्व मित्र को धर्म बोध देने की भावना उन मुनिराज को उत्पन्न हुई।

आहार के पश्चात् मुनिराज वन की ओर जाने लगे। विनय से पुष्पडाल भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा। कुछ समय चलने पर पुष्पडाल के मन में विचार आया कि गाँव तो अब पीछे छूट गया है और वन भी आ गया है। मुनिराज मुझे रुकने को कहेगें तो मैं अपने घर वापस चला जाऊँगा, परन्तु मुनि महाराज दूर ही दूर चले जा रहे थे। मित्र को वापस जाने को उन्होंने कहा ही नहीं। पुष्पडाल को घर जाने की आकुलता होने लगी। उसने मुनिराज को याद दिलाया और कहा-हे महाराज, जब हम छोटे थे तब इस तालाब पर आते थे और आम के पेड़ के नीचे साथ-साथ खेलते थे, वह पेड़ गाँव से दो-तीन मील की दूरी पर है। हम गाँव से बहुत दूर आ गये हैं। यह सुनकर भी वारिषेण मुनि ने उसे रुक जाने को नहीं कहा। अहो, परम हितैषी मुनिराज मोक्ष का मार्ग छोड़कर संसार में जाने को क्यों कहेगें? उन्हें ऐसा लग रहा था कि मेरा मित्र मोक्ष के मार्ग में मेरे साथ चलें।

अहा, मानो अपने पीछे-पीछे चलने वाले को मोक्ष में ही ले जा रहे हों - ऐसी परम निस्पृहता से मुनि तो आगे ही आगे चल रहे थे पुष्पडाल भी शर्म के मारे उनके पीछे-पीछे चल रहा था। अन्त में वे आचार्य महाराज के पास आ पहुँचे। वारिषेण मुनि ने उनसे कहा "प्रभो। यह मेरा पूर्व मित्र है और संसार से विरक्त होकर आपके पास दीक्षा लेने आया है।" आचार्य महाराज ने उसे निकट-भव्य जानकर दीक्षा दी। सच्चा मित्र तो वही है तो जीव को भव समुद्र से पार उतारे।

अब मित्र के अनुग्रह वश पुष्पडाल भी मुनि हो गए और बाहर में मुनि के योग्य क्रिया करने लग गये थे परन्तु उनका चित्त अभी संसार से छूटा नहीं था। प्रत्येक क्रिया करते समय उन्हें अपने घर की याद आती थी सामायिक करते समय उन्हें बारम्बार पत्नि की स्मृति आती रहती थी। वारिषेण मुनि उनके मन को स्थिर करने के लिए उनके साथ में ही रहकर उन्हें बारम्बार उत्तम ज्ञान वैराग्य का उपदेश देते थे, परन्तु अभी उनका मन धर्म से स्थिर हुआ नहीं था। ऐसा करते करते बारह वर्ष बीत गये।

एक बार वे दोनों मुनि, भगवान महावीर के समवशरण में बैठे थे। वहाँ इन्द्र प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं, हे नाथ, यह राजभूमि अनाथ होकर आप के विरह में तरस रही है और उसके आँसू नदी के रूप में बह रहे हैं। अहा! इन्द्र ने तो भगवान के वैराग्य की स्तुति की, पर जिसका चित्त अभी वैराग्य में पूरी तरह लगा नहीं था- ऐसे पुष्पडाल मुनि को तो यह बात सुनकर ऐसा लगा अरे! मेरी पत्नि भी इस भूमि की तरह बारह वर्ष से मेरे बिना तरस रही होगी और दुखी हो रही होगी। मैंने बारह वर्ष से उसका मुँह तक देखा नहीं, मुझे भी उसके बिना चैन पड़ता नहीं। इसलिए चलकर उससे बात कर आयेंगे। कुछ समय उसके साथ रहकर बाद में फिर से दीक्षा ले लेंगे। ऐसा विचार करके पुष्पडाल तो किसी को कहे बिना ही घर की तरफ जाने लगे। वारिषेण

मुनि उनकी स्थिति समझ गये उनके हृदय मे मित्र के प्रति धर्म-वात्सल्य जागा और किसी भी तरह उनको धर्म में स्थिर करना चाहिए ऐसा विचार करके उनके साथ चलने लगे।

मित्र सहित मुनि बने राजकुमार को राजमहल की ओर आते हुए देखकर चेलना रानी को आश्चर्य हुआ क्या वारिषेण मुनिदशा का पालन नहीं कर सके, इसलिए लौटकर आ रहे हैं? ऐसा उन्हें सन्देह हुआ। उनकी परीक्षा के लिए उन्होंने एक लकड़ी का आसन और दूसरा सोने का आसन रख दिया। परन्तु वैरागी वारिषेण मुनि तो वैराग्य पूर्वक लकड़ी के आसन पर ही बैठे, इससे चतुर चेलना रानी समझ गई कि राजकुमार का मन तो वैराग्य में दृढ़ है, अत: उनके आगमन में दूसरा ही कोई हेतु होना चाहिए।

वारिषेण मुनि के आते ही उनके गृहस्थाश्रम की बत्तीस रानियाँ भी दर्शन के लिए आयीं। राजमहल के अद्भुत वैभव और अत्यन्त सुन्दर उन रूप-यौवनाओं को देखकर पुष्पडाल को आश्चर्य हुआ। वे मन ही मन में सोचने लगे – अरे! ऐसा राग-वैभव और ऐसी 32 रानियाँ होने पर भी यह राजकुमार उनके सामने भी नहीं आता, उनको छोड़ने के बाद उन्हें याद भी नहीं करता और आत्मा को ही साधने में यह अपना चित्त लगाये रखता है। वाह, धन्य है यह! और मैं तो एक साधारण स्त्री का मोह भी मन से छोड़ नहीं सका। अरे रे! बारह वर्ष का मेरा साधु पद बेकार चला गया। तब वारिषेण मुनि ने पुष्पडाल से कहा-हे मित्र अब भी यदि तुम्हें संसार का मोह हो तो तू यही रह जा। इस सारे वैभव को भोग। अनादि काल से जिस संसार के भोगने पर भी तृप्ति नहीं हुई, उसे अब भी तू भोगना चाहता है तो ले यह सब तू भोग।" वारिषेण की बात सुनकर पुष्पडाल मुनि अत्यन्त शर्मिन्दा हुए, उनके आँखें खुल गई, उनकी आत्मा जागृत हो गई।

राजमाता चेलना भी अब सब कुछ समझ गई, और धर्म में स्थिर करने के लिए उन्होंने पुष्पडाल से कहा – अहो मुनिराज! आत्मा के धर्म को साधने का ऐसा अवसर बारबार नहीं मिलता। इसलिए अपना चित्त मोक्षमार्ग में लगाओ। यह संसार तो अनन्त बार भोग चुके हो, उसमें किचिंत् भी सुख नहीं है– इसलिए उससे ममत्व छोड़कर मुनिधर्म में अपना चित्त स्थिर करो।"

वारिषेण मुनिराज ने भी ज्ञान वैराग्य का बहुत उपदेश दिया और कहा हे मित्र, अब अपना चित्त आत्मा की आराधना में स्थिर कर और मेरे साथ मोक्षमार्ग में चल। तब पुष्पडाल ने सच्चे हृदय से कहा- प्रभो! आपने मुझे जिनधर्म से पतित होने से बचा लिया है और सच्चा उपदेश देकर मुझे मोक्षमार्ग में स्थिर किया है। सच्चे मित्र आप ही हो! आपने धर्म में मेरा स्थितिकरण करके महान उपकार किया है। अब मेरा मन इस संसार से और इन भोगों से सच में उदासीन हो गया है और आत्मा के रत्नत्रय धर्म आराधना में स्थिर हो गया है। स्वप्न में भी इस संसार की इच्छा नहीं रही, अब तो अन्तर में लीन आत्मा के चैतन्य-वैभव को साधूँगा।

इस प्रकार पश्चाताप करके पुष्पडाल फिर मुनिधर्म में स्थिर हो गये और दोनों मुनिवर वन की ओर चल दिये।

सम्यक्त्व का सातवाँ अंग (वात्सल्य)

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं:-

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्हि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।

पद्यार्थ

मुक्ति भगत साधुत्रय प्रति रखें वात्सल्य भाव जो।
वे आत्मा वत्सली सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना।।

जो (चेतयिता) मोक्षमार्ग में स्थित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी तीन साधकों [आचार्य-उपाध्याय-साधु] साधनों के प्रति वात्सल्य करता है। उसे वात्सल्य भाव से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। आगे आचार्य समंतभद्र कहते हैं:-

स्वयूथ्यान्प्रति सदभाव-सनाथपेतकैतवा।
प्रतिपत्ति-र्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते।।

- रत्नक०, 17

अपने साधर्मियों के प्रति सरलता सहित माया रहित, योग्य आदर सत्कार आदि करना वात्सल्य अंग कहलाता है।

मुनिश्री विष्णुकुमार की कहानी

प्रकट रही जो श्रेष्ठ भाव से यथायोग्य आदर सत्कार।
करना अपने सधर्मियों का, सप्तमांग "वात्सल्य" विचार।।
इसे पालकर प्रसिद्धि पाई मुनिवर श्रीयुत "विष्णुकुमार"।
जिनका यश शास्त्रों के भीतर, गाया निर्मल अपरम्पार।।

लाखों वर्ष पहले भगवान श्री मुनिसुव्रत नाथ के तीर्थ के समय की यह कहानी है। उज्जैन नगरी में उस समय राजा श्रीवर्मा राज्य करता था, उनके बलि इत्यादि चार मन्त्री थे। वे नास्तिक थे, उन्हें धर्म पर श्रद्धा नहीं थी। एक बार उस उज्जैन नगरी में सात सौ मुनियों के संघ सहित आचार्य श्री अकम्पन का आगमन हुआ। सभी नगरजन हर्ष से मुनिवरों के दर्शन करने गये। राजा भी मन्त्रियों आदि के साथ दर्शन करने गये। यद्यपि इन बलि आदि मिथ्यादृष्टि मन्त्रियों की जैन मुनियों पर श्रद्धा नहीं थी, फिर भी राजा की आज्ञा से वे भी साथ में गये।

राजा ने मुनिवरों को वन्दन किया, परन्तु ज्ञान ध्यान में तल्लीन मुनिवर तो मौन ही थे। उन मुनियों की ऐसी शान्ति और निस्पृहता देख कर राजा बहुत प्रभावित हुए परन्तु मन्त्री दुष्ट भाव से कहने लगे– "महाराज। इन जैन मुनियों को कोई ज्ञान नहीं है। इसलिए ये मौन रहने का ढोंग कर रहे हैं, क्योंकि 'मौनं मूर्खस्य लक्षणम्'।

इस प्रकार निन्दा करते हुऐ वे वापस जा रहे थे उसी समय श्री श्रुतसागर नाम के मुनि सामने से आ रहे थे उन्होंने मन्त्रियों की बात सुनी। मुनिसंघ की निन्दा उन्हें सहन नहीं हुई। इसलिए उन्होंने उन मन्त्रियों के साथ वाद-विवाद किया। रत्नत्रय धारक श्रुतसागर मुनिराज ने अनेकान्त सिद्धान्त के न्याय से मन्त्रियों की कुयुक्तियों का खण्डन करके उन्हें चुप करा दिया। दूसरों की मौनी कहकर खिल्ली उड़ाने वाले खुद मौन की साधना करने लगे।

इस प्रकार राजा की उपस्थिति में हार जाने से मन्त्रियों को अपना अपमान लगा। अपमान से क्रोधित होकर वे पापी मन्त्री रात्रि में मुनिराज को मारने के लिये गये। उन्होंने ध्यान में खड़े मुनिराज के ऊपर तलवार उठाकर जैसे मारने का प्रयत्न किया, वैसे ही अकस्मात् उनका हाथ खड़ा ही रह गया और पैर भी जमीन से चिपक गये। सुबह होने पर लोगों ने यह दृश्य देखा और राजा को चारों ही मन्त्रियों की दुष्टता की खबर मिली। तब राजा ने उनको गधे पर बैठाकर नगर के बाहर निकाल दिया। युद्ध कला में कुशल ऐसे वे बलि आदि मन्त्री भटकते-भटकते हस्तिनापुर नगरी पहुँचे और वहाँ के राजा के मन्त्री बनकर रहने लगे।

हस्तिनापुर भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरहनाथ-इन तीन तीर्थंकरों की जन्मभूमि है। यह कहानी जिस समय घटी, उस समय हस्तिनापुर में राजा पद्मराय राज्य करते थे। उनके एक भाई मुनि हो गये थे– उनका नाम था विष्णुकुमार। वे आत्मा के ज्ञान-ध्यान में मग्न रहते। उन्हें कुछ लब्धियाँ भी प्रगट हुई थी परन्तु उनका उस पर ध्यान नहीं था, उनका ध्यान तो आत्मा की केवलज्ञानलब्धि साधने पर था।

सिंहरथ नाम का एक राजा, इस हस्तिनापुर के राजा का शत्रु था और उन्हें बारबार परेशान करता रहता था। पद्मराय उसे अभी तक जीत नहीं सका था। अन्त में बलि मन्त्री की युक्ति से पद्मराय ने उसे जीत लिया। इसलिए खुश होकर राजा ने बलि को मुँह माँगा वरदान माँगने को कहा परन्तु बलि मन्त्री ने कहा– "हे राजन! जब आवश्यकता पड़ेगी तब यह वरदान माँग लूँगा।" इधर अकम्पन आदि सात सौ मुनि भी देश विदेश विहार करते हुए और भव्य जीवों को वीतराग धर्म समझाते हुए हस्तिनापुर नगरी पहुँचे। वहाँ अकम्पन इत्यादि मुनिवरों को देखकर बलि मन्त्री भय से काँप उठा– उसको डर लगा कि इन मुनियों के कारण हमारा उज्जैन का पाप अगर प्रगट हो गया तो यहाँ से भी राजा हमारा अपमान करके निकाल देगा। क्रोधित होकर अपने वैर का बदला लेने के लिए वे चारों मन्त्री विचार करने लगे।

अन्त में उन पापियों ने सभी मुनियों को जान से मारने की एक दुष्ट योजना बनाई। राजा से जो वरदान माँगना शेष था वह उन्होंने माँग लिया। उन्होंने कहा "महाराज हमें एक बहुत बड़ा यज्ञ करना है। इसलिए सात दिन के लिए आप अपना राज्य हमें सौंप दें। अपने वचन का पालन करके राजा ने उन्हें सात दिन के लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं राजमहल में जाकर रहने लगे।

बस राज्य हाथ में आते ही उन दुष्ट मन्त्रियों ने "नरबलियज्ञ" करने की घोषणा की और जहाँ मुनि विराजे थे, वहाँ चारों ओर से हिंसा के लिए पशु और दुर्गन्धित हड्डियाँ माँस, चमड़ी तथा लकड़ी के ढेर लगा दिये और उन्हें सुलगाने के लिए बड़ी आग जला दी। मुनियों के चारों ओर अग्नि की ज्वाला भड़की। मुनिवरों पर घोर उपसर्ग हुआ। लेकिन ये तो मोक्ष के साधक वीतरागी मुनि भगवन्त! अग्नि की ज्वाला के बीच में भी वे मुनिराज तो शान्ति से आत्मा के वीतरागी अमृतरस का पान करते रहे बाहर में भले ही अग्नि भड़की, परन्तु अपने अन्तर में उन्होंने क्रोधाग्नि जरा भी भड़कने नहीं दी। अग्नि की ज्वालायें धीरे-धीरे बढ़ने लगी। लोगों में चारों ओर हाहाकार मच गया। हस्तिनापुर के जैनसंघ को अपार चिन्ता होने लगी, मुनिवरों का उपसर्ग जब तक दूर नहीं होगा तब तक सभी श्रावकों ने खाना पीना त्याग दिया।

अरे मोक्ष को साधने वाले सात सौ मुनियों के ऊपर ऐसा घोर उपसर्ग देखकर भूमि भी फट गई, आकाश में श्रवण नक्षत्र मानों काँप रहा हो। यह सब एक क्षुल्लकजी ने देखा और उनके मुहँ से चीत्कार निकली। आचार्य महाराज ने भी निमित्त ज्ञान से जानकर कहा अरे। वहाँ हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों के संघ के ऊपर बलि राजा घोर उपसर्ग कर रहा है और उन मुनिवरों का जीवन संकट में है। क्षुल्लक जी ने पूछा - प्रभो इनको बचाने का कोई उपाय?

आचार्य ने कहा—हाँ विष्णुकुमार मुनि उनका उपसर्ग दूर कर सकते हैं, क्योंकि उन्हें ऐसी विक्रिया प्रकट हुई है, जिससे वे अपने शरीर का आकार जितना छोटा या बड़ा करना चाहें, उतना कर सकते हैं, परन्तु वे तो अपनी आत्मा में लीन हैं उन्हें अपनी लब्धि की खबर ही नहीं है और मुनियों के ऊपर आये उपसर्ग की भी खबर नहीं है।"

यह सुनकर क्षुल्लक जी के मन में उपसर्ग दूर करने हेतु विष्णुकुमार मुनि जी की सहायता लेने की बात आई। आचार्यश्री की आज्ञा लेकर वे क्षुल्लक जी तुरन्त ही विष्णुकुमार मुनि के पास आए, और उन्हें सम्पूर्ण वृतान्त बताकर प्रार्थना की– "हे नाथ! आप विक्रियालब्धि से यह उपसर्ग तुरन्त दूर करें।

यह बात सुनते ही विष्णुकुमार मुनि के अन्तरंग में सात सौ मुनियों के प्रति परम वात्सल्य उमड़ पडा। विक्रियालब्धि को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने अपना हाथ लम्बा किया तो मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त सम्पूर्ण मनुष्य लोक से वह लम्बा हो गया।

वे तुरन्त हस्तिनापुर आ पहुँचे और अपने भाई को– जो हस्तिनापुर के राजा थे, उनसे कहा –"अरे भाई! तेरे राज्य में यह कैसा अनर्थ? पद्मराय ने कहा– प्रभो! मैं लाचार हूँ, अभी राज सत्ता मेरे हाथ में नहीं है।"

उनसे सम्पूर्ण बात जानकर विष्णुकुमार मुनि ने सात सौ मुनियों की रक्षा हेतु अपना मुनित्व थोड़ी देर के लिए छोड़कर, एक बौने ब्राह्मण पण्डित का रूप धारण किया और बलि राजा के पास आकर अत्यंत मधुर स्वर में उत्तमोत्तम श्लोक बोलने लगे। बलि राजा उस वामन पण्डित का दिव्य रूप देखकर और मधुर वाणी सुनकर मुग्ध हो गया। "आपने पधार कर यज्ञ की शोभा बढ़ाई, ऐसा कहकर बलि राजा ने पण्डित का सम्मान किया और इच्छित वर माँगने को कहा।

अहो, अयाचक मुनिराज! जगत के नाथ!! वे आज स्वयं सात सौ मुनियों की रक्षा करने के लिये याचक बने! ऐसा है धर्म वात्सल्य!!

मूर्ख राजा को कहाँ मालूम था कि जिन्हें मैं याचना करने के लिए कह रहा हूँ वे ही हमारे अर्थात् धर्म के दातार हैं और हिंसा के घोर पाप से मेरा उद्धार करने वाले हैं।

उस ब्राह्मण वेषधारी विष्णुकुमार मुनि ने राजा से वचन लेकर तीन पग जमीन माँगी। राजा ने खुशी से वह जमीन नाप कर लेने को कहा।

बस हो गया! विष्णुकुमार का काम। विष्णुकुमार ने विराट रूप धारण किया। विष्णु का यह विराट रूप देखकर राजा तो चकित हो गया। उसे समझ ही नहीं आया कि यह क्या हो रहा है। विराट स्वरूप विष्णुकुमार ने एक पग सुमेरु पर्वत पर और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रखकर बलिराजा से कहा- अब तीसरा पग कहाँ रखूँ। तीसरा पग रखने की जगह दे, अन्यथा सिर पर पग रख कर तुझे पाताल में उतार दूँगा।

मुनिराज की ऐसी विक्रिया होने से चारों ओर खलबली मच गई सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मानो काँप उठा। देवों और मनुष्यों ने आकर विष्णुकुमार मुनिराज की स्तुति की और विक्रिया समेटने के लिए प्रार्थना की। बलि राजा आदि चारों मन्त्री मुनिराज के पैरों पर गिरकर गिड़गिड़ाने लगे, प्रभो! क्षमा करो। हमने आपको पहचाना नहीं।"

विष्णुकुमार मुनिराज ने क्षमाभाव पूर्वक उन्हें अहिंसा धर्म का स्वरूप समझाया तथा जैन मुनियों की वीतरागता की महिमा समझायी और आत्मा के हित का परम उपदेश दिया। उसे सुनकर उनका हृदय परिवर्तन हुआ और स्वयं क्षमा माँग कर उन्होंने आत्मा के हित का मार्ग अंगीकार किया। विष्णुकुमार की विक्रियालब्धि बलि आदि की धर्म-प्राप्ति का कारण बन गई। उन जीवों ने अपना परिणाम एक क्षण में पलट दिया। अरे! ऐसे शान्त वीतरागी मुनियों के ऊपर हमने इतना घोर उपसर्ग किया - धिक्कार है। ऐसे पश्चाताप पूर्वक उन्होंने जैनधर्म धारण किया।

इस प्रकार विष्णुकुमार मुनि ने बलि आदि का उद्धार किया और सात सौ मुनियों की रक्षा की।

चारों और जैनधर्म की जय जयकार गूँजने लगी। तत्काल हिंसक यज्ञ बन्द हो गया और मुनिवरों का उपसर्ग दूर हुआ। हजारों श्रावक परम भक्ति से सात सौ मुनिवरों की वैय्यावृति करने लगे। विष्णुकुमार ने स्वयं वहाँ जाकर मुनिवरों की वैय्यावृत्ति की और मुनिवरों ने भी विष्णुकुमार के वात्सल्य की प्रशंसा की।

उपसर्ग दूर होने पर मुनिसंघ आहार के लिए हस्तिनापुर नगरी में पहुँचा। हजारों श्रावको ने अतिशय भक्ति पूर्वक मुनियों को आहार दान दिया। उसके बाद उन श्रावकों ने स्वयं भोजन किया। देखो! श्रावकों का भी धर्म प्रेम धन्य है, धन्य है वे साधु।

जिस दिन यह घटना घटी उस दिन श्रावण शुक्ला पूर्णिमा का दिन था विष्णुकुमार मुनिराज से महान् वात्सल्य पूर्वक सात सौ मुनियों की तथा धर्म की रक्षा हुई। अत: वह दिन रक्षापर्व नाम से प्रसिद्ध हुआ, यह पर्व रक्षाबन्धन के नाम से आज भी मनाया जाता है।

मुनि रक्षा का अपना काम पूरा होने पर वामन पण्डित का वेष छोड़कर विष्णुकुमार ने फिर से मुनि दीक्षा लेकर मुनिधर्म धारण किया और ध्यान से अपने आत्मा को शुद्ध रत्नत्रय धर्म के साथ अभेद करके ऐसा वात्सल्य प्रगट किया कि अल्पकाल में ही उन्होंने केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष पद पाया।

सम्यक्त्व का आठवां अंग (प्रभावना)

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं:-

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।236
सद्ज्ञान रथ आरूढ हो जो भ्रमे मनरथ मार्ग में।
वे प्रभारक जिनमार्ग के सद्दृष्टि उनको जानना।।

जो (चेतयिता) विद्या रूपी रथ पर आरूढ हुआ। [चढ़ा हुआ] रथ के पथ में [ज्ञान रूपी रथ के चलने के मार्ग में] भ्रमण करता है वह जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समंतभद्र कहते हैं:-

अज्ञानतिमिर-व्याति- मपाकृत्य यथायथं।
जिनशासनमाहात्म्य - प्रकाश: स्यात्प्रभावना।।18।।

समुचित रीति से अज्ञान रूपी अंधकार के विस्तार को हटा कर जिनधर्म की महिमा फैलाना प्रभावना अंग कहलाता है।

आचार्य कार्तिकेय स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहते है।

जो दस-भेयं धम्मं भव्व-जणाणं पयासदे विमलं।
अप्पाणं पि पयासदि णाठोण पहावणा तस्स॥४२२॥

जो सम्यग्दृष्टि दस भेद रूप धर्म को भव्यजीवों के निकट अपने ज्ञान से निर्मल प्रगट करे तथा अपनी आत्मा को इस प्रकार के धर्म से प्रकाशित करे उसके प्रभावना गुण होता है।

मुनिश्री वज्रकुमार की कहानी

जैसे होवे वैसे भाई, दूर हटा जग का अज्ञान।
कर प्रकाश कर दे विनाश तम, फैला दे शुचि सच्चा ज्ञान॥
तन-मन-धन सर्वस्व भले ही, तेरा इसमें लग जावे।
'वज्र कुमार' मुनीन्द्र सदृश तू, तब "प्रभावना" कर पावे॥

अहिछत्रपुर राज्य में सोमदत्त नामक एक मन्त्री था। उसकी गर्भवती पत्नि को आम खाने की इच्छा हुई। उस समय आम पकने का मौसम नहीं था, फिर भी मन्त्री ने वन में जाकर ढूंढ़ा तो एक पेड़ पर एक सुन्दर आम झूलता हुआ दिखाई दिया उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उस पेड़ के नीचे एक वीतरागी मुनिराज ध्यानस्थ बैठे थे। शायद, उन्हीं के प्रभाव से उस पेड़ पर आम पक गया था।

मन्त्री ने भक्तिपूर्वक नमस्कार करके मुनि महाराज के सामने विनय पूर्वक हाथ जोड़कर निवेदन किया। तब मुनिराज ने उस मन्त्री को निकट भव्य जानकर धर्म का स्वरूप समझाया उसी समय अत्यन्त वैराग्य पूर्ण उपदेश सुनकर मन्त्री दीक्षा लेकर मुनि हो गये और वन में जाकर आत्म साधना करने लगे।

उस सोमदत्त मन्त्री की पत्नि ने यज्ञदत्त नामक पुत्र को जन्म दिया वह पुत्र को लेकर मुनिराज के पास आई। पर संसार से विरक्त मुनि महाराज ने उससे मिलने से इन्कार कर दिया। इससे क्रोधित होकर वह स्त्री बोली, अगर साधु बना था तो मुझसे शादी क्यों की? मेरा जीवन क्यों बिगाड़ा? अब इस पुत्र का पालन पोषण कौन करेगा? ऐसा कहकर उस बालक को वहीं छोड़कर वह चली गई। इस बालक का नाम वज्रकुमार था क्योंकि उसके हाथ पर वज्र का चिन्ह था। उसी समय दिवाकर नाम के विद्याधर राजा तीर्थयात्रा करने निकले थे जब मुनि महाराज को वन्दन करके जाने लगे तो उन्होंने गुफा के बाहर ही एक अत्यंत तेजस्वी सुन्दर बालक को पड़ा देखा विद्याधर राजा की रानी ने उस बालक को उठा लिया और उसे अपने साथ ले गये। उस वज्रकुमार

बालक का पुत्र जैसा लालन पालन वहाँ होने लगा। भाग्यवान जीवों को कोई न कोई निमित्त अवश्य मिलता है।

वज्रकुमार के युवा होने पर पवनवेगा नामक अत्यन्त सुन्दर विद्याधरी के साथ उनकी शादी हुई। अपने बल पर उसने अनेक राजाओं को जीत लिया। कुछ समय पश्चात् दिवाकर राजा की पत्नि के पुत्र हुआ। अपने इसी पुत्र को राज्य मिले- ऐसी इच्छा से उस स्त्री को वज्रकुमार के प्रति द्वेष होने लगा।

एक बार तो वह यहाँ तक कह गई। अरे! यह किसका पुत्र है? जो यहाँ आकर हमें परेशान कर रहा है। इस बात को सुनते ही वज्रकुमार का मन उदास हो गया। उसे ज्ञात हुआ कि उसके माता पिता कोई और हैं तब विद्याधर राजा से उसने सम्पूर्ण वास्तविकता जान ली, तब उसे ज्ञात हुआ कि उसके पिता दीक्षा लेकर मुनि हो गये हैं। तुरन्त ही वह विमान में बैठकर मुनिराज की खोज में निकल पड़ा।

कुछ समय पश्चात् जब वज्रकुमार का विमान एक पर्वत के ऊपर से जा रहा था तो उसने पर्वत की चोटी पर एक मुनिराज को ध्यान-साधना करते हुये देखा। उसने अपना विमान वहाँ उतारा तो देखता है कि वे सोमदत्त मुनिराज ही हैं। ध्यान में विराजमान सोमदत्त मुनिराज को देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। वज्रकुमार ने परम भक्ति से मुनिराज को वन्दन किया और कहा "हे पूज्य देव! मैं इस दुःख रूप संसार से घबराया हूँ। मैं जान गया हूँ कि इस संसार में आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं है। मैं सच्चे सुख की प्राप्ति करना चाहता हूँ। इसलिए आप मुझे मुनि-दीक्षा दीजिए। सोमदत्त मुनि ने उसे दीक्षा न लेने के लिए बहुत समझाया परन्तु वज्रकुमार ने अपना दृढ़ निश्चय किया था। उसे देखकर और उसे निकट भव्य जानकर मुनिराज ने उसे मुनि दीक्षा दे दी।

निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु बनकर वे आत्मा के ज्ञान-ध्यान में रहने लगे। धर्म की प्रभावना करते हुए वे देश-विदेश में विहार करने निकले। एक बार उनके प्रताप से मथुरा नगरी में धर्म प्रभावना का एक अनोखा प्रसंग बना।

मथुरा नगरी में एक गरीब अनाथ लड़की जूठन खाकर पेट भरती थी। उसे देखकर एक अवधिज्ञानी मुनि बोले- "देखो कर्म की विचित्रता। यह लड़की कुछ वर्षों पश्चात् राजा की पटरानी बनेगी। मुनि की यह बात एक बौद्ध भिक्षुक ने सुनी और वे उसे अपने मठ में ले गये। इस लड़की का नाम बुद्धदासी रखकर वहीं उसका लालन पालन होने लगा। उसे बौद्धधर्म के संस्कार मिले। आगे चलकर जब वह युवा हुई। तब उसका अत्यन्त सुन्दर रूप देखकर राजा

मोहित हो गया और उसने उससे शादी की माँग की परन्तु इस राजा की उर्मिला नाम की रानी थी। जो जिनधर्म का पालन करती थी। तब मठ के लोगों ने कहा– राजा स्वयं बौद्धधर्म स्वीकार करें और बुद्धदासी को पटरानी बनाये। इस शर्त पर ही हम शादी करने की स्वीकृति देगें" कामान्ध राजा ने बिना सोचे समझे ही यह बात स्वीकार कर ली। अरे धिक्कार हो इन पचेंन्द्रियों के विषयों को। कामान्ध जीव सच्चे धर्म से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। एक दिन बुद्धदासी राजा की पटरानी बन गई वह बौद्धधर्म का बहुत प्रचार करने लगी।

इधर उर्मिला रानी जिनधर्म की परम भक्त थी उसने हर वर्ष की भाँति इस वर्ष भी अष्टाह्निका पर्व में जिनेन्द्र भगवान की विशाल अद्‌भुत शोभायात्रा निकालने की तैयारी की, परन्तु बुद्धदासी को यह सहन नहीं हुआ। उसने राजा से कहकर रथयात्रा स्थगित करवा दी और बौद्धों की रथयात्रा पहले निकलवाने को कहा। अरे जिनधर्म की परम महिमा की, इसे कैसे खबर हो?

जिनेन्द्र भगवान की रथयात्रा में विघ्न होने पर उर्मिला को बहुत दुःख हुआ और रथयात्रा नहीं निकलने से उसने अनशन व्रत धारण करके वन में जाकर सोमदत्त तथा वज्रकुमार मुनियों के सानिध्य में शरण ली। उसने मुनिवरों से प्रार्थना की कि वे जिनधर्म पर आये हुये इस संकट का निवारण करें। रानी की बात सुनकर वज्रकुमार मुनिराज के अन्तर में धर्मप्रभावना का भाव उल्लसित हुआ। इसी समय विद्याधर राजा दिवाकर अपने विद्याधरों सहित वहाँ मुनियों के दर्शन वन्दन करने आये वज्रकुमार मुनि ने कहा– राजन्! आप जैनधर्म के परम भक्त हैं और धर्म के ऊपर मथुरा नगरी में संकट आया है वह दूर करने में आप समर्थ हैं। धर्मात्माओं को धर्म की प्रभावना का उत्साह होता है। तन से, मन से, धन से, शास्त्र से, ज्ञान से, विद्या से, सर्व प्रकार से वे जिनधर्म की वृद्धि करते हैं और धर्मात्माओं का कष्ट निवारण करते हैं।

दिवाकर राजा को धर्म का प्रेम तो था ही मुनिराज के उपदेश से उसे और भी प्रेरणा मिली, मुनिराज को नमस्कार करके तुरन्त ही उर्मिला रानी के साथ सभी विद्याधर मथुरा नगरी आ पहुँचे। उन्होंने जोर शोर से तैयारी के साथ बड़ी धूमधाम से जिनेन्द्र भगवान की शोभायात्रा निकाली। हजारों विद्याधरों के प्रभाव को देखकर राजा और बुद्धदासी भी आश्चर्य चकित हो गये और जिनधर्म से प्रभावित होकर आनन्द पूर्वक उन्होंने जैनधर्म स्वीकार करके अपना कल्याण किया तथा सत्यधर्म की प्रेरणा के लिए उर्मिला रानी का उपकार माना। उर्मिला रानी ने उन्हें जिनधर्म के वीतरागी देव-गुरु के अपार महिमा समझाई। मथुरा नगरी के हजारों जीव भी ऐसी महान् धर्म प्रभावना देखकर आनन्दित हुऐ। और बहुमान पूर्वक जिनधर्म की उपासना करने लगे। इस प्रकार वज्रकुमार मुनि और उर्मिला रानी द्वारा जिनधर्म की महान प्रभावना हुई।

सप्तम अध्याय : सम्यग्ज्ञान

जिन्होंने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है ऐसे आत्म हितकर पुरुषों को सदैव जिनागम की परम्परा और युक्ति अर्थात् प्रमाणनय के अनुयोग से विचार करके प्रयत्न पूर्वक सम्यग्ज्ञान का भली प्रकार से सेवन करना योग्य है, सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न होने पर भी सम्यग्ज्ञान की पृथक आराधना करना कल्याण कारी है, कारण कि इन दोनों में अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में लक्षण के भेद से भिन्नता संभव है।

जो पदार्थ का स्वरूप जिनागम की परम्परा से मिलता हो उसको प्रमाण और नय से अपने उपयोग में ठीक करके यथावत् जानने को ही सम्यग्ज्ञान का सेवन करना कहा जाता है। उस प्रमाण-नय का स्वरूप किंचिन्मात्र बताते हैं।

प्रमाण का स्वरूप और भेद

प्रमाण सम्यग्ज्ञान को कहते हैं। वह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं– जो ज्ञान केवल आत्मा के ही आधीन होकर अपने विषय प्रमाण विशदता से स्पष्ट जाने, उसे **पारमार्थिक प्रत्यक्ष** कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान तो एकदेश प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान **सर्वदेश प्रत्यक्ष** है तथा जो नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा वर्णादिक को साक्षात् ग्रहण करें अर्थात् जाने उसे **सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष** कहते हैं। परमार्थ से यह जानना परोक्ष ही है; कारण कि स्पष्ट जानना नहीं है। उसका उदाहरण– जैसे आँख से किसी वस्तु को सफेद जाना उसमें मलिनता का भी मिश्रण है। अमुक अंश श्वेत है और अमुक मलिन है ऐसा उसे स्पष्ट प्रतिभासित नहीं होता, अतः यह व्यवहार मात्र प्रत्यक्ष है, पर आचार्य इसे परोक्ष ही कहते हैं। मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान से जो जानना होता है वह सब परोक्ष कहलाता है।

परोक्ष प्रमाण– जो ज्ञान अपने विषय को स्पष्ट न जाने, उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं। स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आगम ये पाँच भेद जानना।

1. **स्मृतिः**- पूर्व में जिस पदार्थ को जाना या उसे ही याद करते कालान्तर में जान लेने को स्मृति कहते हैं।

2. **प्रत्यभिज्ञानः**- जैसे पहले किसी पुरुष को देखा था फिर बाद में याद किया कि यह तो वही पुरुष है, जिसे मैंने पहले देखा था। जो पहले की बात याद करके प्रत्यक्ष पदार्थ का निश्चय करे उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे पहले यह सुना था कि नीलगाय नामक गाय जैसा होता है। वहाँ कदाचित् वन में नीलगाय को देखा, तो यह याद आ गई कि जैसी नीलगाय होती है ऐसा पहले सुना था, वह नील गाय पशु यही है।

3. **तर्क:**– व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। इसके बिना यह नहीं इसे व्याप्ति कहते है। जिस तरह अग्नि के बिना धुँआ नहीं होता, आत्मा के बिना चेतन नहीं होता। इस व्याप्ति के ज्ञान को ही तर्क कहते हैं।

4. **अनुमान:**– लक्षण के द्वारा पदार्थ का निश्चय किया जाय, उसे अनुमान कहते है। जैसे किसी पर्वत में धुँआ देखकर निश्चय करना कि यहाँ अग्नि है।

5. **आगम:**– आप्त के वचन के निमित्त से पदार्थ के जानने को आगम कहते हैं। जैस शास्त्र से लोक का स्वरूप जानना।

इस प्रकार परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद जानने चाहिए :-

नय का स्वरूप और भेद

श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश को नय कहते हैं। प्रमाण से जो पदार्थ जाना था, उस पदार्थ का उसके एक धर्म की मुख्यता से जो अनुभव कराये उसे नय कहते हैं। उसके दो भेद हैं – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जो द्रव्य को मुख्य करके अनुभव कराये वह द्रव्यार्थिक नय है।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद -

1. **नैगमनय:**- संकल्प मात्र से पदार्थ के ग्रहण करने-जानने को नैगमनय कहते हैं जैसे कठौती बनाने के लिए कोई लकड़ी लेने जा रहा था, उससे किसी ने पूछा कि "तुम कहाँ जा रहे हो?" तब उसने उत्तर दिया कि "मैं कठौती लेने जा रहा हूँ। जहाँ वह जा रहा है, वहाँ कठौती तो नहीं मिलेगी; परन्तु उसके विचार में है कि मैं लकड़ी लाकर कठौती बनाऊँगा।

2. **संग्रहनय:**– सामान्य रूप से पदार्थों के ग्रहण को संग्रह नय कहते है। जैसे छह जाति के समस्त द्रव्य सत्ता लक्षण संयुक्त हैं। इन छह द्रव्यों के समूह को द्रव्य संज्ञा द्वारा अथवा लक्षण द्वारा जानना इस नय का प्रयोजन है।

3. **व्यवहारनय:**– सामान्य रूप से (संग्रह-नय से) जाने हुए द्रव्य के विशेष (भेद) करने को व्यवहार नय कहते हैं। जैसे द्रव्य के छः भेद करना इस प्रकार यह तीन भेद द्रव्यार्थिक नय के बताये हैं।

पर्यायार्थिक नय के चार भेद-

1. **ऋजूसूत्रनय:**- जो वर्तमान पर्याय मात्र को जानता है उसे ऋजूसूत्रनय कहते हैं।

2. **शब्दनय:**- व्याकरणादि के अनुसार शब्द की अशुद्धता को दूर करना शब्द नय है।

3. **समभिरुढ़नय:**– पदार्थ में मुख्यतया एक अर्थ के आरुढ़ करने को समभिरुढ़नय कहते

हैं। जैसे "गच्छतीति गौ:" के अनुसार जो चले वही गौ होती है, परन्तु यहाँ बैठी हुई को भी गौ कह देते हैं।

4. **एवंभूतनय:–** जो वर्तमान क्रिया जैसी हो उसी के अनुसार वैसा ही कहना एवंभूतनय है। जैसे चलती हुई को गौ कहना, सोती हुयी, बैठी हुयी को गौ न कहना। इस प्रकार नय के भेद जानना चाहिए।

इनमें शब्दनय, समभिरुढ़नय तथा एवंभूतनय को शब्द नय कहते हैं। इस प्रमाण नय के संयोग को युक्ति कहते हैं। "नयप्रमाणाभ्यां युक्ति इति वचनात्।" यहाँ पर प्रमाण नय का थोड़ा सा कथन इसलिए कर दिया है कि प्रमाण-नय बिना पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

"प्रमाणनयैरधिगम:" त॰ सू–1/16

जिस समय आत्मा को सम्यग्दर्शन होता है उस समय मति और श्रुतज्ञान तो अवश्य होता ही है परन्तु इस सम्यग्ज्ञान की विशेष रूप से पृथक आराधना करना योग्य है। किसलिए? यत: लक्षण भेदेन अनयो: नानात्वं संभवति।' कारण कि लक्षण भेद से इन दोनों में भिन्नत्व सम्भव है। सम्यक्त्व का लक्षण यथार्थ श्रद्धान है और इसका (ज्ञान का) लक्षण यथार्थ जानना है इस लिए इसे पृथक कहा है।

आगे सम्यक्त्व के पश्चात् ज्ञान कहने का कारण बताते है-

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वकारणं वदन्ति जिना:।
सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्।।

जिनेन्द्र देव सम्यग्ज्ञान को कार्य और सम्यक्त्व को कारण कहते हैं इसलिए सम्यक्त्व के बाद तुरन्त ही ज्ञान की आराधना योग्य है।

मतिज्ञान-श्रुतज्ञान पदार्थ को तो जानते थे, परन्तु सम्यक्त्व के बिना उनकी संज्ञा कुमतिज्ञान और कुश्रुत ज्ञान थी, परन्तु सम्यकपना तो सम्यक्त्व से ही हुआ। इसलिए सम्यक्त्व तो कारण रूप है, सम्यक्त्व कार्य रूप है 'तस्मात् सम्यक्त्वानन्तरं ज्ञानाराधनं इष्टम्' इसलिए सम्यक्त्व के बाद ही ज्ञानाराधना योग्य है, क्योंकि कारण से ही कार्य होता है।

प्रश्न-कारण-कार्य तो तब कहा जाये जब आगे-पीछे हो (ये तो दोनों युगपत् हैं फिर इनमें कारण कार्यत्व किस तरह संभव है) इसका उत्तर आगे कहते हैं-

कारणकार्यं विधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिति सम्यक्त्वज्ञानयो: सुघटम्।।

निश्चय से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एक समय में उत्पन्न होने पर भी दीपक और प्रकाश की तरह कारण और कार्य की विधि भली प्रकार घटित होती है।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण -

कर्तव्योऽध्यवसायसदनेकान्तात्मेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्यानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्॥

प्रशस्त अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभाव वाले तत्त्वों तथा पदार्थों में निर्णय करने योग्य है और वह सम्यग्ज्ञान संशय, विपर्यय और विमोह रहित आत्मा का निज स्वरूप है।

पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है वह पदार्थ अनेकान्त स्वभाव को धारण करता है। अनेक का अर्थ बहुत एवं अन्त का अर्थ धर्म होता है। इस प्रकार अपने अनन्त धर्म स्वभाव को धारण करने वाले का ज्ञान अवश्य करना चाहिए। जो सम्यक्प्रकार से वस्तु को पहचान लेता है वह करोड़ों कारण मिलने पर भी अश्रद्धानी नहीं होता। 'तत् आत्मरूप वर्तते - यह सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, क्योंकि जो यह सच्चा ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह केवलज्ञान में मिलकर शाश्वत रहेगा। कैसा है ज्ञान? संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तम्' संशय, विपर्यय और विमोह इन तीनों भावों से रहित है।

संशय:- विरुद्ध दो तरफा ज्ञान को संशय ज्ञान कहते हैं। जैसे रात में किसी को देखते संदेह हुआ कि यह पदार्थ मनुष्य जैसा भी प्रतिभासित होता है और व्यन्तर जैसा भी प्रतिभासित होता है।

विपर्यय:- अन्यथा (विपरीत) रूप एकतरफा ज्ञान को विपर्ययज्ञान कहते हैं। जैसे मनुष्य में व्यन्तर की प्रतीति कर लेना।

अनध्यवसाय:- "कुछ है" इतना ही जानना हो, विशेष विचार न करे उसे अनध्यवसाय (विमोह) कहते हैं। जैसे गमन करते समय तृण के स्पर्श का ज्ञान होना। इन तीनों भावों से रहित यथार्थज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यहाँ घटपटादि पदार्थों के विशेष जानने के निमित्त उद्यमी रहना नहीं बताया, अपितु संसार-मोक्ष के कारण भूत पदार्थों को यथार्थ जानने के लिए उद्यमी रहने का उपदेश दिया है।

प्रश्न:- सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में समानता होने पर भी एक का ज्ञान सम्यक् और दूसरे का मिथ्या क्यों कहलाता है?

उत्तर:- सम्यग्दृष्टि को मूलभूत जीवादि पदार्थों का वास्तविक ज्ञान है इसलिए जितने उत्तर पदार्थ (विशेष पदार्थ) जानने में आते हैं उन सब को यथार्थ रूप से साधता है, अत: सम्यग्दृष्टि

के ज्ञान को सम्यक्‌रूप कहा है। मिथ्यादृष्टि को मूल पदार्थों का वास्तविक ज्ञान नहीं है, इसलिए जितने उत्तर पदार्थ जानने में आते हैं, उन सबको भी अयथार्थ रूप से साधता है, अत: मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्यारूप कहा गया है।

सम्यग्ज्ञानी का महत्त्व

राणाकौसौ बाना लीनै आपा साधै थाना चीनै,
दानाअंगो नानारंगी खाना जंगी जोधा है।
मायाबोली जेती वेती रेतैं मैं धारेती रोती
फंदा ही कौ कंदा खोदे खेती कौसौ लोधा है॥
बाधा सेती हांता लोरैं राधा सेती, तांता जोरैं,
बांदी सेती नाना तोरै वादीकौसौ सोधा है॥
जानै जाही बाही नीकै मानै राही पाही पीकै,
दानै बातें हाही ऐसौ धारावाही बोधा है॥

भेदविज्ञानी ज्ञाता, राजा जैसा रूप बनाये हुए है। वह अपने आत्मरूप स्वदेश की रक्षा के लिए परिणामों को संभाल कर रखता है और आत्मसत्ता भूमिरूप स्थान को पहिचानता है, प्रशम, संवेग, अनुकंपा आदि की सेना सम्हालने में दाना अर्थात् प्रवीण होता है, साम, दाम, दंड और भेद आदि नीतियों में कुशल राजा के समान है, तप, समिति, तृप्ति, परीषहजय, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि अनेक रंग धारण करता है और कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने में बड़ा बहुदर होता है। मायारूपी जितना लोहा है, उन सबको चूर-चूर करने में रेती के समान है, कर्म के फंदेरूप बांस को जड़ से उखाड़ने के लिए किसान के समान है, कर्मबंध के दुखों से बचाने वाला है, सुमति राधिका से प्रीति जोड़ता है, कुमति रूप दासी से संबंध तोड़ता है, आत्मपदार्थ रूप चांदी को ग्रहण करने और पर पदार्थ रूप धूल को छोड़ने में रजत-सोधा (सुनार) के समान है, पदार्थ को जैसा जानता है वैसा ही मानता है। भाव यह है कि हेय को हेय जानता और हेय मानता है। उपादेय को उपादेय जानता और उपादेय मानता है; ऐसी उत्तम बातों का आराधक धाराप्रवाही ज्ञाता है।

सम्यग्ज्ञान के चार सोपान

1. **स्वाध्याय**
2. **नौ पदार्थों का जानना**
3. **स्वपर भेद ज्ञान**
4. **स्वसंवेदन ज्ञान**

सम्यग्ज्ञान का प्रथम सोपान : स्वाध्याय

प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय कौन से शास्त्र का करना चाहिए, आचार्य समंतभद्र कहते हैं:-

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य-मदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम्॥

-रत्नक. श्रा. 9

जो सच्चे देव का कहा हुआ हो, इन्द्रादिक से भी खण्डन रहित हो, प्रत्यक्ष व परोक्ष आदि प्रमाणों से निर्बाध, तत्त्वों का यथार्थ उपदेशक हो, सब का हितकारी और मिथ्यात्व आदि कुमार्ग का नाशक हो, उसे सच्चा शास्त्र कहते हैं।

ऐसे शास्त्र चार अनुयोगों में विभाजित किये गए हैं:-

1. प्रथमानुयोग, 2. करणानुयोग, 3. चरणानुयोग और, 4. द्रव्यानुयोग

प्रथमानुयोग का निम्न स्वरूप है

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं, चरितपुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं, बोधति बोधः समीचीनः॥

-रत्नकरण्ड, 43

प्रथमानुयोग में पुण्य और पापरूप अर्थ का कथन होता है। संसार से छूटने रूप मोक्ष का कथन होता है। उसमें पुण्य पुरुषों का चरित और कथाएं वर्णित की जाती हैं। जो रत्नत्रय एवं समाधि का निदान-कारण है ऐसा सम्यक् बोध प्रथमानुयोग को जानता है – बतलाता है।

प्रथमानुयोग एक अलंकार है अर्थात् इसमें बहुत आकर्षक रूप में वर्णन किया जाता है। इस अनुयोग के माध्यम से पौराणिक महापुरुषों के समूल जीवन चरित्र का पता लगता है। यदि स्वयं को वीतरागी बनाना है तो उन महापुरुषों को अपने जीवनमें आदर्श बनाना होगा, उनकी जीवन चर्या को समझकर अपनाना होगा। महापुरुषों का वर्णन करने वाले महान शास्त्र, महापुराण,

पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, उत्तर पुराण, और सभी कथानक शास्त्र प्रथमानुयोग के अन्तर्गत हैं। इन सभी शास्त्रों को हमें पढ़ना चाहिए।

प्रथमानुयोग एक ऐसा दर्पण है ऐसी कसौटी है जिसके द्वारा भटके हुए संसारी जीव को यह पता चलता है कि सूर्य के प्रकाश व जुगुनू के प्रकाश, स्वर्ण की चमक और पीतल की चमक में क्या अन्तर है, प्रथमानुयोग उस भटके हुए संसारी जीव के लिए दीपक का काम भी करता है जैसे दीपक अंधकार दूर करके मार्ग दर्शाता है। निम्न सवैया द्रष्टव्य है–

कैसे कर केतकी कनेर एक कहि जाय,
आक दूध गाय दूध अन्तर घनेरे हैं।।
पीरो होत रीरी पैन रीस करे कंचन की,
कहाँ काग वाणी कहाँ कोयल की टेर है।।
कहाँ मान मारो कहाँ अंगिया विचारो,
कहाँ पूजा को उजारो कहाँ मावस अंधेरी है।।
पक्ष तज पारखी ने कर लेक नी के कर,
जैन बैन और बैन इतनो ही फेर है।।

केतकी और कनेर किस प्रकार एक कहे जा सकते हैं, आक का दूध और गाय के दूध में बहुत अन्तर होता है। पीतल पीली होती है परन्तु स्वर्ण की बराबरी नहीं कर सकती। कहाँ तो कौवे की वाणी और कहाँ कोयल की कुहूक, कहाँ सूर्य का प्रकाश और कहाँ जूगनू का प्रकाश, कहाँ पूर्णिमा का उजियाला कहाँ अमावस का काला अन्धेरा, हे परखने वाले पारखी! पक्ष छोड़कर ध्यान से देख जैन वचन और अन्य मत के वचनों में इतना ही अन्तर है।

करणानुयोग का लक्षण

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च।।

–रत्नकरण्ड 44

जिसमें छह द्रव्यों का समूह रूप लोक एवं केवल आकाश द्रव्य अपने गुण पर्यायों सहित प्रतिबिम्बत हो रहे हैं; छहों कालों के निमित्त से पुद्गलों की जैसी पर्यायें हैं, वे सब प्रतिबिम्बित होकर झलक रहीं हैं; चारों गतियों का स्वरूप जिसमें प्रकट झलकता है वह दर्पण के समान करणानुयोग हैं।

यह संख्याओं से संबंधित गणित शास्त्र है। इसमें हमें तीन लोक, गुणस्थान-मार्गणाओं, बीस प्ररूपणाओं आदि का ज्ञान मिलता है। इस अनुयोग के शास्त्रों के पढ़ने से हमें यह शिक्षा मिलती

है कि हमें कैसे भाव करने से कैसा फल मिलेगा। अच्छे भाव करने से अच्छा फल तथा बुरे भाव करने से बुरा फल मिलता है। इस प्रकार का वर्णन गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, धवला, जय धवला, महाधवला, तिलोयपण्णति, त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों में मिलता है। इनको हमें पढ़ना चाहिए। यदि आपको अपने चित्त में ज्ञान की सुरभि महकाना है तो कर्म सिद्धान्त को अवश्य पढ़ना होगा।

चरणानुयोग का लक्षण

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति।।

–रत्नकरण्ड. 45

गृह में आसक्त है बुद्धि जिनकी ऐसे गृहस्थ, गृह से विरक्त होकर के त्यागी ऐसे अनगार अर्थात् यति, उनका चारित्र रूप जो सम्यक् आचरण उसकी उत्पति, वृद्धि और रक्षा का अंग अर्थात् कारण ऐसा चरणानुयोग का स्वरूप है।

मुनि और गृहस्थ का जो निर्दोष आचरण उसकी उत्पत्ति की वृद्धि का और दिन प्रतिदिन धारण किये आचरण की रक्षा का कारण चरणानुयोग अंग सम्यग्ज्ञान ही है।

यह अनुयोग नीति से परिपूर्ण है इसके माध्यम से हमें यह पता चलता है कि मुनिधर्म व श्रावकधर्म क्या है, दोनों की आचार सहिंता क्या है? यदि अपने जीवन को पवित्र बनाना है तो महापुरुषों के आचरण को देखकर, समझकर, अपने जीवन में उतारना होगा, अपनाना होगा। इस प्रकार का वर्णन अष्टपाहुड, भगवती आराधना, मूलाचार प्रदीपिका, अनगारधर्मामृत, संयम प्रकाश पूर्वार्द्ध आदि ग्रंथों में मुनिचर्या का तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, संयम प्रकाश उत्तरार्द्ध आदि अनेक 32 श्रावकाचारों में श्रावक चर्या का वर्णन मिलता है इन ग्रंथों में से जो भी उचित लगे उनका अध्ययन करना चाहिए।

द्रव्यानुयोग का लक्षण

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौच।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते।।

–रत्नकरण्ड. 45

द्रव्यानुयोग दीपक बाधा रहित जीव-अजीव के स्वरूप को पुण्य-पाप को, कर्मबन्ध के स्वरूप को तथा कर्मों से छूटने रूप मोक्ष के स्वरूप को जिस प्रकार से आत्मा में उद्योत हो जाये उस प्रकार विस्तार से दिखलाता है।

न्यायग्रंथ इस अनुयोग से सम्बन्धित हैं, जिनके माध्यम से हमें यह पता चलता है "यह ऐसा ही है" अर्थात् सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्यों आदि का क्या स्वरूप है। इन शास्त्रों का हमें बहुत गम्भीरता से अध्ययन करना चाहिए। द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय, समयसार, नियमसार आदि अनेक शास्त्रों में इनका वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। आत्मद्रव्य आदि को समझने के लिए यही शास्त्र उपयोगी हैं।

श्री गुणभद्रसूरि कहते हैं कि–

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते।
वचः पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।।
समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं।
श्रुतस्कन्धे धीमान् मनोमर्कटभ्रुम।।

-आत्मानुशासन, 170

जो स्कन्धरूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप फूल एवं फलों के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनों रूपी पत्तों से व्याप्त है, विस्तृत नयों रूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त है, उन्नत है तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञान रूपी जड़ से स्थिर है उस श्रुतस्कन्ध रूप वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान् साधुओं को अपने मन रूपी बन्दर को प्रतिदिन रमाना चाहिए अर्थात् चंचल मन को विषयों की ओर से खींचकर इस श्रुत के अभ्यास में लगाने से रागद्वेष की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। इससे संवर पूर्वक कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष सुख की वृष्टि होती है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के नवमें अध्याय में स्वाध्याय के पाँच प्रकार बताये हैं–

1. वाचना 2. पृच्छना 3. अनुप्रेक्षा 4. आम्नाय 5. धर्मोपदेश

वाचना:- ग्रन्थ, अर्थ या दोनों का निर्दोष भव्य जीवों को श्रवण करना वाचना है।

पृच्छना:- संशय को दूर करने के लिए अथवा निश्चय को दृढ़ करने के लिए प्रश्न पूछना पृच्छना है।

अनुप्रेक्षा:- जाने हुए पदार्थों का बार-बार चिंतन करना अनुप्रेक्षा है।

आम्नाय:- निर्दोष उच्चारण करके पाठ को पढ़ना आम्नाय है।

धर्मोपदेश:- धर्म का उपदेश करना धर्मोपदेश है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने समयसार में ग्रंथों की वाचना के पाँच प्रकार बताये हैं-

1. शब्दार्थ 2. नयार्थ 3. मतार्थ 4. आगमार्थ 5. भावार्थ।

1. **शब्दार्थ**- शब्दार्थ को व्याख्यान रूप से शब्दार्थ जानना।

2. **नयार्थ**- व्यवहार-निश्चय रूपसे जानना।

3. **मतार्थ**- आगम का अर्थ करने की विधि में 'किस मत' का निराकरण करने के लिए यह बात की गई है ऐसा निर्देश मतार्थ कहलाता है।

4. **आगमार्थ**- परमागम के अविरोध पूर्वक विचारना चाहिए, किन्तु कथन में विवाद नहीं करना चाहिए।

5. **भावार्थ**- शुद्ध नय के आश्रित जो जीव का स्वरूप है वह तो उपादेय ग्रहण करने योग्य है और शेष सब त्याज्य है। इस प्रकार हेय-उपादेय रूप से भावार्थ भी समझना चाहिए।

शास्त्र रक्षा से कुन्दकुन्द

शास्त्र की महिमा को प्रदर्शित करने वाला दृष्टान्त है–

एक ग्राम में एक ग्वाला एक सेठ जी की गायें चराने जंगल में जाया करता था। एक दिन उस ग्वाले ने देखा कि जंगल में आग लगी हुई है सारे वृक्ष धू-धू करके जल रहे थे और बीच में एक वृक्ष बचा हुआ था। उसे उत्सुकता हुई कि यह वृक्ष बच गया है। उसने करीब जाकर देखा कि वृक्ष के कोटर में एक ग्रन्थ रखा है। उसने सोचा की इस ग्रन्थ के कारण ही यह वृक्ष बच गया है वह अवश्य ही यह कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु है। उसे वह उठा लाया। एक दिन उस ग्राम में एक मुनिराज आहार चर्या के लिए आए। आहार के बाद उस ग्वाले ने वह ग्रन्थ मुनिराज को भेंट कर दिया। जिससे अर्जित पुण्य के प्रभाव से वह ग्वाला उसी सेठ के घर पुत्र रूप में जन्म लेकर 11 साल की अवस्था में दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर लेता है और 33 साल की अवस्था में आचार्य पद ग्रहण करते हैं। जिनका नाम आचार्य कुन्दकुन्द रखा गया।

गुण श्रेष्ठ या धन

एक धनवान घमण्डी सेठ ने अपने दरवाजे पर एक दोहा लिखवा रखा था–

गुणवन्तो मत जन्म यो, जन्मयो सदा धनवन्त।
धनवान के द्वार, पडे रहे सदा गुणवन्त।।

अनेक विद्वानों ने कहा, सेठ जी यह श्लोक मिटा दीजिये, विद्वान् का पैसे से क्या मेल, जो पैसा ले वह विद्वान नहीं। परन्तु सेठ को पैसे का घमण्ड था। इसलिए वह नहीं माना। सेठ और विद्वान् में विवाद बढ़ गया फैसला राजा के पास गया। राजाने एक पत्र लिखकर फैसले के लिए दूसरे राजा के पास भेज दिया कहा कि अमुक देश के राजा के पास यह पत्र लेकर चले जाओ वह राजा तुम्हारा फैसला करेगा। दोनों ने वह पत्र ले जाकर उस राजा को दे दिया उस पत्र में

लिखा था कि दोनों को फाँसी दे दी जाय। उस राजा ने दोनों को फाँसी का हुक्म सुना दिया। सेठ बहुत दु:खी हुआ और गुणवान के आगे रोने लगा कि गुणवान कुछ कर और फाँसी से बचा, तब गुणवान बोला तुम्हारा दोहा ही तुझे बचायेगा परन्तु सेठ बहुत रोया गिडगिडाया। तब गुणवान बोला अब आराम करो कल देखेंगे परन्तु सेठ तो रात भर बैचेन रहा। अगले दिन राजा ने फाँसी के लिए दोनों को बुलाया तब विद्वान् बोला हे राजन! जल्दी फाँसी लगाओ। भाई जल्दी क्या है। राजा ने पूछा, तब विद्वान् बोला, हे राजन्! एक निमित्त ज्ञानी ने हमारे राजा को बताया था कि इन दोनों को जहाँ फाँसी दी जायेगी वह राज्य समाप्त हो जायेगा। हमारा राजा बहुत होशियार है उसने सोचा कि दोनों को भले ही फांसी लग जाय पर तुम्हारा राज्य समाप्त हो जावेगा। इसलिए उसने दोनों को तुम्हारे पास भेज दिया। हमें जल्दी फाँसी लगाओ तब राजा ने दोनों को चले जाने को कहा गुणवान ने जाने से इंकार कर दिया। जब बार-बार कहने पर भी दोनों वहाँ से नहीं गये तब राजा ने दोनों को कुछ धन व एक-एक घोड़ा देकर विदा किया। इस प्रकार गुणवान के ज्ञान से दोनों की जान बच गयी। धनवान ने वह श्लोक भी मिटाया और गुणवान का बहुत सम्मान भी किया इसीलिए कहा जाता है विद्वान की सब जगह पूजा होती है।

शास्त्र परम्परा का प्रारम्भ

अब प्रश्न यह उठता है कि शास्त्र की उत्पति कब और कैसे हुई? - भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के बाद गौतमस्वामी, सुधर्माचार्य और जम्बू स्वामी तीन अनुबद्ध केवली हुए। तदुपरान्त पांच श्रुत केवली हुए। धीरे-धीरे ज्ञान कम होता चला गया। भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के 683 वर्ष बाद आचार्य धरसेन क्षीण अंगधारी हुए तब तक सम्पूर्ण श्रुत मौखिक रहा। आचार्य धरसेन को चिन्ता हुई कि इस प्रकार तो श्रुत का लोप हो जायेगा तब उन्होंने दक्षिण से दो शिष्य बुलाए। एक रात्रि में धरसेन आचार्य को स्वप्न में दो सफेद बैल मुख में प्रवेश करते दिखाई दिए। तब उन्होंने समझ लिया कि दोनों शिष्य पहुँचने वाले हैं। दोनों शिष्यों के पहुँचने पर उनकी परीक्षा हेतु दोनों को दो मंत्र सिद्ध करने के लिए दिए। मंत्रों को सिद्ध करने पर एक को कानी और दूसरे को दाँत बाहर निकली देवी दिखाई दी। तब दोनों ने विचार किया कि देवियाँ तो कुरुप होती नहीं इसलिए मंत्रों में कुछ कमी है उन्होंने मन्त्रों को ठीक किया और आचार्य धरसेन को सुनाया। इस प्रकार धरसेन आचार्य को विश्वास हो गया कि शिष्य ज्ञानी हैं और उन्हें शिक्षा देनी प्रारम्भ की। दोनों शिष्यों ने शिक्षा प्राप्त करके श्रुत को लिपिबद्ध करना शुरु किया, जो ज्येष्ठ सुदी पंचमी को पूर्ण हुआ। श्रुत का नाम **षट्खण्डागम** रखा गया जिसको प्रथम श्रुतस्कन्ध कहा गया। आचार्य वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम की टीका धवला, जयधवला, महाध वला के नाम से की। महाधवला का कुछ अंश आचार्य गुणभद्र स्वामी ने पूरा किया। आज इनके

39 भाग उपलब्ध हैं। ज्येष्ठ सुदी पंचमी **श्रुतपंचमी** के नाम से जानी जाती है इस दिन श्रुत की पूजा की जाती है।

आचार्य भद्रबाहु के शिष्य गुप्तिगुप्त, गुप्तिगुप्त के शिष्य माघनन्दि, माघनन्दि के शिष्य जिनचन्द्र आचार्य और आचार्य जिनचन्द्र के शिष्य आचार्य कुन्दकुन्द देव ने पाहुडों की रचना की जिनमें से आज 24 पाहुड उपलब्ध हैं। इनके पाँच ग्रन्थों– समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड को परमागम की संज्ञा प्राप्त है। इनको द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द देव के पाँच नाम वक्रगीव, ऐलाचार्य, गृद्धपिच्छ, पद्मनन्दि और कुन्दकुन्द प्रसिद्ध हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के बाद आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र की रचना दस अध्याय और 357 सूत्रों में की। इसी तत्त्वार्थसूत्र पर आचार्य समन्तभद्र ने गन्धहस्ति महाभाष्य लिखा। शास्त्रों की विनय पूर्वक स्वाध्याय करना ही श्रेयष्कर होता है केवल शब्द से कुछ भी प्राप्त होने वाला नहीं। कहा है कि–

जिनवाणी के बिना आह्लाद नहीं होता,
नींव के बिना प्रासाद नहीं होता।
धन के संग्रह में लीन रहने वालो,
दर्शन मूल के बिना निर्वाण नहीं होता।।

जिनवाणी की विराधना से कोई गुणवान् नहीं होता,
जिनशास्त्र को रौंदने से कोई पहलवान नहीं होता।
सत् गुरुओं को दोष नहीं लगाओ, थोड़ा गहराई से सोचो,
अनुचित बातें करने से कोई विद्वान् नहीं होता।।

जिनवाणी के जपने से मन का विकार जाता है,
जिनवाणी के पढ़ने से सुख विस्तार पाता है।
अन्तर मन से सोचो सन्त की भांति।
जिनवाणी में रमने से भव का अन्त होता है।

सम्यग्ज्ञान का दूसरा सोपान : नौ पदार्थों का जानना

हमें पदार्थों को जानना चाहिए। प्रश्न उठता है कि पदार्थ क्या हैं- पद का अर्थ – पदार्थ अर्थात् सामान्य रूप से जो कुछ भी शब्द का ज्ञान है या शब्द का विषय है वह शब्द पदार्थ शब्द का वाच्य है। इस विश्व में जो जानने में आने वाला पदार्थ है वह समस्त द्रव्यमय, गुणमय और पर्यायमय है। अब प्रश्न उठता है कि ये कितने हैं–

आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि–

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं ते सिं।
संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य हवन्ति ते अट्ठा।।

–पंचास्तिकाय 108

जीव और अजीव दो भाव अर्थात् मूल पदार्थ तथा उन दो के पुण्य पाप आस्रव, संवर निर्जरा बंध और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं। दूसरे शब्दों में द्रव्य की अपेक्षा पदार्थ, क्षेत्र की अपेक्षा अस्तिकाय, काल की अपेक्षा द्रव्य हैं और भाव की अपेक्षा तत्त्व हैं। नौ पदार्थों की विवेचना करने से पूर्व छ: द्रव्यों का संक्षिप्त वर्णन भी अपेक्षित है। द्रव्य किसे कहते हैं तथा उसके कितने और कौन से भेद होते हैं? यह यहां प्रस्तुत हैं–

आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवे अध्याय के 29वें सूत्र में लिखते हैं कि 'सद्द्रव्य लक्षणम्' अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत् है। सूत्र 30 में कहा गया है कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, अर्थात् जो उत्पादव्ययध्रौव्य सहित हो वह सत् है। इस प्रकार जो सत् लक्षण वाला उत्पादव्यय और ध्रौव्य युक्त है उसे द्रव्य कहते हैं।

मुख्य रूप से द्रव्य दो प्रकार का होता है– (1) जीव द्रव्य और (2) अजीव द्रव्य। अजीव द्रव्य पाँच प्रकार का है। (1) पुद्गल (2) धर्म (3) अधर्म (4) आकाश और (5) काल।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के अनुसार जीव और अजीव के भेद से द्रव्य छह प्रकार के कहे गये हैं और काल द्रव्य को छोड़कर पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते हैं।

एवं छब्भेय-मिदं जीवा-जीवप्प-भेददो दव्वं।
उत्तं काल विजुत्तं, णादव्वा पंच अत्थिकाया दु।।

– द्रव्यसंग्रह, 23

काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं हैं क्योंकि– काल द्रव्य केवल एक प्रदेशीय होता है इसलिए काल द्रव्य को अस्तिकाय नहीं कहा। पुन: प्रश्न उठता है कि पुद्गल परमाणु भी तो एक प्रदेश वाला होता है उसे अस्तिकाय क्यों कहा है, आचार्य कहते हैं कि कालाणु सदा एक प्रदेशीय ही रहता है परन्तु परमाणु स्कन्ध रूप में परिणत होकर बहुत प्रकार के प्रदेश वाला अर्थात् बहुप्रदेशीय हो जाता है परन्तु काल द्रव्य के अणु में बहु प्रदेशीय होने की योग्यता ही नहीं है। इसलिए पुद्गल परमाणु को अस्तिकाय कहा गया है। जैसा कि आचार्यों ने कहा है–

संति जदो तेणेदे, अत्थि-त्ति भणंति जिणवरा जह्मा।
कायाइव बहु-देसा, तह्मा काया य अत्थिकाया य।।

–द्रव्यसंग्रह 24

सम्यग्ज्ञान कितने प्रकार का होता है यह भी ज्ञान होना अपेक्षित है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि–

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं। इनकी संक्षिप्त व्याख्या निम्न प्रकार है–

(क) मतिज्ञान– पाँचों इन्द्रियों और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है– (1) अवग्रह (2) ईहा (3) अवाय और (4) धारणा।

1. **अवग्रह**- विषय विषयी के सन्निपात के अनन्तर जो आद्य ग्रहण होता है उसे अवग्रह मतिज्ञान कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है–व्यंजनावग्रह, अर्थावग्रह।

   अ. व्यंजनावग्रह– अस्पष्ट अर्थ के ग्रहण करने को व्यंजनावग्रह मतिज्ञान कहते हैं। जैसे कर्ण इन्द्रिय में एक इल्की सी आवाज का मामूली सा आभास हो कर रह गया।

   ब. अर्थावग्रह- स्पष्ट अर्थ के ग्रहण करने को अर्थावग्रह मतिज्ञान कहते हैं।

2. **ईहा ज्ञान–** अवग्रह से जाने हुए पदार्थ को विशेष जानने की इच्छा के होने को ईहाज्ञान कहते हैं

3. **अवाय ज्ञान–** विशेष चिह्न देखने से जिसका निश्चय हो जाय उसे अवाय ज्ञान कहते है।

4. **धारणा ज्ञान–** अवाय से निर्णीत पदार्थ को कालान्तर में न भूलना धारणा ज्ञान है।

(ख) श्रुतज्ञान- मतिज्ञान पूर्वक होने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

(ग) अवधि ज्ञान- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा पूर्वक जो रूपी पदार्थो को स्पष्ट जानता है उसे अवधि ज्ञान कहते हैं।

यह दो प्रकार का होता है। (1) गुणप्रत्यय (क्षयोपशमनिमित्तक) (2) भवप्रत्यय।

1. **गुणप्रत्यय अवधिज्ञान**- किसी विशेष पर्याय की अपेक्षा न करके जीव के पुरुषार्थ द्वारा जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह गुणप्रत्यय कहलाता है इसको क्षयोपशम निमित्तक भी कहते हैं। यह मुनष्य तथा तिर्यंचों के होता है। इसके छह भेद हैं।

   अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित अथवा इनके तीन भेद देशावधि, परमावधि, और सर्वावधि रूप भी किये जाते हैं। यह नाभि के ऊपर शंख, पद्म, वज्र, स्वस्तिक, कलश, मछली आदि शुभ चिह्नों के द्वारा होता है।

2. **भवप्रत्यय अवधिज्ञान–** देव और नारक पर्याय धारण करने पर जीव को जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होता है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। जैसे पक्षियों में जन्म,

आकाश में गमन का निमित्त होता है, शिक्षा, उपदेश, जप-तप आदि का नहीं इसी प्रकार नारकी और देव की पर्याय में उत्पत्ति मात्र से अवधि ज्ञान प्राप्त होता है। यह अवधिज्ञान देव, नारकी तथा तीर्थङ्करों को (गृहस्थ अवस्था में) होता है। यह नियम से देशावधि होता है तथा समस्त प्रदेश से उत्पन्न होता है।

(घ) **मन:पर्यय ज्ञान**- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मर्यादा पूर्वक जो दूसरे के मन में स्थित सभी पदार्थों को स्पष्ट जानता है उसे मन:पर्यय ज्ञान कहते हैं। यह भी दो प्रकार का होता है। (1) ऋजुमति (2) विपुलमति।

ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान- जो पर के मन में स्थित सरल सीधी बात को जानता है वह ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान है।

विपुलमतिमन:पर्यय ज्ञान- जो पर के कुटिल मन में स्थित, अर्द्ध चिन्तित भविष्य में विचारी जाने वाली, भूतकाल में विचारी गई आदि बातों को जानता है, वह विपुलमतिमन:पर्यय ज्ञान है।

(ङ) **केवलज्ञान**- त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। इस के भेद नहीं होते।

एक जीव को एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं-

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के 30वें सूत्र में लिखा है कि-

एकादीनिभाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।।

एक जीव में एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं। यदि एक हो तो केवलज्ञान, दो हों तो मति व श्रुतज्ञान, तीन हों तो मति श्रुत व अवधिज्ञान अथवा मन:पर्यय ज्ञान, चार हों तो मति श्रुत, अवधि तथा मन: पर्यय ज्ञान होते हैं। किसी भी जीव को एक साथ पाँच ज्ञान नहीं होते।

छ: द्रव्यों और पाँच सम्यग्ज्ञान का संक्षिप्त स्वरूप जानने के उपरान्त नव पदार्थों को सरलता से जाना जा सकता है।

नयचक्र बृहद् में आचार्य देव कहते हैं कि-

जीवाइसत तच्चं पण्णतं जे जहत्थ रूवेण।
तं चेव णव पयत्था स पुण्ण पावा पुणों होंति।।

जीवादि सप्त तत्त्वों को यथार्थ रूप से कहा गया है उन्हीं में पुण्य और पाप मिला देने पर नौ पदार्थ बन जाते हैं।

यही बात अन्य रूप से आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने द्रव्यसंग्रह की 28वीं गाथा में इस प्रकार कही है–

आसव-बंधण-संवर-णिज्जर-मोक्खो सपुण्ण-पावा जे।
जीवाजीवविसेसा, ते वि समासेण पभणामो।।

पुण्यपाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात पदार्थ भी जीव अजीव के ही विशेष भेद हैं अर्थात् जीव और अजीव द्रव्य में छहों द्रव्य, सातों तत्त्व और नौ पदार्थ शामिल हैं।

सात तत्त्वों का स्वरूप सम्यग्दर्शन के चौथे सोपान में स्पष्ट किया जा चुका है। उनमें पुण्य (अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करे) तथा पाप (अर्थात् जो आत्मा का पतन करे) को मिला देने से नौ पदार्थ हो जाते हैं।

उदाहरणार्थ जीव पदार्थ (आत्म पदार्थ) का यथार्थ स्वरूप निम्न सवैये से भी होता है–

राग विरोध उदै जबलों तबलों, यह जीव मृषा मग धावे।
ग्यान जग्यौ जब चेतन कौ तब, कर्म दसा पर रूप कहावै।।
कर्म विलक्षण करै अनुभौ तहां, मोह मिथ्यात्व प्रवेस न पावै।
मोह गये उपजै सुख केवल, सिद्ध भयो जग मांहि न आवै।।

जब तक इस जीव को मिथ्या ज्ञान का उदय रहता है तब तक वह राग-द्वेष में वर्तता है। पर जब उसे ज्ञान का उदय हो जाता है तब वह कर्म परिणति को अपने से भिन्न गिनता है और जब कर्म परिणति तथा आत्म परिणति का पृथक्करण करके आत्म-अनुभव करता है, तब मिथ्या मोहनीय को स्थान नहीं मिलता और मोह के पूर्णतया नष्ट होने पर केवल-ज्ञान तथा अनन्त सुख प्रगट होता है जिससे सिद्ध गति की प्राप्ति होती है और फिर जन्म-मरण रूप संसार में नहीं आना पड़ता। यह सम्यग्ज्ञान की महिमा है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान से आत्मा की सिद्धि होती है।

पुण्य और पाप का वर्णन आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने द्रव्यसंग्रह में इस प्रकार किया है–

सुह-असुह-भाव-जुत्तो, पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं, गोदं पुण्णं पराणि पावं च।।३८।।

पुण्य के दो भेद हैं– भावपुण्य और द्रव्यपुण्य। पाप के दो भेद हैं– भावपाप और द्रव्य

पाप। जीव के शुभ भावों को भावपुण्य और अशुभ भावों को भावपाप कहते हैं तथा कर्म की पुण्य प्रकृतियों को द्रव्यपुण्य और पाप प्रकृतियों को द्रव्यपाप कहते हैं। सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं तथा असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम नीच गोत्र तथा घातिया कर्म ये सब पाप प्रकृतियाँ हैं।

अत: जब तक जीव अपनी पहचान नहीं कर लेता तब तक उस का कल्याण होने वाला नहीं है। संसार में भटकना अपनी पहचान हो जाने के उपरान्त ही छूट सकता है। जीव को अपनी पहचान सम्यग्ज्ञान से ही हो सकती है

सब व्योहार क्रिया का ज्ञान, भयो अनन्ती बार प्रधान।

निपट कठिन अपनी पहचान ताको पावत होत कल्याण।।

निम्न दृष्टान्तों द्वारा हम स्पष्ट कर सकते हैं –

दृष्टान्त– 1. एक इंजीनियर जिसने अपना आधे से ज्यादा जीवन पढ़ने में बिता दिया हो यदि उसको मशीन ठीक करने के लिए खड़ा कर दिया जाय तो वह मशीन ठीक नहीं कर सकता और एक बिना पढ़ा-लिखा मिस्त्री भले ही वह किसी को कुछ ना पढ़ा सके परन्तु मशीन तुरन्त ठीक कर देगा क्योंकि इंजीनियर का ज्ञान शब्दात्मक है और मिस्त्री का ज्ञान अनुभवात्मक है। इंजीनियर को मशीन संबंधी ज्ञान अस्पष्ट है और मिस्त्री को स्पष्ट है। भवन योजना कोई भी बना सकता है परन्तु भवन निर्माण वही कर सकता है जिसको भवन बनाने का अनुभव हो।

दृष्टान्त– 2. एक दिन एक पढ़ा लिखा युवक नदी के किनारे सैर करने गया। वहाँ वह नाव में बैठकर नदी की सैर करने लगा। सैर करते हुए उसने नाविक से पूछा भईया, कितने पढ़े-लिखे हो, नाविक बोला मुझे श्री बाबूजी अ, आ, इ, ई भी नहीं आती। तब बाबूजी बोले- अरे नालायक! कुछ भी नहीं जानता। तेरे जैसे अनपढ़ लोगों के कारण ही तो भारत बरबाद है। वह नाविक सुनता रहा। संयोग की बात है कि तब तक नाव बीच नदी में पहुँच चुकी थी। हवा तेज चलने लगी जिसके कारण नाव डगमगाने लगी तब नाविक पूछता है कि बाबूजी तैरना आता है, बाबूजी बोले भईया, मुझे तो नहीं आता। नाविक बोला अरे बेवकूफ! तेरे जैसे लोगों का जीवन बेकार है जिसने सब कुछ सीखा परन्तु जीवन की कला नहीं सीखी। नाव बेकाबू होने लगी तब नाविक बोला बाबू जी मैं तो तैर कर वापस चला जाऊँगा परन्तु तुम सोचो क्या करोगे? इसलिए बन्धुओं, जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त करोंगे जीवन नहीं बचा पाओगे, व्यर्थ चला जावेगा।

दृष्टान्त–3. एक सेठ की हवेली में रंग-रोगन का कार्य चल रहा था। सायं काल थोड़ा सा लाल रंग बच गया। उसे लोटे में रखकर मिस्त्री ने सेठ की लड़की को दे दिया कि इसको सुरक्षित स्थान पर रख दो, सुबह हम ले लेंगे। लड़की ने वह लोटा ले जाकर सेठ जी के पलंग के नीचे रख दिया सेठ जी व्यापार से देर से आये और पलंग पर सो गये। सुबह उठे और अंध ेरे में पानी का लोटा समझ कर रंग के लोटे को लेकर शौच करने चले गये शौच के बाद जब उठने लगे तो हाथों पर लाल रंग लगा देखकर खून समझ लिया और चिल्लाने लगे तथा असहाय होकर गिर पड़े। चार आदमियों ने सेठ जी को उठाकर चारपाई पर लिटाया वैद्य बुला लिए। इतने में कारीगरों ने आकर लड़की से रंग मांगा तब वहाँ वह लोटा नहीं मिला। लड़की ने कहा- पिताजी आपने रंग का लोटा इस्तेमाल कर लिया आपको कुछ नहीं हुआ है वह खून नहीं था इतना सुनते ही सेठ उठकर खड़ा हो गया और बोला बेटी! जल्दी मेरा टिफिन लाकर दो मुझे व्यापार पर जाना है देर हो रही है। बन्धुओं! यही दशा इस संसार में प्रत्येक प्राणी की हो रही है। मिथ्या भ्रान्ति में पड़ कर दुःखी हो रहा है। यथार्थ ज्ञान से ही दुःख से छुटकारा पा सकता है।

— —

हर हरकत की मूल में, कारण सच्चा देख।
बिन कारण संसार में, पत्ता हिले न एक॥
जैसा तेरा आचरण, फल वैसा ही होय।
दुराचरण दुःख ही बढ़े, सदाचरण सुख होय॥

जो चाहे सुख ना घटे, होय दुःख का नाश।
दासी बन तृष्णा रहे, बन मत तृष्णा-दास॥
कुदरत का कानून है, इससे बचा न कोय।
मैले मन दुखिया रहे, निर्मल सुखिया होय॥

सम्यग्ज्ञान का तीसरा सोपान : स्व-पर भेद ज्ञान

भेदविज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान ही कल्याणकारी है, अन्य सभी ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं और संसार को बढ़ाने वाले हैं। आचार्य अमृतचन्द स्वामी कलश 131 में लिखते हैं कि-

भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन्।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन्॥

जो भी जीव आज तक बंधे हैं वे सभी बिना भेद विज्ञान से बंधे हैं, जितने भी आज तक छूटे हैं वे सभी भेद-विज्ञान से ही छूटे हैं।

भेद विज्ञान जग्यो जिनके घर, शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन,
केलि करें शिवमार्ग में, जग माँहि जिनेश्वर को लघु नन्दन।
सत्य स्वरूप सदा जिन्हीं के प्रकट्यो अवदात मिथ्यात्व निकन्दन,
शान्त दशा तिन ही की पहिचानी, करें कर जोरी बनारसी वंदन॥

जिनके हृदय में निज-पर का विवेक प्रकट हुआ है, जिनका चित्त चन्दन के समान शीतल है अर्थात् कषायों का आताप नहीं है, जो निज पर विवेक होने से मोक्षमार्ग में मौज करते हैं, जो संसार में अरहन्त देव के लघु पुत्र हैं अर्थात् थोड़े ही काल में अरहन्त पद प्राप्त करने वाले हैं, जिन्हें मिथ्यादर्शन नष्ट करके निर्बल सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ है। उन सम्यग्दृष्टि जीवों को आनन्दमय अवस्था का निश्चय करके पं० बनारसी दास हाथ जोड़कर बोलते हैं –सम्यग्ज्ञान हो जाने के बाद संसार शरीर भोगों से विरक्त हो जाता है। बहुत मानव यह कहते हैं कि भोग खूब भोगो लेकिन ज्ञान प्राप्त करो। अमृत व जहर एक जगह नहीं रह सकते। अमृत व जहर का विरोध है जैसे कि कहा गया है-

ज्ञान कला जिनके घट जागी, ते जग माहिं सहज बैरागी।
ग्यानी मगन विषै सुख मांही, यह विपरीति संभवै नांही॥

जिनके चित्त में सम्यग्ज्ञान की किरण प्रकाशित हुई है वे संसार में स्वभाव से ही वीतरागी रहते हैं ज्ञानी होकर विषय-सुख में आसक्त हो, यह उल्टी रीति असम्भव है। अगर कोई कहे कि ज्ञानी विषय-भोगों में मग्न रहें तो ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञानी को भोग बुरे दिखने लगते हैं। इन सब बातों को जानकर सच्चा ज्ञान प्राप्त करो मगर बिना ज्ञान के काँच को हीरा, पीतल सोना और भोगों को सच्चा सुख ही मानने लगे तो यह सब तुम्हारा मिथ्या ज्ञान ही है।

एक नगर में एक जौहरी रहता था उसका पुत्र अज्ञानी था उस जौहरी की मृत्यु हो जाती है। लड़के को काम धन्धा तो आता नहीं था उसने तिजोरी खोलकर हीरे निकाले और अपने

चाचा, जो की जौहरी था, के पास ले गया और बोला चाचाजी मेरे ये हीरे बिकवा दीजिए। चाचा ने कहा बेटे! अभी बाजार में ग्राहक नहीं हैं इनका सही मूल्य नहीं मिल पावेगा इन्हें वापस तिजोरी में रख दो और मेरे पास दुकान पर बैठा करो जिस दिन बाजार में ग्राहक होगा माल सही दामों पर बिक जावेगा। लड़का रोजाना दुकान पर बैठने लगा। धीरे-धीर उसको रत्नों की परख आने लगी। जब चाचा ने देखा कि अब इसको परख करनी अच्छी तरह आ गई है तब कहा कि आज बाजार में ग्राहक हैं जाओ, उन हीरों को ले आओ। वह घर आया और तिजोरी में से हीरे निकाले और वापस रख दिये कि मैं भी कितना मूर्ख हूँ काँच को हीरा समझ बैठा और खाली हाथ बाहर आ गया तब चाचा ने पूछा क्या हुआ, लाये नहीं! लड़के ने कहा, चाचाजी मैं गलती पर था वे तो काँच के टुकड़े हैं, हीरे नहीं। तात्पर्य यह है कि जब तक वस्तु की ठीक-ठीक जानकारी नहीं होती तब तक वह अज्ञानी है।

पं० बनारसी दास जी के उपर्युक्त दोहे से स्पष्ट हो जाता है कि स्वयं अर्थात् अपनी आत्मा तथा 'पर' अर्थात् अपनी आत्मा के अलावा समस्त अन्य आत्माऐं एवं अन्य द्रव्य सब अलग-अलग प्रतीत होने लगते हैं। जीवों की क्या स्थिति बनती है वह संसार-शरीर भोगों से स्वत: ही उदासीन हो जाता है तथा अपने सच्चे सुख का अनुभव करने लगता है। इसका नाम आत्मज्ञान है, भेद विज्ञान है और स्व-पर भेद ज्ञान है इस आत्मज्ञान द्वारा ही संसारी जीव मोक्ष को प्राप्त होता है। संसार के दुखों से छूटता है, मुक्त होता है। स्व और पर को जानने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है बिना पुरुषार्थ स्व-पर भेद ज्ञान का होना असंभव है जैसा कि निम्न दृष्टान्त में दर्शाया गया है-

मैं पड़ा हूँ

एक बाबूजी कमरे को सजा रहे थे। कमरे में जो वस्तु जहाँ रखनी है, हर जगह उसको लिख रहे थे। जब सभी जगह लिख दिया तब एक पलंग पर खुद सो रहे थे वहाँ पर लिख दिया "मैं पड़ा हूँ"। अब बाबू जी सुबह उठकर देखते है कि जो वस्तु जहाँ पर रखी थी वह वहीं है केवल पलंग पर 'मैं' नहीं है। बाबूजी परेशान हो गये ढूढ़ते-ढूढ़ते दोपहर हो गई लेकिन 'मैं' नहीं मिला। तब एक नौकर आया और उसने पूछा बाबूजी। खाने में देर हो गई है क्या कारण है, बाबूजी बोले कमरे में सभी वस्तुऐं मौजूद हैं परन्तु 'मैं' नहीं है। तब नौकर पूछता है कि मैं कहाँ पर रखा था, पलंग पर, बाबूजी बोले। नौकर बोला- जब आपने लिखा था तब कौन सो रहा था, मैं सो रहा था, बाबू जी बोले। नौकर ने कहा पलंग पर सोयें तब आपको 'मैं' मिल जायेगा और बाबूजी के पलंग पर लेटते ही तुरन्त समाधान हो गया। इसलिए बिना पुरुषार्थ किये स्व की प्राप्ति होना असंभव है।

कभी-कभी किसी को शंका होती है कि आत्मा है अथवा नहीं। यह बात पर से पूछते हैं तो शंका किसमें हुई, आत्मा में और इसका निवारण हुआ तो भी आत्मा में। इससे सहज ही आत्मज्ञान हो जाता है और जिससे पूछा गया उससे 'पर' का भी ज्ञान हो गया। स्व-पर भेद ज्ञान न होने में मुख्य कारण भ्रम है और भ्रम का मूल कारण मिथ्यादर्शन है। भ्रम किसी दूसरे के द्वारा मिटाया नहीं जा सकता, स्वयं का ज्ञान ही इसका वास्तविक इलाज है।

पं॰ दौलतराम जी छहढाला छठी ढाल में कहते हैं कि–

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अरु रागादि तें, निज भाव को न्यारा किया॥

महा मुनिराज ध्यान करते समय अपनी तीक्ष्ण बुद्धि रूपी तेज छैनी के द्वारा अपने अन्तरंग का परदा फाड़ देते हैं और रूप, रस आदि पौद्‌गलिक बीस गुणों तथा रागादि विकारी भावों से अपने आत्मभाव को पृथक कर लेते हैं।

वैराग्यमणिमाला में आ॰ विशालकीर्ति जी कहते हैं–

द्वंद्वो चित्त! विशालसंसृतिवने तृष्णादवाग्न्युत्कटे,।
कामक्रोधकरालकेसरिकुले मूर्च्छामदाष्टापदे॥

क्रूरस्फारफणालकोलभुजगे मृत्य्वन्धकूपाकुले,
भ्रान्त्वा तत्र चिरं तवास्ति कुशलं किं भेद बोधं बिना॥6॥

हे चित्त! जिसमें तृष्णा रूपी उत्कट दावाग्नि धधक रही है, जहाँ काम और क्रोध रूपी प्रचण्ड सिंहों का समूह है, जो परिग्रह और अष्टमद रूपी अष्टापदों से युक्त है, जहाँ क्रूर विशाल अजगर, सूकर और सर्प हैं तथा जहाँ मृत्यु रूपी अन्धकूप विद्यमान हैं ऐसे विशाल संसार रूपी वन में चिरकाल भ्रमण कर भेद विज्ञान के बिना क्या तेरी कुशलता हो सकती है, (अर्थात् कभी नहीं हो सकती, भोगों से विरक्त होकर ही तू अपना कल्याण कर सकता है अन्यथा नहीं)

समाधिसार में सोमसेनाचार्य लिखते हैं कि–

देहोऽपरोऽपरश्चात्मा यस्येति चिन्तनं क्षणम्।
जन्ममृत्युजरातीतं स एव पदमश्नुते॥52॥

शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है ऐसा चिन्तन क्षणभर के लिए भी जिसके होता है, वही जन्म, जरा, मृत्यु से रहित पद को प्राप्त होता है।

तुषमासभिन्नम्

एक बार अनपढ़ शिवकुमार एक महिला के घर गये। वहाँ महिला दाल धो रही थी। शिवकुमार ने पूछा, आप क्या कर रही हैं, महिला ने कहा **तुषमासभिन्नम्**। शिवकुमार ने इसका अर्थ पूछा तो महिला बोली – तुष का अर्थ छिलका मास का अर्थ है उड़द अर्थात् दाल से छिलका अलग कर रही हूँ जैसे ज्ञानी जन शरीर और आत्मा को अलग करते हैं। शिवकुमार ने सोचा, अरे शरीर से आत्मा अलग है, यह विचार कर तभी उसने जंगल में जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली और तपस्या करके भेद विज्ञान की छैनी से शरीर और आत्मा को अलग कर मोक्ष पद को प्राप्त किया।

इसके विपरीत जो स्व-पर भेद से अनभिज्ञ हैं जो संसारी हैं यह निम्न सवैया से स्पष्ट होता है–

जैसे गजराज नाज घास के गरास करि,
भच्छत सुभाय नहिं भिन्न रस लीयो है।
जैसे मतवारौ न हि जानै सिखरनि स्वाद,
जुंग में मगन कहै गऊ दूध पीयौ है।।
तैसे मिथ्यादृष्टि जीव ग्यान रूपी है सदीव,
पग्यौ पाप पुन्न सौं सहज सुन्न हीयौ है।
चेतन अचेतन दुहूं कौ मिश्र पिंड लखि,
एकमेक मानै न विवेक कछु कीयौ है।।

जैसे हाथी अनाज और घास का मिला हुआ ग्रास खाता है, पर खाने ही का स्वाद होने से जुदा जुदा स्वाद नहीं लेता; अथवा जिस प्रकार मद्य से मतवाले को श्रीखण्ड खिलाया जावे, तो वह नशे में उसका स्वाद न पहचान कर कहता है कि इसका स्वभाव गौ दुग्ध के समान है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि सदा ज्ञान मूर्ति है, तो भी पुण्य-पाप में लीन होने के कारण उसका हृदय आत्मज्ञान से शून्य रहता है इसके चेतन-अचेतन दोनों के मिले हुए पिण्ड को देखकर एक ही मानता है और कुछ विचार नहीं करते।

स्व और पर क्या है, किसे कहते हैं, निश्चय और व्यवहार का नाम ही स्व और पर है। स्व में ही आनन्द है स्व में शुद्ध आत्मा है और शुद्ध आत्मद्रव्य एक वस्तु है और गुण शक्ति है तथा पर्याय परिणमन है। भेद विज्ञानी हमेशा शुद्ध परिणमन में रहता है। भेद विज्ञान की क्रिया को पं० बनारसी दास अपने सवैये में निम्न प्रकार दर्शाते हैं–

जैसे रज सोधा रज सोधि है दरब काढ़ै,
पावक कनक काढ़ि दाहत उपल कौं।
पंक के गरभ मैं ज्यों डारिये कतक फल,
नीर करै उज्ज्वल नितारि डारै मल कौं।।
दधि कौ मथैया मथि काढ़ै जैसे माखन कौं,
राजहंस जैसे दूध पीतै त्यागि जल कौं।

तैसें ग्यानवंत भेद ग्यान की सकति साधि,
वेदै निज संपति उछेदै पद-दल कौं।।

जैसे रजसोधा धूल सोधकर सोना चाँदी ग्रहण कर लेता है, अग्नि धाऊ को गलाकर सोना निकालती है, कर्दम में निर्मली डालने से वह पानी को साफ करके मैल हटा देती है, दही का मथने वाला ही मथ कर मक्खन को निकाल देता है, हंस दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है उसी प्रकार ज्ञानी आगे भेद विज्ञान के बल से आत्म-सम्पदा ग्रहण करते हैं और राग-द्वेष आदि पुद्‌गलादि परपदार्थो को त्याग देते हैं।

यही बात निम्न सवैये से ओर भी स्पष्ट हो जाती है–

जैसे राजहंस के बदन के सपरसत,
देखिये प्रगट न्यारौ छीर न्यारौ नीर है।
तैसे समकिती की सुदृष्टि में सहज रूप,
न्यारौ जीव न्यारौ कर्म न्यारौ ही शरीर है।
जब शुद्ध चेतन को अनुभौ अभ्यासै तब,
भासै आपु अचल न दूजौ और सीर है।
पूरब करम उदै आइकै दिखाई देइ,
करता न होय तिन्हको तमास गीर है।।

जिस प्रकार हंस के मुख का स्पर्श होने से दूध और पानी पृथक-पृथक हो जाते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवों की सुदृष्टि में स्वभावत: जीव, कर्म और शरीर भिन्न-भिन्न भासते हैं। जब शुद्ध चैतन्य के अनुभव का अभ्यास होता है तब अपना अचल आत्मद्रव्य प्रतिभासित होता है, उसका किसी दूसरे से मिलाप नहीं दिखता। पूर्वबद्ध कर्म उदय में आये हुए दिखते हैं परन्तु अहंबुद्धि के अभाव में उनका कर्ता नहीं होता, मात्र दर्शक रहता है। दु:ख का मूल तो स्व मानना है यह सब कार्य मोह ही कराता है। यह बात निम्न दृष्टान्त से भी स्पष्ट हो जाती है–

ममत्व बुद्धि दु:ख का कारण

एक व्यक्ति ने जंगल में जाते हुए एक हाथी को एक बच्चे को सूंड में उठाकर मारते देखा। यह देखकर वह व्यक्ति चिल्ला उठा, अरे। मेरा बच्चा मारा गया और बेहोश हो जाता है परन्तु वह बच्चा उसका नहीं था। उसके सामने उसका बच्चा लाया गया, उसे देखते ही वह होश में आ गया। यहाँ उस व्यक्ति को सुख बच्चा देखने का नहीं हुआ अपितु उसे सुख इस बात का हुआ कि हाथी द्वारा मारा गया बच्चा उस का नहीं है। इसी तरह पर-पदार्थों में जब-तक अपने पन की ममत्व बुद्धि रहेगी तब तक उस व्यक्ति के समान उसे बेहोशी का नशा छाया रहेगा और

अपने मन की बुद्धि दूर होते ही आनन्द की लहरें आने लगेंगी। इस ममत्व रूपी पिशाचनी ने कितनों को इस संसार में डुबोया है, मोह में ही जीवों ने अनन्तानन्त भव बिता दिये फिर भी ममत्व बुद्धि नहीं गयी। इसीलिए कहा है–

उत्तमा स्वात्मचिंता स्यात् देही चिंता च मध्यमा।
अधमा कामचिंता स्यात् परचिंताधमोऽधमा।।

अपने आत्मा की चिन्ता उत्तम है, शरीर की चिन्ता मध्यम है, विषयों की चिंता अधम है और दूसरों की चिंता अधम से भी अधम है।

आत्मा और शरीर का संबंध अनादिकाल से एक होकर भी किस प्रकार अलग है यह आचार्य देव निम्न श्लोकों द्वारा स्पष्ट करते हैं–

पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम्।
तिलमध्ये यथा तैलं देहमध्ये यथा शिवः।।

जैसे पत्थर में सोना रहता है, दूध में घी रहता है, तिल में तेल रहता है उसी प्रकार शरीर में यह आत्मा रहती है।

काष्ठमध्ये यथा बह्निः शक्तिरूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पण्डितः।।

जिस प्रकार लकड़ी में शक्ति रूप अग्नि रहती है उसी प्रकार शरीर में आत्मा रहती है जो ऐसा जानता है, वह पण्डित है।

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा।
अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः।।

जिस प्रकार कमल में जल सर्वदा भिन्न रहता है उसी प्रकार आत्मा भी स्वभावतः शरीर से भिन्न रहती हुई, शरीर में रहती है।

उपर्युक्त सभी तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपनी आत्मा के अलावा अन्य आत्माऐं व अन्य सभी द्रव्य भिन्न हैं ऐसा जानना ही स्व-पर भेद ज्ञान है। जैसा निम्न सवैये से भी स्पष्ट होता है कि स्व-पर भेद ज्ञान ही मोक्ष को दिलाने वाला है।

प्रगति भेद विग्यान, आप गुन परगुन जानै।
पर परनति परित्याग, सुद्ध अनुभौ थिति ठानै।।
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परगासै।
आश्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै।।
छय करि विभाव समभाव भजि,निरविकल्प निज पद गहै।
निर्मल विसुद्धि सासुत सुथिर,परम अतीन्द्रिय सुख लहै।।

भेदविज्ञान आत्मा के और पर द्रव्यों के गुणों को स्पष्ट जानता है, पर द्रव्यों से अपनत्व छोड़ शुद्ध अनुभव में स्थिर होता है और उसका अभ्यास करके संवर को प्रगट करता है, आस्रव द्वार का निग्रह पूर्वक कर्म जनित महाअंधकार नष्ट करता है, राग-द्वेष आदि विभाव छोड़कर

समताभाव ग्रहण करता है और विकल्प रहित अपना पद पाता है तथा निर्मल, शुद्ध, अनंत, अचल और परम अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करता है।

सम्यग्ज्ञान का चौथा सोपान : स्वसंवेदन ज्ञान

चित्र खौं छोड़ विचित्र भजों नित, विचित्र को चित्र विचित्र लख्यौ है।
चित्र विचित्र खौं न्यारौ करो, तो फिर स्वाद अनूप चख्यौ है।।
जग के जीव तो चित्र लखै, कहाँ पावे चित्र भजन की कला।
जब चित्र में ही मन रच गयौ, तब काहे विचित्र में जाये भला।।

चित्र का अर्थ होता है पुद्गल एवं विचित्र का अर्थ होता है आत्मा। इसलिए पुद्गल का त्यागकर आत्मा की ही प्रतिदिन आराधना करनी चाहिए। आत्मा को यह पुद्गल अद्भुत ही लगता है, इस पुद्गल और आत्मा को पृथक करो, इसके पृथक करने पर एक अनुपम, अद्वितीय, अलौकिक स्वाद का आस्वाद प्राप्त होता है। संसार के प्राणी तो पुद्गल को ही देखते हैं, पुद्गल को त्याग न करने की स्थिति होने पर भेद विज्ञान का ज्ञान उन्हें कहाँ से प्राप्त हो? चूँकि जब मन पुद्गल में ही अनुरक्त हो रहा है तब आत्मा में प्रविष्ट होकर वह आत्मानुभूति भला कैसे करे?

स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् वह ज्ञान जिसके द्वारा आत्मानुभूति होती है, सम्यग्ज्ञान का चौथा सोपान है। जब स्व और पर का भेदज्ञान जीव को हो जाता है तब आत्मानुभूति का अनुभव तथा इससे प्राप्त आनन्द की प्राप्ति होती है तब संसारी जीव संसार-शरीर भोगों में आसक्त नहीं होता क्योंकि तब जीव को ये सब तुच्छ दिखने लगते हैं, जैसा कि आचार्यों ने कहा है कि विषयानन्द, भोगानन्द, भोजनानन्द, इन्द्रियानन्द, लोकानन्द, इच्छानन्द, गृहानन्द आदि समस्त आनन्दों से परे नित्यानन्द है यही परमानन्द है इस आनन्द के परे अन्य कोई आनन्द नहीं है अन्य सम्पूर्ण आनन्द क्षणिक हैं नश्वर हैं। सम्यग्ज्ञान द्वारा ही स्वसंवेदन होता है इसको पं० दौलतराम जी छहढाला की चतुर्थढाल में स्पष्ट करते हैं कि –

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिनमाँहि, गुप्तितैं सहज टरैं ते।।
मुनिव्रत धार अनन्त वार, ग्रैवेयक उपजाओ।
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।।

सम्यग्ज्ञान के बिना अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मों में तप करके जितने कर्मों की निर्जरा करता है उतने कर्मों की निर्जरा ज्ञानी पुरुष के मन, वचन, काय को वशमें करने से एक क्षण भर में

अनायास सहज ही हो जाती है। यह जीव मुनिव्रत को धारण कर अनन्त बार नवग्रैवेयक तक में उत्पन्न हो चुका है तथापि अपनी आत्मा के यथार्थ ज्ञान के बिना इसने लेशमात्र भी यथार्थ सुख नहीं पाया। आत्मज्ञान के बिना स्व-संवेदन का होना संभव नहीं है तथा स्वसंवेदन के बिना सच्चा सुख आत्मानन्द का होना भी असंभव है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मनाश के विषय में सबसे बड़ा अन्तर केवल यही है कि ज्ञानी को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है किन्तु अज्ञानी आत्मज्ञान से अनभिज्ञ रहता है। ज्ञानी किस प्रकार का चिन्तन करता है, किस प्रकार का ध्यान करता है इस बात को पं० दौलतराम जी ने छठवीं ढाल में इस प्रकार कहा है-

निज माँहिं निज के हेतु निजकर, आपको आपै।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मंझार कछु भेदन रह्यौ।।

जब जीव अपने आत्मा में अपने आपको आप ही जान लेता है तो उस समय ध्यान में, अनुभव में, यह गुण है और यह गुणी है तथा यह ज्ञाता है, यह ज्ञान है और यह है इस प्रकार का कुछ भेद नहीं रह जाता है, सब विकल्प मिट जाते हैं इस प्रकार ज्ञानी के ज्ञान की प्रक्रिया चलती है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव प्रवचनसार में कहते हैं कि-

प्रथमोपशम अविरत सम्यक्त्व अथवा क्षयोपशम अविरत सम्यक्त्व, क्षायिक अविरत सम्यक्त्व का प्राप्त होना, शुद्धआत्मा का अनुभव कहा जाता है। इसी को और स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि-

जो जाणदि अरहन्तं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। 80।।

जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने के द्वारा जानता है वह अपने आप को जानता है, उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त हो जाता है।

आत्मज्ञान होने में कारण क्या है, जगह-जगह शास्त्रों में उसको क्यों स्पष्ट किया गया है, कि आत्मज्ञान से स्वसंवेदन होता है और इसे प्राप्त करने में श्रद्धा ही मूलकारण होती है। इसको निम्न दृष्टान्त से समझा जा सकता है।

आत्मदीप उपलब्धियों का मूल

किसी नगर में एक राजा अपने जीवन के अन्तिम दिनों से गुजर रहा था, वस्तुतः उसके केवल दो पुत्र थे दोनों ही बहुत योग्य थे। उसने सोचा कि परम्परानुसार बड़े पुत्र को राज्यभार सौपूं या योग्यतानुसार किसी एक पुत्र को राज्य दूँ। इसी उधेड़बुन में लगा रहा कि कैसे निर्णय

करूँ कि कौन अधिक होशियार है ज्ञानी है। दोनों ही पुत्र ज्ञानी दिखते थे निर्णय करना बहुत कठिन था सोच रहा था किस पर राज्य भार डालूँ? कौन सार्थक सिद्ध होगा? जब यह बात सभासदों, मंत्रियों को मालूम हुई तो उन्होंने कहा कि बड़े पुत्र को परम्परानुसार राज्य सौंप दीजिये किन्तु जब उन्हें राजा के मंतव्य का पता चला कि राज्य योग्यतानुसार ही सौंपना है तो मंत्रियों ने सलाह दी कि नगर के बाहर एक योग्य साधु रहता है। जब नगर में किसी पर किसी भी प्रकार की विपदा आती है तो वह उससे पूछने जाते हैं। वह निष्पक्ष न्याय करता है। राजा ने भी साधु के पास जाकर उसे अपनी उलझन बतादी। साधु ने कहा एक काम करो। अपने दोनों बेटों को कुछ रूपये दे दो और उनसे कहना कि इन रूपयों से अपने-अपने कमरों को ऐसी चीजों से भर दो जिससे उसमें जरा भी जगह खाली न रहे। राजा ने घर जाकर ऐसा ही किया।

जब दोनों बेटों को यह पता चला कि थोड़े से धन में अपने-अपने कमरों को पूरा-पूरा भरना है तब दोनों सोच-विचार कर युक्ति लगाने लगे। बड़े पुत्र ने निर्णय लिया कि मैं अपने कमरे को कूड़े-कचरे से भर दूंगा, बस कूड़े को लाने का खर्चा उठाना पड़ेगा, उसने ऐसा ही किया। कम पैसों में कमरा पूरा सामान से भरने का उसे और कोई उपाय नहीं दिखा। कमरे में से दुर्गन्ध आने लगी तथा दूर-दूर तक फैलने लगी। कमरे के पास खड़ा होना भी कठिन हो गया किन्तु राज्य के लोभ में वह सब सहता रहा।

छोटा पुत्र भी निरन्तर कम पैसों में अपने कमरे को पूरा भरने का उपाय सोच रहा था। परीक्षा का दिन करीब आ रहा था, कोई उपाय नहीं सूझ रहा था कि क्या करूँ और क्या न करूँ तब वह सोचने लगा कि मैं भी क्यों न अपने बड़े भाई वाला ही कार्य कर डालूँ। फिर सोचने लगा कि कचरे से भरना भी कोई भरना है? इससे तो हार ही स्वीकार कर लेना अच्छा है। मैं अपनी प्रतिष्ठा को क्यों खोऊँ, अत: ऐसा मैं नहीं करूँगा। यह धन सम्पति भी तो एक कचरा है। उसे युक्ति सूझी कि उसी फकीर साधु के पास जाकर सलाह माँगनी चाहिए। वह उसी साधु के पास जाता है और अपनी व्यथा सुनाता है। कहता है, मुझे आप पर पूर्ण श्रद्धा है और जो भी आप कहेंगे मैं करूँगा।

साधु कहता है, घबराओ नहीं, मेरी कुटिया से बाहर निकलो और उगते हुए सूर्य को देखो, उपाय तुम्हें स्वयं मिल जावेगा। दुनिया के समस्त आत्म वेत्ताओं ने इतना ही कहा कि आँख खोलकर देखने पर सब कुछ मिल जाता है। राजा का छोटा पुत्र बाहर आता है और आँख खोल कर देखता तब उसे तुरन्त उपाय मिल जाता है। खुशी-खुशी वह वापस अपने महल में आ जाता है। सायंकाल परीक्षा की घड़ी आ जाती है परन्तु तब तक उसका कमरा खाली था।

बड़ा पुत्र दुर्गन्ध के बीच रहकर भी काफी खुश था क्योंकि उसे अपनी जीत के लक्षण दिखाई पड़ रहे थे। इतने में राजा के मंत्री और निर्णायक सब उसके कमरे में पहुँच जाते हैं। वे

सब के सब बाहर ही से लौटने लगते हैं। भीतर ही नहीं जा सके। छोटे पुत्र का कमरा खाली देखकर सब चिन्तित हो जाते हैं। वे सोचते हैं राज्य लेनेका, कारोबार सँभालने का इसका विचार नहीं है। राजा ने कमरे के भीतर प्रवेश किया और राजकुमार से पूंछा यह कमरा तो खाली है। राजकुमार ने सहज भाव से मुस्कराते हुए कहा -पिताजी आप जरा ध्यान से देखिए कमरा भरा हुआ है। वे सब राजकुमार की ओर विस्मय से देख रहे थे। छोटे पुत्र ने कमरे के सब दीपक रोशन कर दिये। वे सब देखकर अवाक् रह गये, कमरा पूर्ण प्रकाश से भर गया था। कम खर्च हुआ, थोड़े में ही काम हो गया किन्तु कमरे का प्रत्येक स्थान प्रकाश मण्डित हो गया था। यह आम अनुभव है कि जब दीपक घर में जलता है तब मात्र घर में ही प्रकाश नहीं होता बल्कि द्वार, खिडकियों, झरोखों से प्रकाश बाहर भी जाता है। घर में गन्दगी एकत्रित होती है तो दुर्गन्ध बाहर भी पहुंचती है। छोटे राजकुमार के बुद्धि-चातुर्य पर राजा बहुत प्रसन्न होता है और उसके नाम राज्य की घोषणा कर देता है। छोटा राजकुमार जीतने के बाद भी हार का अनुभव करता है। वह सोचता है कि कमरे को प्रकाशित करने पर जब राज्य मिल सकता है, तब यदि मैं अन्तर आत्मा का प्रकाश करूँ तो क्या नहीं मिलेगा, राज्य भी एक कमरा है। जब यह कमरा प्रकाशित हो सकता है तो मेरी आत्मा भी प्रकाशित हो सकती है। वह निर्णय लेता है कि अब जीवन को आलोक से भरना है। जीवन की प्यास तप, त्याग और संयम से ही पूर्ण होगी। अत: उसने राज्य को स्वीकार नहीं किया और जैनेश्वरी दीक्षा लेकर वन की ओर चला गया।

आत्मा के प्रति झुकने की कला छोटे राजकुमार ने कहाँ से सीखी थी कहीं से नहीं वह केवल उसकी अपनी श्रद्धा का फल था। उसने साधु की बात का श्रद्धान किया उनके प्रति अपनी श्रद्धा को अडिग रखा तभी उसके जीवन में यह महान घटना घटी थी। अत: संसार का कोई भी कार्य बिना श्रद्धान के नहीं होता अत: आत्मा की प्राप्ति भी बिना श्रद्धा के संभव नहीं है।

आत्मज्ञान, स्वसंवेदन का पुरुषार्थ जीव को समय रहते कर लेना चाहिए, अन्यथा शरीर की शक्ति क्षीण हो जाने पर यह संभव नहीं हो पाता। इसको पं० बनारसी दासने अपने निम्न सवैये में इस प्रकार स्पष्ट किया है–

जौलौं देह तेरी काढू रोग सौं न घेरी जौ लों,
जरा नाहिं नेरी जासौं पराधीन परि है।
जौ लौं जमनाया वैरी देय न दमामा जौलौं,
मानै कान रामा बुद्धि जाइ ना बिगरि है।।
तौलौं मित्र मेरे निज कार ज सँवार लेरे,
पौरुष थकैंगे फेर पीछै कहा करि है।
अहो आग ओये जब झौपरी जरन लागी,
कुआ के खुदाये तब कौन काज सरि है।

हे मेरे प्रिय मित्र! जब तक तुम्हारे शरीर को कोई रोगादि नहीं घेर लेता है, पराधीन कर डालने वाला बुढ़ापा जब तक तुम्हारे पास नहीं आ जाता है, प्रसिद्ध शत्रु यमराज का डंका जब तक नहीं बज जाता है और बुद्धि रूपी पत्नि जब तक तुम्हारी आज्ञा मानती है बिगड़ नहीं जाती है, उससे पहले तुम अपना आत्मकल्याण अवश्य कर लो अन्यथा बाद में तुम्हारी शक्ति क्षीण हो जायेगी तब क्या कर पाओगे, कुआँ आग लगने से पहले ही खोद लेना चाहिए जब आग लग जाय और झोंपड़ी जलने लगे तब कुआँ खोदने से क्या होगा आचार्य कुन्दकुन्द देव समयसार में कहते हैं कि–

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू।।42।।

जो परमार्थ में अर्थात् शुद्धात्मानुभूति में स्थित नहीं है और तप करता है तथा व्रतों को ध ारण करता है उन सब तपों और व्रतों को सर्वज्ञ देव बालतप या अज्ञानतप या बालव्रत या अज्ञानव्रत कहते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि शुद्धात्मानुभूति से रहित अणुव्रत या महाव्रत प्रशमादि भाव मिथ्यात्व गुणस्थान में ही दिखाई देते हैं। शुद्धात्मानुभूति से रहित जो जीव है वह मोक्ष मार्गस्थ नहीं है और जो शुद्धात्मानुभूति से सहित है वह सम्यक्त्वी हैं, वही मोक्षमार्ग में स्थित हैं अतः स्वसंवेदन ही इसका मूल है। यही बात आचार्य समन्तभद्र स्वामी रत्नकरण्डश्रावकाचार में इस प्रकार कहते हैं–

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।।50।।

दर्शनमोह से रहित या शुद्धात्मानुभूति वाला अव्रती गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है, लेकिन दर्शनमोह सहित या शुद्धात्मानुभूति से रहित महाव्रत धारी मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं हैं। इसलिए शुद्धात्मा वाला अव्रती गृहस्थ शुद्धात्मानुभूति से रहित सर्व प्रकार के महाव्रतों का पालन करने वाले मुनि से श्रेष्ठ है।

दूसरे शब्दों में स्वसंवेदन मुनि को होता ही है गृहस्थ को भी होता है। मुनि को स्वसंवेदन उत्कृष्ट रूप से होता है किन्तु गृहस्थ को यह आंशिक रूप से होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि शुद्धात्मानुभूति से, स्वसंवदेन से ही मोक्षमार्ग शुरू होता है। जिस समय शुद्धात्मानुभव होता है उसी समय श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र तीनों में समीचीनता आती है। जो शुद्धात्मानुभूति से रहित दान, पूजादि, अणुव्रत की क्रिया और

मूलोत्तरगुण पालन की क्रिया करते हैं वे शुद्धोपयोग से रहित होने से मोक्षमार्ग में स्थित नहीं हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार में लिखते हैं कि–

जह णाम कोवि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।।
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।।

जिस प्रकार कोई धनार्थी व्यक्ति राजा को जानकर उसपर श्रद्धान करता है और साथ ही उसका प्रयत्लपूर्वक अनुचरण भी करता है उसी प्रकार मोक्ष के अभिलाषियों को जीवरूपी राजा को जानना चाहिए उसपर श्रद्धान करना चाहिए एवं उसी का अनुसरण भी करना चाहिए और उसी में तन्मय हो जाना चाहिए।

आत्मार्थियों को सबसे पहले निज भगवान आत्मा को जानना चाहिए फिर यह श्रद्धान करना चाहिए कि यह भगवान आत्मा मैं ही हूँ। इसके पश्चात् उसी में लीन हो जाना चाहिए क्योंकि निज भगवान आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान ही निश्चय नय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं। ये ही रत्नत्रय भंडार हैं अन्य वाह्य सम्पदा जीव की कण मात्र भी सम्पदा नहीं है। स्वसंवेदन ही इसका मूल कारण है इस बात को निम्न दृष्टान्त द्वारा भी समझा जा सकता है–

सम्पन्नता का राज

एक मुनिराज किसी जंगल में तपश्चरण करते थे। एक बार एक राजा वहाँ से गुजर रहा था उसने उनकी निर्ग्रन्थ मुद्रा देखकर सोचा कि यह तो बहुत दरिद्र है, उनके पास कुछ भी नहीं है अतः हमें इनकी कुछ सहायता करना चाहिए ऐसा विचार कर राजा ने अपने मंत्री को 100 स्वर्ण मुद्राएं उस दरिद्र जंगल वासी साधु को देने को कहा। मंत्री ने साधु से कहा, कि राजा ने ये मुद्राएं आपके लिए भेजी हैं। इसे लेकर आप अपनी दरिद्रता दूर कर लें, यह सुनकर मुनिराज कहते हैं इन्हें गाँव में बाँट दो। राजा का मंत्री राजा के पास पहुँचता है और साधुका उत्तर बताता है, राजा सोचते हैं कि शायद यह मुद्राएं कम हैं इसलिए उस दरिद्र ने स्वीकार नहीं की। राजा ने कहा 200 मुद्रा भेजी जायें इस तरह वह पुनः 200 मुद्राएं मंत्री के हाथ भेजता है। मंत्री साधु के पास जाता है और मुद्राएं स्वीकार करने के लिए कहता है किन्तु इस बार भी उस साधु ने वही उत्तर दिया कि जाओ इन्हें गरीबों में बाँट दो। मंत्री फिर राजा के पास आकर कहता है कि उसने स्वर्ण मुद्राएं स्वीकार नहीं की है। अब राजा सोच में पड़ जाता है कि क्या कारण है कि वह मुद्राएं स्वीकार नहीं करता है। वह सोचता है, शायद उसने मंत्री के हाथों स्वर्ण मुद्राएं

स्वीकार करना अपना अपमान समझा हो, इस कारण मैं स्वयं ही वहाँ जाकर उन्हें ये दे आऊँ। इस प्रकार वह स्वयं 1000 स्वर्ण मुद्राएं लेकर उन मुनिराज के पास पहुँचता है और कहता है कि ये स्वर्ण मुद्राएं ले लीजिए। मुनिराज ने फिर वही बात कही जाओ गरीबों में बँटवा दो। अब राजा बोलते हैं कि तुमसे गरीब मुझे और कौन मिलेगा अब मुनिराज उत्तर देते हैं कि हे राजन्! तुम नहीं जानते हम श्रीमन्त हैं हमारे पास अनन्त वैभव का भण्डार है, हम ऐसा तुच्छ परद्रव्य स्वीकार नहीं करते हैं। राजा बोला, मुझे उसकी चाबी दे दीजिए मैं भी वह अनन्त वैभव का भण्डार लूँगा। मुनिराज कहते हैं इसके लिए कुछ दिन यहाँ मेरे साथ रुकना होगा तब उसे पा सकोगे राजा बोलता है- हाँ हाँ रह लूँगा। इस तरह राजा मुनिराज के पास रहने लगा। मुनिराज कुछ धर्म का उपदेश उसे देते रहे। कुछ दिन बाद मुनिराज बोलते हैं कि अच्छा तुम्हें मेरा अनन्त वैभव का खजाना देखना है तो मेरे जैसे हो जाओ। राजा ने सोचा यही विधि होगी अनन्त खजाने को देखने की, इसलिए वह मुनिराज बन जाता है। मुनिराज जैसी क्रियायें करने लग जाता है। कुछ दिन बाद मुनिराज बोले राजन्। लीजिए ये धन सम्पदा तो वह पूर्व राजा बोलता है कि प्रभु अब कुछ नहीं चाहिए है धन सम्पदा मुझे तुच्छ लग रही है। अब तो मुझे अपने अनन्त वैभव सम्पन्नता तथा अपने साम्राज्य का पता चल गया। मुझे अपने रत्नत्रय खजाने का पता चल गया। राजा को स्व-संवेदन, आत्मानुभूति हो चुकी थी।

इस प्रकार देखिये किसी की बाहरी स्थिति को देखकर यह निर्णय ही दिया जा सकता कि वह दरिद्र है या श्रीमन्त। ये तो वाह्य स्थितियाँ है। सम्पन्नता की निर्भरता तो अन्तरंग भावों के आधार पर ही की जा सकती हैं।

स्व-संवेदन, आत्मानुभूति के लिए विश्व के अन्य पदार्थों, द्रव्यों को जानना आवश्यक नहीं है, केवल अपनी आत्मा को जानना ही, पर्याप्त है यह बात निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है-

क्षत्रिय और वैश्य में लड़ाई हो गयी क्षत्रिय को वैश्य ने हरा दिया। वैश्य क्षत्रिय की छाती पर सवार को गया। उसी समय क्षत्रिय ने वैश्य से पूछा- "तुम कौन हो?" वैश्य ने उत्तर दिया"- मैं वैश्य हूँ।" क्षत्रिय ने ऐसा सुनते ही साहस पूर्वक उसे नीचे गिरा दिया। लड़ाई से पूर्व वह यह नहीं जानता था कि वह वैश्य है। ठीक उसी प्रकार जब हमें मालूम पड़ जाता है कि कर्म कषाय पर निर्भर हैं और वे हमें संसार में नाना प्रकार के कष्ट दे रहे हैं। हम ही उन्हें दूर कर सकते हैं। ऐसा करना कठिन बात नहीं है। यही भेद विज्ञान है इसी आत्मज्ञान से स्व-संवेदन होता है। इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द देव समयसार में इस प्रकार कहते हैं-

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाण मइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झं किंचिवि अण्णं परमाणु भेत्तंपि॥

मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ एवं सदा ही ज्ञान-दर्शनमय अरूपी तत्व हूँ मुझसे भिन्न अन्य समस्त द्रव्य लेश मात्र भी मेरे नहीं हो सकते हैं अर्थात् मैं समस्त पर-द्रव्यों से भिन्न, ज्ञान दर्शन स्वरूपी, अरूपी, एक परम शुद्ध तत्त्व हूँ। अन्य पर द्रव्यों से मेरा कुछ भी संबंध नहीं है।

अष्टम अध्याय : सम्यक्चारित्र

वीतराग सर्वज्ञ जिन बंदू मन वच काय।
चारित धर्म बखानियो सांचो मोक्ष उपाय।।

सर्वप्रथम मंगल के लिए इष्टदेव को नमस्कार करके, चारित्र धर्म को अपना कर, मोक्ष का सम्यक् उपाय बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द देव चारित्र धर्म को बतलाने की प्रतिज्ञा करते हैं। वे लिखते हैं कि सम्यक्चारित्र आत्मा का परिणाम है। सम्यक्चारित्र अंगीकार करने पर सम्यक्दर्शन आदि परिणाम निर्दोष होते हैं। चारित्र मोक्ष के आराधन का कारण है।

दर्शनमोह रूप अंधकार के दूर होने पर सम्यक्दर्शन के प्रगट होने पर जिसे सम्यग्ज्ञान की भी प्राप्ति हो गई है, ऐसा सत्पुरुष, जो निकट भव्य है, उसे राग-द्वेष के पूर्ण अभाव के लिए चारित्र स्वीकार करने की आवश्यकता होती है।

राग-द्वेष का अभाव होने पर हिंसादि पाँचों पापों की पूर्ण निवृत्ति या अभाव होना ही सम्यक्चारित्र है। दूसरों शब्दों में हम कह सकते हैं कि जिसे अपने प्रयोजन के लिए किसी भी पदार्थ की अभिलाषा नहीं रह गई है, ऐसा व्यक्ति किसी राजा आदि की सेवा नहीं करेगा। उनकी सेवा वही करेगा जिसे भोगों की चाह हो, धन तथा अभिमान आदि की अभिलाषा हो। इसी प्रकार जिसके राग-द्वेष का अभाव हो जाता है, वह व्यक्ति हिंसा आदि पाँच पापों में प्रवृत्ति नहीं करता है। यही सम्यक्चारित्र का लक्षण है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव संयम आचरण को चारित्र मानने के लिए कहते हैं उन्होंने अष्टपाहुड की चारित्रपाहुड की गाथा में लिखा है–

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे परिग्गहरहिय खलु णिरायारं।।

संयमाचरण, चारित्र के दो भेद हैं–(1) सागार संयमचरण- चारित्र (2) निरागार (अनगार संयम चरण- चारित्र) वस्तुतः सागार चारित्र परिग्रह सहित श्रावक के होता है और निरागार चारित्र परिग्रह से रहित मुनिराज के होता है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि–

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम्।।५०।।

समस्त अन्तर-बाह्य परिग्रह से विरक्त जो अनगार अर्थात् गृह-मठादि नियत स्थान रहित वन खण्डादि में परम दयावान होकर निरालम्बी विचरण करते हैं ऐसे ज्ञानी मुनीश्वरों के जो चारित्र होता है वह सकल चारित्र है। जो स्त्री, पुत्र, धन आदि परिग्रह सहित घर में ही निवास करते

हैं तथा जिन वचनों के श्रद्धानी हैं, न्यायमार्ग का उल्लंघन नहीं करते हैं और पापों से डरते हैं, ऐसे ज्ञानी गृहस्थों के विकल चारित्र है।

सागार अर्थात् परिग्रह सहित श्रावक का कैसा संयमपूर्ण आचरण हो उसे आचार्य कुन्दकुन्द देव अष्टपाहुड के चारित्रपाहुड की गाथा में लिखते हैं–

दंसणवयसामाइयपोसहसचित्तरायभत्ते य।
बंभारंभपरिग्गहअणुमण उद्‌दिट्ठ देसविरदो य॥२२॥

दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचितत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्‌दिष्टत्याग, इस प्रकार कुल ग्यारह प्रकार का देशविरत चारित्र कहलाता है। ये श्रावक के संयमाचरण के ग्यारह स्थान हैं, इनको श्रावक की प्रतिमाएं भी कहते हैं।

इसका विस्तृत वर्णन आगे भी किया जायेगा। यहाँ केवल बारह व्रतों का संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है–

पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं॥

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत–इस प्रकार बारह प्रकार का सयंम चरण–चारित्र है, जो गृहस्थों के होता है। इसलिए इनको सागार कहते हैं।

यही बात आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में इस प्रकार कहा है।

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम्।
पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथा संख्यमाख्यातम्॥५१॥

गृहस्थों के अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत रुप तीन प्रकार का चारित्र होता है। उस तीन प्रकार के चारित्र के क्रमशः पाँच, तीन और चार भेद परमागम में कहे गये हैं। जो गृहवास छोड़ने में असमर्थ हैं, ऐसा सम्यग्दृष्टि घर में रहता हुआ पाँच प्रकार के अणुव्रत, तीन प्रकार के गुणव्रत और चार प्रकार के शिक्षाव्रतों का पालन करें।

छहढाला में पं. दौलतराम जी ने इस प्रकार कहा है–

सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दृढ़ चारित्र लीजे।
एक देश अरु सकल देश, तसु भेद कहीजे॥

हे भव्यो! आत्मज्ञान की सिद्धि के लिए सांसारिक सभी झंझटों से दूर रहना ही ठीक है, ऐसा जानकर सम्यक् चारित्र धारण करो। उस सम्यक् चारित्र के दो भेद हैं–देशचारित्र और

सकलचारित्र। देशचारित्र और सकलचारित्र की व्याख्या से पूर्व संयम को समझ लेना अपेक्षित है। धवला में लिखा है कि–

सम्यक् यमो संयमः अर्थात् सम्यक् रूप से यम अर्थात् नियंत्रण या उपरम, संयम है। सम्यक् रूप से इन्द्रियों और मन के विषयों का उपरम संयम कहलाता है। वस्तुतः वीतरागता प्रकट करना ही सच्चा चारित्र है। संयम दो प्रकार का होता है–(अ) इन्द्रिय संयम (ब) प्राणी संयम।

पांच इन्द्रियों और मन को विषयों से रोकना तथा उनका शमन करना इन्द्रिय संयम है। इसका संक्षिप्त विवरण निम्न है–

1. **स्पर्शन इन्द्रिय संयम**–शरीर को स्वाभाविक् बनाये रखना, कृत्रिम साधनों से सुन्दर नहीं बनाना। स्त्री अथवा पुरुष में आसक्ति न होना, गर्मी में कूलर या पंखा नहीं चलाना, सर्दी में हीटर नहीं लगाना आदि। स्पर्शन इन्द्रिय संयम कहलाता है। इसके विपरीत संयम नहीं होता। यदि शरीर से तीव्र मोह होगा तो स्पर्शन इन्द्रिय संयम नहीं हो सकता।
2. **रसना इन्द्रिय संयम**–जिह्वा पर नियंत्रण रखना करना, रसना इन्द्रिय संयम कहलाता है। यदि एक वस्तु की इच्छा घटाई और दूसरी वस्तु में बढ़ाई तो उसे रसना संयम नहीं कह सकते।
3. **घ्राण इन्द्रिय संयम**–नाक से संबंधित सुगन्ध और दुर्गन्ध में राग-द्वेष नहीं करना। यदि सुगन्ध को सूंघकर प्रसन्न होवे और दुर्गन्ध में खेद खिन्न होवे तो उसे घ्राण इन्द्रिय संयम नहीं कह सकते। सुगन्ध और दुर्गन्ध में एक समान रहना घ्राण इन्द्रिय संयम है।
4. **चक्षु इन्द्रिय संयम**–आँख इन्द्रिय से संबंधित नाना प्रकार के दृश्य देखना, फिल्म, टेलीविजन आदि देखना, सभी के सुन्दर रूप को देखकर मोहित होना, कोठी, बंगले आदि की सुन्दरता को देखकर उसमें राग करना चक्षु इन्द्रिय संयम नहीं कहलाता है। वस्तुतः अच्छे बुरे दृश्यों में समान रहना चक्षु इन्द्रिय संयम कहलाता है।
5. **कर्ण इन्द्रिय संयम**–कान से संबंधित ध्वनि के अनुकूलता और प्रतिकूलता के आधार पर क्रमशः राग एवं द्वेष करना कर्ण इन्द्रिय संयम नहीं है। ज्ञान के शब्दों को सुनकर उसमें मनोयोग लगाना, जिन प्रणीत वाणी को सुनकर आत्मा में उतारना, आदि। कर्ण इन्द्रिय संयम है।
6. **मन इन्द्रिय संयम**–सबसे कठिन इन्द्रिय संयम मन का संयम होता है क्योंकि यह सभी इन्द्रियों पर सवार रहता है। वह बहुत चंचल होता है। यदि इसके ऊपर नियंत्रण कर लिया जाये तो कल्याण होने में देर नहीं लगती है। मन की दौड़ सबसे तेज होती है।
7. **प्राणी संयम**–पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर जीवों एवं दो इन्द्रिय आदि त्रस जीवों के प्राणों की रक्षा करना प्राणी संयम कहलाता है। जहाँ पर हिंसा होगी वहाँ पर संयम की विराधना होगी ही।

यदि जीवन में संयम को धारण नहीं किया तो जीवन व्यर्थ है, इसके महत्व को समझने के लिए निम्न दृष्टान्त को ध्यान से समझना होगा—

एक नगर में एक बड़ा साहूकार रहता था। एक मोटर कम्पनी का एजेन्ट इस साहूकार के पास जाता है। साहूकार से कहने लगा सेठ जी, हमारी कम्पनी में कारें बनती हैं, आप बहुत बड़े साहुकार हैं। कृपया आप हमारी कार खरीद लीजिए। साहूकार कहने लगा कि पहले कार की कीमत और गुण बताइये। एजेन्ट कहता है कि हमारी कार पहाड़ी इलाकों में ठीक चलती है, पैट्रोल कम खाती है, सीटें भी बड़ी सुन्दर हैं, और देखने में भी बड़ी अच्छी है।

साहूकार कहता है कि ये सब तो ठीक है किन्तु यह बताओ कि इसके ब्रेक भी ठीक हैं कि नहीं। कार वाला कहता है कि ब्रेक कुछ कम लगते हैं। साहूकार बोला—तुम्हारी कार की कीमत तथा गुण कुछ नहीं है। यह कार पहाड़ी इलाके में मार सकती है। यदि तुम्हारी कार में कितने ही गुण हो अगर ब्रेक ठीक नहीं तो कुछ भी नहीं है। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति यदि देखने में कितना भी सुन्दर क्यों न हो यदि उसके जीवन में संयम नहीं तो उसकी कोई कीमत नहीं। संयम जीवन में महान होता है। अतः सभी मनुष्यों को जीवन में शक्ति अनुसार संयम धारण करना चाहिए।

जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है कि गृहस्थों के चारित्र को एकदेश चारित्र कहते हैं तथा इससें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रतों का समावेश होता है, जिसका वर्णन निम्न प्रकार से किया जाता है—

पाँच अणुव्रतों का स्वरुप—आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि—

प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्यः।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति॥

मारने के संकल्प से त्रस जीवों की हिंसा का त्याग, स्थूल हिंसा त्याग है। जिस वचन से अन्य प्राणी का घात हो जाये, धर्म बिगड़ जाये, अपवाद या निन्दा हो जाये, कलह-संक्लेश, भय आदि प्रकट हो जाये—ऐसा वचन क्रोध, अभिमान के वश होकर कहने का त्याग करना, वह स्थूल असत्य का त्याग है। बिना दिये किसी अन्य के धन के लोभ के वश होकर व छल-कपट करके ग्रहण करने का त्याग करना, वह स्थूल चोरी का त्याग है। अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय अन्य समस्त स्त्रियों में काम भाव की अभिलाषा का त्याग करना वह स्थूल काम त्याग है। दस प्रकार के परिग्रह का प्रमाण करके अधिक परिग्रह के ग्रहण करने का त्याग करना, वह स्थूल परिग्रह त्याग है। इस प्रकार इन पाँचों पापों का त्याग करना ही पाँच अणुव्रतों का पालन कहलाता है। पाँचों अणुव्रतों के स्वरुप का विशेष स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है-

अहिंसाणुव्रत–'त्रस हिंसा को त्याग, वृथा थावर न संघारे' अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा सर्वथा नहीं करना और बिना मतलब स्थावर जीवों की हिंसा भी नहीं करना अहिंसाणुव्रत है।

सत्याणुव्रत–'पर वध-कर कठोर, निंद्य नहिं वचन उचारै' अर्थात् जिस वचन के बोलने से दूसरे से किसी जीव का घात होता हो अथवा जो सुनने में कठोर हो और जिसके सुनने से लोग लज्जित हो जाते हों ऐसे वचन नहीं बोलना, सत्याणुव्रत है।

अचौर्याणुव्रत–'जल मृतिका बिन और, नहिं कछु गहे अदत्ता' अर्थात् जिन्हें प्राप्त करने में कोई रुकावट नहीं होती ऐसे पानी और मिट्टी के सिवाय अन्य कोई भी वस्तु बिना दिये नहीं लेना, अचौर्याणुव्रत है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत–'निज वनिता बिन सकल, नारि सो रहे विरत्ता' अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय शेष सभी स्त्रियों को माता-बहन के समान समझना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

परिग्रहपरिमाणुव्रत–'अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै' अर्थात् अपनी शक्ति को देखकर जीवन भर के लिए परिग्रह का परिमाण करना सो परिग्रह परिमाणुव्रत है।

गुणव्रतों का स्वरुप–

1. **दिग्व्रत**

दश दिश गमन प्रमान ठान, तसु सीम न नाखै।

दशों दिशाओं में आने जाने की मर्यादा निश्चित करके जीवन पर्यन्त उसका उल्लंघन नहीं करना, दिग्व्रत है।

2. **देशव्रत**

ताहू में फिर ग्राम, गली गृह बाग बजारा।
गमनागमन प्रमाण ठान, अन सकल निवारा।।

अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिए जो दिग्व्रत धारण किया था उसमें भी और संकोच करके कुछ समय तक के लिए किसी गाँव, गली, बगीचा, बाजार आदि तक आने जाने की मर्यादा कर लेना और उससे बाहर नहीं जाना, देशव्रत है।

3. **अनर्थदण्डव्रत**

काहू की धन हानि, किसी जय-हार न चिंतै।
देयन सो उपदेश, होय अघ व निज कृषि तैं।।

कर प्रमाद जल भूमि वृक्ष पावक न विराधे।
असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे जस लाधे॥
राग द्वेष करतार कथा, कबहूँ न सुनी जै।
औरहु अनरथ दंड, हेतु अघ तिन्है न कीजै।

बिना प्रयोजन पापारंभ को अनर्थदण्ड कहते हैं, उससे दूर रहना अनर्थदण्ड विरितव्रत है; इसके निम्न भेद हैं–

1. **अपध्यान अनर्थदण्डविरति व्रत**–किसी के धन का नाश हो जाने का, किसी की जीत का किसी की हार आदि का व्यर्थ ही मन में विचार नहीं करना, अपध्यानअनर्थदण्डविरति व्रत है।
2. **पापोपदेश अनर्थदण्डविरति व्रत**–जिस बात के कहने से लोग हिंसाजनक और खेती आदि करने में लग जायें और अनर्थ करने लगें ऐसे निरर्थक वचनों का पापोपदेश नहीं करना पापोपदेश अनर्थदण्डविरति व्रत है।
3. **प्रमादचर्या अनर्थदण्डविरति व्रत**–बिना कारण पानी गिराना, जमीन खोदना, हवा करता वृक्ष काटना और आग जलाना आदि का त्याग करना, प्रमादचर्या अनर्थदण्डविरति व्रत है।
4. **हिंसादान अनर्थदण्डविरति व्रत**–हिंसा के साधन, हिंसक, साँसी, बावरिया आदि नहीं देना, हिंसादान अनर्थदण्डविरति व्रत है।
5. **दुःश्रुति अनर्थदण्डविरति व्रत**–राग और द्वेष को बढ़ाने वाली कथा कहानियों को सुनने का त्याग करना, दुःश्रुति अनर्थदण्डविरति व्रत है।

इसी प्रकार और भी जिन कार्यों के करने से बिना प्रयोजन पापारम्भ होता हो उन्हें भी त्याग करना चाहिए। इस प्रकार ये सब अनर्थदण्डविरति व्रत हैं।

चार शिक्षा व्रतों का स्वरुप

1. **सामायिक शिक्षाव्रत**

धर उर समता भाव, सदा सामायिक करिये।

सुबह, शाम और दोपहर को यथा समय मन में समता लाकर परमात्मा का चिन्तन करना और अपनी आत्मा का चिन्तन करना सामायिक शिक्षाव्रत है।

2. **प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत**

परव चतुष्टय माहिं, पाप तजि प्रोषध धरिये।

एक महिने में दो अष्टमी, दो चतुर्दशी इस प्रकार चारों पर्व के दिनों समस्त पापारम्भ का त्याग करके यथाविधि उपवास करना प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है।

3. **भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत**

भोग और उपभोग नियम कर ममत निवारै।

अपने काम में आने वाली भोग और उपभोग में आने वाली सामग्रियों में से कुछ समय के लिए और भी संकोच कर लेना, भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत है।

4. **अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत**

मुनि को भोजन देय, फेर निज करै आहारै।

निर्ग्रन्थ मुनि आदि सत्पात्रों को आहार देने के पश्चात् स्वयं भोजन करने का संकल्प करना अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत कहलाता है। पं. दौलतराम जी कहते हैं–

बारह व्रत के अतीचार, पन-पन न लगावै।
मरण-समय सन्यास धारि, तसु दोष नशावै॥
यों श्रावक व्रत पाल, स्वर्ग सोलम उपजावै।
तहँ तै चय नर जन्म पाय मुनि हवै शिव जावै॥

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावक के बारह व्रत होते हैं। इन व्रतों को जो यथोचित रीति से पालन करता है एवं प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार जो तत्त्वार्थसूत्र में बताये हैं, उनको नहीं लगने देता है और मरने के समय में निरतिचार सन्यास पूर्वक मरण करता है वह जीव सोलहवें स्वर्ग में जाकर महाऋद्धिक देव होता है वहाँ से आकर मनुष्य भव प्राप्त करके मुनिलिंग धारण करके मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार यदि जैनकुल पाकर भी कोई श्रावक 12 व्रतों को नहीं पालता अर्थात् संयम को धारण नहीं करता तो उसका जीवन व्यर्थ है जैसा कि निम्न दृष्टान्त में दर्शाया है–

लाल की कीमत

एक खेत में बल्ली गाड़ने के लिए एक गड्ढा खोदा गया। वहाँ से रत्नों का भरा हुआ एक कलश निकलता है। किसान यह जानकर बड़ा खुश हुआ कि अब मुझे पक्षियों को उड़ाने के लिए कंकड़-पत्थर इकट्ठे नहीं करने पड़ेंगे। किसान रत्नों की कीमत से अनभिज्ञ था। अत: वह उनको पक्षी उड़ाने में काम लेता और एक-एक करके फेंकता जाता, सब लाल पास की नदी में गिरते जाते। एक दिन एक लाल किसी तरह उसकी झोपड़ी के पास गिर जाता है तभी पत्नी रोटी लेकर आती है और उस लाल की चमक को देखकर बहुत खुश होती है, सोचती है, बच्चे इससे

खेल-खेल लेंगे। अत: वह उसे उठाकर अपने घर ले जाती है और उसे अपने बच्चों को खेलने के लिए दे देती है।

एक दिन नगर के सेठ ने बच्चों को लाल से खेलते देखा और विचारने लगा कि इनको यह किसने दिया होगा। उसने बच्चों की माता को आवाज लगाई और पूछा–बच्चे ये लाल कहां से लाये हैं, बच्चे की माँ बोली–यह पत्थरी खेत में पड़ी थी सोचा बच्चों के लिए सुन्दर रहेगी। अत: इसे मैं उठाकर यहाँ ले आई। आपके मतलब की हो तो ले जाइये। सेठ अणुव्रती थे बोले कीमत बताओ ऐसे नहीं लेंगे। बच्चों की माता बोली–कीमत कुछ नहीं है, यदि आप को कुछ देना है तो बच्चों को दो चार पैसों की कुछ चीज दिला दीजिए। सेठ जी बोले–ऐसे नहीं, किसी को हमारे साथ भेजो सेठ जी के साथ वह खाली हाथ चल देती है। सेठ जी अपने घर चलने से पहले उसे एक चादर अपने साथ ले चलने के लिए कहते हैं और अपने घर जाकर उस चादर को अशर्फियों से भर देते हैं और वह लाल अपने पास रख लेते हैं। किसान की पत्नी बहुत खुश होती है तथा अपनी झोपड़ी वापस आकर कुछ दिनों में एक अच्छी हवेली तैयार कर लेती है। किसान बहुत दिनों में घर आता था। किसान जब एक दिन वापस अपने घर आया तो यह देखकर चकित रह गया। अपनी पत्नी से पूछता है–यह किसने बनवाई है, किसकी है, पत्नी उत्तर देती है कि यह हवेली आपकी ही है। एक दिन एक पत्थरी खेत से उठाकर मैं ले आई थी, उसकी सेठ ने इतनी अशर्फियों दी हैं कि यह हवेली तैयार हो गई। यह सुनकर किसान सिर पीट-पीट कर रोने लगता है। ये तो मुझे बहुत सारी मिली थीं किन्तु मैंने तो इन्हें एक-एक करके सारी फैंक दीं।

जिस प्रकार किसान ने लालों की कीमत नहीं समझ कर इन्हें यूँ ही फैंक दिया ठीक इसी प्रकार मनुष्य जीवन की अमूल्य घड़ियाँ भी व्यर्थ ही खो रहे हैं। सारांश यह है कि अपने जीवन के क्षणों को जानो, इनको असंयम में मत खोओ। संयम को जीवन में धारण करना चाहिए।

सम्यक्‌चारित्र का दूसरा भेद–सकलचारित्र

पूर्ण संयम चारित्र मुनियों के होता है अर्थात् मुनिधर्म को ही सकल चारित्र नाम दिया गया है। आर्चाय कुन्दकुन्द देव प्रवचनसार में लिखते हैं–

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च॥8॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि॥9॥

सर्व सावद्ययोग के प्रत्याख्यान स्वरुप एक महाव्रत है। उसके विशेष या भेद हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह की विरतिस्वरुप पाँच महाव्रत हैं तथा उसकी परिकरभूत पाँच प्रकार की समिति, पाँच प्रकार का इन्द्रियनिरोध, केशलुञ्च, छह प्रकार के आवश्यक, अचेलकत्व (नग्नता) अस्नान, भूमिशयन, अदंत-धावन (दांतुन न करना) खड़े-खड़े भोजन और एक बार आहार लेना। इस प्रकार यह (अट्ठाईस) एक अभेद सामायिक संयम के विकल्प (भेद) होने से श्रमणों के मूलगुण ही हैं। जब श्रमण एक सामायिक संयम में आरूढ़ता के कारण जिसमें भेदरुप आचरण सेवन नहीं है, ऐसी दशा से च्युत होता है, तब 'केवल सुवर्णमात्र के अर्थी को कुण्डल, कंकण, अंगूठी आदि को ग्रहण करना (भी) श्रेय है किन्तु ऐसा नहीं है कि (कुण्डल इत्यादि का ग्रहण कभी न करके) सर्वथा स्वर्ग की ही प्राप्ति करना ही श्रेय है' ऐसा विचार करके वह मूलगुणों में भेदरुप से अपने को स्थापित करता हुआ अर्थात् मूलगुणों में भेदरूप से आचरण करता हुआ छेदोपस्थापक होता है। (सकलचारित्र का विशेष वर्णन सम्यक् चारित्र के प्रथम सोपान में दृष्टव्य है।)

सम्यक्चारित्र के चार सोपान

1. अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति
2. ज्ञान दर्शन की एकता
3. समता और शमता
4. आत्मा में स्थिरता।

सम्यक्चारित्र का प्रथम सोपान : अशुभ से निवृत्ति, शुभ में प्रवृत्ति

सम्यक्‌चारित्र को धारण करने के चार सोपान हैं। प्रथम सोपान अशुभ से निवृत्ति तथा शुभ में प्रवृत्ति करना है। सर्व प्रथम आपको यह समझना है कि अशुभ क्या है, और शुभ क्या है, अशुभ पापभाव है और शुभ पुण्यभाव है। पहले गुणस्थान से लेकर तीसरे गुणस्थान तक तारतम्य से अशुभ उपयोग रहता है। चौथे गुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थान पर्यंत तारतम्य से शुभ उपयोग रहता है। सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यंत तारतम्य से शुद्ध उपयोग रहता है। तेरहवाँ व चौदहवाँ गुणस्थान शुद्ध उपयोग का फल है।

आत्मा के परिणाम

आत्मा के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं।

1. **संक्लिष्ट परिणाम**–ये अशुभ परिणाम हैं जो पाप रूप होते हैं।
2. **विशुद्ध परिणाम**–ये शुभ परिणाम है जो पुण्य रूप होते हैं।

3. **शुद्ध परिणाम**–शुद्ध परिणाम एक वीतराग भाव है, जो पुण्य-पाप से अलग होते हैं। यही परिणाम मोक्ष का कारण बनता है। बिना सम्यग्दर्शन के शुभ परिणाम भी अशुभ ही माने गये हैं। जब मुनिराज आत्मध्यान में लीन होते हैं तब शुद्ध परिणाम होते हैं, जब वे ध्यान से हट जाते हैं तो शुभ उपयोग में प्रवृत्ति होती है। अणुव्रतों को या महाव्रतों का धारण करना शुभ उपयोग है। जैसा कि बताया था व्रतों के या चारित्र के दो भेद होते हैं-

एकदेश (विकल) चरित्र–विकल चारित्र व्रत श्रावक पालते हैं। इसके अन्तर्गत पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत आते हैं जिनका विस्तृत वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

सर्वदेश (सकल) चरित्र–सकल चारित्र व्रत मुनिराज पालते हैं व्रत पालने की संपूर्णता होने के कारण ये व्रत महाव्रत कहलाते हैं। इनके अन्तर्गत पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रियों पर विजय, छः आवश्यक तथा सात अस्नान आदि शेष गुण आते हैं। इनका पालन करना ही मुनिराजों की शुभ प्रबृत्ति कहलाती है। इस प्रकार जब श्रावक और मुनि अशुभ से हटकर शुभ में लगते हैं तब वही प्रवृत्ति शुभ कहलाती है।

क. **अहिंसा महाव्रत**–प्रमाद के योग से किसी के भी प्राणों का हनन करना द्रव्यहिंसा है। छहढाला में कहा गया है–

षट्काय जीव न हननतैं सब विधि दरव हिंसा टरी।
रागादि भाव निवारतैं हिंसा न भावित अवतरी।।

पृथ्वी कायिक आदि पांच स्थावर और त्रस जीव इस प्रकार छहकाय के जीवों में से किसी को भी मार देना द्रव्यहिंसा है और राग-द्वेष आत्मा के भाव हो जाने को भाव हिंसा कहते हैं। महाव्रती मुनिराज इन दोनों प्रकार की हिंसा से दूर ही रहते हैं।

उच्चालिदम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज।।
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहमो वि देसिदो समये।
मुच्छा परिग्गेहोच्चिय य अज्झप्पपमाणदो भणिदो।।

– प्रवचनसार, 3.1, 2

जब मुनिराज मार्ग में देखकर गमन करते हैं तब उस मार्ग में यदि अचानक कोई त्रसकाय जीव आकर गिर जाये और मुनिराज के पाँव तले दबकर मर जावे, ऐसी अवस्था में मुनिराज को प्राणी हिंसा का पाप नहीं लगता, क्योंकि उनके प्राणी मारने के परिणाम नहीं हैं, अपितु बचाने के ही भाव हैं।

यदि किसी मुनिराज की हिंसा में प्रवृत्ति चली गयी तो उसके निवारण करने के लिए प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ हैं।

अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ–आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि– वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च।। अर्थात् (1) **वचन गुप्ति**–वचन को रोकना (2) **मन गुप्ति**- मन की प्रवृत्ति को रोकना (3) **ईर्यासमिति**–चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना (4) **आदाननिक्षेपण समिति**- जीव रहित भूमि देखकर सावधानी से किसी वस्तु को उठाना-धरना 5. **आलोकितपान भोजन**- देखकर, शोधकर भोजन-पानी ग्रहण करना ये अहिंसा महाव्रत की पांच भावनाएं हैं।

ख. **सत्य महाव्रत**–आचार्य वट्टकेर मूलाचार में कहते हैं कि–

रागदीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवचणुत्तिं।
सुत्तत्थाणविकहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं।।

राग-द्वेष मोह, पैशुन्य अर्थात् चुगल खोरी, ईर्ष्या आदि के वश होकर असत्य नहीं बोलना, जिससे दूसरों को दुख हो, ऐसा सत्य वचन भी नही कहना, एकान्तवाद का त्याग करना, सूत्र ग्रन्थों को अन्यथा नहीं कहना ही सत्य महाव्रत है। पुरुषार्थसिद्धि के निम्न श्लोक में कहा गया है

पैशुन्यहासगर्भं कर्कशमशमंजसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुक्तसूत्रं तत्सर्वं गर्हित गदितम्।।96।।

महाव्रत के लिए यह आवश्यक है कि अधोलिखित पैशुन्य, हास्यगर्भ आदि से दूर रहे।

1. **पैशुन्य-गर्हितवचन**–दूसरे के दोषों को प्रकट करना (चुगली करना)
2. **हास्यगर्भ**–दूसरों के अशुभ राग उत्पन्न करने वाले हँसी, दिल्लगी, मजाक के वचन कहना, या भंड वचनों से भरे अश्लील गीत आदि गाना।
3. **कर्कश**–तू मूर्ख है, बैल है, नालायक है, बेवकूफ है इत्यादि, बचन बोलना।
4. **असमंजस**–देश काल के अयोग्य वचन कहना जैसे धर्म स्थानों में पाप जनक बातें करना, विवाह आदि हर्ष के मौके पर शोक की तथा शोक के अवसर पर हर्ष की बात करना या बिना बताये ऐसी बात कह देना जो दूसरों को तो क्या अपने लिए भी हानिकारक हो।
5. **प्रलापित**–प्रलाप या बकवास करना, बिना प्रसंग के या सुनने वाले की रुचि न होने पर भी व्यर्थ बोलना।

सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ–आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि– क्रोधलोभभीरुत्वहास्य प्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च।

अर्थात् सत्यमहाव्रत की पाँच भावनाएँ निम्न हैं–

1. **क्रोध का त्याग**–जिस समय क्रोध आता है, उस समय मनुष्य का मन खो जाता है। वह अंधा होकर झूठ बोल देता है, इसलिए सत्य रक्षा के लिए क्रोध को ही उत्पन्न न होने दिया जाये।
2. **लोभ त्याग**–लोभी मनुष्य धन की प्राप्ति आदि के लिए झूठ बोलने से भी नहीं हिचकता। अत: इस लोभ का त्याग करना चाहिए।
3. **भीरुत्व त्याग**–प्राय: देखा जाता है कि मार-पीट के डर से या आजीविका चले जाने के भय से मनुष्य झूठ बोलता है। इस सत्यव्रत की रक्षा के लिए भय का भी त्याग करना चाहिए।
4. **हास्य त्याग**–हँसी, दिल्लगी, मजाक के करने में झूठ बोला जाता है। अत: हास्य करना भी उचित नहीं है।
5. **अनुवीचिभाषण**–बिना विचारे और शास्त्र विरूद्ध बोलना अनुवीचिभाषण है। अत: विचार कर शास्त्रानुसार बोलना चाहिए।

ग. **अचौर्य महाव्रत**–चोरी का अर्थ है चुरा लेना। प्रमाद आदि के वशीभूत दूसरे की वस्तु बिना दिये ले.लेना, चोरी कहलाता है। इसलिए इन सबका सदा के लिए त्याग कर देना ही अचौर्य महाव्रत है। आचार्यों ने कहा है कि -

गाँव-नगर आदि किसी भी स्थान पर गिरे हुए, पड़े हुए या भूले हुए रत्न, वस्त्र आदि का या किसी के पास में अधिकार में रखे हुए क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, पुस्तक, कमंडलु आदि कम या ज्यादा द्रव्यों का, किसी की आज्ञा या किसी के दिये बिना उठाना या काम में लाना आदि का मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करना अचौर्य महाव्रत है। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु पर दूसरे का स्वामित्व हो, वह वस्तु चाहे तृणवत तुच्छ या बिल्कुल मूल्य रहित ही क्यों न हो, उसको उसके मालिक के दिये बिना प्रमाद के वश हो, ले लेना, चोरी है तथा इन सबका त्याग करना अचौर्य महाव्रत कहलाता है।

अचौर्य महाव्रत की पाँच भावनाँए–आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि– शून्यागारविमोचितावास परोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादा: पञ्च।

अचौर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ निम्न हैं–

शून्यागारवास–सूने घर व स्वभाव से शून्य पर्वत की गुफा आदि में रहना।

विमोचितावास–किसी के छोड़े या उजड़े घर में रहना।

परोपरोधाकरण–यदि कोई व्यक्ति अपने रहने योग्य स्थान में पहले से रहा हो या ठहर रहा हो तो उसे उस स्थान को छोड़कर चले जाने के लिए न कहना और जो ठहरना चाहता हो उसे रहने के लिए मना नहीं करना।

भैक्ष्यशुद्धि–मुनिधर्म के निरूपक आचार शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार शुद्ध आहार लेना।

सधर्माविसंवाद–अपने साधर्मी मुनि आदि से यह वसतिका, शास्त्र, कमंडलु आदि मेरे हैं, ये तुम्हारे हैं इत्यादि रूप में विसंवाद (विवाद-कलह) न करना।

घ. **ब्रह्मचर्य महाव्रत**–विश्व के सभी धर्म ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य की मुक्त कंठ से प्रशंसा की गई है। सभी इसका महत्व स्वीकार करते हैं। इसका पालन करने वाला ब्रह्मचारी विविध सिद्धियों का धारी हो जाता है। इस व्रत की जितनी प्रशंसा की जाये कम है।

ब्रह्मचर्य के भेद-

प्रथम लौकिक ब्रह्मचर्य–इसके अन्तर्गत स्त्री मात्र या पुरुष मात्र के संसर्ग का पूर्णत: त्याग आता है।

दूसरा आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य–इसके अन्तर्गत "ब्रह्म'' शब्द का अर्थ ''आत्मा'' है। अपने आत्मा में रमण करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। शास्त्रों में लिखा है–

निरस्तान्यांगरागस्य, स्वदेहेपि विरागिण:।
जीवे ब्रह्मनि या चर्या, ब्रह्मचर्यतदीर्यते।।

स्त्री आदि पर के शरीर से राग को छोड़कर, अपने शरीर से भी विरक्त रहने वाले के अपनी आत्मा में जो लीनता होती है, वह ब्रह्मचर्य कहलाता है।

उपर्युक्त दृष्टि से किसी भी पर पदार्थ से प्रेम करना या उसमें उपयोग लगाना ही व्यभिचार है। लौकिक ब्रह्मचर्य को पूर्णत: प्राप्त किये बिना कोई भी आध्यात्मिकता को नहीं पा सकता। जिन्होंने ब्रह्मचर्य पर विजय नहीं पायी है, वे स्त्री या पुरुष एक दूसरे को देखकर परस्पर आकर्षित होते हैं। इस आकर्षण का असर उनके शरीर पर ही नहीं, मन और आत्मा पर भी होता है। मन में विकार भाव उत्पन्न होते हैं। शरीर में स्थित धातु और उपधातु चंचल हो जाते हैं। इस तरह मैथुन के संकल्प से जब शरीर ही अपनी ठीक दशा में नहीं रहता, तब आत्मा तो अपने स्वरूप में कैसे लीन रह सकती है? इसलिए ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने के इच्छुक पुरुष को पहले स्त्री मात्र से और स्त्री को पुरुष मात्र से राग भाव हटा लेना चाहिए। इन्द्रियों को अपने विषयों की ओर लगाने तथा उससे हटाने में मन प्रधान है। इसलिए जो इन्द्रियों को अपने वश में करना चाहता है, उसे चाहिए कि वह मन को जीते, उसे अपने वश में करे। ब्रह्मचर्य प्राप्ति के लिए

सबसे पहले मानसिक संकल्प को सुधारना आवश्यक है। हृदय से काम सम्बन्धी विचारों को निकाल देना अनिवार्य है यदि कोई स्त्री दिखाई दे तो उसे भोग की वस्तु समझना ठीक नहीं है, वरन् उसे देखकर माता, बहिन या पुत्री ऐसा पवित्र भाव उसके सम्बन्ध में जागृत होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का और वर्णन अन्य शास्त्रों जैसे 'भगवती आराधना', 'अनगार धर्मामृत' आदि से जानना चाहिए।

ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ—आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च॥

ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ निम्न हैं

1. स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथा सुनने का त्याग करना।
2. स्त्रियों के मनोहर अंगों को निरखकर देखने का त्याग करना।
3. अव्रत अवस्था में भोगे हुए विषयों के स्मरण करने का त्याग करना।
4. कामवर्धक गरिष्ठ रसों के सेवन करने का त्याग करना।
5. अपने शरीर को सजाना-सँवारना आदि संस्कारों का त्याग करना।

ड. **अपरिग्रह महाव्रत**—परिग्रह का अर्थ है लेना, चारों ओर से ग्रहण करना। आत्मा से भिन्न किसी भी परवस्तु को लेना, अपनी बनाना या मानना परिग्रह है। इसके दो भेद हैं (अ) अन्तरंग परिग्रह और (ब) बहिरंग परिग्रह

1. **अन्तरंग परिग्रह**—आचार्य शिवकोटि कहते हैं—

मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद- ये 14 अन्तरंग परिग्रह के भेद हैं। इनकी संक्षिप्त व्याख्या निम्न है—

1. **मिथ्यात्व**—जिसके उदय से व्यक्ति सर्वज्ञ कथित मार्ग से विमुख हो, जीवादि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करने में उत्सुक नहीं हो पाता है तथा, हित-अहित की पहचान करने में असमर्थ हो जाता है, उसे मिथ्यात्व परिग्रह कहते हैं।

2. **क्रोध 3. मान 4. माया 5. लोभ**- ये चार कषायें आत्मा के स्वभाव को कसती हैं इनका त्याग नहीं करना परिग्रह है।

6. **हास्य**–जिसके उदय से हँसी आये वह हास्य परिग्रह है।

7. **रति**–जिसके उदय से जर से प्रेम या उसके प्रति उत्सुकता हो वह रति परिग्रह है।

8. **अरति**–जिसके उदय से किसी से द्वेष या अभिरुचि हो वह अरति परिग्रह है।

9. **भय**–जिसके उदय से उद्वेग या डर लगे वह भय परिग्रह है।

10. **शोक**–जिसके उदय से चिन्ता हो वह शोक परिग्रह है।

11. **जुगुप्सा**–जिसके भय से ग्लानि हो वह जुगुप्सा परिग्रह है।

12. **पुरुष वेद**–जिसके उदय से स्त्री में रमने की इच्छा हो वह पुरुष वेद परिग्रह है।

13. **स्त्री वेद**–जिसके उदय से पुरुष में रमने की इच्छा हो वह स्त्री वेद परिग्रह है।

14. **नपुंसक वेद**–जिसके उदय से स्त्री और पुरुष दोनों में रमने की इच्छा हो, उसे नपुंसक वेद परिग्रह कहते हैं।

    उपर्युक्त सभी परिग्रह इसलिए हैं कि ये आत्मा के भाव हैं, कर्मों के संयोग से जीव इन्हें अपनाता है। अन्तरंग इसलिए कहे जाते हैं कि वाह्य परिग्रह की तरह वाह्य में इनका कोई स्वरूप दिखाई नहीं देता है केवल इनका कार्य मात्र दिखलाई देता है।

2. **वाह्य परिग्रह**–आचार्य शिवकोटि कहते हैं कि–

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदं।
यानं शय्यासनं कुप्यं भांडं संगा बहिर्दश॥

खेत, रहने का मकान, सोना-चाँदी, चावल-गेहूँ आदि अन्न, दो पैर वाले जीव अर्थात् दास-दासी आदि, चार पैर वाले जीव, अन्य हाथी-घोड़ा-गाय-भैंस आदि, पालकी रथ आदि सवारी, पलंग-सिंहासन आदि सोने एवं बैठने की चीजें, सोना-चाँदी के अतिरिक्त अन्य सब धातुएँ अथवा वस्त्र और बर्तन किराने आदि का सामान ये दश प्रकार के वाह्य परिग्रह माने गये हैं। संक्षेप में बाह्य के दो भेद निम्न हैं -

1. **चेतन परिग्रह**–अन्तरंग परिग्रह के जो चौदह प्रकार हैं वे सब चेतन रूप ही हैं, क्योंकि वे सब आत्मा के परिणाम हैं। बाह्य परिग्रह में जो दस प्रकार के परिग्रह (दास-दासी आदि) तथा चतुष्पद (हाथी, घोड़ा, गाय, भैस आदि) हैं वे सब चेतन परिग्रह है।

2. **अचेतन परिग्रह**–उपर्युक्त चेतन परिग्रह को छोड़कर शेष अचेतन परिग्रह है।

दोनों ही प्रकार का परिग्रह जीव के लिए अहितकर है। वह एक प्रकार का जाल है जो दूर से दिखने में बहुत ही सुन्दर प्रतीत होता है। अत: यथासंभव इनसे बचना चाहिए।

अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएँ–आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥

– तत्त्वार्थसूत्र अ. 78

स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषयों के प्रति राग-द्वेष का त्याग करना ही पाँच अपरिग्रह व्रत की भावनाएँ है। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

1. **स्पर्शन इन्द्रिय**–इसके द्वारा शीत-उष्ण, रूखा-चिकना, कोमल-कठोर, हलका-भारी इन आठ स्पर्शों का ज्ञान होता है। अत: ये ही इस इन्द्रिय के 8 विषय हैं। इनमें से जिस स्पर्श वाली पुद्गल द्रव्य के विकार रूप वस्तु अपने को अच्छी लगे, उनमें तो राग न करना और जो वस्तु अपने को अच्छी न लगती हो उस में द्वेष न करना। यही स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में राग-द्वेष के वर्णन वाली पहली भावना है।
2. **रसना इन्द्रिय**–इसके द्वारा मीठा, खट्टा, कड़ुआ, चरपरा, कसैला इन पाँच रस वाली वस्तुओं का स्वाद लिया जाता है। इनमें से जो स्वादिष्ट लगे उसमें राग और जो अस्वादिष्ट लगे उसमें द्वेष का न करना, यह रसना इन्द्रिय के विषय में राग-द्वेष का त्याग है।
3. **घ्राण इन्द्रिय**–इसके द्वारा सुंगध-दुर्गंध को ग्रहण किया जाता है। सुगंधित इत्र-पुष्पादि में राग व दुर्गंध-विष्टा मल-मूत्रादि में द्वेष का त्याग करना चाहिए।
4. **चक्षु इन्द्रिय**–इसके द्वारा काला, पीला, नीला, लाल और सफेद इन पाँच रंगों का ग्रहण होता है। इन पाँच वर्णमय इष्ट पदार्थों में राग व अनिष्ट पदार्थों में द्वेष का त्याग करना चक्षु इन्द्रिय के विषय में राग-द्वेष त्याग नाम की चौथी भावना है।
5. **कर्ण इन्द्रिय**–इसके द्वारा अच्छे-बुरे शब्द सुने जाते हैं, इनमें अच्छे में राग व बुरे में द्वेष न करना इस इन्द्रिय का रागद्वेष त्याग है।

पाँच समितियाँ–मुनिराज त्रस और स्थावर जीवों को बचाने के लिए नवकोटि आरम्भ के त्यागी होते हैं। धर्म निवृत्ति रूप में आचरण ही कर्म बन्धन का विनाश करता है तो भी मुनियों को कुछ प्रवृत्ति रूप चलना-फिरना, खाना स्वाध्याय करना, उपदेश देना, पुस्तकादि धरना-उठाना इत्यादि कार्य करना पड़ता है। इनके लिए प्रमाद रहित यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करना आवश्यक हो

जाता है। इसी को समिति कहते हैं। इस प्रकार जब मुनिराज निवृत्ति रूप महाव्रत में नहीं ठहर सकते, तब भली प्रकार देखकर विचारपूर्वक मन, वचन, काय से यथायोग्य श्रुतानुकूल प्रवृत्ति करते हैं। ये समितियाँ निम्न पाँच प्रकार की होती हैं।

इरिया-भासा-एसण-णिक्खेवादाणमेव समिदीओ।
पदिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहा ॥

– मूलाचार 10

ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, प्रतिष्ठापन समिति इन पाँच समितियों में ही संसारी जीवों का सम्पूर्ण व्यवहार गर्भित हो जाता है।

1. **ईर्या समिति**–ईर्या का अर्थ – गमन होता है, चार हाथ आगे भूमि देखकर शुद्ध मार्ग मे चलना, चलने में षट्काय जीवों की विराधना नहीं करना ईर्या समिति है।
2. **भाषा समिति**–हित-मित और प्रिय वचन बोलना। भाषा समिति ही मुनि को लोक में पूज्य बनाती है। सत्य वचन का आवश्यकतानुसार उच्चारण करना ही भाषा समिति है। कर्कश, गर्वयुक्त, निष्ठुर, उपहास एवं व्यर्थ भाषण नहीं देना चाहिए। इसमें वह शक्ति है, जिससे कर्म बन्धन ढीले हो जाते हैं। कषाय रहित वचनों में एक प्रकार का आकर्षण हुआ करता है, इसलिए वचन बोलने में साधुओं को सदा सावधान रहना चाहिए।
3. **एषणा समिति**–श्रावक के घर विधिपूर्वक दिन में एक बार निर्दोष आहार लेना एषणा समिति है। 46 दोष तथा 32 अन्तराय रहित शुद्ध प्रासुक भोजन धर्म साधन में सहायक होता है।
4. **आदान निक्षेपण समिति**–सावधानी पूर्वक निर्जन्तु स्थान को देखकर वस्तु को रखना, देना तथा उठाना, शास्त्र, पिच्छी कमण्डलु इत्यादि को पहले अच्छी तरह देखना, फिर बड़ी सावधानी से पिच्छी से परिमार्जन करके उठाना एवं रखना आदान निक्षेपण समिति है।
5. **प्रतिष्ठापन समिति**–जीव रहित जन संचार रहित, हरित काय व त्रस जीव आदि रहित तथा बिल व छेदों से रहित, जहाँ लोक निन्दा न करें, कोई विरोध न करे ऐसे स्थान पर मल-मूत्रादि करना प्रतिष्ठापन समिति है।
6. **समिति पालन की महिमा**–जैसे रणभूमि में दृढ़ कवच धारण करने वाला पुरुष वाणों की वर्षा में भी वाणों से नहीं भेदा जाता, उसी प्रकार समिति धारक साधु षट्कायिक जीवों से व्याप्त लोक में प्रवृत्ति करता हुआ भी पापों से लिप्त नहीं होता।

तीन गुप्तियों का स्वरूप

सम्यक प्रकार निरोधमन, वच, काय आतम ध्यावते।
तिन सुथर मुद्रा देखि मृगगण उपलखाज खुजावते।।

मन, वचन और काय को एकाग्र करके आत्मा का चिन्तन-मनन करना, ध्यान है। इस ध्यान की अवस्था में हिरण आदि जंगल के पशु जिन्हें पत्थर का खम्बा समझकर खाज खुजाने लगते हैं फिर भी मुनि ध्यान से विचलित नहीं होते इसी को तीन गुप्ति विजय कहा गया है।

पाँच इन्द्रिय निरोध

पाँच समितियों का भली प्रकार से पालन करके पाँचों इन्द्रियों को जीतना चाहिए। स्पर्शन आदि पाँचों इन्दियों के विषय-स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द सुहावने भी होते हैं और असुहावने भी। उनमें कुछ भी राग-द्वेष नहीं करना, मुनियों का पंचेन्द्रिय विजय नाम के मूलगुण हैं। पं० दौलतराम जी के शब्दों में-

रस रूप गंध तथा फरस अरु, शब्द शुभ असुहावने।
तिन में न राग विरोध पंचेन्द्रिय, जयन पद पावने।।

1. **स्पर्शनेन्द्रिय विजय**-हलका-भारी, ठण्डा-गर्म, रूखा-चिकना, कठोर नर्म इन जीव व अजीव से सम्बन्ध रखने वाले आठ प्रकार के स्पर्शों के इष्ट में राग न करना और अनिष्ट में द्वेष नहीं करना, स्पर्शन इन्द्रिय विजय है।

2. **रसना इन्द्रिय विजय**-दाल-भात-रोटी आदि अन्न, इलाचयी, सुपारी आदि खाद्य, रबड़ी-चटनी आदि लेह्य तथा दूध-पानी आदि पेय ऐसे चार प्रकार के आहार में इष्ट-अनिष्ट भाव नहीं रखना, गृद्धता नहीं रखना, भूख की वेदना उपशमन करने लिए आहार लेना, उसमें किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं करना, रसना इन्द्रिय विजय है।

3. **घ्राणेन्द्रिय विजय**-कमल, केतकी, मोगरा, चमेली आदि सचित्त द्रव्य तथा केशर, चन्दन आदि अचित्त द्रव्यों की मनोज्ञ गन्ध में राग नहीं करना तथा विषय मूत्रादि दुर्गन्धमय पदार्थों में घृणा या द्वेष नहीं करना, किन्तु स्वरूप विचार कर समभाव रखना यह घ्राणेन्द्रिय विजय है।

4. **चक्षु इन्द्रिय विजय**-सचित्त तथा अचित्त पदार्थों की आकार या वर्ण भेदों में राग-द्वेष न करना चक्षु इन्द्रिय विजय है।

5. **कर्ण इन्द्रिय विजय**-चेतन के द्वारा उत्पन्न सात स्वरों मय सुरीले शब्दों में तथा अचेतन मृदंग-वीणा आदि द्वारा उत्पन्न सुरीले शब्दों में राग सहित न होना तथा गधा, कौआ, आदि

के बेसुरे शब्दों में द्वेष सहित न होना कर्ण इन्द्रिय विजय है। दूसरे शब्दों में सचेतन एवं अचेतन पदार्थों से उत्पन्न कर्ण प्रिय मनोहर शब्दों को सुन कर उसमें आसक्त न होना और कर्ण कटु, असुहावने शब्दों को सुनकर उनमें द्वेष न करना ही कर्ण इन्द्रिय विजय है।

एक बार गाँधी जी दिल्ली की हरिजन बस्ती में ठहरे हुए थे। मई का महीना था। गर्मी बहुत पड़ रही थी। उनकी पोती मनु ने एक गिलास आम का रस उन्हें पीने को दिया। गाँधी जी ने उसका भाव पूछा तो पता चला कि ढाई रुपयों के आम में से एक गिलास रस तैयार हुआ है। गाँधी जी मनु पर बहुत क्रोधित हुए, बोले–इतने आम क्यों लाई? फिर बोले कि बिना आम खाये भी जीवित रह सकता हूँ। एक गरीब देश में ढाई रुपये खर्च कर दिये, कहाँ की बुद्धिमत्ता है? उसी समय उन्होंने रस पीने से इंकार कर दिया और एकाएक गम्भीर हो गये। उनकी आन्तरिक वेदना को मनु ने समझा, परन्तु कर भी क्या सकती थी।

उसी समय दो गरीब महिलाएं गाँधी जी के दर्शन करने आयीं। उनके साथ दो बालक भी थे। गाँधी जी ने प्यार से उन्हें अपने पास बुलाया और रस को दो गिलासों में डाल, उन्हें पीने को दे दिया। जब वे रस पी चुके तो बोले–ईश्वर ने मेरी वेदना समझी और मेरी मदद के लिए इन बच्चों को भेज दिया। मुझे बड़ी आत्म ग्लानि हुई थी। मैं अपने को दोषी मान रहा था। मुझमें कुछ न कुछ बुराई है जो मेरे लिए इतने मँहगे आमों का रस निकाला गया लेकिन भगवान की मुझपर अपार कृपा भी है, मुझे दोष से बचाने के लिये उन्होंने इन दोनों बालकों को भेज दिया। मनु अपने कृत्य पर पश्चाताप कर रही थी। उस दिन के बाद उसने महंगी वस्तु न लाने का निर्णय कर लिया। कहा गया है-

राग विरोध उठै जब लो, तब लो यह जी न मृषा मृग धोवे।
ज्ञान जग्यो जब चेतन को तब कर्म दशा पर खप कहावे।।
कर्म विलक्षण करे अनु भो तहा, मोह मिथ्यात्व प्रवेश न पावे।
मोह गये उपजे सुख केवल, सिद्ध भयो जग माहिन आवे।।

वस्तुत: जिस प्रकार अन्धे के लिए नाच, अज्ञानी के लिए तप, आयु के अन्त में औषधि का प्रयोग, बहरे के लिए मधुर गीतों का गाना, ऊसर भूमि में अन्न का बोना, बिना प्यास मनुष्य को जल देना, चिकने पृष्ठ पर चित्र का खींचना अभव्य को धर्म की रुचि कहना, काले कपड़े पर केसरिया रंग, प्रतीति रहित पुरुष के लिए मंत्र का प्रयोग करना कार्यकारी नहीं होता, ठीक उसी प्रकार आत्मा में जिसका प्रेम नहीं, उस मानव का बाह्य चारित्र कार्यकारी नहीं हो सकता। सच्चा चारित्र आत्मा में से विभाव परिणति दूर हो, स्थिरता आवे तथा संसार छूटे, तभी सम्यक् चारित्र कहला सकता है।

षट् आवश्यक–मुनियों के मूलगुण में षट् आवश्यकों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। मुनि यदि इसकी उपेक्षा करे तो वह कर्तव्य विमुख हो जाता है षट् आवश्यक मुनि के जीवन में प्रमाद

नहीं आने देते तथा सर्तक करते रहते हैं। इसलिए कर्मों के निर्मूल करने के लिए मुनि को इनकी ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए। आवश्यक शब्द का अर्थ- जो प्राणी कषाय और राग-द्वेष वशीभूत न हो वह अवश है, अवश के आचरण एवं कर्तव्य को आवश्यक कहते हैं। आचार्य वट्टकेर कहते हैं कि-

सामाइय चउवीसत्थव वदणयं पडिक्कमणं।
पच्चक्खाणं च तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो ॥

— मूलाचार, 516

1. सामायिक, 2. चतुर्विंशतिस्तव, 3. वंदना, 4. प्रतिक्रमण, 5. प्रत्याख्यान, 6. कायोत्सर्ग- इस प्रकार ये छः भेद रूप आवश्यक माने गये हैं।

कहीं कही ग्रन्थों में सामायिक आवश्यक के स्थान पर समता आवश्यक भी दिया गया है-

क. **समता**-किसी को भला और किसी को बुरा आदि न मानकर सबके ऊपर एक सी निगाह रखना, समता है।

ख. **स्तुति**-मुनि जन स्वयं समता के धारी होते हैं एवं समता धारियों का बहुमान (प्रशंसा) करना, स्तुति है।

ग. **वन्दना**-समता के समर्थक जिन भगवान की वन्दना, नमस्कार करना, वन्दना है।

घ. **स्वाध्याय**-वैराग्यवर्द्धक शास्त्रों का पठन-पाठन करना, स्वाध्याय है।

ङ. **प्रतिक्रमण**-अपने सदाचार में आये हुए दोषों को संशोधन करना, प्रतिक्रमण है।

च. **कायोत्सर्ग**-शरीर से मोह ममता नहीं रखना, सीधे खड़े होकर आत्मध्यान करना, कायोत्सर्ग है।

इस प्रकार ये मुनियों के छः आवश्यक माने गये हैं।

सात शेष गुणों का स्वरूप-मुनियों के सकलचारित्र में 28 मुलगुणों में निम्न सात मूल गुण और माने गये हैं, प. दौलतराम जी छहढाला की छठीं ढाल में लिखते हैं-

जिनके न न्हौन, न दन्तधावन, लेश अम्बर आवरन।
भूमांहि पिछली रयनि में, कुछ शयन एकासन करन॥
इकबार दिन में ले अहार, खड़े अलप निज पान में।
कचलोंच करत न टरत परिषह सों लगे निज ध्यान में॥

1. अस्नान, 2. अदन्त धावन, 3. आचेलक्य, 4. भूमिशयन, 5. 24 घण्टों में एक बार भोजन करना, 6. स्थिति भोजन, 7. केशलोंच, ये सात गुण भी मुनियों के माने गये हैं।

क. **अस्नान व्रत**–जल्ल-मल्लादि से व्याप्त शरीर को स्वच्छ बनाने के लिए स्नान, उबटन, सुगंधित पदार्थ व नेत्रों में अंजन का त्याग करना, अस्नान व्रत है।

ख. **अदन्त धावन व्रत**–अंगुली, नख, दातोन आदि के द्वारा दाँत के मल का शोधन नहीं करना, यह संयम की रक्षा रूप अदन्त धावन व्रत है।

ग. **आचेलक्य**–ऊन, कपास, रेशम आदि किसी भी प्रकार के वस्त्रों से अपने शरीर को नहीं ढकना· आचेलक्य (नग्नता) नाम का मूलगुण होता है।

घ. **भूमिशयन**–पिछली रात में आलस्य मिटाने के लिए एक करवट से धनुषा कार जीव जन्तु रहित जमीन पर या काष्ठ की पटरी पर थोडी सी नींद लेना, भूमिशयन नाम का मूलगुण है।

ड.. **दिन-रात में एक बार भोजन करना**–सूर्य के उदय और अस्त के काल में से तीन-तीन घड़ी छोड़कर दिन में एक बार भोजन करना, एकभुक्त नाम का मूलगुण है।

च. **स्थिति भोजन**–दीवार आदि का सहारा न लेकर जीव जन्तु से रहित स्थान पर खड़े होकर दोनों हाथ की अँजुली बनाकर थोड़ा भोजन करना, स्थितिभोजन नाम का मूलगुण है।

छ. **केशलुञ्च**–उत्कृष्टत: दो माह मध्यम तीन माह, और जघन्य चार माह में उपवास पूर्वक दिन में हाथों से दाढ़ी, मूँछ और सिर के बाल उखाड़ना केशलोंच नामक मूलगुण कहलाता है।

चारित्र के दूसरे भेद–एकदेश चारित्र के अन्तर्गत श्रावक को ग्यारह प्रतिमाएँ और 12 व्रतों (दूसरी प्रतिमा के अन्तर्गत) का निरतिचार पालन करना शुभ प्रवृत्ति हैं। (बारह व्रतों का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है, वहाँ से जानना) शुभ में प्रवृत्ति से ही जीव परम्परा से मोक्ष का कारण बनता है, यह निम्न दृष्टान्तों से भी समझा जा सकता है।

शिवकुमार मुनि

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती नामक एक देश है, उसके वीतशोकपुर नामक राज्य में महापद्म और वनमाला रानी के शिवकुमार नामक एक पुत्र हुआ। एक बार वह अपने मित्र के साथ वन क्रीड़ा करके अपने नगर को आ रहा था। तब वह मार्ग में देखता है कि कुछ लोग पूजा की सामग्री ले जा रहे हैं। तब वह अपने मित्र से पूछता है कि ये लोग क्या कर रहे

हैं? मित्र ने कहा- "ये सागरदत्त नामक ऋद्धिधारी को पूजने के लिए वन में जा रहे हैं। तब शिवकुमार मुनि के पास वन में जाता है और अपना पूर्वभव सुनता है। सुनकर वह विरक्त हो जाता है और मुनिदीक्षा ले लेता है। एक दृढ़धर नामक श्रावक के घर प्रासुक आहार होता है। इसके बाद असिधारा व्रत परम ब्रह्मचर्य को पालते हुए बारह वर्ष तक, तप कर अन्त में सन्यास पूर्वक मरण करके ब्रह्मकल्प स्वर्ग में देव हो जाता है। वहाँ से आयु पूर्ण कर जम्बूकुमार नामक राजपुत्र हो, मुनिदीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार शिवकुमार मुनि ने शुभ प्रवृत्ति करते हुए मोक्ष को प्राप्त किया।

शिवभूति मुनि

कोई शिवभूति नामक मुनि थे। उन्होंने गुरु के पास बहुत से शास्त्रों को पढ़ा, किन्तु धारण नहीं कर पाये। तब गुरु ने ये शब्द पढ़ाये- "मा रुष मा तुष"। वे इन शब्दों को रटने लगे। इन शब्दों का अर्थ यह है कि "रोष मत करे, तोष मत करे "अर्थात् राग-द्वेष मत करो, इससे ही सर्वसिद्धि होती है। कुछ समय बाद उनको यह भी शुद्ध याद न रहा, तब "तुषमास ऐसा पाठ रटने लगे, दोनों पदों के "रु और तु भूल गये और "तुष माष" ही याद रह गया। एक दिन वे यही रटते एवं विचारते हुए कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक स्त्री उड़द की दाल धो रही थी। स्त्री से कोई व्यक्ति पूछता है कि -"तू क्या कर रही है" स्त्री ने कहा तुष और माष भिन्न-भिन्न कर रही हूँ। यह वार्ता सुनकर उन मुनि ने यह जाना कि यह शरीर ही तुष है और यह आत्मा माष है। दोनों भिन्न भिन्न हैं इस प्रकार भाव जानकर आत्मानुभव करने लगे। कुछ समय बाद घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त हो गये। इस प्रकार शुभ में प्रवृत्ति कर शिवभूति मुनि ने "तुष-माष" जैसे शब्दों को रटते हुए भावों की विशुद्धता से केवलज्ञान पाया।

विपरीत मुनियों के प्रकार

कुछ साधु जो वाह्य में दिगम्बर भेष धारण किये हुए हैं, किन्तु जिनमे दिगम्बर जैन साधुओं के गुण नहीं पाये जाते हैं भोले जीव उनको साधु समझते हैं, अत: वे ठगे जाते हैं। ऐसे भ्रष्ट साधु पाँच प्रकार के होते हैं–

1. **पार्श्वस्थ साधु**–जो साधु-भेष को धारण किये हुए वसतिका में आसक्ति रखते हैं, एक ही जगह निवास करते हैं, पिच्छिका आदि उपकरणों से आजीविका करते हैं, मुनिव्रतों के आचरण में शिथिल रहते हैं, मुनियों के पार्श्व अर्थात् पास में रहते हैं, इस प्रकार महाव्रतों के पालन करने में बहुत पीछे रहते हैं और आचरण शून्य होते हैं, उन्हें पार्श्वस्थ साधु कहते हैं।

2. **संसक्त साधु**–जो वैद्यक से और मन्त्र-तन्त्र से अथवा ज्योतिष से अपनी आजीविका करते हैं अथवा राजादि की सेवा करते हैं, उन्हें संसक्त साधु कहते हैं। दूसरे शब्दों में जो साधु

नाम धारण कर साधु के आचरण से हीन होता है और साधु के लिए अयोग्य बताये गये कार्यों को करता है। औषध चिकित्सा से मन्त्र, तन्त्र, झाड़ना, फूँकना आदि प्रयोगों से एवं ज्योतिष शास्त्र आदि से भविष्य कथन द्वारा अपनी आजीविका चलाते हैं। राजा या किसी ऐश्वर्यशाली के कृपा-पात्र बनकर अपना निर्वाह करते हैं, उसे संसक्त साधु कहते हैं। जो गृहस्थों के साथ निरन्तर संसर्ग रखते हैं और धनादि परिग्रह में आसक्त रहता है, उन्हें भी संसक्त कहते हैं।

3. **अवसन्न साधु**–जो जिनेन्द्र देव के वचनों से अनभिज्ञ हैं, जिन्होंने चारित्र पालन को छोड़ दिया है, जो ज्ञान और चरित्र से पतित हैं और क्रिया पालन में शिथिल हैं, उन्हें अवसन्न साधु कहते हैं जो जैन सिद्धान्त के ज्ञान से शून्य हैं, जिन्हें ज्ञान नहीं है और जो आचरण से भी भ्रष्ट हैं। जो बाह्य क्रिया का भी पालन नहीं करते हैं, बिना नकेल के ऊँट के समान आचरण करते हैं, और भोले जीवों को मिथ्या-मार्ग का गामी बना देते हैं, ऐसे पतित साधुओं को अवसन्न साधु कहते हैं।

4. **मृगचारी साधु**–जो मुनिसंघ का त्याग करके स्वच्छन्द होकर विहार करता है, जिनेन्द्र देव के उपदेश से भिन्न मार्ग का उपदेश करता है तथा जिनवचनों की निन्दा करता है ऐसे उच्श्रृंखल साधु को मृगचारी साधु कहते हैं। दूसरे शब्दों में जो जिन आज्ञा के विपरीत चलता है, अर्थात् अकेला विहार करता है, जो गुरु की आज्ञा की अवहेलना कर संघ को छोड़ देता है स्वच्छन्द गमन करता है, वह मृग अर्थात् पशु के समान आचरण करने वाला भ्रष्ट साधु मृगचारी कहलाता है।

5. **कुशील साधु**–क्रोधादि कषायों से जिसकी आत्मा मलिन है, जो व्रत, गुण और शील से रहित है तथा संघ में अनीति का व्यवहार या प्रचार करने वाला है, ऐसे दुर्वृत्त साधु कुशील साधु हैं। दूसरे शब्दों में जिस साधु की आत्मा में क्रोधाग्नि की ज्वालाएँ जलती रहती हैं, जो मान के शिखर पर रहता है, अपने सामने दूसरों को कुछ नहीं समझता है, जो माया और लोभ के मैल से सदा मलिन रहता है, अहिंसादि व्रतों क्षमादि धर्मों और व्रत-रक्षक गुणों से हीन है, संघ में उपसर्ग कलह आदि करने का जिसका स्वभाव हो, उस दु:शील धारक साधु को कुशील साधु कहते हैं।

उपर्युक्त पाँचों प्रकार के साधु पतित, हीनाचारी व जिनशासन के विपरीत चलने वाले हैं, इसलिए इनका सम्पर्क सर्वथा त्याज्य है। प्राण जाने पर भी इनका साथ नहीं करना चाहिए और न ही किसी प्रकार की इन्हें सहायता ही देनी चाहिए। लेकिन आज के इस कलिकाल में शुद्ध उपयोग की बात ऊँची है, शुभ उपयोग में भी न रहकर अशुभ उपयोग प्रवृत्ति करते हैं।

जैसे-आरती करना और करवाना, बाजे बजवाना, दीपक जलाना और जलवाना, जन्मदिन और दीक्षादि दिवस मनवाना, परिग्रह संग्रह करना, रात्रि में बोलना, साथ में महिला संघ रखना, गर्मियों में कूलर-पँखे-ऐ.सी. आदि लगवाना, सर्दियों में हाइड्रोजन, अँगीठी, मरकरी आदि लगवाना, वर्षाऋतु में मच्छरदानी, गुडनाइट, कछुआ छाप अगरबत्ती आदि क्रियाओं का समर्थन करना, पद्मावती-क्षेत्रपाल आदि का पूजने-मानने का प्रचार-प्रसार करना, रात्रि में तेल-मालिश करना-करवाना, हल्दी, टमाटर, पपीता, भिण्डी, तरबूज, पत्ती वाली वनस्पति, आडू, लीची, टाटरी, पत्थर बेल, कैथ (कटुम्बर) जो काठ को फोड़कर निकलते हैं, इनमें फूल नहीं आते, ऐसे अभक्ष्य वस्तुओं को खाना, इसके अतिरिक्त हींग, मखाना आदि सब अभक्ष्य पदार्थों को ग्रहण करना, केशलोंच क्रिया का आयोजन करना, विहार के साथ चौके आदि की व्यवस्था कर चलना, गाड़ियाँ-मोटर-कार साथ ले चलना, स्त्रियों के सम्पर्क से भय न खाना आदि ऐसी विपरीत क्रियाएँ हैं जो मुनि को अशुभ प्रवृत्ति कराती हैं। साथ में ब्रह्मचारणियों को रखना तो महादोष है। आ. कुन्दकुन्द कहते हैं कि

रागं करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि।
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥

– अष्टपाहुड-लिंगपाहुड, 17

जो जिनलिंग धारण करता है, महिलाओं में राग-भाव रखता है और जो निर्दोष को दोष लगाता है, वह मुनि दर्शन और ज्ञान से रहित होता है। ऐसे मुनि तो पशु समान हैं, ज्ञान रहित हैं, अत: वे श्रमण नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त मूलगुणों की उपेक्षा कर जो नाना प्रकार की प्रवृत्ति कर अशुभ में प्रवर्तते हैं उनके कुछ उदाहरण निम्न है

मुनि की विपरीत क्रियाएं-

1. **भिक्षा भोजन के पश्चात् दान करवाना**-आजकल आहार होने के पश्चात् प्राय: देखा जाता है कि कतिपय साधु आहार दाता श्रावक से द्रव्य दान करवाते हैं। यह प्रवृत्ति दिगम्बर मुनियों के पद के विरूद्ध धर्म का ह्रास करने वाली है। यह शुभ प्रवृत्ति से अशुभ प्रवृत्ति में जाना है।

2. **विभिन्न संस्थाओं के साथ सम्बन्ध रखना**-बहुत से मुनि विभिन्न संस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं। यह सर्वथा मुनि आचरण के विरूद्ध है। जो 14 प्रकार के अन्तरंग परिग्रह तथा 10 प्रकार के वाह्य परिग्रह के त्यागी होते हैं, वे कैसे विभिन्न संस्थाओं से सम्पर्क रख सकते हैं। ये सब क्रियाएं उनके विवेकहीन होने का ही प्रमाण है। साधु तो वही होता है जिसके पास तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं होता, फिर परिग्रह रखने वाला मुनि कैसे हो

संकता है, किसी कवि ने लिखा है–

फूटी आँख विवेक की, सूझ पड़े नहिं पन्थ।
ऊँट बलंध लादत फिरै, तिनसों कहत महन्त।।

आचार्य कुन्दकुन्द इस प्रकार कहते हैं–

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।

– अष्टपाहुड-लिंगपाहुड, 5

जो निर्ग्रंथ मुनि परिग्रह को संग्रह रूप रखता है उसकी इच्छा, चिंतन व समत्व करता है तथा उन वस्तुओं की रक्षा करता है, तथा उसके लिए आर्तध्यान करता है, वह मुनि पाप से ग्रसित बुद्धि वाला है, पशु समान है, ज्ञान रहित है। वह मुनि अपने श्रमणत्व को बिगाड़ता है।

3. **पत्र व्यवहार करना एवं मोबाइल फोन से संपर्क करना**–साधु ने संग के सब सम्बन्धों का त्याग करके दीक्षा धारण की है। किसी के साथ किसी प्रकार का प्रेम होता है, तब ही पत्र व्यवहार किया जाता है। जो साधु पत्र व्यवहार करता है अथवा दूसरे को कहकर उसके द्वारा पत्र व्यवहार करवाता है या फोन करवाता है, वह त्यक्त मोह का पुन: सम्बन्ध करता है। आजकल इसका स्थान मोबाइल फोन जैसे आधुनिक संचार के साधन ले रहे हैं। मोबाइल फोन वगैरह ये सब परिग्रह के प्रकार हैं। कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिण्हदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तोपुण जाइ णिग्गोदम् ।।

– अष्टपाहुड, 18

मुनि यथाजात रूप दिगम्बर निर्ग्रंथ को कहते हैं। इस प्रकार होकर भी यदि ये अपने पास कण मात्र भी परिग्रह रखे तो जान लेना चाहिए कि इनको जिनसूत्र की श्रद्धा नहीं है, अर्थात् मिथ्यात्व अभी गया नहीं है, मिथ्यात्व का फल निगोद ही है, इसलिए निर्ग्रंथ मुनि को परिग्रह नहीं रखना चाहिए।

4. **नाटक आदि देखना**–आजकल कुछ मुनि नाटकादि भी देखने लग गये हैं, किन्तु आत्मिक रंग में रंगने वाले मुनियों के लिए इसे कैसे उचित कहा जाये, सच्चे दिगम्बर वैराग्य की मूर्ति साधु को राग वर्धक नाटकों का देखना तो दूर यदि मन भी उधर दौड पड़े तो उसे भी दोषजनक मानते हैं। ये सब कार्य सांस्कृतिक आयोजनों में देखे जा सकते हैं।

5. **चलते समय बातचीत करना**–एक समय में एक ही कार्य अच्छी तरह से हो सकता है। एक साथ दो उपयोग स्थिर नहीं हो सकते। मुनि यदि चलते समय बात करेंगे तो ध्यान बातों में रहेगा। ईर्या समिति का पालन नहीं हो पायेगा।

6. **रात्रि के समय बोलना**–यह देखा जाता है कि कभी कभी मुनि रात्रि को भी वार्तालाप करते हैं। बोलने में हिंसा होती है। मुनि जिससे बात करेगा वह भी बोलेगा, इस कारण दोनों को कहीं आना-जाना भी संभव है, जिसमें हिंसा का होना निश्चित है। इस वार्तालाप का अपवाद भी है। धर्म के प्रयोजन हेतु मुनि रात्रि में बोल सकते हैं, किन्तु प्रायश्चित लेना होगा। मुनि अधिकतर मौन ही रखते हैं। वे दिन में भी बिना प्रयोजन नहीं बोलते हैं, उसमें भी हित-मित प्रिय का ध्यान रखते हैं, अन्यथा भाषा समिति का पालन नहीं हो सकता।

जो निर्ग्रंथ मुनि भाव से निर्ग्रंथ नहीं है और मनमानी करते हैं उनके लिए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया च सयलसंघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता।।

– अष्टपाहुड 67

द्रव्य से वाह्य में तो सब प्राणी नग्न ही होते हैं। नारकी व तिर्यंच जीव तो सदा वस्त्रहीन ही रहते हैं, इस अपेक्षा से वे भी मुनि ठहरे, इसलिए मुनिपना भाव शुद्ध होने पर ही होता है। अशुद्ध भाव होने पर बाह्य से नग्न भी हों तो भाव मुनिपना नहीं होने से मुनि नहीं कहला सकते। अत: सच्चे श्रमण वही होते हैं, जो भाव से भी नग्न होते हैं।

उपर्युक्त मुनियों की विपरीत क्रिया के अतिरिक्त श्रावकों की भी आगम के विपरीत क्रियाएं चल रही हैं। आर्यिकाओं, ऐल्लक, क्षुल्लक द्वारा अपनी पूजा करवाने का प्रसंग कहीं भी आगम में नहीं आता है। अत: इस प्रकार की क्रियाएं आगम के बिल्कुल विपरीत है। हवाई जहाजों में घूमना, समय पर सामायिक न करना, अभक्ष्य का भक्षण करना- ये सब क्रियाएं अशुभ क्रियाएँ है। शुभ से हटकर अशुभ में प्रवृत्ति है। जहां मुनिधर्म व श्रावक धर्म में ये प्रवृत्तियाँ हो रही हैं, वे सब दु:ख रूप ही हैं। इनको निम्न दृष्टान्तों द्वारा भी समझा जा सकता है–

वशिष्ठ तपस्वी

गंगा और गंधवती दोनों नदियों का जहाँ मिलन हुआ है, वहाँ जठर कौशिक नाम के तापसी का एक आश्रम था। वहाँ एक वशिष्ठ नाम का तपस्वी पंचाग्नि तप किया करता था। वहां गुणभद्र और वीरभद्र नाम के दो चारणऋद्धि धारी मुनि आकर उस तपस्वी से कहते हैं कि तू अज्ञान तप करता है, इसमें हिंसा होती है। तपस्वी ने प्रत्यक्ष हिंसा देखी और विरक्त हो जिन दीक्षा

ले ली। वे एक मास का उपवास कर आतापन योग स्थापन करते हैं। इस तप के प्रताप से सात व्यन्तर देवों ने आकर कहा हमें आज्ञा दीजिए कि हम क्या करे? मुनिराज बोले आज कुछ नहीं, बाद में याद करेंगे। जब वशिष्ट मुनि मथुरा में आते हैं तब एक मास के उपवास सहित आतापन योग कर लेते हैं।

अब मथुरापुरी के राजा उग्रसेन इन्हें देख भक्तिवश यह सोचते हैं कि मैं इन्हे आहार कराऊँगा। अत: नगर में घोषणा कर दी जाती है।"इन मुनिराज को और कोई आहार न दे"। एक वशिष्ठ मुनि नगर में आते हैं, और वहाँ अग्नि उपद्रव देख अन्तराय जान लौट जाते हैं। फिर मासोपवास किया एवं फिर आहार के लिए नगर में आते हैं। अब हाथी का क्षोभ देख अन्तराय जान वापिस चले जाते हैं। फिर मासोपवास करते है। बाद में फिर नगर में आते हैं। इस बार राजा जरासिंध का एक पत्र उग्रसेन के पास आता है, जिस कारण वे व्यग्र हो जाते हैं, इस कारण मुनि का पड़गाहन नहीं कर पाते। मुनिराज फिर अन्तराय जान वापिस वन में चले जाते हैं। रास्ते में लोगों के वचन सुनते "राजा स्वयं मुनि को आहार दे नहीं' और अन्य देने वाले को भी न देने दे।" ऐसे वचन सुन राजा पर क्रोध कर मुनिराज ने निदान किया कि इस राजा को पुत्र होकर राजा का निग्रह कर मैं राज करूँ। इस तप का मेरे को यह फल लगे। इस प्रकार निदान कर वे मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अब ये मुनिराज मर कर राजा उग्रसेन की रानी पद्मावती द्वारा जन्म लेते हैं। बालक की क्रूर दृष्टि देखकर इन्हें एक सन्दूक में रख पूरे वृतान्त सहित यमुना नदी में बहा दिया जाता है। संयोग वश कौशाम्बी पुर में मंदोदरी नाम की महिला ने इनको प्राप्त किया और पुत्र बुद्धि से इनका लालन-पालन करने लगी। उसने इनका नाम कंस रखा। जब यह बालक कुछ बड़ा हुआ तो अन्य बालकों के साथ खेलते समय सब को दुख देने लगा। इस कारण मंदोदरी ने उलाहनों के दु:ख के कारण बालक को घर से निकाल दिया। अब यह बालक कंस, शौर्यपुर नामक शहर जाता है तथा वहाँ वसुदेव राजा के यहाँ सेवक बन कर रहने लगता है। कुछ समय बाद जरासिंध प्रति नारायण का पत्र आता है कि जो पोदनपुर के राजा सिंहरथ को बाँध लाये, उसके साथ आधे राज्य सहित पुत्री का विवाह कर देंगे। अब वसुदेव वहाँ कंस सहित जाकर युद्ध करके उस सिंहरथ राजा को बाँध लाता है और जरासिंध को सौप देता है। अब जरासिंध ने पुत्री सहित आधा राज्य वसुदेव को दे दिया, तब वसुदेव कहता है कि सिंहरथ को कंस बाँध कर लाया है, यह उसको दो। जरासिंध राजा ने इसका कुल जानने के लिए मंदोदरी को बुलाकर कुल का निश्चय करके इसको अपनी पुत्री ब्याह दी। अब कंस ने मथुरा का राज्य लेकर पिता उग्रसेन राजा को तथा पद्मावती माता को बंदी खाने में डाल दिया। इस प्रकार वशिष्ट मुनि ने निदान (इच्छा) से अशुभ में प्रवृत्ति की और सिद्धि को नहीं प्राप्त किया, वरन् दु:ख को ही प्राप्त किया। यह सब अशुभ भाव का ही फल है।

द्वीपायन मुनि

द्वीपायन मुनि की कथा शास्त्रों में बहुत रोचक है। वह इस प्रकार है। नौवें बलभद्र ने श्री नेमिनाथ तीर्थङ्कर से उनके समवशरण में पूछा कि है स्वामिन्, ये द्वारकापुरी समुद्र में है, इसकी स्थिति कितने समय तक है, प्रभू कहते हैं कि रोहिणी का भाई द्वीपायन, तेरा मामा, बारह बर्ष बाद मद्य के कारण क्रोध करके इस द्वारिकापुरी को जला देगा। इस प्रकार भगवान के वचन सुन निश्चय कर द्वीपायन दीक्षा लेकर पूर्व देश में चला गया। बारह वर्ष व्यतीत करने के लिए तप करना शुरू किया बलभद्र नारायण ने द्वारिका में यह घोषणा करा दी कि यहाँ मद्य की एक बूँद भी नहीं रहेगी। समस्त शराब बाहर पर्वत आदि पर बहा दी गयी, जो कि जल के स्रोतों में पहुँच गयी। अब बारह बर्ष बीते जानकर द्वीपायन मुनि द्वारिका आकर नगर के जंगल में आतापन योग धारण कर रहने लगे। इसी दौरान संभवकुमार आदि जंगल में खेलने जाते है प्यास से व्याकुल हो वही शराब के कुँडों में से पानी समझ उसे पीते हैं। नशा चढ़ता है, द्वीपायन मुनि को खड़ा देखते है और कहते है "यह द्वारिका को भस्म करने वाला द्वीपायन है" इस प्रकार भला बुरा कहकर पत्थर आदि मारते हैं, गाली देते हैं। द्वीपायन मुनि भूमि पर गिर पड़ते हैं और उनको क्रोध आ जाता है। बाँये हाथ से एक हाथलम्बा पुतला निकलता है और द्वारिका को भस्म करके उस को भी भस्म कर देता है। ये मुनि मरकर नरक में जन्म लेते हैं इस प्रकार अशुभ में प्रवृत्ति कर अन्तत: दुख को प्राप्त होते हैं।

आजकल मुनियों को अपने अकर्तव्य कर्मों का ध्यान नहीं है। ऊपर जिन विपरीत क्रियाओं का वर्णन किया गया है वे, मात्र संकेत मात्र ही हैं। आज प्राय: मुनियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति दिखाई देती है। सभी मनमानी कर रहे हैं। अपने मुख्य धर्म अहिंसा व्रत की रक्षा का भी उन्हें ध्यान नहीं है। आज निम्न श्रेणी में उतर आये हैं। पड़गाहन के समय यदि छोटी भी गलती हो जावे तब वे ऐसे लौट जाते हैं मानो अनर्थ हो गया हो। जैन परम्परानुसार भक्तियाँ नौ ही होती हैं, न अधिक न कम, पर आज के मुनि जब तक अपनी मनमानी कर दो-चार भक्ति न करा लें, तब तक उन्हें सन्तोष नहीं होता। उनकी ऐसी प्रवृत्ति से आहार देने वाले श्रावक बहुत परेशान हो जाते हैं। जैनधर्म निवृत्ति प्रधान है, प्रवृत्ति प्रधान नहीं है। नकुल और सहदेव शुद्धोपयोग से गिरकर शुभोपयोग में प्रवर्तने के कारण सर्वार्थसिद्धि को गये। सुखमाल और चारुदन्त मुनिराज भी शुद्धोपयोग में स्थिर न रहने के कारण सर्वार्थसिद्धि में गये, जबकि सुकौशल मुनिराज ने शुद्धोपयोग की दृढ़ता से केवल ज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त किया।

सम्यक् चारित्र का दूसरा सोपान : दर्शन-ज्ञान की एकता

कल सम्यग्चारित्र को धारण करने के चार सोपानों में से प्रथम सोपान का विवेचन किया गया था। आज इसके दूसरे सोपान "दर्शन-ज्ञान की एकता" पर विवेचन करेंगें। सम्यग्चारित्र को धारण करने के लिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एकता परम् आवश्यक है। सम्यग्दर्शन के लिये पहले श्रद्धान की आवश्यकता होती है और श्रद्धान के लिए ज्ञान की। क्योंकि जानेगें नहीं तो श्रद्धान किस पर करेंगे, यहां आशङ्का हो सकती है कि सर्वत्र शास्त्रों में ज्ञान आराधना से पहले दर्शन आराधना क्यों की गयी है, इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि यह ठीक है कि ज्ञान पहले होता है, किन्तु इसमें सच्चाई पहले नहीं आती। ज्ञान में सच्चाई सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाने के बाद ही आती है। इसलिए पहले सम्यग्दर्शन का वर्णन करना ही न्यायसंगत है। सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान की भी अपार महिमा है। ज्ञान के समान कोई दूसरी पवित्र वस्तु इस संसार में नहीं है। ज्ञान ही कर्मों के नाश का कारण है। सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यग्चारित्र कभी नहीं हो सकता। इसलिए सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान की एकता के बिना सम्यक्चारित्र का होना असंभव है। इनमें कौन पहले प्रकट होता है, इसके सन्दर्भ में पं. दौलतराम जी कहते हैं कि–

> **सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ।**
> **लक्षण "श्रद्धा" जान, दुहू में भेद अबाधौ।।**
> **सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई।**
> **युगपत होते हू, प्रकाश दीपक तैं होई।।**

छहढाला-चतुर्थ ढाल,

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही भव्य आत्मा में एक साथ उत्पन्न होते हैं। फिर भी इन दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न है। सम्यग्दर्शन का लक्षण तो सच्ची श्रद्धा है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण सही ज्ञान है। इस तरह लक्षण भेद से दोनों भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु दोनों साथ होने पर भी इन दोनों में कार्य-कारण भाव माना जाता है। सम्यग्दर्शन को कारण मानकर सम्यग्ज्ञान को उसका कार्य कहा जाता है। जिस प्रकार दीपक और प्रकाश दोनों साथ होते हैं तथा फिर भी प्रकाश दीपक से हुआ ऐसा कहा जाता है। सम्यग्दर्शन के द्वारा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, अतः सम्यग्दर्शन को कारण माना जाता है।

सम्यक् दर्शन की संक्षिप्त व्याख्या–

जिनेन्द्र भगवान् ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष–इन सात तत्त्वों का जैसा स्वरुप बताया है, उनका ज्यों का त्यों सच्चा श्रद्धान करना, व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है। इन तत्त्वों के श्रद्धान के साथ शरीर से भी निर्मम भाव होना चाहिए और निर्मम भाव के लिए

संयतपना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अठारह दोष रहित जिनेन्द्र देव, निर्ग्रंथ गुरु और दयामय धर्म–ये तीनों उत्तम वस्तुएं हैं, ऐसा अटूट विश्वास करना भी सम्यग्दर्शन होने का कारण है, जैसा कि पं. दौलतराम जी लिखते हैं–

देव जिनेन्द्र गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयाजुत सारो।
येहुमान समकित को कारण, अष्टअंग जुत धारो॥

आत्म हितैषी जीवों को निःशंकादि आठ अंगों के द्वारा इस सम्यक्त्व को दृढ़ करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के आठ अंग–1. निःशंकित अंग, 2. निःकांक्षित अंग, 3. निर्विचिकित्सा अंग, 4. अमूढ़दृष्टि अंग, 5. उपगूहन अंग, 6. स्थितिकरण अंग, 7. वात्सल्य अंग तथा 8. प्रभावना अंग माने गये हैं। निर्मल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए आठों अंगों का पूर्ण होना आवश्यक है तथा साथ ही पच्चीस दोषों से भी रहित होना परम आवश्यक है।

आठ अंगों के विपरीत अर्थात्–1. शंका, 2. कांक्षा, 3. विचिकित्सा, 4. मूढ़दृष्टि, 5. अनूपगूहन, 6. अस्थितिकरण, 7. अवात्सल्य और 8. अप्रभावना–ये आठ दोष माने गये हैं। इसके अतिरिक्त आठ मद–1. कुल मद, 2. जातिमद, 3. रूपमद, 4. ज्ञान मद, 5. धन मद, 6. बल मद, 7. तप मद, और 8. प्रभुता मद–ये आठ मद अर्थात् मान माने गये हैं, जो सम्यग्दर्शन को मलिन करते हैं। इसके अलावा तीन मूढ़ताएँ–1. लोक मूढ़ता, 2. देव मूढ़ता, और 3. गुरु मूढ़ता ये तीन मूढ़ताएँ भी मानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त छः अनायतन–1. कुगुरु सेवक, 2. कुदेव सेवक, 3. कुधर्म सेवक, तथा 4. कुगुरु की प्रशंसा करने वाले, 5. कुदेव की प्रशंसा करने वाले और 6. कुधर्म की प्रशंसा करने वाले–इन छहों को सम्यग्दृष्टि नमन नहीं करता अर्थात् इन्हें वह नहीं मानता, यदि माने तो सम्यग्र्शन में दोष आता है। इस प्रकार उपर्युक्त पचीस दोष सम्यग्दर्शन के माने गये हैं, इनसे हमेशा बचकर रहना चाहिए। इसका विस्तृत विवेचन "सम्यग्दर्शन का स्वरूप" के अन्तर्गत पूर्व में किया जा चुका है। इस प्रकार आठ अंग सहित और पच्चीस दोषों से रहित सम्यग्दर्शन की महिमा अपार है, जिसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता।

सम्यग्दर्शन की महिमा–सम्पूर्ण जीवन का सार सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन हुए बिना सब व्यर्थ है। सम्यग्दृष्टि का ध्यान हमेशा अपनी आत्मा की ओर ही लगा रहता है। इसको निम्न दृष्टान्त द्वारा भी समझा जा सकता है–

पनिहारन का ध्यान

दो पनिहारन अपने-अपने सिर पर पानी का घड़ा लिये जा रही हैं। घड़ों को वे अपने हाथों से नहीं थामे हुए हैं। वे आपस में बातचीत करती हुयी हँसती हुई जा रही हैं, किन्तु वे घड़े उनके सिर से नहीं गिरते हैं। इसका करण यह है कि उनका ध्यान उन घड़ों पर ही है। अतः वे अपनी

गर्दन को समतोल रखती हुई बातचीत आदि क्रियाएँ करती हैं। गर्दन पर से अपना ध्यान नहीं हटाती हैं, हटावें तो घड़े गिर जावें। ठीक इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी सभी सांसारिक विषय-भोगों को कर्मों के उदय से भोगता है एवं सांसारिक कार्य सम्बन्धी क्रियायें भी करता है; परन्तु अपनी शुद्ध परिणति को अपने आत्मिक भावों से अलग नहीं करता। अतः सांसारिक भोगों को भोगता हुआ भी कर्म बन्धन को नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार जो सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाता है, वह अपने आत्मा का आनन्द प्राप्त करता रहता है। सम्यग्दर्शन सहित नारकी भी सुखी है और इसके अभाव में देव भी दुःखी हैं। ऐसी है सम्यग्दर्शन की महिमा। मिथ्यादृष्टि ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक का ज्ञान रखने पर भी अज्ञानी है, और सम्यग्दृष्टि तिल-तुष मात्र जितना ज्ञान रखता हुआ भी ज्ञानी है। ज्ञान का चारित्र मूल्य तभी तक है जब सम्यक्त्व प्राप्त हो, वास्तव में सम्यग्दृष्टि ही सच्चा अनेकान्तवादी होता है। चारित्र को धैर्य के साथ पालन करने के लिये सम्यक्त्व ही अमोघ अस्त्र है। इस प्रकार वह महा तपस्या भी व्यर्थ है जिसके साथ सम्यग्दर्शन नहीं है। कहा है कि एक बार भी सम्यक्त्व हो तो उसका निर्वाण निश्चित हो जाता है। अज्ञानी करोड़ों जप तप करे तो भी कर्मों को नहीं काट सकता, किन्तु दर्शन से सहित ज्ञानी उन कर्मों को क्षण भर में काट देता है। मिथ्यात्व से अधिक बड़ा जगत् में कोई पाप नहीं है। सबसे तीव्र पाप यही है। सम्यग्दर्शन के समान कोई इष्ट नहीं है, क्योंकि यही संसार भ्रमण को मेटने वाला है। अतः सम्यग्दर्शन की महिमा अतुलनीय है। इस बात को आचार्य समंतभद्र स्वामी इस प्रकार कहते हैं कि-

न सम्यक्त्व समं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।।

– रत्न.श्रा. 34

जीवों का सम्यग्दर्शन के समान तीनों काल और तीनों लोकों में अन्य कोई कल्याण करने वाला नहीं है तथा मिथ्यात्व के समान तीनों कालों और तीनों लोकों में अन्य कोई अकल्याण करने वाला नहीं है।

सम्यग्दृष्टि के प्रत्येक कार्य ज्ञानपूर्वक होते हैं-सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति पाखण्ड की ओर नहीं होती। वह पाखण्ड को तीव्र कषाय कार्य मानता है। सम्यग्दृष्टि के जितने भी भाव होते हैं, लौकिक हों या पारलौकिक हों, वे सब ज्ञान द्वारा निहित हो जाते है। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि के जितने भी भाव होते हैं, वे सब अज्ञानता से ही उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि भाव मोक्षासक्त होते हैं और मिथ्यादृष्टि के भाव संसारासक्त होते हैं। ध्यानपूर्वक देखा जाये तो बंध तभी तक है जब तक यह ध्यान रहे कि मैं बंधा हूँ, मैं अशुद्ध हूँ, तथा रागी द्वेषी हूँ, या मैं मनुष्य देव-नारकी एवं तिर्यंच हूँ। अहंबुद्धि मिथ्यात्व कर्म के निमित्त से जड़ में चैतन्यपने की जड़ पकड़े

हुए हैं। इस प्रकार की बुद्धि सम्यग्दृष्टि की नहीं हुआ करती वरन् मिथ्यादृष्टि की होती है। सम्यग्दृष्टि जीव की बुद्धि सब द्रव्यों से विलक्षण परम शुद्ध आत्मद्रव्य पर होती है। अत: वह अपने को बन्धरहित ही समझता है एवं अनुभव करता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा अपार है, जिसका वर्णन यहाँ शब्दों में नहीं किया जा सकता। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की सोच में कितना बड़ा भेद होता है, यह निम्न दृष्टान्त द्वारा भी समझा जा सकता है–

राम की उदारता

यद्यपि उदय में आये हुए कर्म के फल को मिथ्यादृष्टि की तरह सम्यग्दृष्टि भी भोगता है तथा अपने कषाय के अनुसार पाप के फल को बुरा और पुण्य के फल को अच्छा समझता है। अत: जब गृहस्थ अवस्था में होता है, तब पाप के फल से बचकर पुण्य के फल को बनाये रखने की यथासंभव बुद्धिपूर्वक चेष्टा करता है। किन्तु मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की चेष्टाओं में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। जैसे खाने को पशु भी खाता है और मुनष्य भी, किन्तु पशु सिर्फ पेट पालने में ही लगा रहता है। उसे औचित्य-अनौचित्य का विचार नहीं रहता। मिथ्यादृष्टि की चेष्टा ऐसी होती है, जैसे कोई पशु भूसे के साथ में कोई काँटा, कंकर, मिट्टी हो तो उसे भी खा जाता है, जबकि मनुष्य उन्हें यत्नपूर्वक हटाकर अपने भोजन को साफ-सुथरा करके खाता है। सम्यग्दृष्टि की चेष्टा ऐसी होती है जैसे बछड़ा गाय का दूध पीता है, उससे बछड़ा भी सुखपूर्वक रहता है और गाय भी आराम से रहती है। अत: इसकी चेष्टा स्वयं के लिए और दूसरे के लिए भी लाभदायक होती है। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि औरों को कष्ट देता है और स्वयं भी कष्ट पाता है। जैसे–जौंक पराया खून चूसती है तो उसे तो कष्ट पहुँचता ही है स्वयं भी कष्ट उठाती है। इन दोनों में आचरण का बहुत अन्तर होता है। जैसे–कौटुम्बिक जीवन भोगने वाले राम भी थे और रावण भी था, किन्तु दोनों के आचरण में कितना भारी अन्तर था, उसे कोई भी साधारण बुद्धि वाला सहज में समझ सकता है। राम अपने पिता के वचन को रखना चाहते थे। माँ कैकेयी को भी दु:ख न पहुँचे, इसलिए अपने न्यायोचित राज्य को भी भरत के लिए दे दिया और स्वयं वनवास को चल दिये। रास्ते में भी जो कुछ सम्पत्ति पाई वह भी औरों को अर्पण करते चले गये। इसी में उनको आनन्द प्राप्त होता था। जब सीता का हरण हुआ तब उनका पता लगाना और उन्हें शीघ्र से शीघ्र लाना एक आवश्यक बात थी, पर इसको प्रमुखता न देकर जब सुग्रीव मिला तब उससे बोले कि मैं पहले तुझे तेरी सुतारा दिलाता हूँ, वाह रे उदारता! वाह रे परोपकार! क्या कहना इस महानता के बारे में। दूसरी ओर रावण का चरित्र देखिए। रावण भी खरदूषण की सहायता के लिए रवाना हुआ और रास्ते में उसने सीता को देख लिया तो खरदूषण की सहायता करने की बात को भूल गया और बीच में ही सीता का हरण कर लिया। लोगों ने उसे बहुत समझाया कि यह बात तुम्हारे योग्य नहीं है।, गुरुजनों ने भी

समझाया, किन्तु रावण ने किसी की नहीं मानी। विभीषण सरीखे विद्वान भाई ने भी समझाया परन्तु उसे भी घर से बाहर निकाल दिया। यह सब क्षणिक भोग-विलास की लालसा में फंसकर हुआ जो अपने आप के लिए तथा औरों के लिए अतिदु:ख का कारण बना। रावण बुराई का प्रतीक और राम अच्छाई कर प्रतीक बन कर प्रसिद्ध हो गये। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव भोगों की ओर भागता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव भोगों को उदारता के साथ भोगता है। इस प्रकार दोनों की चेष्टाओं में जमीन-आसमान का अन्तर है।

सम्यग्दृष्टि को जब क्रोध का उदय होता है तब वह सोचता है कि यह पुद्गल रूप कर्मद्रव्य और क्रोध का उदय रूप विपाक भाव है। यह मेरा आत्मीय भाव नहीं है, मैं तो निश्चय से इस भाव को जानने वाला हूँ। जो भावों में कलुषता हुई है, वह कर्म का रस है। मेरा ज्ञान स्वभाव इस रूप नहीं है, यह भाव पर है, इसलिए त्यागने योग्य है। सम्यग्दृष्टि विचारता है कि कर्मों के उदय होने पर उनका फल अनेक प्रकार का हुआ करता है। इन आठों ही कर्मों का उदय मेरी आत्मा का स्वभाव नहीं है। मैं तो ज्ञायकमात्र स्वभाव वाला हूँ। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, रोग, शोक, भोग, शंका आदि अनेक अवस्थाएँ इस जीव के संसार में हुआ करती हैं। ऐसा सोचकर वह इनमें आसक्त नहीं होता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने आप को ज्ञायक अर्थात् ज्ञाता-दृष्टास्वभाव वाला ही अनुभव करता रहता है, और कर्मों के उदय को अपने से भिन्न जानकर एवं अपने आत्मतत्त्व को ही निज स्वभाव मानकर उसमें ही संतोष करता है। यही सम्यग्दृष्टि की सोच का सार है।

ज्ञान—मूलाचार में लिखा है—

जेण तच्चं विवुज्झेज्जं, जेणं चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विमुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे।। ७०।।

जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरुप जाना जा सके, जिससे मन विषयों में जाता हुआ रुक जाय, जिससे अपनी आत्मा शुद्ध हो जाय, जिनशासन में वही ज्ञान माना गया है। इसी बात को स्वामी समन्तभद्र इस प्रकार कहते हैं कि—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निस्सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।।

— रत्नक.श्रा. 42

आगम के जानने वाले श्री गणधरदेव तथा श्रुतकेवली हैं, वे उस ज्ञान को ज्ञान कहते हैं जो वस्तु स्वरुप को परिपूर्ण जानता है, कम नहीं जानता है, अधिक नहीं जानता है, जैसा वस्तु का यथार्थ सत्य स्वरुप है वैसा ही जानता है, विपरीतता रहित जानता है, संशय रहित जानता है।

ज्ञान की आराधना कब करनी चाहिए? पं. दौलतराम जी ने छहढाला की चतुर्थ ढाल के प्रारम्भ में लिखा है कि–

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान।
स्वपर अर्थ बहुधर्म जुत जो प्रगटावत भान।।

सम्यग्दर्शन हो जाने के उपरान्त, ज्ञान को प्राप्त करना चाहिए। आगम के अभ्यास द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाना चाहिए, क्योंकि ज्ञान ही स्व और पर पदार्थ को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के समान है। दूसरे शब्दों में सभी संसारी जीवों को कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य होता है, किन्तु वह ज्ञान मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं होता। मोक्षमार्ग में कार्यकारी ज्ञान तो सम्यग्दर्शन के साथ वाला ज्ञान ही होता है। जिस समय जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उस समय उसका पूर्व का जितना भी ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है। अब उसे आगम के अभ्यास के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ाना चाहिए।

ज्ञान के भेद– सम्यक् और मिथ्या के रूप में ज्ञान के दो भेद होते हैं। मति, श्रुत अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान ये ज्ञान के भेद हैं। कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन ज्ञान मिथ्या हैं। इनके भी भेद प्रभेद होते हैं, जिसको विस्तार से सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में देखा जा सकता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से भी ज्ञानों के दो भेद हैं, जिनके और भी उत्तर भेद होते हैं।

सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति - सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति एवं इसके प्रकट होने के संदर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि–

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं च यदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी।।

– समयसार 35

जैसे लोक में कोई पुरुष पर वस्तु को ऐसा जाने कि "यह पर वस्तु है", और ऐसा जानकर पर वस्तु का त्याग कर देता है, ठीक उसी प्रकार जब कोई पुरुष समस्त पर द्रव्यों के भावों को कि "ये परभाव हैं" ऐसा जानकर उनको छोड़ देता है, तब वह ज्ञानी होता हुआ ऐसा करता है। दूसरे शब्दों में स्व और पर की पहचान होने पर, जब 'पर' में अपनत्व का भ्रम छूटे तब भेद विज्ञान के द्वारा सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस बात को एक छोटे से दृष्टान्त द्वारा भी समझी जा सकता है–

बदली चादर

कोई व्यक्ति धोबी के घर से भ्रमवश दूसरे की चादर लाकर उसे अपना समझकर ओढ़कर सो जाता है। इस प्रकार स्वयं ही अज्ञानी हो रहा है, क्योंकि यह चादर दूसरे की है, उसे यह पता ही नहीं है। भ्रम बना हुआ है। अब जिसकी वह चादर है, वह व्यक्ति आता है, और चादर के पल्ले को पकड़ कर खींचता हुआ यह कहता है कि–"उठ, सावधान हो, यह मेरी चादर तू ले आया है, यह मेरी है, इसलिए मुझे दे दे", तब उसके कहे अनुसार सर्व चिह्नों से भलीभांति परीक्षा करे कि, "वास्तव में यह मेरी चादर नहीं है, दूसरे की ही है," ऐसा जानकर ज्ञानी होता हुआ, उस चादर को शीघ्र ही त्याग देता है। इस प्रकार भेदज्ञान से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हुआ करती है।

सम्यग्ज्ञान की महिमा

ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए पं. दौलतराम जी कहते हैं कि–

ज्ञान समान न आन जगत में, सुख को कारण।
इहि परमामृत जन्म-जरामृत-रोग-निवारन।।

– छहढाला, 43

पाँचों सम्यग्ज्ञानों में से आत्मा के कल्याण का सम्बन्ध सम्यग्श्रुतज्ञान से है, क्योंकि साधक को श्रुतज्ञान की आराधना से केवलज्ञान प्राप्त होता है, अत: दौलतराम जी उस सम्यग्श्रुतज्ञान को लक्ष्य करके कहते हैं कि इस ज्ञान के समान कोई दूसरा सुखदायी नहीं है। यह सम्यग्ज्ञान ही जन्म, जरा, और मरण रूप रोग का नाश करता है। अत: सम्यग्ज्ञान की महिमा अतुलनीय है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

शास्त्र अभ्यास अनिवार्य

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि।।3

– अष्टपाहुड-सूत्र, 3

जो पुरुष सूत्र अर्थात् ज्ञान को जानने वाला है, प्रवीण है, कुशल है, वह अपने संसार भ्रमण का नाश कर देता है। जैसे लोहे की सुई डोरे के बिना हो तो खो जाती है, नष्ट हो जाती है, डोरे सहित नहीं खोती। यहाँ इस बात को दृष्टान्त रूप से समझाया गया है कि जैसे सुई धागे सहित हो तो दृष्टिगोचर होकर मिल जाती है, कभी भी नहीं खोती है, डोरे के बिना हो तो दीखती नहीं, इसी प्रकार सूत्र के ज्ञाता अर्थात् ज्ञान के ज्ञाता मनुष्य अपना संसार भ्रमण खत्म कर लेते हैं, नाश कर लेते हैं। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि–

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे।
सच्चेदण पच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि॥

– अष्टपाहुड-सूत्रपाहुड 43

धागे सहित सुई नष्ट नहीं होती वैसे ही जो पुरुष संसार में भ्रमण कर रहा है, उसे अपना रूप स्वयं दृष्टिगोचर नहीं होता, तो भी सूत्रों का जानकार, अर्थात् ज्ञान का जानकार अपनी आत्मा सत्तारूप चैतन्य को स्व-संवेदन से प्रत्यक्ष अनुभव करता है, इसलिए संसार में रहता हुआ भी संसार में भ्रमण नहीं करता और एक दिन अपने अनादि संसार भ्रमण को मिटा देता है, उसका नाश कर देता है। ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए पं. दौलतराम जी इस प्रकार कहते हैं कि–

धन-समाज-गज-बाज, राज तो काज न आवे।

धन-दौलत, समाज, हाथी, घोड़ा और राज्य आदि कोई भी पदार्थ आत्मा की भलाई में कार्यकारी नहीं है, किन्तु आत्मज्ञान प्राप्त होने पर वह स्थिर हो जाता है, अर्थात् केवलज्ञान रूप होकर एकरूप रहता है। यह आत्मज्ञान श्रुत अभ्यास द्वारा ही प्राप्त होता है, जो कि इस संसार भ्रमण के नाश का कारण बनता है। ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए निम्न सवैये में पं. बनारसीदास जी कहते हैं कि ज्ञान के बिना सभी वेषधारी साधु ढोंगी हैं, विषयों में फँसे हैं, भिखारी के समान हैं–

भेषधरि लोकनिकौं बेचै सो धरम ढंग,
गुरु से कहावै गुरुवाई जाहि चहिये।
मंत्र-तंत्र साधक कहावै गुनी जादूगर,
पंडित कहावै पंडिताई जामै लहिये॥
कवित्त की कला मैं प्रवीन सो कहावै कवि,
बात कहि जानै सो पवारगीर कहिये।
एतौ सब विषैके भिखारी मायाधारी जीव,
इन्हकौं विलोकिकै दयालरुप रहिये॥

जो वेष बनाकर लोगों को ठगता है, वह धर्म ठग कहलाता है। जिसमें लौकिक बड़प्पन होता है, वह बड़ा कहलाता है, जिसमें मंत्र-तंत्र साधने का गुण है, वह जादूगर कहलाता है; जो कविताई में होशियार है, वह कवि कहलाता है; जो बात-चीत में चतुर है, वह व्याख्याता कहलाता है। ये सब कपटी जीव विषय के भिखारी हैं, विषय की पूर्ति के लिए याचना करते फिरते हैं, इनमें स्वार्थ त्याग का अंश भी नहीं है। इन्हें देखकर दया आना चाहिए। इस प्रकार इन जीवों के अनादर का कारण अज्ञान ही है। ज्ञानी तो हमेशा आदर-प्रंशसा का माप बनता है।

अत: ज्ञान की महिमा अनोखी है। ज्ञान हमें शान्ति प्रदान करता है और इसके अभाव में अशान्ति ही अशान्ति व्याप्त रहती है। इस बात को हम निम्न दृष्टान्त द्वारा भी अच्छी तरह से समझ सकते हैं–

रज्जू में सांप

किसी नगर में एक सेठ जी रहते थे। बहुत धनवान थे। घर में पत्नी, पुत्र, पुत्री, माता-पिता, समाज में प्रतिष्ठा सब कुछ था। किसी बात की कोई कमी नहीं थी। इतना सब कुछ होते हुए भी वे अशान्त रहते थे। एक दिन बैठे-बैठे सोच रहे थे कि मुझे शान्ति क्यों नहीं मिल रही है? क्या करूँ? निर्णय लेते हैं। कि मुनिराज के पास जाकर इसका समाधान लेना चाहिए। अगले दिन मुनिराज के पास जंगल में जाते हैं और कहते हैं कि महाराज! मेरे पास भगवान् का दिया सब कुछ है, किन्तु मेरे पास शान्ति नहीं है। यह आपके पास है, अत: आपसे शान्ति लेने आया हूँ। महाराज कहते हैं कि–''वह जो सामने कुटिया दिख रही है, उसके अन्दर एक कमण्डलु रखा है, जाओ उसे ले आओ''। सेठ जी जाते हैं, कुटिया के अन्दर प्रवेश करते हैं। कमण्डलु को स्पर्श करते ही जोर से डर कर चिल्लाते हैं और बाहर भागकर आ जाते हैं। डरे हुए, सहमे हुए मुनिराज के पास आकर कहते हैं कि–''महाराज् वहाँ पर बड़ा सर्प है'। मुनिराज यह सुन कुटिया में जाते हैं। सेठ जी उनके पीछे-पीछे चलते हैं। मुनिराज कमण्डलु उठाते हैं, और उसके पास पड़ी हुयी एक रस्सी उठाते हैं। सेठ जी से कहते हैं कि–''सेठ जी! यह तो रस्सी है, आप कहते थे साँप''। अब आगे उपदेश देते हैं कि इस घटना द्वारा मैं आपको शान्ति देना चाहता हूँ। जब तक आपने किसी वस्तु को भली-भाँति जाना नहीं, समझा नहीं, तब तक ही आपके अन्दर अशान्ति रहती है, शान्ति का अंश भी आपके अन्दर अनुभव नहीं हो सकता। किन्तु जब आप वस्तु स्वरूप को भली-भाँति समझ लेते हैं, कि सही क्या है और सही क्या नहीं है; रस्सी है यह , साँप नहीं, इस प्रकार का भ्रम जब मिट जाता है तब अशान्ति का भी अन्त हो जाता है। आपके अन्दर तब बिल्कुल भी अशान्ति नहीं रहेगी। सब खत्म हो जायेगी। इसके अभाव में आपके अन्दर अशान्ति ही अशान्ति रहेगी। इस प्रकार वस्तु के स्वभाव की यथार्थ पहिचान जब तक हमें नहीं होगी, तब तक अशान्ति ही रहेगी, और जब वस्तु के स्वभाव की यथार्थ पहचान हो जाती है तब शान्ति स्वत: ही प्राप्त हो जाती है। यह शान्ति ही परम् शान्ति को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कराने वाली होती है। आत्मा का स्वभाव ज्ञाता और दृष्टा है, अत: उसके स्वभाव को जानकर उसी में स्थिर हो जाओ, उसी में समा जाओ। वही धर्म है, और वही शान्ति प्राप्त करने का उपाय भी है। यह सुन सेठ जी शान्त चित्त हो अपने घर लौट आते हैं।

इस प्रकार सम्यग्चारित्र के लिए यह परम आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की एकता हो। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भिन्न-भिन्न हैं? इसका समाधान करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि-

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

– समयसार 16

साधु पुरुष को दर्शन-ज्ञान और चारित्र सदा सेवन करना चाहिए, और उन तीनों को निश्चय नय से एक आत्मा ही जानना चाहिए। दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों आत्मा की ही पर्याय हैं, कोई भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं, इसलिए साधु पुरुषों को एक आत्मा का ही सेवन करना यह तो निश्चय है और ऐसा कथन करना तथा दूसरों को ऐसा उपदेश देना व्यवहार है। इस प्रकार परमार्थ से देखा जाये तो ये तीनों एक आत्मा ही हैं, क्योंकि वे अन्य वस्तुएँ नहीं हैं, वरन् आत्मा की ही पर्यायें हैं। इस बात को नय विवक्षा से दृष्टान्त के द्वारा समझाते हुए आचार्य आगे कहते हैं कि-

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदिपुणोअत्थत्थीओपयत्तेण।।

– समयसार 17

जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष बहुत उद्यम से पहले राजा को जानकर उसी पर श्रद्धा करता है कि "यही अवश्य राजा ही है," इसकी सेवा करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी। फिर उसका प्रयत्नपूर्वक अनुसरण करता है, अर्थात् सुन्दर रीति से सेवा करता है, उसकी आज्ञा में रहता है। ठीक इसी प्रकार मोक्ष के अभिलाषी को पहले जीव रूपी राजा को (अपनी आत्मा को) जानना चाहिए, और फिर उसका श्रद्धान करना चाहिए, कि "यही आत्मा है, इसका आचरण करने से कर्मों से छूटा जा सकता है", तत्पश्चात् इसी आत्मा का अनुसरण करना चाहिए अर्थात् अनुभव के द्वारा तन्मय हो जाना चाहिए। क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्ध स्वरुप है, उसकी सिद्धि की इसी प्रकार से प्राप्ति होती है, अन्य प्रकार से नहीं। स्पष्ट है कि व्यवहारीजन पर्याय में अर्थात् भेद में समझते हैं, इसलिए यहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र को भेद रूप समझाया गया है।

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।।

– समयसार 19

कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं की जब तक इस आत्मा कि ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म, और शरीर आदि नोकर्म में ऐसी बुद्धि बनी रहती है कि, "ये मैं हूँ", तथा मुझ में "ये कर्म, नोकर्म" आदि हैं, तब तक यह आत्मा अज्ञानी बना हुआ है।

दूसरे शब्दों में जैसे स्पर्शादि में पुद्गल का और पुद्गल में स्पर्शादि का अनुभव होता है अर्थात् दोनों एकरूप अनुभव होते हैं, उसी प्रकार जब तक आत्मा को, कर्म और नोकर्म में आत्मा का और आत्मा में कर्म और नोकर्म की भ्रान्ति रहती है, तब तक ही यह आत्मा अज्ञानी दशा में रहती है और जब यह जानता है कि आत्मा तो ज्ञाता ही है और कर्म नोकर्म पुद्गल के ही है, तब वह ज्ञानी हो जाता है। इस बात को ऐसे भी समझा जा सकता है कि, जैसे-दर्पण में अग्नि की ज्वाला दिखाई देती है। वहां यह मालूम होता है कि "ज्वाला तो अग्नि में ही है, वह दर्पण में प्रविष्ट नहीं है, और जो दर्पण में दिखाई दे रही है वह दर्पण की स्वच्छता ही है", इसी प्रकार "कर्म नोकर्म अपनी आत्मा में प्रविष्ट नहीं है, आत्मा की ज्ञान स्वच्छता ऐसी ही है कि जिसमें ज्ञेय का प्रतिबिम्ब दिखाई दे, इसी प्रकार कर्म, नोकर्म ज्ञेय हैं, इसलिए वे प्रतिभासित होते हैं"—ऐसा भेदज्ञान रूप अनुभव आत्मा को या तो स्वयमेव हो, या उपदेश से हो, तभी वह ज्ञानी कहलाता है और भी जैसे सोया हुआ मनुष्य या तो स्वयं ही जाग जाये या कोई उसे जगा दे, तो उसे जगा हुआ समझना चाहिए। इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द अन्य प्रकार से इस प्रकार भी कहते हैं—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ।।

— समयसार 186

जो शुद्ध आत्मा को जानता है, अनुभव करता है, वह शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है और जो अशुद्ध आत्मा को जानता है, अनुभव करता है, वह अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।

दूसरे शब्दों में जो जीव अखण्ड धारावाही ज्ञान से आत्मा को निरन्तर शुद्ध अनुभव किया करता है, उसके राग-द्वेष-मोह रूपी भावास्रव रुक जाते हैं और वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त हो जाता है; इसके विपरीत जो जीव आत्मा को अशुद्ध अनुभव करता है, उसके राग-द्वेष-मोह रूपी आस्रव नहीं रुक पाते और वह अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि शुद्ध आत्मा के अनुभव से ही संवर होता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की एकता हुए बिना सम्यग्चारित्र का प्रकट होना असंभव है। सम्यग्चारित्र वही है जो सम्यग्दर्शन ज्ञान सहित है। इन तीनों के बिना मोक्षमार्ग बन ही नहीं सकता। ऐसा कथन करना कि ये तीन भेद रूप आत्मा हैं,

यह केवल व्यवहार दृष्टि से है, निश्चय दृष्टि से ये तीनों आत्मा की पर्याय हैं, भेद रूप नहीं हैं। ज्ञानगुण एक ही है, अनेक भेदरूप नहीं है।

सम्यक् चारित्र का तीसरा सोपान : समता-शमता

सम्यग्चारित्र धारण करने के लिए ''समता और शमता'' का होना अतिआवश्यक है। इन दोनों का समन्वय जीवन के किस स्तर पर होता है, इस सन्दर्भ में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि–

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।

रत्नक.श्राव. 47

दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं। जिसके ये दोनों प्रकट हो जाते हैं, वह निकट भव्य अपने राग-द्वेष को दूर करने के लिए बुद्धिपूर्वक सम्यग्चारित्र को धारण करता है। समता और शमता दोनों सम्यग्चारित्र के अपर नाम ही हैं। समता बाह्य चारित्र से सम्बन्धित आचरण है जिसके अन्तर्गत मुनियों के 28 मूलगुण, 22 परिषह को जीतना आदि आते हैं, दूसरी ओर शमता अन्तरंग चारित्र से सम्बन्धित आचरण है जिसके अन्तर्गत चारों कषाओं को जीतना, इन्द्रियों को जीतना, ध्यान में स्थिर होना आदि आते हैं। इस प्रकार इन दोनों अर्थात् समता एवं शमता को धारण करके ही सम्यग्चारित्र की पूर्णता हो सकती है। समता-शमता का धारक मोक्षमार्ग को बना लेता है, और नियम से वीतरागी हो जाता है, क्योंकि इसके धारण करने वाले के शुद्ध परिणाम होते हैं।

जीव के तीन प्रकार के परिणाम–समस्त संसारी जीवों में तीन प्रकार के परिणाम पाये जाते हैं।

1. **शुभ परिणाम**–इसके अन्तर्गत दया, पूजा, संयम आदि रूप परिणाम आते हैं।
2. **अशुभ परिणाम**–इसके अन्तर्गत हिंसा, झूठ, चोरी आदि परिणाम आते हैं।
3. **शुद्ध परिणाम**–समता एवं शमता युक्त परिणाम इसके अन्तर्गत आते हैं।

समस्त संसारी जीवों में कम या अधिक रूप से शुभ तथा अशुभ परिणाम ही पाये जाते हैं, शुद्ध नहीं। किन्तु किन्हीं साधकों में कभी-कभी ध्यानादि के समय कुछ शुद्ध परिणाम भी पाये जाते हैं। सम्यग्दृष्टियों में हर समय शुद्ध परिणाम का कुछ न कुछ अंश अवश्य पाया जाता है। ये शुद्ध परिणाम बन्ध का कारण नहीं होते, बल्कि पूर्व बन्ध को काटने में कारण हैं एवं ये ही परिणाम आगे जाकर वीतरागता का मोक्ष का कारण बनते हैं। शुभ और अशुभ परिणाम संसार का कारण माने गये हैं।

सम्यग्चारित्र पुरुषार्थ के बिना नहीं बनता है। पुरुषार्थ से ही मोक्षमार्ग की साधना होती है, और सम्यग्चारित्र के बिना मोक्षमार्ग बनता नही। आचार्यों ने पुरुषार्थ दो प्रकार का माना है–

1. **द्रव्यात्मक पुरुषार्थ**–तप, व्रत, संयम, समिति आदि इसके अन्तर्गत आते हैं, जिनका सम्बन्ध मन वचन-काय की परिस्पन्दन रूप क्रिया के साथ होता है। समता रूपी चारित्र इसी के अन्तर्गत समाहित है।

2. **भावात्मक पुरुषार्थ**–इसके अन्तर्गत "शमता" रूपी चारित्र आता है। क्योंकि इसका सम्बन्ध योग के साथ नहीं, उपयोग के साथ होता है। ध्यान तथा समाधि के द्वारा इसका अभ्यास किया जाता है।

द्रव्यात्मक तथा भावात्मक ये दोनों ही प्रकार के पुरुषार्थ साधक दशा में सदा साथ-साथ रहते हैं। समता-शमता के अन्तर्गत आने वाले चारित्र का विस्तृत वर्णन दृष्टव्य है।

समता के अन्तर्गत आने वाला चारित्र

मोक्षमार्ग को पूर्ण बनाने के लिए मोक्षार्थी का वाह्य क्रिया से सम्बन्धित जितना भी चारित्र है, वह इसके अन्तर्गत आता है। व्रत, समिति से सम्बन्धित 13 प्रकार का चारित्र होता है– पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ तथा तीन गुप्तियाँ। पाँच महाव्रत तथा पाँच समिति रूप चारित्र पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ तीन गुप्तियाँ ही जानना पर्याप्त है।

तीन गुप्तियाँ–मनोगुप्ति, वचनगुप्ति ओर कायगुप्ति।

मनोगुप्ति–राग-द्वेष से मन की निवृत्ति हो जाना ही मनोगुप्ति है।

वचनगुप्ति–सूत्र के विरुद्ध तथा अप्रिय वचनों से निवृत्त होना वचनगुप्ति है, अथवा असत्य वचनों की निवृत्ति भी वचनगुप्ति कहलाती है। मौन धारण करना, ध्यान, अध्ययन या चिन्तन में लगे रहना भी वचन गुप्ति है।

कायगुप्ति–शरीर की प्रवृत्ति को रोकना, कायोत्सर्ग करना, शरीर से ममत्व छोड़ना, आसन लगाकर ध्यान करना कायगुप्ति है। जैसे खेत में अनाज की रक्षा के लिए खेत के चारों ओर काँटों की बाढ़ खड़ी कर देते हैं, ताकि उसमें कोई पशु आदि घुस न सके। इसी प्रकार आत्मा इन पापरूपी प्रवृत्तियों में न फँस जाए एतदर्थ मन-वचन-काय की गुप्ति रूपी बाढ़ की व्यवस्था की जाती है। ये गुप्तियाँ दस प्रकार के चारित्र (पाँच महाव्रत तथा पाँच समितियाँ) की रक्षा करती हैं।

इस प्रकार विषय सुख की अभिलाषा के लिए जो मन-वचन-काय की प्रवृत्ति होती है, उसका निरोध करना गुप्ति है। सत्कार, ख्याति, पूजा, धनादि के लाभ की आकांक्षा रहित होकर

मन-वचन और काय की क्रियाओं को रोकना ही सम्यक् प्रकार योग का निग्रह है। योग का निग्रह होने से आर्त्त-रौद्र ध्यानात्मक संक्लेश परिणामों की उत्पत्ति नहीं होती है और फिर अशुभ कर्मों का आस्रव भी नहीं होता। इसलिए गुप्ति संवर की प्राप्ति का कारण होती है।

बाह्य चारित्र की उत्पत्ति का कारण–आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि–

बादरसंजलणुदये सुहुमुदये समखये च मोहस्स।
संयमभावो णियमा होदित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।।

– गोम्मटसार-जीवकाण्ड 466

संज्वलन कषाय का उदय, सूक्ष्मलोभ का उदय, सम्यग्चारित्र मोहनीय का उपशम तथा क्षय होने पर नियम से चारित्र भाव होता है। दूसरे शब्दों में प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुण स्थानों में–संज्वलन कषाय चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभाव रूप क्षय अर्थात् कर्मों का बिना फल दिये झड़ जाना, देशघाती स्पर्द्धकों का उदय और इन्हीं का सदवस्था रूप उपशम होने पर सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि संयम होते हैं। परिहार विशुद्धि संयम छठे और सातवें गुणस्थान में होता है। सामायिक और छेदोपस्थापना संयम छठे से अनिवृत्तिकरण नवमें गुणस्थान पर्यंत होता है, क्योंकि बादर संज्वलन चतुष्क नवमें गुणस्थान तक उदय रहता है।

सामायिक चारित्र–आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि–

संगहिय सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुखगम्मं।
जीवो समुव्वहंतो सामाइयसंजमो होदि।।

(गोम्मटसार-जीवकाण्ड 470)

व्रत धारण, समिति पालन आदि पाँच प्रकार के संयम को एक साथ "मैं सर्व सावद्य (हिंसादि पाप) कर्मों का त्यागी हूँ" इस प्रकार संग्रह नय से सबका संग्रह करके अभेद रूप सावद्य कर्म से निवृत्ति स्वरूप एक यम का धारण करना सामायिक संयम या चारित्र है। इसकी तुलना दूसरे चारित्र नहीं कर सकते, क्योंकि यह सम्पूर्ण तथा दुर्गम चारित्र है। इसका धारण करना अत्यन्त कठिन है। ऐसे चारित्र को धारण करने वाला जीव सामायिक संयमी होता है। आशय यह है कि समस्त सावद्य क्रियाओं का एक साथ त्याग कर व्रतों का धारण, समिति का पालन, मन-वचन-काय की क्रियाओं से निवृत्ति आदि पाँच प्रकार के संयम का धारण एक साथ करना सामायिक संयम है। यह अनुपम और दुष्प्राप्य है। यह अटूट समता धारण किये बिना संभव नहीं होता है।

छेदोपस्थापना चारित्र–आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं कि–

छेत्तूण य च परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावगो जीवो।।

– गोम्मटसार-जीवकाण्ड 47

प्रथम सामायिक चारित्र को धारण कर फिर उससे गिर जाने पर पुनः अपने आत्मा को व्रत धारणादि पाँच प्रकार के चारित्र धर्म में स्थापित करना छेदोपस्थापना चारित्र है। छेद करके अर्थात् प्रायश्चित का आचरण करके जिसका उपस्थापन होता है, उसे छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं। दूसरे शब्दों में अपने द्वारा किये गये दोष या प्रायश्चित निवारण करने के लिए पहले जो तप किया था, उसका उस दोष के अनुकूल छेदन करके पुनः निर्दोष संयम में स्थापित करना छेदोपस्थापना चारित्र कहलाता है। समता में शिथिलता के कारण ही दोष लगते हैं तथा समता धारण करने के उपरान्त ही निर्दोष सम्यग्चारित्र का पालन होना संभव है। राग-द्वेष के कारण ही सामायिक आदि चारित्र में दोष लगने लगते हैं, अन्यथा छेदोपस्थापना चारित्र की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। समता धारक कैसे होते हैं, इस बात को पं. दौलतराम जी इस प्रकार कहते हैं–

अरि मित्र महल मसान कंचन, काँच निंदन थुति करन।
अर्घावतारन, असि-प्रहारन, में सदा समता धरन।।

– छहढाला-छठी ढाल 6

मुनिराज शत्रु और मित्र को, महल और श्मशान को, सोना और काँच को, निन्दा और स्तुति को तथा पूजन करने वाले को और मारने वाले को हमेशा एक समान समझते हैं। इस प्रकार उनके राग-द्वेष का अभाव होता है। समता धारक मुनि कैसे होते हैं, यह बात निम्न दृष्टान्त से भी समझ में आ जाती है–

एक बार अकम्पनाचार्य 700 मुनियों के संघ सहित उज्जैन नगरी में पधारे, तब वहाँ दुष्ट मंत्रियों के साथ राजा उनकी वन्दना करने को जाता है। अवसर का विचार कर आचार्यश्री ने संघ को मौन धारण करने का आदेश दे दिया। दो मुनियों को, जो किसी कारणवश बाहर रह गये थे, उन्हें राजा की आज्ञा का ज्ञान नहीं हो पाया। ये दुष्ट मंत्री दो मुनियों से वाद-विवाद करते हैं और हार कर अपने आप को अपमानित महसूस करते हैं। ईर्ष्यावान मंत्री रात्री में मुनियों पर प्रहार करते हैं, किन्तु जैनधर्म का भक्त यक्षदेव उन्हें बचा लेता है। मंत्रियों के इस घोर अपराध की खबर जब राजा के पास पहुँची तो राजा मंत्रियों को अपने राज्य से निकाल देता है। कुछ समय बाद मुनिसंघ विहार करता हुआ हस्तिनापुर आता है और वे अपमानित हुए मंत्री भी हस्तिनापुर पहुँच कर राज्य कर्मचारी बन जाते हैं। ये मंत्री राजा को प्रसन्न करके राजा से 7 दिन का राज्य प्राप्त कर लेते हैं। अब ये पूरे संघ पर घोर उपसर्ग करते हैं। पूरे संघ को चारों तरफ से घेर लेते

हैं और यज्ञ का बहाना बना कर आग लगा देते हैं। पूरा संघ जलने लगता है सभी मुनि प्रतिज्ञा करते हैं कि जब तक उपसर्ग दूर नहीं हो जाता, तब तक अन्न जल का ग्रहण नहीं करेंगे और वे समता धारण कर सल्लेखना धारण कर लेते हैं।

दूसरी ओर मिथिलापुरी में आचार्य श्रुतसागर भी मुनिवरों पर आये हुए उपसर्ग को श्रवण नक्षत्र कंपित होने से जान जाते हैं। ऋद्धिधारक मुनिराज विष्णुकुमार को आदेश देते हैं कि जाओ उपसर्ग दूर करो। विष्णुकुमार मुनि आते हैं, और 700 मुनियों का उपसर्ग दूर करते हैं। चारों ओर हस्तिनापुर में जय-जयकार की मंगलध्वनि होती है। राजा भी अपने कृत्य की क्षमा मांगता है और जैनधर्म अंगीकार कर लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समता के द्वारा वाह्य समस्त बाधाओं को जीता जा सकता है। तथा समता धारण करने वाले जीवों पर वाह्य प्रतिकूलताओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। क्योंकि वे तो–

सुख-दुःख, बैरी-बन्धु वर्ग में, काँच-कनक में समता रखते।
वन-उपवन, प्रासाद-कुटी में, नहीं खेद नहीं ममता रखते॥

बाईस प्रकार के परिषहों को समता भाव से जीतना भी आवश्यक बताया गया है। आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि–

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

– तत्वार्थसूत्र, अ. 1/8

मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा करने के लिए जो सहन करने योग्य हो, वे परिषह हैं।

दूसरे शब्दों में गर्मी, भूख, प्यास, मच्छर आदि की प्राकृतिक बाधाओं को शान्त भाव से सह लेना, समता धारण कर लेना, परिषह कहलाता है। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन–ये 22 परिषह माने जाते हैं। इन सभी परिषहों पर मुनिराज समता भाव से विजय प्राप्त करते हैं। कुछ मुख्य परिषहों का वर्णन, जो मुनिराज सहते हैं, निम्न है–

1. **शीत परिषहजय**–शीत ऋतु में सर्दी के कष्ट को सहना ही शीत परिषहजय कहलाता है।

शीतकाल सबही न कम्पन खड़े तहाँ वन वृक्ष डहे हैं।
झंझा वायु चलै वर्षाऋतु वर्षत बादल झूम रहे हैं॥
तहाँ धीर तटनी तट चौपट ताल पाल पर कर्म दहे हैं।
सहैं सँभाल शीत की बाधा ते मुनि तारण तरण कहे हैं॥

2. **उष्ण परिषहजय**—गर्मी की भयंकर वेदना को शान्त भाव से सहन करना ही उष्ण परिषहजय माना गया है।

भूख प्यास पीडै उर अंतर प्रजुलै आँत देह सब दागै।
अग्नि सरूप धूप ग्रीषम की ताती वायु झालसी लागै।।
तपैं पहाड़ ताप मन उपज्ञति कोपै पित्त दाह ज्वर जागै।
इत्यादिक गर्मी का बाधा सहैं साधु धीरज नहिं त्यागैं।।

3. **दंशमशक परिषयजय**—दंस मच्छर आदि जानवरों द्वारा सताये जाने पर भी विचलित नहीं होना तथा उनकी बाधाओं को समता भाव से सह लेना ही दंशमशक परिषहजय कहलाता है।

डन्स मश्क माखी तनु काटैं पीडैं बन पक्षी बहुतेरे।
डसैं ब्याल विषहारे बिच्छू लगैं खजूरे आन घनेरे।।
सिंह स्याल सुंडाल सतावैं रीछ रोझ दुःख देहिं घनेरे।
ऐसे कष्ट सहैं समभावन ते मुनिराज हरो अघ मेरे।।

4. **शय्या या शयन परिषहजय**—स्वाध्याय, ध्यान एवं मार्गश्रम से जो खेद-खिन्न हो चुके हैं, फिर भी जो बहुत कम सोते हैं, और वह भी एक करवट तथा कंकरीले, कठोर, गर्म या ठंडे स्थान का विचार नहीं करते, ऐसी बाधाऐं समता भाव से सह जाते हैं, उन्हें शय्या परिषहजय कहते हैं।

जो प्रधान सोने के महल सुन्दर सेज सोय सुख जोवौं।
ते अब अचल अंग एकासन कोमल कठिन भूमि पर सोवैं।।
पाहनखंड कठोर कांकरी गड़त कोर कायर नहिं होवैं।
ऐसी शयन परीषह जीतैं ते मुनि कर्मकालिमा धोवैं।।

तप—अनात्म पदार्थों अर्थात् पौद्गलिक विषयों में जो इच्छाएँ दौड़ रहीं हैं, उन्हें रोककर स्वाध्याय, ध्यानादि आत्महित के कार्यों में लगाना ही तप है। यह तप रूप अग्नि अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म रूप ईंधन राशि को क्षण भर में भस्मसात् करने वाली है। अतः क्षण भर भी अर्थात् काल का सूक्ष्म भाग भी तप से खाली नहीं जाने देना चाहिए। क्योंकि तपश्चरण ही तुम्हारे आत्मीय रोग की अमोघ औषधि है।

तप के भेद—आचार्य वट्टकेर कहते हैं कि—

दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतर मुणेयव्वो।
एक्कक्को वि य छद्धा जधाकमं तं परूवेमो।।

—मूलाचार, 147

तप दो प्रकार का है–(अ) वाह्यतप, और (ब) आभ्यन्तर तप। इन दोनों के छह-छह भेद हैं।

वाह्य तप के छ: भेद–आचार्य वट्टकेर कहते हैं कि–

अणसण अवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्तिपरिसंखा।
कायस्स वि परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं।।

–मूला. 149

अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्तशयनासन–ये छ: प्रकार के वाह्य तप हैं। इसका वर्णन निम्न है–

1. **अनशन तप**–खाद्य, स्वाद्य, लेह, और पेय–इन चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप है।
2. **अवमौदर्य तप**–भूख से कम खाना अवमौदर्य तप है। साधु को आहार में अति आसक्ति नहीं होती; वे संयम के हेतु अल्प आहार लेकर अपनी आत्मसाधना में रत रहते हैं।
3. **रसपरित्याग तप**–अपनी इच्छानुसार स्निग्ध (घृत, तेल मिष्ठ, खट्टा, कड़ुआ इत्यादि रस का त्याग करना रसपरित्याग तप है। दूध, दही, घी, तेल, मीठा, नमक ये छ: रस भी माने गये हैं।
4. **वृत्तिपरिसंख्यान तप**–घर, दाता, बर्तन तथा भोजन आदि की अटपटी आखड़ी लेना, फिर आहार चर्या को निकलना, वृत्तिपरिसंख्यान तप है।
5. **कायक्लेश तप**–गर्मी में आतापन, शीतकाल में खुले मैदान में ठहरना, वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे ठहरना आदि क्रियाओं से कर्म का क्षय करने के लिए बुद्धिपूर्वक शरीर का शोषण करना, कायक्लेश तप है।
6. **विविक्तशयनासन तप**–स्त्री, पशु, नंपुसक आदि से शून्य स्थान में सोना, बैठना, विविक्त शयनासन तप है। ये मुनिराज वन में, गुफा में, पर्वत के शिखर आदि एकान्त स्थान में वास करते हुए आत्मसाधना करते हैं। एकान्त स्थान में ध्यान और अध्ययन की निर्विघ्न साधना होती है।

ये सभी तप समता धारण किए बिना संभव नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि समता के अन्तर्गत आने वाले समस्त चारित्र व्यवहार चारित्र हैं, निश्चय चारित्र आत्मा का भाव ही है।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।।

–प्रवचनसार 7

चारित्र वास्तव में धर्म है और जो धर्म है वह साम्य है, ऐसा जिनेन्द्रों द्वारा कहा गया है। साम्य ही वास्तव में और राग-द्वेष रहित आत्मा का परिणाम है। दूसरे शब्दों में समता (चारित्र) प्रकट होना धर्म है, या साम्य भाव है, आत्मा का मोह और क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित जो भाव है, वही निश्चय करके समता भाव है।

आचार्य कुन्दकुन्द समता भाव का लक्षण बताते हुए आगे लिखते हैं कि–

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥

– प्रवचनसार 3.41

जिसके शत्रु और बन्धु वर्ग समान हैं, सुख-दुःख समान हैं, प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसको समता है, वह श्रमण है। दूसरे शब्दों में जहाँ शत्रु-मित्र में, सुख-दुःख में, प्रशंसा-निन्दा में कंकड़ और सोने में, जीवन-मरण में, मोह के अभाव के क़ारण सर्वत्र जिसके रागद्वेष का द्वैत प्रकट नहीं होता, जो सतत विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव आत्मा का अनुभव करता है और उपर्युक्त सभी को बिना अन्तर के ज्ञेयरूप से जानकर ज्ञानात्मक आत्मा में जिसकी परिणति अचलित हुई है, उस पुरुष को वास्तव में जो सर्वतः साम्य है, उसे साम्य संयत का लक्षण समझना चाहिए, उस संयत के आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान संयत्त्व की युगपत्ता के साथ आत्मज्ञान की युगपत्ता है। मान-अपमान में मुनिराज किस प्रकार समता धारण किए रहते हैं यह निम्न दृष्टान्त से भी स्पष्ट हो जाता है–

यथानुरूप कार्य

एक बार एक युवा मुनि एक राजा के उद्यान में विराजमान थे। उसी बाग में एक दिन राजा किसी कारणवश सो जाते हैं। इनकी रानियाँ भी इसी उद्यान में इधर-उधर घूम रहीं थीं। साधु को देख भक्तिवश वे मुनिराज के पास आती है और उपदेश सुनने की इच्छा से वहीं पास में बैठ जाती है। मुनिराज उत्तम क्षमा पर उपदेश देते हैं। इसी दौरान राजा की आँख खुल जाती है और अपनी सब रानियों को युवा साधु के पास बैठा देख शंकालु हो जाता है। अतः क्रोध से ग्रसित हो मुनिराज के पास आकर कहता है कि–"तुम इन मेरी रानियों से क्या व्यर्थ की बातें कर रहे हो"? शान्त प्रकृति के साधु महाराज कहते हैं कि–"मैं इन्हें इनकी इच्छानुसार क्षमा धर्म पर उपदेश दे रहा हूँ"। राजा के मन में सन्देह भरा हुआ था, इसलिए राजा ने क्रोध में आकर एक चांटा साधु महाराज के गाल पर जड़ दिया और कहता है कि–"मैं देखना चाहता हूँ कि तुम्हारा क्षमाधर्म कहाँ है"? साधु शान्तिपूर्वक उत्तर देते हैं कि–"क्षमाधर्म मेरी आत्मा में स्थित है"। राजा को फिर क्रोध आता है और एक पास में पड़ा डंडा उठाकर उन साधु पर मार

देता है। कहता है-"बताओ क्षमाधर्म कहाँ है?" मुनिराज फिर कहते हैं कि "क्षमा तो मेरे आत्मा में स्थित है भाई, तुम्हारे इस डंडे में नहीं है"। इसी क्रम से राजा क्रोधित होता हुआ तीसरी बार उनके दोनों हाथ काट देता है, चौथी बार दोनों पैर काट देता है। किन्तु मुनिराज शान्त रहते हैं और यही कहते हैं कि क्षमा तो मेरे आत्मा में स्थित है। अब राजा को होश आता है, सोचने लगता है कि मैंने यह क्या कर डाला। मैंने अपने भ्रमवश साधु को कष्ट दिया, ये तो साक्षात् क्षमा के धारक हैं, धीर, गम्भीर हैं और अपने कृत्यों की क्षमा माँगता हुआ उनके शरीर के सामने गिर पड़ता है। मुनिराज अब फिर कहते हैं कि राजन्! तुमने अपना कार्य किया और मैंने अपना।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि "समता" द्वारा जीव किस प्रकार वाह्य प्रतिकूलताओं को जीतता है, अपने अन्दर स्थित आत्मगुणों को प्रकट करता है एवं इस वाह्य चारित्र द्वारा स्व और पर दोनों को असीम शान्ति की प्राप्ति होती है। दूसरी और जीव मोह, राग-द्वेष के वशीभूत होकर समता-शमता रहित अवस्था में क्या नहीं करता यह निम्न सवैये से स्पष्ट हो जाता है-

त्याग के वसन सब, भये हैं नग्न रूप।
बगुले के प्रकृति प्रत्यक्ष विस्तारी है।।
सम दम सदा सदाचार हुको लेश नाहिं।
क्रोध-मान-माया-लोभ चेलति समाहारी है।।
अहो भरी नन्द हो, ऐसी मुनि चन्द से तो।
भूत महा भूत एक पाखण्डी के धारी हैं।।
कहाँ भया साँप ने तो काँचली विसार दीनी।
विष ने विसारा जो महा दु:खकारी है।।

जो त्यागी जन, मुनिराज सब वाह्य और अन्तरंग परिग्रह का त्याग करके दिगम्बर साधु हो जाते हैं, किन्तु समता-शमता नहीं धारण कर पाते, वे मात्र वेषधारी साधु ही हैं, जैसे बगुला एक टाँग पर खड़ा भक्त दिखता है किन्तु वह उसका दिखावा है, एक आँख से देखता रहता है और मछली आते ही पकड़ लेता है। ऐसे वेशधारी मुनिराज चारों कषाओं से युक्त होते हैं, अत: वे समता-शमता धारण नहीं कर सकते हैं। आगे पं. बनारसीदास जी कहते हैं कि जिस प्रकार साँप केंचुली छोड़ता है, किन्तु अपना जहरीला विष नहीं छोड़ पाता, उसी प्रकार ये वेषधारी साधु अपनी वाह्य वस्त्र आदि केंचुली के समान तो छोड़ देते हैं, किन्तु अपने अन्दर की चारों कषाय रूप जहर नहीं छोड़ पाते अत: ऐसे साधु त्रिरत्न से शून्य हैं।

शमता के अन्तर्गत आने वाला चारित्र–अन्तरंग क्रिया से सम्बन्धित जितना भी चारित्र है वह इसके अन्तर्गत आता है। तप के अन्तर्गत छह अन्तरंग तप, पाँच इन्द्रिय विजय, कषायों का निग्रह आदि इसमें आते हैं। इन सबका विश्लेषण निम्न प्रकार है:–

अन्तरंग तप के छः भेद–आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में लिखा है–

पायच्छित्तं विणयं वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं च विउस्सग्गो अब्भंतरओ एसो।।

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये अन्तंरग तप के छः भेद हैं। इनका वर्णन निम्न है–

1. **प्रायश्चित**–जिस तप से पूर्व कृत दोषों से, पापों से विशुद्धि होती है, व्रतों में लगे हुए दोषों की शुद्धि होती है, उसे प्रायश्चित तप कहते हैं। आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये प्रायश्चित के दश भेद हैं।

   विभिन्न प्रकार के दोष अलग-अलग प्रायश्चित से दूर होते हैं। कोई दोष आलोचना मात्र से शुद्ध होता है, कोई दोष प्रतिक्रमण से शुद्ध होता है, कोई दोष आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों से शुद्ध होता है, कोई दोष विवेक से, कोई दोष कायोत्सर्ग से, कोई तप से, कोई छेद से और कोई मूल से और कोई परिहार से तो कोई दोष श्रद्धान से शुद्ध होता है।

2. **विनय तप**–मोक्षमार्ग में विनय का प्रधान स्थान है। वह दो प्रकार का होता है–(अ) निश्चय विनय, (2) व्यवहार विनय। अपने रत्नत्रयरूप गुण की विनय निश्चय विनय है तथा रत्नत्रयधारी साधुओं आदि की विनय व्यवहार विनय कहलाती है। श्रम प्राप्ति में गुरु विनय अत्यन्त प्रधान है। मिथ्यादृष्टियों व कुलिंगियों की विनय करना योग्य नहीं है। यह पाँच प्रकार की मानी गयी है। (ब) दर्शन विनय (स) ज्ञान विनय (ड) चारित्र विनय (फ) तप विनय (ज) और उपचार विनय।

3. **वैयावृत्य तप**–साधु की अपनी शक्ति अनुसार सेवा-सुश्रषा करना, वृद्ध मुनि की हर प्रकार से सेवा-टहल करना, वैयावृत्य परम कर्तव्य है, ऐसी सर्वज्ञ देव की आज्ञा है। यह वैयावृत्य तप निर्जरा का कारण है, ऐसा समझ कर इसके करने में सदा उद्यत रहना चाहिए। श्रावक-साधु किस-किस की वैयावृत्ति करे इसके लिए आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि–

   आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्।।

   आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ–इन की वैयावृत्य करने के दस प्रकार हैं। (कष्टों को दूर करना) सेवा, पहल करना वैयावृत्य है।

4. **स्वाध्याय तप**–आलस्य त्याग कर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय तप है। दूसरे शब्दों मे चामुण्डराय चारित्रसार में लिखते हैं कि– **स्वस्मै हितोऽध्यायः स्वाध्यायः॥**

   अपने आत्मा का हित करने वाला अध्ययन स्वाध्याय है। यह पाँच प्रकार का माना गया है–वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्म उपदेश।

5. **व्युत्सर्ग तप**–वाह्य में क्षेत्र, वस्तु आदि 10 प्रकार का परिग्रह और अन्तरंग में मिथ्यात्व, चार कषाय आदि 14 प्रकार का परिग्रह का त्याग करके, आत्मस्वरुप में लीन रहना, व्युत्सर्ग तप है। इसे कायोत्सर्ग तप भी कहते हैं, क्योंकि चौबीस प्रकार के परिग्रह के त्यागी मुनिराज शरीर से ममत्व छोड़कर आत्मध्यान करते हैं।

6. **ध्यान तप**–मन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। अनिश्चल ज्ञान का नाम ध्यान है। ध्यान में अन्य सब पदार्थों की चिन्ता को रोककर केवल एक पदार्थ का विचार किया जाता है। यह भेद रूप चार प्रकार का होता है–आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और केवलध्यान।

   ध्यान समता-शमता की पूर्णता का फल है– बाह्य में समता और अन्तरंग में शमता लिए हुए, जब जीव अपने आत्मा का ध्यान करता है तो उसे अनुपम आनन्द का अनुभव होता है। आचार्यो ने ध्यान को दो भागों में विभक्त किया है–

अप्रशस्त ध्यान–जिस ध्यान से आत्मा में स्व और पर के अकल्याण रूप दु:ख, क्लेश, संताप, हिंसादि पाप और क्रोधित कषाओं का आविर्भाव हो, उसे अप्रशस्त ध्यान कहते हैं। यह ध्यान आत्मा का पतन करने वाला है। इस ध्यान के अन्तर्गत आर्त्त और रौद्र ध्यान आते हैं। ये ध्यान संसार का कारण बनते हैं। इनका यहाँ वर्णन करना न्यायोचित नहीं है, क्योंकि प्रकरण सम्यक्चारित्र का चल रहा है।

प्रशस्त ध्यान–जिस ध्यान से आत्मा में साम्यभाव, निर्मलता और शान्ति आदि आत्मीय गुणों का विकास होता है, वह प्रशस्त ध्यान कहलाता है। इस ध्यान से ही कर्मों का क्षय होता है और आत्मा की यथार्थ अवस्था प्रकट होती है। इस ध्यान के अन्तर्गत धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान आते हैं। ये दोनों ध्यान संहनन वाले जीवों को ही होता है जो आज के पंचम काल में संभव नहीं है। हीन संहनन वालों के आज धर्मध्यान हो सकता है, अन्यथा जीव को आर्त्त और रौद्र ध्यान ही बने रहते हैं। इस प्रकार यहाँ केवल धर्मध्यान का कुछ विस्तृत वर्णन किया जाता है–

धर्मध्यान–धर्म सहित ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं। आचार्य शुभचन्द्र महाराज कहते हैं कि–

अथ प्रशममालम्ब्य विधाय स्ववशं मनः।
विरज्य कामभोगेषु धर्मध्यानं निरूपय॥

–ज्ञानार्णव-अ. 27

हे आत्मन्! सबसे पहले तू प्रशम (मन्द कषाय से उत्पन्न अपूर्व शान्ति) का आलम्बन कर, मन को अपने वश में कर तथा काम और भोगों से, पाँच इन्द्रियों के विषयों के सेवन से विरक्त होकर धर्मध्यान में प्रवृत्त हो।

धर्मध्यान के चार भेद–आचार्य उमास्वामी जी कहते हैं कि–

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्।।

– तत्वार्थसूत्र-अ. 1/36

धर्मध्यान के चार भेद हैं–आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इनका चिन्तन करना, धर्मध्यान है। चारों धर्मध्यानों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

1. **आज्ञाविचय धर्मध्यान**–सर्वज्ञ देव की आज्ञानुसार अपने सिद्धान्त आगम में प्रसिद्ध वस्तु के स्वरूप का चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। इसके अन्तर्गत सर्वज्ञदेव की आज्ञा, उपदेश का विचय अर्थात् विचार अर्थात् चिन्तन किया जाता है।
2. **अपायविचय धर्मध्यान**–संसारी जीवों के दु:ख का और उससे छूटने के उपाय का विचार करना, अपायविचय धर्मध्यान कहलाता है। मिथ्यात्व, अज्ञान, मिथ्याचारित्र के निमित्त से यह जीव अनादि काल से संसार समुद्र में गोते लगा रहा है और वचनातीत दु:खों को भोगता हुआ अत्यन्त दु:खी हो गया है। उस दु:ख का विनाश करने वाला एक रत्नत्रय ही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय ही मिथ्यात्व, अज्ञानादि अन्य कर्मो का क्षय कर शान्ति-सुख का देने वाला है। ऐसा चिन्तन अपाय विचय में किया जाता है।
3. **विपाकविचय धर्मध्यान**–कर्म के फल का विचार करना, विपाकविचय धर्मध्यान है। दूसरे शब्दों में संसार के समस्त प्राणियों के पूर्वोपार्जित अपने शुभाशुभ कर्मों का जो सुख:दु:खादि रूप फल उदय में आता है, उसे विपाक कहते हैं। यह सम्पूर्ण जीवों के क्षण-क्षण में उदय में आता है। इस प्रकार का चिंतन करना विपाकविचय धर्मध्यान कहलाता है।
4. **संस्थानविचय धर्मध्यान**–लोक के आकार का विचार करना, चिंतन करना, संस्थान विचय धर्मध्यान कहलाता है। सब ओर, ऊँचे-नीचे, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण अनन्तानन्त प्रदेशवाला आकाश है। इसका कहीं पर भी अन्त नहीं है। वह स्वप्रतिष्ठित है, किसी के आधार पर नहीं है, अपने ही आश्रय है। उसके बीच में यह लोक स्थित है, ऐसा सर्वज्ञ देव ने वर्णन किया है। यह किसी अल्पज्ञ का वचन नहीं है। इस प्रकार का चिंतन संस्थानविचय धर्मध्यान में किया जाता है। यह धर्मध्यान चार प्रकार का है–

   क. **पिण्डस्थध्यान**–जीव का आकार विचार कर दृष्टि को संकोच कर जम्बूद्वीप का विचार करना, फिर भरत क्षेत्र का, आर्यखण्ड का, निजदेश, राज्य, नगर, गृह, फिर अपने शरीर का विचार करना, पिण्डस्थध्यान कहलाता है।

ख. **पदस्थध्यान**–पंच परमेष्ठी के वाचक 35, 16, 6, 5, 4, 2 और 1 अक्षर वाले णमो अरिहंताणं आदि णमोकार मंत्र का ध्यान करना (पूरे णमोकार मंत्र में–35 अक्षर; अरहन्त-सिद्ध-आचार्य-उवज्झाय-साहू में–16 अक्षर; अरहंत सिद्ध में–6 अक्षर; असिआउसा में–5 अक्षर; अरहन्त में–4 अक्षर; सिद्ध में–2 अक्षर; और ॐ में–1 अक्षर होता है), तथा किसी अन्य गुण आदि का आश्रय लेकर ध्यान करना पदस्थध्यान है।

ग. **रूपस्थध्यान**–समवशरण में चार घातिया कर्म रहित, अनन्त चतुष्टय संयुक्त, सप्त धातु रहित, परमौदारिक शरीर में स्थित और अष्टादश दोष रहित गंधकुटी में स्फटिक मणि सिंहासन के मध्य अत्यन्त कोमल पवित्र, अनुपम, शत दल वाले रक्त की कणिका के मध्य में चार अंगुल ऊपर अन्तरिक्ष में, शान्ति स्वरूप, जिनेन्द्र भगवान् स्थित हैं। अपने मन में ऐसा अरहन्त भगवान् का स्वरूप क्रमशः मुक्त होने तक विचारना रूपस्थध्यान है।

घ. **रूपातीतध्यान**–अष्टकर्म और औदारिक शरीर रहित शरीर से किंचित न्यून पुरुष के आकार मात्र धारक लोकाग्रभाग में स्थित अनन्त गुणों के भण्डार से सिद्ध परमात्मा का जो ध्यान है वह रूपातीतध्यान है। उपर्युक्त चार प्रकार के ध्यान के विपरीत तप करना धर्म नहीं, तीर्थ को जाना धर्म नहीं, मन्दिर में घंटा बजाना धर्म नहीं, नहाना-धोना धर्म नहीं, नग्न रहना धर्म नहीं है। रूपातीतध्यान वाह्य में समता और अन्तरंग में शमता को धारण किये बिना संभव नहीं हो सकता है। ये छः प्रकार के अन्तरंग तप तभी तपे जा सकते हैं जब समस्त सांसारिक इच्छाओं का शमन हो चुका हो, अन्यथा नहीं।

समता द्वारा पञ्चेन्द्रिय विजय

समता द्वारा ही मोक्षमार्गी पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है। इच्छाओं का शमन कर अपनी आत्मा में सम्यक्चारित्र प्रकट करता है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

जो इन्दिये जिणित्ता पाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणन्ति जे णिच्छिदा साहू॥

–समयसार 31

जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक अपने आत्मा को जानते हैं, उन्हें तथा जो निश्चय नय में स्थित साधु हैं वे वास्तव में जितेन्द्रिय हैं। दूसरे शब्दों में

जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थो को–इन तीनों को अपने से पृथक करके समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं, वे मुनिराज निश्चय से जितेन्द्रिय हैं। पाँच इन्द्रियों को जीतने वाले जिन हैं। भावार्थ यह है कि स्पर्श आदि पाँचों इन्द्रियों के विषय तो ज्ञेय हैं और उनको जानने वाली द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय रूप स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियां हैं और उनका जीव के साथ जो संकर है, अर्थात् संयोग सम्बन्ध है, वही दोष है, उस दोष को जो परम समाधि के बल से जीत लेता है वही जिन है। इस बात को दूसरे प्रकार से समझाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंन्ति।।

– समयसार, 32

जो मोह को दबाकर, शमन कर, ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण आत्मा का अनुभव करता है, परमार्थ के जानने वाले उस जीव (मुनिराज) को मोह को जीतने वाला अर्थात् जिन कहते हैं। दूसरे शब्दों में भाव्य (संसारी जीव) और भावका (मोहकर्म) इन दोनों में जो संकर दोष है, उसका परिहार करने अथवा उपशम श्रेणी की अपेक्षा आत्मजित मोह है, उसको जीतने के लिए जो पुरुष उदय में आये हुए मोह को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनों की एकाग्रतारूप निर्विकल्प समाधि के बल से जीतकर अर्थात् दबाकर, शमन करके, शुद्ध ज्ञान गुण के द्वारा अधिक अर्थात् परिपूर्ण अपनी आत्मा को मानता है, जानता है, और अनुभव करता है, उस जीव (मुनिराज) को परमार्थ के जानने वाले मोह से रहित जिन कहते हैं।

विशेष–इस गाथा में एक मोह का ही नाम लिया गया है, उसमें मोह पद को बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नो कर्म, मन, वचन, काय–ये ग्यारह और श्रोत, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन–ये पाँच इन्द्रियां इस गाथा के द्वारा पृथक-पृथक लेकर व्याख्यान किया गया है। वह दूसरे भाग में है वहाँ से समझना चाहिए।

कषाय

शमता द्वारा कषायों का निग्रह– क्रोध, मान, माया, लोभ रूप आत्मा के विभाव परिणामों को कषाय कहते हैं। दूसरे शब्दों में जो आत्मा के सम्यकत्व, देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यात चारित्ररूप परिणामों को घातता है, उसे कषाय कहते हैं। प्रत्येक कषाय के चार-चार भेद माने गये हैं–(1) अनन्तानुबन्धी, (2) अप्रत्याख्यान, (3) प्रत्याख्यान, और (4) संज्वलन।

1. **अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया लोभ कषाय**–जब साधक जीव शमता द्वारा कर्मों का उपशम या क्षयोपशम करता है, तब सम्यक्त्व प्रकट होता है, जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि।।

सम्यक्त्व का आचरण स्वरूप चारित्र है, वह जिनदेव के ज्ञान, दर्शन, श्रद्धान से किया हुआ शुद्ध है। दूसरा संयम का आचरण चारित्र है, वह भी जिनदेव के ज्ञान से दिखाया हुआ शुद्ध है।

गोपालदास वरैया ने इसको स्वरूपाचरण कहा है, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने द्रव्यसंग्रह की 34वीं गाथा एवं 45वीं गाथा पर ब्रह्मदेव सूरी ने भी इसका कथन किया है। परमात्मप्रकाश में भी ऐसा ही कथन आया है।

2. **अप्रत्याख्यान क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय**–यह कषाय श्रावक के अणुव्रत और ग्यारह प्रतिमाएँ नहीं प्रकट होने देती। जब शमता द्वारा कर्मों का उपशम या क्षयोपशम किया जाता है, तब श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ प्रकट होने लगती हैं।

3. **प्रत्याख्यान क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय**–यह कषाय मुनिधर्म के अन्तर्गत 28 मूलगुणों को नहीं प्रकट होने देती। किन्तु जब इस कषाय को दबा दिया जाता है, कर्मों का उपशम या क्षयोपशम किया जाता है तो जीव दिगम्बर मुनि हो जाता है, अर्थात् महाव्रत धारण कर लेता है।

4. **संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय**–यह कषाय यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होने देता। संज्वलन कषाय का उदय छट्ठे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यंत मन्द, मन्दतर और मन्दतम तारतम्य से भाव चलते हैं। यहाँ बात शमता की चल रही है, जब जीवात्मा भाव की उत्तमता के द्वारा पहले गुणस्थान से उठता है तब चौथे में सम्यक्त्व प्राप्त करता है, पाँचवें में श्रावक के अणुव्रत धारण करता है, और सातवें में दिगम्बर मुनि बनता है व 28 मूलगुण पालता है छठे गुणस्थान सातवाँ गुणस्थान के बाद होता है। कषायें किस प्रकार जीव को उठाती हैं या गिराती हैं अर्थात् कषायों का शमन करने के उपरान्त जीव किस प्रकार चारित्रवान बन जाता है, कषायों से ग्रसित जीव किस प्रकार चारित्रिक पतन को प्राप्त हो जाता है, यह निम्न दृष्टान्त से भी स्पष्ट हो जाता है।

अहंकारी साधु

एक बार एक साधु गहन साधना एवं तपस्या के बल पर देश में बहुत प्रसिद्ध हो गया। पर्याप्त संख्या में दर्शनाभिलाषी आने लगे और उसकी, उसके गुणों की मुक्त कंठ से प्रशंसा करने लगे। साधु की तपस्या की ख्याति र्स्वत्र फैल गयी। बहुत दिनों तक संयमपूर्वक दबाई हुई कषायों को वह अधिक नहीं दबा सका। उसके मन में अहंकार अर्थात् मान कषाय पनपने लगी। मानव दान के माध्यम से लोभ पर, ब्रह्मचर्य के द्वारा काम पर, क्षमा के द्वारा क्रोध पर विजय प्राप्त कर सकता है। एक-एक अवगुण को समाप्त कर सकता है, किन्तु अहंकार इसमें सबसे प्रबल है। इस पर विजय प्राप्त करना बहुत कठिन है। दानी कहता है ''मैंने'' दान दिया, कोई धर्मशाला का निर्माण कराता है तो कहता है ''मैंने बनाया है'', पत्थर लगाओ मेरे नाम का। कोई भी पुण्य के कार्य करता है तो यह ''मैं'' के रूप में ''अहंकार'' नहीं छूट पाता। यह मान कषाय का रूप है, जो साधु महाराज के हृदय में पनपने लगा कि मैं बहुत बड़ा तपस्वी हूँ। जब अहंकार पनपता है तब विवेक खोने लगता है, आत्मा जाग्रत अवस्था से सुप्तावस्था में जाने लगती है और उसमें अनेक बुराईयाँ आ घेरती हैं। यही साधु के संग भी हो रहा था।

एक दिन नगर का राजा साधु की तपस्या से प्रसन्न हो साधु को अपने नगर आने की विनम्र प्रार्थना करता है। साधु महाराज कुछ ना-नुकुर के उपरान्त नगर पधारते हैं। राजा उनके स्वागत में सम्पूर्ण नगर में प्रवेश द्वार बनवाता है, सड़कों को मखमली कालीन से पाट देता है, चारों ओर इत्र छिड़कवाता है। स्वागत की सम्पूर्ण तैयारी हो जाती है, अपार भीड़ जुट जाती है, किन्तु इसी दौरान कोई नगरवासी साधु के पास जाकर कहता है कि-''महाराज! हमें तो लगता है कि राजा ने अपने वैभव के प्रदर्शन से आपकी तपस्या को चुनौती दी है, आपको खुलेआम ललकारा है''। अब साधु महाराज सोचते हैं-''अच्छा ऐसी बात है हम भी देख लेंगे उसको वैभव को''। ऐसे पूर्वाग्रह से युक्त वे साधु नगर को आते हैं। नगरवासी उनका अपूर्व स्वागत करते हैं, किन्तु सभी साधु महाराज के पैर घुटनों तक कीचड़ में सने देखकर आश्चर्य चकित हो जाते हैं। साधु महाराज अत्यन्त शान से उन मखमली कालीनों पर पाँव पटक-पटक कर चल रहे हैं, कीचड़ के छींटों एवं पाँव के चिह्नों से कालीन गन्दे हो जाते हैं। राजा भीड़ में कुछ पूछता नहीं किन्तु एकान्त में पूछता है कि-''स्वामी क्या मार्ग में आपको किसी संकट का सामना करना पड़ा? आपके चरण कमलों में इतना ढेर सारा कीचड़ कहाँ से लग गया?'' साधु ने अत्यन्त गर्व से कहा-''न कोई घटना घटी, न कोई संकट आया। तुम अपने आप को समझते क्या हो? सड़कों पर मखमल बिछाकर, इत्र छिड़कवा कर तुम अपने तुच्छ वैभव का प्रदर्शन करने में संकोच का अनुभव नहीं करते तो क्या हम साधु लोग भी कीचड़ से भरे पैरों की छाप उन पर नहीं लगा सकते?'' राजा यह सुन साधु को तत्काल गले लगा लेता है और कहता है-''मित्र, मैं तो सोचता था कि तपश्चर्या के बाद तुम्हारा मूल स्वभाव नष्ट हो गया होगा, किन्तु हम दोनों तो उसी स्थान

पर खड़े हैं जहाँ से हम दोनों ने विदा ली थी। मैं सोचता रहा कि मैं अपना साम्राज्य बढ़ा रहा हूँ और इसलिए अहंकारी बन रहा हूँ। किन्तु तुम तो मुझसे भी कहीं अधिक बड़े अहंकारी बन चुके हो। क्या यह सब तुम्हारी तपस्या का ही फल है?'' राजा बहुत दुखित होता है साधु की यह दशा देखकर और विचारता है कि जब अहंकार पर अर्थात् मान कषाय पर यह साधु विजय नहीं पा सका तो सामान्य गृहस्थों की तो बात ही क्या।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अहंकार जितना बढ़ता जाता है मानव उतना ही नीचे गिरता जाता है। अतः कषाएँ गिराने का कार्य करती हैं। अतः इन कषायों को सम्पूर्ण पुरुषार्थ से दबा देना चाहिए, इनका शमन कर अपना पूर्ण सम्यक्चारित्र प्रकट करना चाहिए।

चौथे गुणस्थान से स्वसंवेदन होने लगता है– भटके हुए संसारी जीवों को आत्मध्यान के सन्दर्भ में आचार्य योगीन्दु देव कहते हैं कि–

अप्पा ति-विहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ।
मुणि सण्णाणे णाणमउ जो परमप्प-सहाउ।।

– परमात्मप्रकाश 12

हे आत्मन्! तू आत्मा को तीन प्रकार का जानकर बहिरङ्ग स्वरूप भाव को शीघ्र ही छोड़ दे, और जो परमात्मा का स्वभाव है। उसे स्वसंवेदन ज्ञान से अंतरात्मा होता हुआ जान। वह स्वभाव स्वसंवदेन केवलज्ञान कर परिपूर्ण है। दूसरे शब्दों में जो वीतराग स्वसंवेदन कर परमात्मा का पाना था, वही ध्यान करने योग्य है।

स्वसंवेदन ज्ञान प्रथम अवस्था में चौथे-पाँचवें गुणस्थान वाले गुण के भी होता है, वहाँ पर यह सराग देखने में आता है, इसलिए राग सहित अवस्था के निषेध के लिए वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान ऐसा कहा गया है। रागभाव है इसलिए वह कषायरूप है, इस कारण जब तक मिथ्यादृष्टि के अनन्ताबुंधी कषाय है, तब तक तो बहिरात्मा है, उसके स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान सर्वथा ही नहीं हैं, व्रत और चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी के अभाव होने से सम्यग्ज्ञान तो हो गया, परन्तु कषाय की तीन चौकड़ी बाकी रहने से द्वितीया के चन्द्रमा के समान विशेष प्रकाश नहीं होता, और श्रावक के पाँचवें गुणस्थान में दो चौकड़ी का अभाव है। इसलिए राग भाव कुछ कम हुआ, वीतराग भाव बढ़ गया, इस कारण स्वसंवेदन ज्ञान भी प्रबल हुआ। मुनि के तीन चौकड़ी का अभाव है, इसलिए राग भाव तो निर्बल हो गया तथा वीतराग भाव प्रबल हुआ, वहाँ पर स्वसंवेदन ज्ञान का अधिक प्रकाश हुआ, परन्तु चौथी चौकड़ी बाकी है, इसलिए छट्ठे गुणस्थान वाले मुनि सराग संयमी हैं। सातवें गुणस्थान में चौथी चौकड़ी मंद हो जाती है, वहाँ पर आहार-विहार क्रिया नहीं होती, ध्यान में आरुढ़ रहते हैं। सातवें से छट्ठे गुणस्थान में आवें, तब वहाँ पर आहारादि क्रिया है, इसी प्रकार छट्ठा-सातवाँ गुणस्थान

करते रहते हैं। सराग सम्यक्त्व का लक्षण प्रशम अर्थात् शान्तिपना, संवेग अर्थात् जिनधर्म की रुचि तथा जगत् से अरुचि अनुकम्पा अर्थात् परजीवों को दुःखी देखकर दयाभाव और आस्तिक्य अर्थात् देव-गुरु-धर्म की तथा छह द्रव्यों की श्रद्धा इन चारों का होना वह व्यवहार सम्यक्त्वरूप सराग सम्यक्त्व है और वीतराग सम्यक्त्व जो निश्चय सम्यक्त्व है वह निज शुद्धात्मा अनुभूतिरूप वीतराग चारित्र से तन्मयी है। इस प्रकार गृहस्थ अवस्था में इनके सराग सम्यकत्व ही है और जो सराग सम्यक्त्व है वह व्यवहार ही है, ऐसा जानो।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि सम्यक्चारित्र तभी धारण हो सकता है जब मोक्षाभिलाषी वाह्य बाधाओं को, सभी प्रतिकूलताओं को समता भाव से सहे और अपने अन्तरंग में कंषायों का निग्रह, पाँचों इन्द्रियों पर विजय आदि प्राप्त करने के लिए अपने पूर्व उपार्जित कर्मों का शमन करे। जब यह दोनों प्रकार का चारित्र वाह्य व अन्तरंग रूप से प्रकट होता है, धारण किया जाता है, तभी सम्यक्चारित्र रूप होने से मोक्षमार्ग बनता है। इस प्रकार आगे जाकर ये ही मार्गमोक्ष का कारण बनता है। यही इस समता-शमता रूप सोपान का सार है।

सम्यक्चारित्र का चौथा सोपान–आत्मा में स्थिरता

सम्यक्चारित्र की पराकष्ठा आत्मा में स्थिरता के बिना नहीं हो सकती। शुद्धोपयोग ही आत्मा में स्थिरता को लगाता है। पं. बनारसीदास जी कहते हैं कि–

सील तप संजय विरति दान पूजादिक, अथवा असंजय कषाय विषै भोग हैं।
कोऊ शुभरूप कोऊ अशुभ स्वरूप मूल, वस्तु के विचारत दुविध कर्मरोग हैं।।
ऐसी बंधपद्धति बखानी वीतराग देव, आत्म धरम मै करम त्याग जोग है।
भौ-जल-तरैया राग-द्वेष को हरैया महा, मोख को करैया एक शुद्ध उपयोग है।।

ब्रह्मचर्य, तप, संयम, व्रत, दान, पूजा आदि अथवा असंयम, कषाय, विषय-भोग आदि इनमें कोई शुभ और कोई अशुभ हैं आत्म स्वभाव की दृष्टि से दोनों ही कर्म रूपी रोग हैं। भगवान वीतराग देव ने दोनों को बंध की श्रेणी में रखा है। आत्मस्वभाव की प्राप्ति में दोनों त्याज्य हैं। एक शुद्धोपयोग ही संसार-समुद्र से तारने वाला, राग-द्वेष नष्ट करने वाला और परमपद को देने वाला है।

मोक्षमार्ग में पुण्य-पाप समान– मोक्षमार्ग सम्यक्चारित्र के धारण करने पर ही बनता है जो मोक्षाभिलाषी समस्त पुण्य पाप को एक समान समझता है वही सम्यक्चारित्र को धारण करने वाला है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य प्रवचनसार में कहते हैं कि–

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावांण।
हिंडदि घोरमपांर संसार मोहसंछणो।।

पुण्य और पाप में कोई अन्तर नहीं है, जो यह नहीं मानता है वह मोह से आच्छादित है, और घोर संसार में परिभ्रमण करता है। दूसरे शब्दों में पुण्य-पाप आत्मा के धर्म नहीं हैं, दोनों एक समान हैं, ऐसा होने पर भी जो नहीं मानता वह मिथ्यात्व से ग्रसित है और अभव्य की अपेक्षा इस संसार में भ्रमण करता रहता है।

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायंस पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कद कम्मं।।

– समयसार 146

जैसे पुरुष को सोने की बेड़ी भी बाँधती है और लोहे की भी। ठीक उसी प्रकार शुभ और अशुभ दोनों कर्म भी जीव को बाँधते हैं। दूसरे शब्दों में बन्धन भाव की अपेक्षा पुण्य-पाप में परमार्थतः कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार आत्मा में, स्व में, स्थिर होने के लिए पुण्य-पाप को एक समान समझे बिना सम्यक्चारित्र प्रकट नहीं हो सकता।

स्वरूपाचरण–पर वस्तु में होने वाली आत्मा की प्रवृत्ति मिटकर स्व में ज्ञानादि सम्पत्ति प्रकट हो जाती है तब उसे स्वरूपाचरण कहते हैं। स्वरूपाचरण को स्पष्ट करते हुए पं दौलतराम जी कहते हैं कि–

जहँ ध्यान ध्याता ध्येय को, न विकल्प वच भेद न जहां।
चिद्भाव कर्म चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ।।
तीनों अभिन्न अखिन्न सुध, उपयोग की निश्चल दशा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान व्रत, ये तीनधा एकै लसा।।

जिस आत्मध्यान की अवस्था में ध्यान, ध्याता और ध्येय का कोई भेद नहीं रहता है, तथा चैतन्य भाव ही कर्म, चेतना ही कर्ता और चेतना ही क्रिया होती है, वही स्वरूपाचरण चारित्र है। इसी के द्वारा आत्मा में स्थिर हुआ जा सकता है। यहाँ कर्ता, कर्म और क्रिया–ये तीनों भाव अभिन्न तथा एक दूसरे से निर्बाध हो जाते हैं और शुद्धोपयोग की स्थिर अवस्था प्रकट हो जाती है। इस प्रकार जहाँ सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र–ये तीनों एक रूप होकर प्रकाशमान हो जाते हैं, ऐसी अवस्था का नाम ही स्वरूपाचरण चारित्र है। पं. जयचन्द जी बारह भावना में इस प्रकार कहते हैं कि–

निजस्वरूप में लीनता, निश्चय संवर जानि।
समिति गुप्ति संजम धरम, धरै पाप की हानि।।८।।

मोक्षमार्ग में वीतराग चारित्र की प्रधानता—वीतराग चारित्र के अभाव में आत्मा में स्थिरता नहीं हो सकती। शुद्ध परिणामों के द्वारा ही वीतराग चारित्र धारण किया जाता है। इस बात को आचार्य योगीन्दु देव इस प्रकार कहते हैं कि–

सिद्धिहिं केरा पंथडा भाउ विसुद्धउ एक्कु।
जो तसु भावंह मुणि चलइ सो किय होइ विमुक्कु।।

एक शुद्ध भाव ही है, जो मुनि उस शुद्ध भाव से चलायमान हो जावे, वह कैसे मुक्त हो सकता है, अर्थात् किसी प्रकार नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में जो समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्प से रहित जीव का शुद्ध भाव है, वही वीतराग भाव है तथा वही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष का मार्ग है। जो मुनि शुद्धात्मपरिणाम को छोड़ देता है, वह मोक्षमार्ग नहीं बना सकता है। मोक्ष का मार्ग एक शुद्ध भाव है जिसके द्वारा आत्मा में स्थिर हुआ जा सकता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार जो निर्विकल्प आत्मभाव से शून्य है, वह शास्त्र अध्ययन तथा तपश्चरण करता हुआ भी निश्चय को नहीं जानता। इस बात को स्पष्ट करते हुए आगे आचार्य कहते हैं कि–

बुज्झइ सत्थइं तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ।
ताव ण मुंचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेई।।

जो शास्त्रों को जानता हुआ तपस्या करता है किन्तु परमात्मा को नहीं जानता है, उसका सब जानना, तपस्या करना व्यर्थ है। क्योंकि परमात्मा को जाने बिना व अनुभव किये बिना मुक्ति संभव नहीं है। दूसरे शब्दों में यद्यपि व्यवहार नय से आत्मा शास्त्रों से जाना जाता है, तो भी निश्चयनय से वीतराग एवं संवेदन ज्ञान से ही यह आत्मा जाना जाता है। वाह्य अनशन आदि तप करके व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि इनके बिना आत्मा में स्थिर नहीं हुआ जा सकता किन्तु निश्चय नय से निर्विकल्पक वीतराग चारित्र से ही आत्मा की सिद्धि होती है इस प्रकार तब तक निज शुद्धात्म तत्त्व के स्वरूप का आचरण नहीं है, जब तक कर्मों से नहीं छूट सकते हैं। आचार्य कहते हैं कि जो जीव शास्त्र को पढ़कर भी संकल्प-विकल्प को नहीं छोड़ता है वह निश्चय ही शुद्धात्मा को नहीं जान सकता, अतः वह मूर्ख ही है। क्योंकि शास्त्र के अभ्यास का फल यह है कि रागदि विकल्प दूर हो और निज शुद्धात्मा का ध्यान करे। वीतराग चारित्र को धारण कर मुनिराज की वाह्य स्थिति कैसी हो जाती है, यह निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है।

वीतराग साधु और ग्वाला

एक वीतरागी साधु किसी जंगल में ध्यान मग्न खड़े हैं। एक ग्वाला उनके पास जाता है और कहने लगता है कि "आप मेरे पशुओं को देखते रहना, मैं नहा-धो कर, खाना खाकर

थोड़ी देर में आता हूँ''। साधु महाराज ध्यान में मग्न थे, उन्होंने कुछ भी नहीं सुना-कहा। ग्वाले ने समझा कि मौन ही इन की स्वीकृति है। ग्वाले को क्या मालूम कि वीतरागी सन्त कैसे होते हैं, वह तो प्रथम बार दिगम्बर मुद्रा को देख रहा था। उनकी निश्चल साधना को देखकर वह कुछ समझ नहीं पाया था। अत: उन्हें साधारण शान्त मनुष्य समझ रहा था। ग्वाला कहता है– ''ठीक है, आपका मौन होगा, कोई बात नहीं, मै समझ गया हूँ, मैं जा रहा हूँ, जरा ध्यान रखना''। यह कहकर वह चला जाता है। जब लौटकर आता है तो वहाँ पर एक भी अपना पशु नहीं पाता। सब इधर-उधर हो जाते हैं। इस पर वह साधु महाराज पर बहुत नाराज होता है। कहता है– ''कहाँ गये मेरे पशु, तुम यहाँ पर खड़े-खड़े उन्हें रोक भी नहीं सके। उन्हें जरा रोक लेते तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाता? ''महाराज मौन खड़े है'', नासाग्र दृष्टि है। पुन: ग्वाला कहता है कि– ''तुम मुख से कुछ बोलते क्यों नहीं हो? मेरी बात क्या तुम सुन नहीं रहे हो?''फिर कहता है कि–''क्या तुम बहरे हो'', ग्वाला कुछ उत्तर नहीं पाता। सोचता है शायद यह बहरे हैं। व्यर्थ ही है इनके पास अपना समय खराब करना। शायद पागल हों। मात्र नीची दृष्टि किये खड़े हैं। पुन: ग्वाला इनको कुछ हिलाता-डुलाता है किन्तु साधु महाराज के होंठ नहीं खुलते हैं, उनका ध्यान भंग नही होता है। अन्त में निराश होकर ग्वाला जंगल में अपने पशु खोजने चला जाता है। शाम तक जंगल में भटकता है। लौटकर वह देखता है कि सारे पशु साधु के पास खड़े हैं। वह कहता है–''अरे यह साधु तो बड़ा ही चालबाज है, धोखें बाज है, बहुत होशियार है मेरे पशुओं को इसने कहीं छिपा रखा था, अब भागने की तैयारी कर रहा है। मुझे दूर से देखकर पुन: मौन लेकर खड़ा हो गया है। रात में पशुओं को लेकर जरूर भाग जाता।'' ग्वाला अब क्रोध में आ जाता है और जोर से चिल्लाकर कहता है- मैं देखता हूँ तुम्हारा बहरा-गूँगापन और वह उन्हें लकड़ी से मारना शुरू कर देता है। जंगल का देवता यह देख घबरा जाता है, क्योंकि वन देवता को मालूम है कि ये वीतरागी संत हैं, ऐसा देव पुरुष मुश्किल से ही देखने को मिलता है। वन देवता पास आता है और साधु महाराज से आज्ञा माँगता है–''कि आप हमें आज्ञा दे-दो, हम इस ग्वाले को इसकी करनी का सबक सिखा दें। हम तुम्हारी रक्षा करना चाहते हैं। पुन: ऐसी अप्रिय घटना नहीं घटने देंगे।''किन्तु ध्यान मग्न साधु तो आत्मा के रस में डूबे थे। उन्हें वाह्य जगत् से कुछ लेना-देना नहीं था। वह अपनी आत्मा में स्थिर थे। अत: उन्होने ग्वाले की आवाज नहीं सुनी, शरीर पर हमले को नहीं अनुभव किया बल्कि आत्म-चिन्तन में खो गये कि चलो अच्छा ही हुआ कि कर्मों की उदीरणा का अवसर मिला, यह कार्य आज नहीं तो कल समाप्त होना ही था। यह शरीर आज नहीं तो कल अर्थी बन मरघट तक जाता, वहाँ पर जलता-भुनता, राख होता, और समाप्त हो जाता। सोचता रहा मुनि महाराज के जीव का इस शरीर से क्या लेना-देना वह मिट्टी है, मिट्टी में मिल जाना है। शरीर ने काफी हाथ-पैर जोड़े, मिन्नत की, कि मेरी रक्षा करो है, आत्मन मुझे बचाओ लेकिन आत्मज्ञ पुरुष ने किंचित भी ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार स्व और पर का भेदज्ञानी ही अपने आत्मा में स्थिर हो सकता है तथा सम्यग्चारित्र प्रकट कर कम समय में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

शुद्ध नय का ज्ञान आवश्यक–आत्मा में स्थिर होने केलिए शुद्धनय को जानना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि।।

जो नय आत्मा को बन्ध रहित और पर के स्पर्श से रहित अन्य के संयोग से रहित, चला चलता रहित और विशेष रहित, अन्य संयोग से रहित–भावों से देखता है, जानता है, उसे शुद्ध नय समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में आत्मा पाँच प्रकार से अनेक रूप दिखाई देती है। प्रथम–अनादि काल से कर्म पुद्गल के सम्बन्ध से बँधा हुआ, कर्म पुद्गल के स्पर्श वाला दिखाई देता है; द्वितीय-कर्म के निमित्त से होने वाली मनुष्य, नरक आदि की पर्यायों में भिन्न स्वरूप से दिखाई देता है; तृतीय–शक्ति के अंश घटते भी है और बढ़ते भी है; इस वस्तु स्वभाव से यह आत्मा नित्य-नियत एक रूप दिखाई नहीं देता; चतुर्थ- वह दर्शन ज्ञान आदि अनेक गुणों से विशेष रूप दिखाई देता है, पंचम- कर्म निमित्त से होने वाले मोह, राग-द्वेष आदि परिणामों सहित वह सुख-दुख रूप दिखाई देता है। यह सब अशुद्ध द्रव्यार्थिक व्यवहारनय का विषय है। इस दृष्टि को बदलना होगा, इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य आगे कहते हैं कि–

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं।।

जो पुरुष आत्मा को अबद्ध स्पष्ट, अनन्य, अविशेष देखता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है, जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यंतर ज्ञान रूप श्रुत वाला है। दूसरे शब्दों में, आत्मा को ही ज्ञान और ज्ञान को ही आत्मा माने, देखे, अनुभूति करे तब सम्यक्‌चारित्र प्रकट होकर आत्मा में स्थिरता होती है, अन्यथा नहीं। यही शुद्ध दृष्टि है, यही परमार्थ दृष्टि है। इस बात को निम्न दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है–

चारित्र रूपी अशोक वृक्ष

एक राजा ने काष्ठ कला से निपुण कारीगरों को एकत्रित कर एक अभूतपूर्व लकड़ी के महल का निर्माण करवाया। दैवयोग से उसके उद्‌घाटन के दो दिन बाद ही लकड़ी के महल में आग लग जाती है। क्षणभर में सारा महल धूँ–धूँ कर जल जाता है।

नगर के प्रजाजन राजा को सांत्वना देने हेतु राजदरबार में आते हैं। लेकिन सभी प्रजाजन यह देखकर आश्चर्य में पड़ जाते हैं कि काष्ठ का महल जल जाने से राजा को थोड़ा भी दुःख नहीं हुआ। कुछ समय बाद एक बडा तूफान आया। राजमहल के सामने खड़ा एक अशोक वृक्ष आँधी से धराशायी हो जाता है। जब यह खबर नगर में फैली तो जनता राजा के इस दृश्य को देखने

एकत्रित होने लगी। धराशायी अशोक वृक्ष के पास राजा को बैठकर आँसू बहाते हुए सभी ने देखा सभी आश्चर्य चकित रह जाते हैं। प्रजाजन यह करुण दृश्य देखकर द्रवित हो उठते हैं। तभी एक वृद्ध सज्जन से रहा नहीं गया और राजा से इस रहस्य को पूछने का साहस कर ही बैठा। वृद्ध ने राजा से बड़े विनम्र होकर कहा–"हे नर श्रेष्ठ राजन्! आपके द्वारा लाखों की लागत से बनवाये गये काष्ठ महल जल जाने पर भी आप दु:खी नहीं हुए, फिर इस वृक्ष के धाराशायी होने पर आप इतने दु:खी क्यों हो रहे हैं, इतना ज्यादा शोक क्यों मना रहे हैं?" राजा उत्तर देता है–"अगर मैं चाहूँ तो काष्ठ महल को और अधिक कुशल कारीगरों को लगाकर एक या दो माह में बनवा सकता हूँ लेकिन प्रकृति द्वारा निर्मित 80 वर्ष पुराने अशोक का वृक्ष फिर से लगाने की स्थिति मेरी नहीं है। एक या दो तो क्या, 50 वर्षों में भी ऐसा वृक्ष मैं नही उत्पन्न कर सकता। महल में थोड़े से व्यक्ति रह सकते हैं, पर इसकी छाया से न जाने कितने राहगीरों को ग्रीष्मऋतु से राहत मिलती थी।" राजा का उत्तर सुन वृद्ध निरुत्तर हो जाता है। वह समझ जाता है कि राजा की दृष्टि अशोक वृक्ष रूपी संयम, चारित्र अर्थात् 'स्व' पर है यदि इस स्व आत्मा की विराधना या हानि होती है तो शोक करने योग्य है, क्योंकि चारित्र का ह्रास होना असली ह्रास है। दूसरी और काष्ठ का महल पुद्गल है, बनना नष्ट होना इसका स्वभाव है, अत: इसमें दु:ख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए राजा काष्ठ महल के नष्ट होने पर कोई दु:ख नहीं करता। इस प्रकार की दृष्टि सम्यग्दृष्टि होती है, अर्थात् जब जीव को स्व और पर का ज्ञान हो जाता है तब वह संसार परिभ्रमण को समाप्त करने में सेक्षम होता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप परिणत आत्मा को कैसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

अहमेक्को खलु सुद्धो दसणणाण मइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तंपि।।

– समयसार 38

मोक्षमार्गी यह जानता है कि निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन, ज्ञान मय हूँ, सदा अरूपी हूँ पर द्रव्य, परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। ऐसा मानकर ही आत्मा में स्थिर हुआ जाता है। दूसरे शब्दों में आत्मा अनादि काल से मोह के उदय से अज्ञानी था, अब वह गुरुओं के उपदेश से और स्व-काललब्धि से ज्ञानी हुआ तथा अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ। ऐसा जानने से मोह का समूल नाश हो गया और अपनी स्वरूप संपदा अनुभव में आई, तब पुन: मोह कैसे उत्पन्न हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए एक कवि का निम्न दोहा दृष्टव्य है–

दर्शन-ज्ञान-स्वभावी जिसने, सब विकार ही वमन किये।
परम् ध्यान गोचर परमातम, परम देव मम हृदय रहे॥

आत्म ध्यान से आत्मा में स्थिरता–वीतराग चारित्र ही सम्यक्चारित्र होता है, इसी से आत्मा में स्थिरता आती है। वैसे तो वीतराग चारित्र का अंश चौथे गुणस्थान से शुरु हो जाता है, किन्तु मुख्यता शुभभाव की रहती है। जितने अंश में शुद्ध भाव होते हैं, उतने ही अंश में वीतराग चारित्र प्रकट होता है। यह शुभभाव मुख्यत: छठे गुणस्थान तक चलता है। सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक वीतराग चारित्र की मुख्यता रहती है अर्थात् इस बीच शुद्ध भाव ही प्रधान रहते हैं।

सातवें गुणस्थान के दो भेद हैं– स्वस्थान अप्रमत्तविरत और सातिशय अप्रमत्तविरत

1. **स्वस्थान अप्रमत्तविरत**–इस गुणस्थान में जीव सातवें से छठे और छठे से सातवें में हजारों बार उतरता चढ़ता रहता है। दूसरे शब्दों में शुद्ध से शुभ और शुभ से शुद्धभाव में झूलता रहता है। इसे ही स्वस्थान अप्रमत्तविरत कहते हैं।
2. **सातिशय अप्रमत्तविरत**–श्रेणी चढ़ने के सम्मुख जो परिणाम होते हैं, उसे सातिशय अप्रमत्तविरत गुणस्थान कहते हैं। श्रेणी दो प्रकार की होती है– (अ) उपशम श्रेणी– इसमें चारित्र मोहनीय की 21 प्रकृतियों का उपशम होता है। इसमें द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनों श्रेणी चढ़ सकते हैं। ये दोनों आठवें, नवमें, दसवें और ग्यारहवें–गुणस्थान तक चढ़ते हैं। फिर ग्यारहवें गुणस्थान से नियम से गिरते हैं। द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि पहले गुणस्थान तक गिर सकता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से नीचे नहीं गिरता।

   ब. क्षपक श्रेणी–इसमें चारित्र मोहनीय की 21 प्रकृतियों का क्षय किया जाता है। इसमें आठवाँ, नववाँ, दसवाँ और बारहवाँ–ये चार गुणस्थान होते हैं। इस श्रेणी में केवल क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही चढ़ता है, द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि नहीं। इस प्रकार यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि चौथे गुणस्थान में वीतराग चारित्र कैसे गृहस्थ को हो सकता है, इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में वीतराग चारित्र पूर्ण नहीं, आँशिक है, जैसे मुनिराज छठे गुणस्थान में सातवें गुणस्थान से आते हैं, वहाँ उनके आँशिक वीतराग चारित्र होता है।

आत्मा में स्थिरता से शुक्लध्यान की उत्पत्ति–आत्मा में स्थिरता से शुक्ल ध्यान की उत्पत्ति होकर केवलज्ञान प्राप्त होता है। शुक्लध्यान से सम्यग्चारित्र की पूर्णता होती है। शुक्लध्यान का प्रारम्भ आठवें गुणस्थान से होकर क्षपक श्रेणी में दसवें तक और उपशम श्रेणी में ग्यारहवें गुणस्थान तक रहता है। यह बात पृथकत्ववितर्क शुक्लध्यान के सम्बन्ध में कही गयी है। इसके निमित्त से मोहनीयकर्म का क्षय या उपशम होता है। दूसरा शुक्लध्यान का भेद

एक्त्ववितर्क बारहवें गुणस्थान में होता है। इससे अन्तराय कर्म का क्षय होता है। ये दोनों ध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान और एकत्ववितर्क शुक्लध्यान पूर्ण ज्ञानधारी श्रुतकेवली के होते हैं। यह कथन बहुलता की अपेक्षा से है, अपवाद कथन इसमें गौण रूप से समाहित हो जाता है (उदाहरण–शिवभूति मुनि)। शुक्लध्यान के बाकी दो भेद सूक्ष्म, क्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दोनों ध्यान केवली भगवान के होते हैं। तेहरवें गुणस्थान के अन्तिम भाग में शुक्लध्यान का तीसरा भेद होता है, उसके बाद चौथा भेद चौदहवें गुणस्थान में प्रकट होता है। आचार्य उमास्वामी ने शुक्लध्यान के चार भेद बताये हैं–

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि।।

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति–ये शुक्लध्यान के चार भेद हैं। पहला पृथक्त्ववितर्क ध्यान मन-वचन और काय इन तीन योगों के धारण करने वाले जीवों के होता है। इसमें आठ से ग्यारह तक गुणस्थान आते हैं। दूसरा एकत्ववितर्क ध्यान तीन में से किसी एक योग के धारक के होता है। यह 12 वें गुणस्थान में होता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान मात्र काययोग के धारण करने वाले के होता है। यह 13 वें गुणस्थान के अन्तिम भाग में होता है। चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान योग रहित–अयोगी जीवों के होता है। यह 14 वें गुणस्थान में होता है। आचार्य आगे कहते हैं कि– एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे।।(त.सू./अ. 9/41) आदि के दो शुक्लध्यान श्रुतकेवली के द्वारा आरम्भ किये जाते हैं, अतः एकाश्रय हैं तथा वितर्क और विचार से युक्त हैं। परन्तु, अवीचारं द्वितीयम् (त.सू./अ. 9/42) ऊपर कहे गये शुक्ल ध्यानों में से दूसरा शुक्ल ध्यान विचार से रहित है, किन्तु सवितर्क होता है। वितर्क का लक्षण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि– 'वितर्कः श्रुतम्' ।।(त.सू./अ. 9/43) श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं। अब वीचार का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि– 'वीचारोऽर्थव्यंजनयोग संकान्ति(त.सू/अ. 9/44) अर्थ, व्यंजन और योग का बदलना, वीचार है।

अर्थ संक्रान्ति–अर्थ का तात्पर्य है ध्यान करने योग्य पदार्थ और संक्रान्ति का अर्थ है बदलना। ध्यान करने योग्य पदार्थ को छोड़कर उसकी पर्याय का ध्यान करे और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करे, इसे अर्थ संक्रान्ति कहते हैं।

व्यंजन संक्रान्ति–व्यंजन का अर्थ है वचन और संक्रान्ति का अर्थ है बदलना। श्रुत के किसी एक बचन को छोड़कर अन्य का अवलम्बन करना तथा उसे छोड़कर किसी अन्य का अवलम्बन करना, इसे व्यंजन संक्रान्ति कहते हैं।

योग संक्रान्ति–काय योग को छोड़कर मनोयोग या वचनयोग को ग्रहण करना और उसे छोड़कर अन्य किसी योग को ग्रहण करना, योग संक्रान्ति है। आचार्य उमास्वामी पात्र की अपेक्षा से निर्जरा में होने वाली हीनाधिकता बतलाते हुए कहते हैं कि–

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिना: क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जरा। **(तत्वार्थसूत्र अ. ९/४५,)**

सम्यग्दृष्टि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक, विरतमुनि, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक; उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन इन सभी की प्रतिसमय क्रम से असंख्यात गुणी–असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती है।

तात्पर्य यह कि सम्यग्चारित्र का आधार आत्मा में स्थिरता है। इसके स्थाई होने से शुक्लध्यान की उत्पत्ति होती है। शुक्लध्यान का फल मोक्ष प्राप्ति है क्योंकि वीतराग चारित्र अर्थात् आत्मध्यान की यह महिमा है कि जीव अन्तर्मुर्हूत में ही शुक्लध्यान के बल पर कर्मों की श्रृंखला तोड़कर केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में सम्यग्दर्शन की पूर्णता 12 वें गुणस्थान में, सम्यग्ज्ञान की पूर्णता 13 वें गुणस्थान में और सम्यक्चारित्र की पूर्णता 14 वें गुणस्थान में होती है। इस प्रकार जीव मोक्षमार्ग की ओर क्रम से वृद्धि करता हुआ अनादि कर्मों की श्रृंखला को सदा के लिए तोड़ता हुआ मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

अपनी निधि तो अपने में है, वाह्य वस्तु में व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृग-तृष्णा है, झूठे हैं उसके पुरुषार्थ।।
अक्षय है शाश्वत है आत्मा, निर्मल ज्ञान स्वभावी है।
जो कुछ बाहर है सब पर है, कर्माधीन विनाशी है।।

—— ——

इस सत्य से अनभिज्ञ ही रहते सदा बहिरातमा।
पहिचानते निजत्व जो वे ही विवेकी आतमा।।
निज आतमा को जानकर निज मैं जमे जो आतमा।
वे भव्यजन बन जायेंगे पर्याय में परमातमा।।

नवम अध्याय : दिगम्बर मुनिराज

दिगम्बर मुनि के सन्दर्भ में कविवर बनारसीदास जी का निम्न सवैया दृष्टव्य है–

ग्यान कौ उजागर सहज-सुख सागर,
सुगुन-रतनाकर विराग-रस भरयौ है;
सरन की रीति हरै मरनकौ न भै करै,
करन सौ पीठि दे चरन अनुसरयौ है;
धरम कौ मंडन भरम को विहंडन है,
परम नरम कै करमसौ लरयौ है;
ऐसौ मुनिराज भुवलोक में विराजमान,
निरखि बनारसी नमस्कार करयौ है।

ज्ञान को प्रकट करने वाले, सुख के सागर में गोता लगाने वाले, वैराग्य रस से परिपूर्ण गुणों की खान मुनिराज होते हैं। जो इनकी शरण में जाता है, उसका सब दुःख दूर हो जाता है तथा वह मरण भय से मुक्त हो जाता है। धर्म की पताका फहराने वाले और भ्रम का नाश करने वाले परम दयालु दिगम्बर मुनिराज इस पृथ्वी लोक पर विराजमान हैं, उनको मैं हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

दिगम्बर साधु का स्वरूप–जो अपने आत्मस्वरुप की साधना करते हुए पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं, पाँच समितियों को पालते हैं, तीन गुप्तियों से सुरक्षित होते हैं। ऐसे साधु अट्ठारह हजार शील के भेदों को और चौरासी लाख उत्तरगुणों को पालते हैं, वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। वे सिंह के सामन पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, बैल के समान भद्र, मृग के समान सरल, गाय के समान गोचरी वृत्ति करने वाले, पवन के समान निःसंग, सूर्य के समान तेजस्वी, सागर के समान गम्भीर, सुमेरु के समान अकम्प, चन्द्रमा के समान शीतल और पृथ्वी के समान सहनशील होते हैं।

दिगम्बर का शाब्दिक अर्थ–''दिगम्बर'' दो शब्दों से मिलकर बना है। दिग्+अम्बर। दिग् का अर्थ होता है ''दिशा'' और ''अम्बर'' का अर्थ होता है, ''वस्त्र'' अर्थात् दिशा ही जिसके वस्त्र हैं, ऐसे यथाजात रूप साधु दिगम्बर मुनिराज कहलाते हैं।

दिगम्बर मुनि वीतरागी संत होते हैं–दिगम्बर मुनिराज न किसी से राग करते हैं और न किसी से द्वेष करते हैं। कहा भी है कि–

अरि मित्र महल-मसान-कंचन, काँच निन्दन थुति करन।
अर्घावतारण असि प्रहारन, में सदा समता धरन।।

दर्शन-ज्ञान-स्वभावी जिसने, सब विकार ही वमन किये।
परम ध्यान गोचर परमातम, परम देव मम हृदय रहे।।

दिगम्बर साधु शत्रु और मित्र को, महल और श्मशान को, सोना और काँच को, निन्दा और स्तुति को, पूजा करने वाले और तलवार से घात करने वाले को एक समान समझते हैं, कोई भेद नहीं करते हैं।

अपने भीतर से सब क्रोध-मान आदि कषाय, मिथ्यात्व, अविरति सब विकारों का नाश करके अपने दर्शन-ज्ञान-स्वभावी आत्मा मे रहते हैं। आत्म ध्यान में मग्न रहते हैं, ऐसे दिगम्बर मुनिराज होते हैं। इस प्रकार दिगम्बर साधु छहकाय के जीवों की हिंसा के त्यागी होते हैं। यही बात अन्य मतों में भी कही गयी है। गीता में श्री कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि-

समः शत्रो मित्रे, च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णासुखदुःखेषु, समः संगोपार्जितः।।

– गीता-अ. 12/18

जो पुरुष, शत्रु और मित्र में, मान और अपमान में, शरद ऋतु और ग्रीष्म ऋतु में, सुख और दुःख में एक समान रहता है; संसार में आसक्ति नहीं रखता, वही साधु कहलाता है। ये पाँच महाव्रतों के धारी दिगम्बर वीतरागी सन्त शील के अट्ठारह हजार भेदों का पालन करते हैं। ये साधु चौदह प्रकार के अन्तरंग और दस प्रकार के बहिरंग परिग्रह के त्यागी होते हैं। प्रमाद छोड़कर चार हाथ आगे भूमि देखकर ये गमन करते हैं, इसलिए उनके ईर्या समिति होती है। उनके मुख से सदा हित-मित-प्रिय वचन निकलते हैं, जो सुनने वाले को शान्ति प्रदान करते हैं। इसे ही भाषा समिति कहते हैं। ये मुनिराज छियालिस दोषों को टालकर कुलीन श्रावक के घर तप की वृद्धि हेतु अल्प आहार लेते हैं। शरीर की पुष्टि के लिए और स्वाद के लिए ये मुनिराज आहार नहीं करते, अपितु रसों को छोड़कर नीरस आहार करते हैं। इसे ही एषणासमिति कहते हैं। पवित्रता के उपकरण कमण्डलु, ज्ञान का उपकरण शास्त्र और संयम के उपकरण पिच्छी को, देखकर उठाते-धरते हैं। इसे ही आदान-निक्षेपण समिति कहते हैं। ये मुनिराज मन-वचन और काय को वश में करके आत्म चिन्तन करते हैं, जंगल में पशु इनकी ध्यान लीन अचल मुद्रा को देखकर पत्थर समझकर उनके शरीर से अपने शरीर की खाज खुजाया करते हैं। पाँचों इन्द्रियों में शुभ और अशुभ, स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द हैं, उनमें राग-द्वेष नहीं करते हैं, इसलिए ये पंच इन्द्रिय विजय कहलाते हैं। ये मुनिराज सामायिक, स्तुति, जिन वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग प्रतिदिन नियम से करते हैं। जिन्हें षट्आवश्यक कहते हैं। इसके अतिरिक्त ये स्नान नहीं करते, दातुन नहीं करते, जमीन पर रात्रि के पिछले प्रहर में अल्प निंद्रा लेना आदि अन्य सात

गुणों को पालते हैं। ये सब दिगम्बर मुनि के 28 मूलगुण माने जाते हैं, जिनका विस्तृत वर्णन पिछले प्रवचनों में किया जा चुका है। ये दिगम्बर मुनिराज दिन में खड़े-खड़े केवल एक बार ही भोजन ग्रहण करते हैं और वह भी आखड़ी लेकर आहार चर्या को निकलते हैं। कहा भी है कि-

एक बार भोजन की बेला मौन साध बस्ती में आवैं।
जो न बनै योग्य भिक्षा विधि तो महन्त मन खेद न लावैं।।
ऐसे भ्रमत बहुत दिन बीतैं तब तप वृद्धि भावना भावैं।
यों अलाभ की परम परीषह सहैं साधु सो ही शिव पावैं।।

दिगम्बर मुनिराज आहार की चर्या को जाते हुए कैसी-कैसी विधि, आखड़ी लेते हैं ये निम्न दृष्टान्त से और भी स्पष्ट हो जाता है-

एक बार की बात है कि उत्तर प्रदेश में ललितपुर के पास मंडावली नामक एक स्थान पर आचार्य शान्तिसागर महाराज (छाणी) विराजमान थे। प्रात: जब आहार चर्या का समय हुआ तो आचार्य श्री आहारचर्या के लिए निकले, लेकिन विधि न मिलने के कारण निराहार लौट आए। आचार्यश्री ने आखड़ी विचित्र ले रखी थी। यदि कोई बैल मिलता है और उसके सींग में गुड़ की भेली लगी हो तथा उस भेली में सरसों के दाने चिपके हों, तभी मैं आहार ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं। ऐसी आखड़ी लेकर आहार चर्या को जाते थे।

अद्‌भुत आखडी

आहार चर्या को जाने से पहले प्रत्येक दिगम्बर मुनि अटपटी आखड़ी ले कर जाते हैं कि अमुक का संयोग या दृश्य देखने को मिलेगा तभी आहार ग्रहण करेंगे, अन्यथा नहीं। क्योंकि उसे मिलना न मिलना पूर्व भाग्य पर निर्धारित होता है, किसी वर्तमान पुरुषार्थ पर निर्भर नहीं होता। अत: इस तथ्य की परीक्षा प्रतिदिन आहार को जाते समय आखड़ी लेकर करते हैं। आचार्य शान्तिसागर महाराज को इस प्रकार पूरे सात दिन हो जाते हैं। आहार के लिए विधि नहीं मिलती, निराहार ही रहते हैं। आठवें दिन पुन: जब आहार चर्या को निकलते हैं तो देखते हैं कि एक बैल जा रहा है, सींग में एक गुड़ की भेली फंसी है, जिसमें सरसों के दाने लगे हैं। कुछ समय पहले यह बैल एक बैलगाड़ी में रखी गुड़ की भेलियों में टक्कर मार कर आ रहा था, जिसमें सरसों की बोरियां भी रखी थीं। इस प्रकार एक भेली बैल के सींग में फंस जाती है, तथा कुछ सरसों के दाने इसमें चिपक जाते हैं। इस प्रकार आठवें दिन आचार्यश्री की विधि मिल जाती है और आहार हो जाता है। इस प्रकार की चर्या दिगम्बर मुनिराजों की ही होती है, जो सिद्ध करता है कि ये आहार केवल अपनी क्षुधा को शान्त करने के लिए नहीं लेते हैं, अपितु तप तथा ज्ञानवृद्धि के लिए ही ग्रहण करते हैं।

दिगम्बर मुनिराज बाईस परीषहों को जीतने वाले होते हैं, अटूट समता के धारक होते हैं और शान्ति के पुजारी होते हैं। समताधारियों के अनेक दृष्टान्त शास्त्रों में हमें मिलते हैं। जैसे–गजकुमार मुनि के सिरपर अंगीठी जलाई, पाण्डवों के शरीर लोहे के तपा-तपा कर दुर्योधन के भांजे ने गहने पहनाये, सुखमाल मुनि को स्यालिनी और उसके बच्चों ने खा डाला तथा पाँच सौ मुनियों को दण्डक राजा ने घानी में पिरवा डाला। इन सभी ने ऐसे अवसरों पर अटूट समता को धारण किया और उपसर्ग विजयी बने तथा कल्याण को प्राप्त हुए। यहाँ पर एक दृष्टान्त 500 मुनियों को घानी में पेरने वाला दिया जा रहा।

दुर्भावना की पराकाष्ठा

एक दंडक नाम की नगरी थी, जिसका राजा दंडक था। यहाँ के रानी और राजा स्वयं वीतराग धर्म के बहुत विरोधी थे। प्रतिदिन वीतराग साधु की निन्दा किया करते थे। एक बार यह दंडक राजा जंगल में घूमने के लिए चल दिये। वहीं जंगल में एक वीतरागी साधु ध्यान में मग्न बैठे थे। अत: इन्हें देखते ही राजा की दुर्भावना प्रबल हो उठी। राजा साधु के गले में साँप डालता है और तमाशा देखने को बैठ जाता है। एक दूसरा व्यक्ति जो वीतरागी साधु का भक्त था, आता है और साँप को गले से अलग कर देता है। कुछ समय बाद मुनि महाराज का ध्यान टूटता है, तो सामने बैठे दोनों को आशीर्वाद देते हैं। दंडक राजा विचार करता है कि ये साधु तो महान् होते हैं इन्होंने पूजक और निन्दक दोनों को समान आशीर्वाद दिया और वह प्रभावित हो निर्णय लेता है कि आज से मैं दिगम्बर वीतरागी सन्तों की पूजा करूंगा, विरोध नहीं करूंगा। इस प्रकार श्रद्धान लेकर वह अपने महल आकर रानी से कहता है कि आज से तुम भी वीतरागी साधुओं की पूजा किया करो। रानी तो सरागी साधुओं को मानती थी, राजा को वीतरागी साधुओं का भक्त बना देखकर विचारने लगी कि क्या उपाय किया जाये जिससे राजा का इनके प्रति श्रद्धान नष्ट हो जाये। अत: वह एक सरागी साधु को बुलाकर लानें का निर्णय लेती है। दोनों योजना बना लेते हैं कि राजा के सामने सरागी साधु दिगम्बर मुनि का वेश धारण कर रानी से विकार युक्त बातचीत करेगा। वे ऐसा ही जब राजा के सामने करते हैं तो राजा दंडक बहुत दु:खित होता हुआ उसे महल से बाहर निकलवा देता है और पुन: वीतराग साधुओं का विरोधी हो जाता है। अपनी रानी की मायाचारी से पूर्णत: अनभिज्ञ रहता है।

एक दिन इसी दंडक नगरी में 500 मुनियों का संघ विहार करता हुआ आता है। राजा विचार करने लगता कि एक जैन साधु मेरी रानी को भ्रष्ट करने पर तुला था, ये 500 साधु तो सारा नगर बिगाड़ देंगे। अत: बिना सोचे समझे आदेश देता है कि सब साधुओं को घानी में पेर दिया जावे। आदेश पाते ही सभी 500 साधुओं को घानी में पेर दिया गया। सभी दिगम्बर वीतरागी सन्त अटूट समता को धारण कर अपनी आत्म साधना में लीन हो जाते हैं और स्वर्ग आदि चले जाते हैं।

कुछ दिनों के बाद एक मुनिराज विहार करते हुए इसी नगरी की ओर आते हैं। नगर से बाहर लोगों ने बताया कि इस नगर में 500 मुनि घानी में पेरे जा चुके हैं, अत: इस दंडक नगरी में प्रवेश न करें, आपके साथ भी यही किया जावेगा। इन मुनिराज ने यह सुन कर समता छोड़ दी, क्रोध आ गया, बायें हाथ से बिलाव के आकार का अग्निमय पुतला निकलता है और सम्पूर्ण दण्डक नगर को राजा-रानी सहित भस्म कर डालता है। लौटकर यह पुतला मुनिराज को भी भस्म कर देता है। राजा-रानी और मुनिराज सभी नरक को चले जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समता धारण से ही कल्याण है और कषायों के कारण अधोगति में घूमना पड़ता है।

आधुनिक युग के समताधारी वीतरागी दिगम्बर संत—वर्तमान के महान् तपस्वी सन्त चारित्र चक्रवर्ती परम पूज्य आचार्यश्रीशान्तिसागर जी महाराज हुए हैं। उनकी अगाध विद्वत्ता, कठोर तपश्चर्या, प्रगाढ़ धर्मश्रद्धा, आदर्श चारित्र और अनुपम त्याग से धर्म की यथार्थ ज्योति प्रज्वलित हुई है। वे अटूट समताधारी वीतरागी दिगम्बर सन्त थे। उन्होंने प्राय: विच्छिन्न मुनि परम्परा का पुन: उद्धार करके उसे जीवन्त किया उनके जीवन में समता कूट-कूट कर भरी थी, यह निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है—

समता की प्रतिमूर्ति आचार्यश्री शान्तिसागर जी

आचार्यश्री शान्तिसागर जी (दक्षिण) अपराह्न में किसी एक जिनमन्दिर में सामायिक करने की तैयारी कर रहे थे। मन्दिर का पुजारी अपना काम समाप्तकर दीपक जला कर, मन्दिर के द्वार बन्द कर, अपने घर चला जाता है। मुनिराज ध्यान में बैठ जाते हैं। पुजारी घर पर जाकर अन्य कार्यों से निवृत्त होकर सो जाता है।

इधर जिनमन्दिर में जब पुजारी ने दीपक जलाया तो दीपक से कुछ घी फर्श पर गिर जाता है। इस घी पर लाखों-लाख चीटियां आ जाती हैं और वहाँ ध्यानस्थ मुनिराज के गुप्तांगों पर चिपट जाती हैं। महाराज सामायिक में उतर चुके हैं। अपने आत्मा द्वारा अपने आत्मा में समाहित हैं, मग्न है। शरीर अर्थात् 'पर' वस्तु को 'पर' जान रहे हैं, अपने आत्मा को, स्व को स्व अनुभव कर रहे हैं।

इधर पुजारी को घर पर स्वप्न आता है, कोई कह रहा है कि "जाओ मन्दिर में, महाराज पर चींटियों का आक्रमण हो चुका है, उसे दूर करो"। पुजारी की नींद खुलती है, वह तुरन्त मन्दिर आता है, मन्दिर खोलता है तो देखता क्या है कि, गुप्तांगों से रुधिर बह रहा है, महाराज निश्चल ध्यान में मग्न हैं, चीटियां जा रही हैं उन्हें छोड़कर, कुछ करने को शेष नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महा समता के धारी मुनिराज, आ. शान्तिसागर महाराज (दक्षिण) सामायिक से च्युत नहीं हुए, जो यह सिद्ध करता है कि आज के इस आधुनिक काल में भी वीतरागी दिगम्बर संत, समता के धारी मुनिराज विद्यमान हैं।

द्रव्यलिंगी दिगम्बर साधु की मुक्ति नहीं–दिगम्बर मुनि दो प्रकार के होते हैं। भावलिंगी मुनि और द्रव्यलिंगी मुनि। जो जीव पहले अन्त:करण से नग्न होता है अर्थात् संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होता है, आत्मानुभूति से युक्त होता है तथा आत्मज्ञान से सहित होता है, वह ही तद्नुरूप वाह्य रूप से दिगम्बर हो जाता है। ये भावलिंगी मुनिराज ही अपने सब अनादि कर्मों की शृंखला को तोड़कर मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु इसके विपरीत जो आत्मज्ञान से शून्य होता है, वाह्य क्रियाओं को और वेश को अपनाता है और अपना मानता है, 'पर' को अपना समझता है, वह द्रव्यलिंगी मुनि चाहे जितना तप करे, उससे उसे कोई लाभ नहीं होने वाला है। ऐसे दिगम्बर मुनि ही द्रव्यलिंगी मुनि कहलाते हैं। इस संदर्भ में पं. बनारसी दास जी निम्न सवैये में कहते हैं:-

शीत सहै तन धूप दहे, तरु देत रहे करुणा उर आवे;
झूठ कहे न अदत्त गहै, वनिता न चहे लव लोभ न जानै,
मौन ह्वै पठि भेद लेह नहिं, नेमज है व्रत रीति पिछानै;
यो निषहै परमोदा नहीं, बिन ज्ञान यही जिनवीर बखानै।

जो मुनि शरद, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु की बाधा को सहते हैं, पाँच महाव्रतों को निर्बाध पालते हैं, मौनपूर्वक तप करते हैं, किन्तु आत्मज्ञान से शून्य हैं, वे तो निश्चय से बहिरात्मा ही हैं, अत: द्रव्यलिंगी मुनि संसार में बहुत काल तक भ्रमण करते रहते हैं। ये मुनि दो प्रकार के होते हैं–(1) सम्यक् द्रव्यलिंगी मुनि–जो दूसरे गुणस्थान से लेकर पाँचवे गुणस्थान पर्यंत होते हैं। ये मुनि देर-सवेर अपने संसार का अन्त कर लेते हैं। (2) मिथ्या द्रव्यलिंगी मुनि–ये प्रथम गुणस्थान वाले होते हैं, जो दीर्घकाल तक संसार में रहते हैं।

दिगम्बरत्व अन्तरंग शुद्धि का प्रमाण–वास्तव में दिगम्बर वेश धारण नहीं किया जाता, वह तो स्वत: ही प्रकट हो जाता है। जब जीव अन्तरंग से विकार रहित हो जाता है, तब वह विषमताओं से अप्रभावित होता हुआ दिगम्बर हो जाता है। नग्न रहना सरल नहीं है। यह बाईस परीषहों में विशेष परीषह माना जाता है। कहा भी गया है कि–

अन्तर विषय वासना बरतै बाहर लोक लाज भय भारी।
यातैं परम दिगम्बर मुद्रा धर नहिं सकैं दीन संसारी॥
ऐसी दुर्द्धर नगन परीषह जीतैं साधु शीलव्रत धारी।
निर्विकार बालक-वत निर्भय तिनके चरणों धोक हमारी॥

ऐसे शीलव्रत को धारण करने वाले मुनिराज ही दिगम्बर होते हैं। ऐसे शीलवान मुनि का व्यक्तित्व चमत्कार पूर्ण हो जाया करता है। ऐसे चमत्कारिक मुनि वर्तमान युग में आचार्य शान्ति सागर महाराज (छाणी) हुए हैं। इनके जीवन से सम्बन्धित एक चमत्कार पूर्ण घटना निम्न दृष्टान्त में दृष्टव्य है–

घोर उपसर्ग

मध्य प्रदेश में बड़वानी के निकट आचार्य शान्तिसागर महाराज (छाणी) का मंगल विहार हो रहा था। वहाँ पर कुछ विरोधी तत्त्वों ने दिगम्बर मुनिराजों का विरोध किया। परिणाम स्वरूप विहार को रोक दिया गया। ऐसी परिस्थितियों में आचार्यश्री सड़क पर ही पद्मासन लगा ध्यान मग्न हो गये। कुछ अनुयाइयों ने आचार्यश्री को घेरे में ले रखा था, किन्तु विरोधियों के सापेक्ष अनुयायी अपर्याप्त थे।

असामाजिक तत्त्व अब एक नई चाल चलते हुए एक ट्रक को भीड़ में भेजते हैं, और इनका नेता आदेश देता है कि–"ये ऐसे नहीं मानेंगे, ट्रक को मुनिराज पर चढ़ा दिया जावे"। ट्रक आता है, तेजी से मुनिराज की ओर बढ़ता है, किन्तु यह देख सभी आश्चर्य चकित हो जाते हैं कि जैसे ही ट्रक मुनिराज के निकट आया तो ट्रक का पहिया निकल जाता है, ट्रक पलट जाता है और इस प्रकार ट्रक मुनिराज को छू भी नहीं पाता। चमत्कार की घटना जंगल में आग की तरह चारों ओर फैल जाती है। सभी विरोधी सहम जाते हैं। विरोधियों का नेता आता है और मुनिराज के चरणों में नतमस्तक हो जाता है। क्षमा मांगता है, पश्चाताप करता है। मुनिराज ध्यान से बाहर आते हैं, सभी को क्षमा प्रदान करते हैं और अपना मंगल आशीर्वाद देते हैं। सभी विरोधी भव्यता से मंगल विहार कराते हैं।

इस प्रकार आज भी दिगम्बर मुनिराजों में सम्यक् तपस्या के बल पर चमत्कारिक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। जिससे असामाजिक तत्त्व बहुत प्रभावित होता हुआ अपने अवगुणों को सहज ही दूर कर लेता है। यह दृष्टान्त यह भी सिद्ध करता है कि वीतरागी दिगम्बर सन्त सदैव शत्रु-मित्र में कोई भेद नहीं करते। सभी को समान दृष्टि से देखते हैं।

वीतरागी साधु अपने पास कोई परिग्रह नहीं रखते हैं, अत: 24 प्रकार के परिग्रहों के त्यागी होने के कारण, एक लंगोटी मात्र भी नहीं रखते। जहाँ तिल-तुष मात्र भी परिग्रह है वहां सुख-शान्ति नहीं रह सकती। इस बात को स्पष्ट करने के लिए निम्न दृष्टान्त समझना होगा–

लंगोटी का दु:ख

कहीं पर एक महात्मा जी रहते थे। उन्होंने दो लंगोटी अपने पास रखी थीं। एक पहन लेते और एक को धोकर सुखा देते थे। एक बार एक चूहे ने एक लंगोटी काट दी। अब महात्मा जी को चिंता होती है कि क्या करें, तब विचार करते हैं कि एक बिल्ली पाल ली जाये, जिससे चूहे नुकसान न करने पायें। साधु महात्मा ने बिल्ली पाल ली। अब चिन्ता बनती है कि बिल्ली के लिए

दूध चाहिए। अत: दूध के लिए गाय चाहिए, गाय के चारे के लिए जमीन चाहिए। जमीन के लिए दो बैल चाहिए। इस प्रकार सब आवश्यकता पूरी करते जाते हैं महात्मा जी। अब सोचते हैं कि इन सब कार्यों को कौन करेगा? अत: एक स्त्री रखनी चाहिए। सो स्त्री भी रख लेते हैं, अब सोचते हैं बच्चे होंगे तो हाथ बटाएँगें। बच्चे भी हो जाते हैं। इस प्रकार पूरी गृहस्थी महात्मा जी की बन जाती है। तात्पर्य यह है कि एक लंगोटी रखने मात्र से पूरा गृहस्थ हो जाता है।

इसलिए दिगम्बर मुनिराज अपने पास परिग्रह तिल-तुष मात्र भी नहीं रखते। परिग्रह दु:ख-चिंता का कारण बनता है। जहाँ चिंता होगी वहाँ आत्मध्यान नहीं हो सकता और जहाँ आत्मध्यान में तल्लीनता न होगी, वहाँ समता धारण भी नहीं हो सकती।

कर्मों से छुटकारा पाने के लिए पुण्य-पाप को छोड़कर आत्मा में आत्मा के द्वारा ध्यानस्थ होने से ही कल्याण संभव है, अन्यथा नहीं। यह बात अन्य मतों में भी कही गयी है।

गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि–

शुभाशुभफलैरेवं, मोक्ष्यसे कर्मबंन्धनै:।
संन्यासयोगमुक्तात्मा, विमुक्तो मामुपैष्यसि।।

– गीता-अ. 9/28

इस प्रकार कर्मों को मेरे अर्पण करने रूप सन्यास योग से मुक्त हुए मन वाला तू शुभ और अशुभ फल रूप कर्म बन्धन से मुक्त हो जायेगा, और उनसे मुक्त हुआ मेरे अर्थात् आत्मा को ही प्राप्त हो जायेगा। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि–

बुद्धियुक्तो जहातीह, उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्यौगाय युजस्व, योग: कर्मसु कौशलम्।।

– *गीता-अ.* 22/50.

समत्व बुद्धियुक्त पुरुष पुण्यरूप और पापरूप दोनों को इस लोक में ही त्याग देता है। दूसरे शब्दों में उनसे लिप्त नहीं होता, इनसे समत्व बुद्धि योग रूप ही कर्मों से बचाता है अर्थात् योग ही कर्म बन्धन से छूटने का उपाय है।

परिग्रह मोक्षमार्ग में विष के समान है, इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

जहजायरुवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिण्हदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तोपुण जाइ णिग्गोदम्।।

– अष्टपाहुड-सूत्रपाहुड 18.

जैसा बालक जन्मता है, साधु का रूप वैसा ही नग्न होता है। उसके पास तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं होता। यदि कोई साधु थोड़ा-बहुत भी परिग्रह पास रखता है तो वह निश्चित रूप से निगोद जाता है।

आगे आचार्य परिग्रह के दोष को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।

– अष्टपाहुड-लिंगपाहुड 22

निर्ग्रंथ नग्न दिगम्बर लिंग धारण करके भी जो बहुत प्रयत्न करके परिग्रह का संग्रह करता है, उसमें सम्मोहित होता है, उसकी रक्षा करता है, उसके लिए आर्त्तध्यान करता है, वह पाप से मोहित बुद्धिवाला श्रमण, श्रमण नहीं अपितु पशु के समान है, अज्ञानी है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मोक्षमार्ग में परिग्रह विष के समान है। चौबीस प्रकार के परिग्रहों में चौदह प्रकार के परिग्रह-मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया लोभ आदि अन्तरंग परिग्रह माने जाते हैं, जिन्हें पहले छोड़ा जाता है, अन्तरंग से शुद्ध होकर, फिर वाह्य दस प्रकार के परिग्रह क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, कुप्य, भांड आदि परिग्रहों का त्याग किया जाता है, जो कि नग्न दिगम्बर रह कर ही संभव है। इस प्रकार गहराई से विचारने पर यह बात सिद्ध हो जाती है कि दिगम्बरत्व अन्तरंग शुद्धि का प्रमाण है।

अन्य मतों में दिगम्बरत्व का महत्त्व–आत्मकल्याण के लिए अन्तरंग शुद्धि अन्तरंग परिग्रहों के त्याग से प्राप्त होती है। अन्तरंग परिग्रहों के त्याग होते ही वाह्य परिग्रहों का त्याग भी सहज रूप से होने लगता है। इसी क्रम में स्वत: ही दिगम्बरत्व प्रकट हो जाता है। यह कल्याण का मार्ग अन्य सभी मतों में ऐसा ही है। यह आश्चर्यजनक प्रमाण है कि समस्त संसार के समस्त मतों के साधुओं में दिगम्बरत्व वेष पाया जाता है, अन्तर केवल इतना है कि आज अन्य मतों के साधुओं में साधना की हीनता के कारण दिगम्बरत्व की मुख्यता नहीं रही, परन्तु जैन साधुओं ने आज भी आत्मसाधना को लक्ष्य में रखने हेतु दिगम्बर वेष को मुख्य रूप से अपनाया हुआ है। प्राचीकाल से ही दिगम्बरत्व आध्यात्म क्षेत्र में उन्नति की पराकाष्ठा का प्रमाण माना जाता रहा है। यहाँ कुछ प्रमाण दृष्टव्य हैं–

1. **हिन्दू मत में**–वैदिक मत में दिगम्बर *परमहंस साधु* सबसे उत्कृष्ट माने जाते हैं। वे सर्वदा, नग्न रहते थे। शुकदेव जी वैदिक मत में प्रसिद्ध महात्मा हुए हैं, जो सर्वथा नग्न रहते थे।

   हिन्दू मत में परिव्राजक नग्न नागा साधु रहते हैं। आज भी कुम्भ के मेले में नग्न साधु देखे जा सकते हैं।

एकाकी निःस्पृह शान्तपाणि पात्रो दिगम्बर।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः।।

–वैराग्य शतक, 58

हे शम्भो! मैं कब अकेला कामना रहित, शीलव्रती करपात्री, दिगम्बर और भव बन्धन को निर्मूल करने वाला होऊँगा।

2. **बौद्ध मत में**–बौद्धमत की नींव डालने वाले महात्मा बुद्ध ने सबसे पहले आत्मशुद्धि के लिए नग्न-दिगम्बर साधु चर्या का पालन किया था। जब इस वेश में उन्हें बहुत कठिनाई उत्पन्न हुई तो उन्होंने वस्त्र धारण कर लिये थे। बौद्ध ग्रन्थों त्रिपिटक आदि में दिगम्बर मुनियों के बहुत जगह उल्लेख मिलते हैं।

3. **ईसाई मत में**–ईसाईयों में नग्न निर्विकार रूप को महत्त्व दिया जाता है। बाइबिल में लिखा है कि ईसा ने अपने कपड़े उतार दिये थे और हजरत सैमुअल को भी नग्न रहने की शिक्षा दी थी।

4. **इस्लाम मत में**–तुर्किस्तान में अबदल नाम मादर जात नग्न रहकर अपनी साधना में लीन रहते थे। मनस्वी नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री जलालुद्दीन रूमी दिगम्बर का खुला उपदेश इस प्रकार है–

नग्न रहना अच्छा है। वस्त्रधारी को हर समय धोबी की चिंता लगी रहती है।

–मनस्वी-जिल्द जिल्दर सफा (262), सफा 382, 383।

मुसलमानों में सबसे ऊँची श्रेणी के अनेक फकीर बिल्कुल नग्न ही रहते थे।

5. **यहूदियों में**–यहूदियों में भी नग्नता को महत्त्व दिया जाता है– पृष्ठ 32 पर लिखा है कि–''जिसका भाव यह है कि यहूदियों में भैरार्ज का विश्वास करने वाले जो पहाड़ों पर आबाद हो गये थे, लंगोट तक त्यागकर बिल्कुल नग्न रहते थे।''

अढाई द्वीप में मुनि की संख्या

अढाई द्वीप में तीन कम नौ करोड़ दिगम्बर मुनिराजों की संख्या का क्रम निम्न प्रकार है–

छट्ठे गुणस्थान में	:	5,93,98,206
सातवें गुणस्थान में	:	2,96,99,103
आठवें, नवमें, दसवें, ग्यारहवें गुणस्थान में (उपशम श्रेणी की अपेक्षा)	:	1,196

आठवें, नवमें, दसवें, बारहवें गुणस्थान में (क्षपक श्रेणी की अपेक्षा)	:	2,392
तेरहवें गुणस्थान में	:	8,98,502
चौदहवें गुणस्थान में	:	598
	कुल संख्या	**8,99,99,997**

ये तीन कम नौ करोड़ मुनिराज भावलिंगी ही होते हैं, द्रव्यलिंगी नहीं होते।

दिगम्बर मुनिराजों की प्राचीन परम्परा–तीर्थंकर महावीर की परम्परा में अनेक दिगम्बर आचार्य हुए हैं। जैसे–आचार्य भद्रबाहु, आचार्य धरसेन, आचार्य पुष्पदन्त, आचार्य भूतबली, आचार्य वीरसेन स्वामी, आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी, आचार्य उमास्वामी, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य विद्यानन्द, आचार्य अमृतचन्द, आचार्य जयसेन आदि। पन्द्रहवीं शताब्दी में तरनतारन आचार्य हुए जिनके संघ में अनेक मुनिराज थे।

मुनियों की वर्तमान परम्परा–सोलहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक लगभग तीन सौ साल तक दिगम्बर मुनियों का अभाव सा रहा और इस दौरान भट्टारकों के हाथ में धर्म का प्रचार रहा। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, सर्वप्रथम चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्ति सागर (दक्षिण) (दीक्षा-सन् 1919-समाधि सन् 1955), एवं आचार्य श्री शांतिसागर जी "छाणी" महाराज ने दिगम्बर मुनिराजों की परम्परा को शुरू किया। इनकी गुरु-शिष्य परम्परा निम्न प्रकार है–

1. **आचार्य शान्तिसागर** (दक्षिण) परम्परा
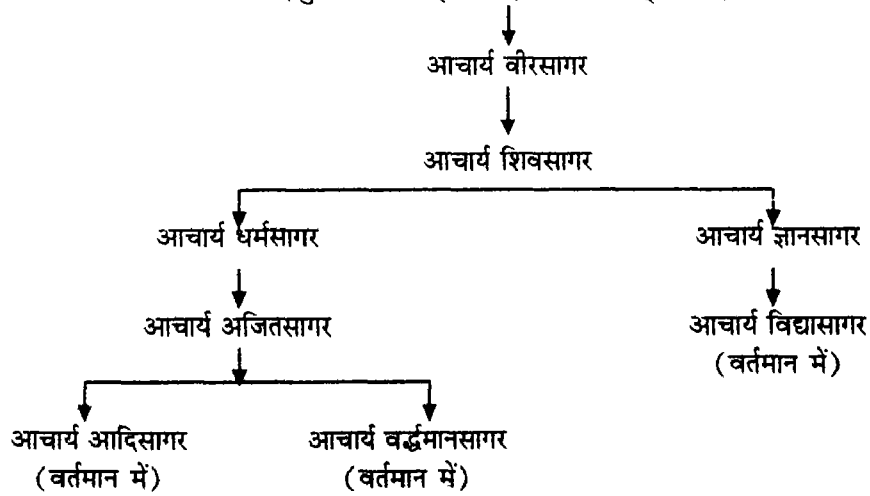
इन्हीं आचार्य शान्तिसागर महाराज की परम्परा में आचार्य देशभूषण महाराज एवं आचार्य विद्यानन्द जी महाराज (वर्तमान में) हुए हैं।

2. **आचार्य शान्तिसागर (छाणी) परम्परा** (मुनि दीक्षा-सन् 1923; समाधि-सन् 1944)
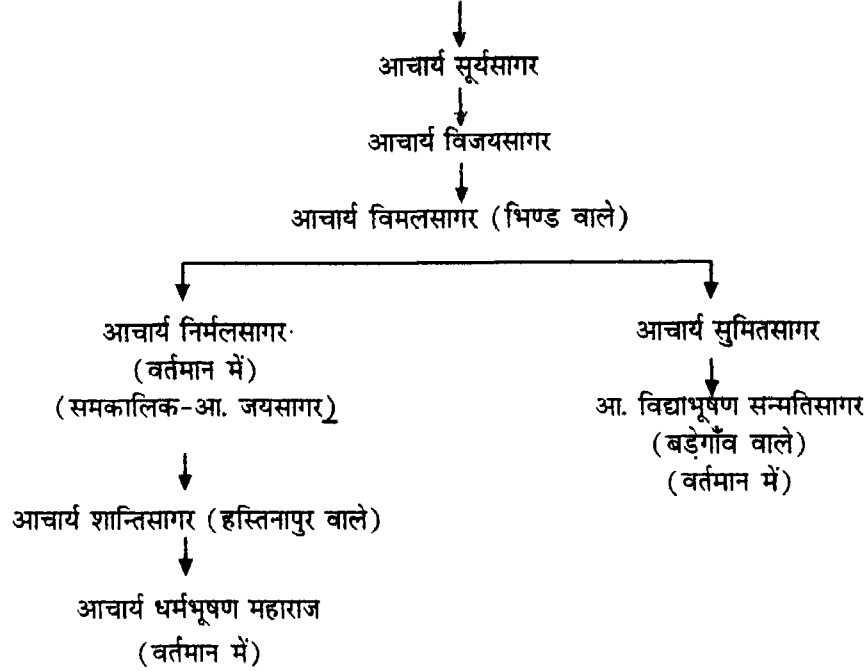
3. **आचार्य आदिसागर परम्परा (मुनिदीक्षा)**
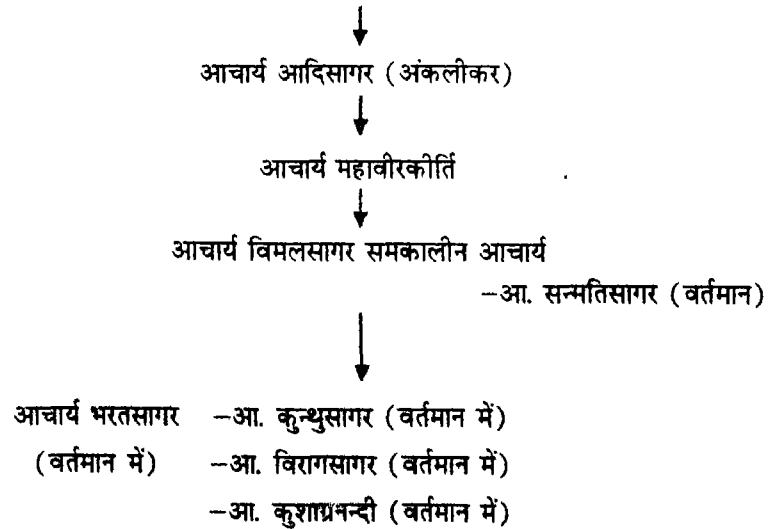
इस प्रकार उपर्युक्त तीन आचार्यों की परम्परा में आज दिगम्बर मुनिराज विद्यमान हैं।

सन् 2002 में वर्तमान दिगम्बर मुनियों व पिच्छीधारी साधुओं की संख्या–

आचार्य	:	55
आचार्य कल्प	:	3
ऐलाचार्य	:	4
बालाचार्य	:	1
उपाध्याय	:	18
मुनि	:	291
गणिनी आर्यिका	:	10
आर्यिका	:	321
ऐलक	:	35
क्षुल्लक	:	99
क्षुल्लिका	:	63
	कुल	**900 लगभग**

उपर्युक्त दिगम्बर मुनिराज की विवेचना करने से यह बात सिद्ध हो जाती है कि साधु बहुत कठिन वाह्य और अंतरग तप करते हुए अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा में समाने के लिए, अनादिकाल से लगे हुए कर्मों की शृंखला को तोड़ने के लिए, अपने अलौकिक सुख रूपी अमृत का पान करने के लिए दिगम्बरत्व को प्रकट करते हैं, मात्र दिगम्बर वेष धारण नहीं करते। यही स्थिति संसार में सभी धर्मों के मानने वाली साधुओं में भी कमोवेश पायी जाती है। जैन साधु, साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। इनके नाम लेने मात्र से संसारी जीवों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इनकी स्तुति में पं. बनारसीदास जी निम्न सवैये में अपने हृदय के उद्‌गार व्यक्त करते हैं–

शीत रितु जोरे तहाँ सब ही सकोरे अंग।
तनको न मोरे नदी धोरे धीर जे खरे।।
जेठ की झकोरे जहाँ अंडा चील घोरे पशु।
पक्षी छाह लोरे गिरि कोर तपते धरे।।
घोर घन घोरे घम चहुँ ओर डोरे।
ज्यों-ज्यों चलत हिलोरे त्यों-त्यों कोरे बल में अरे।।
देह नेत तोरे परमारथ सो प्रीति जोरे।
ऐसे गुरु और हम साथ अँजुलि करे।।

दशम अध्याय : व्रत

मनुष्य जीवन में व्रतों का अत्यधिक महत्त्व है। कहा गया है- 'व्रतेन यो बिना प्राणी, पशुरेव न संशय:'। व्रतों का प्रधान उद्देश्य आत्मशुद्धि है। जैनधर्म में प्रमुख पांच व्रत हैं- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, जिनका यहां क्रम से विवेचन किया गया है।

वर्तमान में भगवान् महावीर का शासन काल है। इनके तीन सिद्धान्त हैं-(1) स्याद्वाद और अनेकान्त, (2) अपरिग्रह, (3) अहिंसा। प्रत्येक व्यक्ति के विचारों में अनेकान्त हो, वाणी में स्याद्वाद हो, जीवन में अपरिग्रह हो और आचरण में अहिंसा हो। यही संक्षेप में भगवान महावीर की देशना है।

''अहिंसा'' का अर्थ है-''हिंसा नहीं करना'' अहिंसासंस्कृति प्रधान जैनधर्म में इसके पूर्ववर्ती समता, सर्वभूतदया, संयम जैसे अनेक शब्द अहिंसक आचरण के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अहिंसा का एक अर्थ, पर की सुरक्षा के साथ-साथ अपने आत्मा की सुरक्षा करना भी है। जो मानव स्वयं सुरक्षित होगा वही दूसरों को सुरक्षित रख सकता है। अत: आपको अपनी सुरक्षा स्वयं करनी होगी। अपनी सुरक्षा करोगे तो दूसरों की भी सुरक्षा होगी। जो मानव स्वयं को बनाता और बिगाड़ता है, वह अपने साथ समस्त मनुष्यता और समाज को बनाता और बिगाड़ता है। जो मानव अपने अन्दर शान्ति की आधारशिला स्थापित करता है वह पूरे विश्व के लिए शान्ति का मार्ग खोलता है, दूसरी ओर जब यही मानव अपने भीतर अशान्ति और संताप के बीज बोता है तो सारी मनुष्यजाति के लिए वह वही करता है। इस प्रकार मानव जो अपने साथ करता है वही वह दूसरों के साथ भी करता है। सभी जीवों में आत्मा समानरूप से विद्यमान है, जिसमें हिंसा और अहिंसा किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। आज विश्व में इतनी अराजकता, इतनी हिंसा, इतनी घृणा, इतनी वैमनस्यता एवं युद्ध की भावना है जिसका इसका मूल कारण केवल अपने आत्मा को न समझना है। आत्मा के अन्दर की आवाज को सुनने का जिनके पास समय नहीं है, मात्र जो भौतिकता के पक्ष में बँधे हैं वही आज इस संसार की विषम स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। भौतिकता ही इनके जीवन का आधार है। वास्तव में जहाँ कहीं भी राग-द्वेषमयी प्रवृत्ति दिखलाई पड़ेगी, वहीं हिंसा किसी न किसी रूप में उपस्थित हो जायेगी। सन्देह, अविश्वास, विरोध, क्रूरता और घृणा का परिहार, प्रेम, उदारता और सहानुभूति के बिना संभव नहीं है। प्रकृति और मानव दोनों की क्रूरताओं का निराकरण संयम द्वारा अर्थात् अहिंसा द्वारा ही संभव है। यही परम धर्म है। अहिंसा का पालन न करने के कारण ही आज धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रों में चहुँ ओर हिंसा का वर्चस्व है। अहिंसा की मूल भावना प्राणिमात्र को जीने का अधिकार प्रदान करती है। जैनसंस्कृति के नियामकों का हृदय इसी भावना

से अनुप्राणित था। इसलिए उन्होंने कहा–सभी प्राणी संसार में जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता। सभी को अपना-अपना जीवन प्यारा है। इसलिए सोते-उठते, चलते-फिरते, छोटे-से-छोटे प्रत्येक कार्य को करते हुए यह भावना अभिव्यक्त होनी चाहिए कि जब मेरी आत्मा सुख चाहती है तो दूसरों को भी सुख भोगने का अधिकार है। जैसे मैं जीना चाहता हूँ, ऐसे ही दूसरे भी जीना चाहते हैं। "**जियो और जीने दो**" यह अहिंसा का स्वर्णिम सूत्र उसी सर्वभूत दया की भावना से प्रसूत है, जहाँ जीव के सारे भेद समाप्त हो जाते हैं।

महावीर और अहिंसा

आज से लगभग 2600 वर्ष पूर्व पूरे भारत वर्ष में हिंसा का साम्राज्य था। धर्म के नाम पर दंगे, आडम्बर व जीवों का वध किया जाता था। स्वार्थ, असत्य, अनैतिकता चारों ओर व्याप्त थी। धर्म का रूप क्रियाकाण्डों ने ले रखा था। मनुष्यों की पाशविकवृति ने मानव को दानव बना दिया था। पशु-पक्षी, स्त्री आदि जीवों का कोई संरक्षक नहीं था। इनका कोई भी किसी भी रूप में उपयोग कर सकता था। इनकी पुकार सुनने वाला कोई नहीं था। इनको जिन्दा ही यज्ञों में होम कर दिया जाता था। इन पर सर्व सामान्य ही नहीं अपितु सरकार भी ध्यान नहीं देती थी। ऐसी विषम परिस्थितियों में बिहार प्रान्त के वैशाली नगर में राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशला के यहां, चैत्र सुदी तेरस के दिन वर्धमान का जन्म होता है। जन्म लेते ही पूरे भारत में शान्ति की लहर छा जाती है। बालक जैसे-जैसे बड़े होते हैं, इनके जीवन में अनेक घटनाएं घटती जाती हैं। एक बार मदोन्मत्त हाथी का मद चूर कर वीर नाम प्राप्त किया। एक बार दो मुनियों की शंका मात्र दर्शन करने से दूर हो जाती है, तब सन्मति नाम पाते हैं। एक बार तरु पर लिपटे विषधर को वश में कर महावीर नाम प्राप्त करते हैं। जब महावीर की आयु तीस वर्ष हुई तो माता-पिता ने विवाह के लिए कहा। इस पर महावीर ने स्पष्ट मना कर दिया और कहा, देश में हा-हाकर मचा हुआ है और मैं विवाह करूँ, पशुओं को मारा जा रहा है, अत: मुझे यह सब भोग-ऐश्वर्य अच्छे नहीं लगते। एक दिन ये सब महल-वैभव छोड़कर वन में पहुँच जाते हैं और निरन्तर 12 वर्ष तक मौन पूर्वक घोर तप करते हैं। आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं।

बैसाख सुदी दशमी को एक दिन महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। केवलज्ञान के 66 दिन बाद दिव्यध्वनि खिरती है। श्रावण वदी एकम् को दिव्यध्वनि खिरने के कारण इसे हम वीरशासन जयन्ति के रूप में प्रतिवर्ष मनाते हैं। तीस वर्षों तक सम्पूर्ण भारत में विहार करते हुए धर्मोपदेश में ज्ञान गंगा बही उसका साररूप हिंसा का त्याग और अहिंसा का पालन करना ही है। महावीर की अहिंसा को समझने के लिए विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। उन्होंने कहा था–"हिंसा, चाहे किसी भी रूप में हो वह धर्म नहीं हो सकता।

अहिंसा का स्वरूप–अहिंसा क्या है, इस प्रश्न को महावीर ने बड़ी ही सूक्ष्म और सरल विधि से समझाया। सर्वप्रथम उन्होंने हिंसा का स्वरूप निर्धारित किया। तदोपरान्त उससे विरत होने की क्रिया को अहिंसा का नाम दिया। हिंसा का सर्वांगपूर्ण लक्षण आचार्य उमास्वामी के इस कथन में निहित हैं–कषाय के वशीभूत होकर द्रव्य या भावरूप प्राणों को घात करना हिंसा है। आचार्य कहते हैं–

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणंहिंसा।।

– तत्वार्थसूत्र-अ. 7/13

कषाय–राग-द्वेष अर्थात् अयत्नाचार (असावधानी-प्रमाद) के सम्बन्ध से अथवा प्रमादी जीव के मन-वचन-काय के योग से जीव के भावप्राण, द्रव्यप्राण अथवा इन दोनों का वियोग करना हिंसा है।

इस सूत्र में "प्रमत्तयोगात्" शब्द भाववाचक है। जिसका अर्थ है कि प्राणों के वियोग होने मात्र से हिंसा का पाप नहीं, किन्तु प्रमाद भाव हिंसा है और उससे पाप है। शास्त्रों में कहा गया है कि–प्राणियों के प्राण अलग होने मात्र से हिंसा का बंध नहीं होता, जैसे कि ईर्या समिति वाले मुनि के गमन करते समय पाँव के नीचे यदि कोई जीव आ जाये और पाँव के संयोग से वह मर जावे तो वहाँ उस मुनि के उस जीव की मृत्यु के निमित्त से जरा सा भी बन्ध नहीं होता, क्योंकि उनके भाव में प्रमादयोग नहीं है। यही बात आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार कही है–

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 43

कषाय रूप से परिणमित मन-वचन-काय के योग से द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के प्राणों का व्यपरोपण करना अर्थात् घात करना निश्चय से भली-भाँति निश्चित की गई हिंसा है। आगे आचार्य बताते हैं कि हिंसा और अहिंसा का निश्चय से क्या लक्षण है–

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 44

निश्चय से रागादि भावों का प्रकट न होना ही अहिंसा है और उन रागादि भावों का उत्पन्न होना ही हिंसा है। ऐसा सिद्धान्त का सार है। दूसरे शब्दों में आत्मा के शुद्धोपयोगरूप परिणाम का घात करने वाला भाव ही सम्पूर्ण हिंसा है। असत्य वचन आदि पापों के पाँच भेद मात्र शिष्यों को समझाने के लिए उदाहरण रूप कहे हैं। वास्तव में जैनशास्त्रों का यह अल्प शब्दों में रहस्य

है कि रागादि भावों की उत्पत्ति न होना, अहिंसा है और रागादि भावों की उत्पत्ति होना सो हिंसा है। इस प्रकार हिंसा के लक्षण में मन की दुष्प्रवृत्ति पर अधिक बल दिया गया है, क्योंकि अन्तस् की कलुषता ही हिंसा को जन्म देती है।

अहिंसा में प्राणिमात्र के कल्याण की भावना निहित है—अन्य धर्म व संस्कृति अहिंसा का घोष करती हुयीं भी हिंसात्मक कार्यों में अनेक माध्यमों से प्रवृत्त होते हुए देखी जा सकती हैं। किन्तु जैन संस्कृति अपनी कथनी व करनी एक रखने का प्रयत्न करती है। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने समय की गतिविधि को देखते हुए अनेक वैदिक अनुष्ठानों व हिंसात्मक कार्यों का विरोध किया है। यह विरोध जैनधर्म में आविर्भूत दया की भावना का ही प्रतिफल है।

कोई भी व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में अकस्मात् परिवर्तन लाकर अहिंसा को उत्पन्न नहीं कर सकता। अहिंसा की उत्पत्ति तो आत्मा में परिवर्तन होने के साथ होती है। आत्मा के परिवर्तन होने का अर्थ है, उसे पहिचान लेना। यह परिचय ही निज को जानना है, सारे विश्व को जानना है। जब व्यक्ति इस अवस्था पर पहुँच जाता है तो सब विश्व के जीवों के दु:ख का स्पन्दन उसकी आत्मा में ही होने लगता है। यह करुणामय स्पन्दन होते ही हिंसा स्वयं तिरोहित हो जाती है। उसे हटाने के लिए कोई पृथक योजना नहीं बनानी पड़ती। इस प्रकार अहिंसा में मुख्य रूप से प्राणियों के कल्याण की भावना निहित होती है।

हिंसा के भेद

हिंसा के सामान्य रूप से दो भेद है। स्वभावहिंसादि के रूप में इनके भी दो दो भेद होते हैं।

(1) भाव हिंसा(2) द्रव्य हिंसा

(अ) स्वभाव हिंसा(ब) परभाव हिंसा (स) स्वद्रव्य हिंसा (र) परद्रव्य हिंसा

(1) भावहिंसा—यह भी दो प्रकार की होती है—(अ) *स्वभाव हिंसा*—जब आत्मा क्रोधादि दुर्भावों से परिपूर्ण होता है, तब वह चाहे दूसरे जीवों की हिंसा करे या न करे, यह पृथक बात है, किन्तु उस समय अपने शान्त स्वरूप, आनन्द एवं ज्ञानादि गुणों का घात कर ही डालता है। यही स्वभाव हिंसा कहलाती है। (ब) *परभाव हिंसा*—जब आत्मा क्रोधादि कषायों के अन्तर्गत होकर किसी के हृदय को आघात पहुँचाने वाले मर्मभेदी वचन कहता है, या कहलाता है, तब यह परभाव हिंसा कहलाती है।

(2) द्रव्यहिंसा—यह भी दो प्रकार की होती है। (अ) *स्वद्रव्य हिंसा*—जब जीव दुर्भाव के वश होकर स्वयं के शरीर आदि वाह्य प्राणों का घात कर डालता है, अर्थात् आत्म हत्या करता है, तब वह स्वद्रव्य हिंसा कहलाती है। (ब) *परद्रव्य हिंसा*—जब जीव दुर्भाव के वश होकर दूसरे के वाह्य प्राणों का घात करता है तब वह परद्रव्य हिंसा कहलाती है। इस प्रकार पर-भाव या

पर-द्रव्य हिंसा का मूल कारण स्वभाव हिंसा ही है; अर्थात् अपने आत्मा से दुर्भाव पैदा हो जाने पर या असावधानी से जब दूसरों के भावप्राणों का या द्रव्यप्राणों का नाश किया जायेगा तब ही ये कार्य हिंसा कहला सकते हैं। हमारे भाव राग-द्वेष, क्रोधादि विचारों से रहित हैं और हम दूसरों की रक्षा व हित का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए सावधानी से कार्य कर रहे हैं ऐसी स्थिति में हमारे द्वारा किसी के प्राणों के वियोग हो जाने पर भी या पीड़ित हो जाने पर भी हमें हिंसा का दोष नहीं लग सकता। एतदर्थ निम्न दृष्टान्त दृष्टव्य है–

किसान और धीवर

एक किसान खेत जोत रहा है और खेत जोतने से बहुत से जीवों का घात हो रहा है। किसान केवल अन्न पैदा करना चाहता है, उसकी दृष्टि अन्न पैदा करने पर है, जीवों को वह नहीं मारना चाहता। दूसरी ओर एक मछुआरा पानी में जाल डाले बैठा है। सुबह से शाम हो जाती है, कोई मछली जाल में नही फँसती है। किन्तु मछुआरे की दृष्टि हिंसा पर है। इस प्रकार दोनों के भावों में बहुत अन्तर है। किसान के भाव हिंसा के नहीं है वह यदि सावधानी से खेत जोत रहा है तो जीवों के द्रव्यप्राणों का वियोग हो जाने पर भी उसे हिंसा का दोष नहीं लगता। दूसरी और मछुआरे के भाव हिंसामय है। मछली के जाल में न आने पर भी मछुआरा निरन्तर भाव हिंसा कर रहा है पापबन्ध कर रहा है। इस प्रकार हिंसा में भावों की प्रधानता है, न की वाह्य दृष्टिगोचर क्रिया की।

श्रावक की अपेक्षा हिंसा के भेद

मुनिराज उपर्युक्त सब प्रकार की हिंसा के त्यागी होते हैं। परन्तु श्रावक सब प्रकार की हिंसा के त्यागी नहीं हो सकते हैं। हिंसा निम्न चार प्रकार की होती है–

1. **आरंभी हिंसा**–गृहस्थों को अपना गृहस्थ धर्म चलाने के लिए आरम्भ में जो हिंसा होती है, उसे आरम्भिक हिंसा कहते हैं। इस हिंसा से गृहस्थ बच नहीं सकता। किन्तु आरम्भ करते समय बहुत विवेकपूर्ण कार्य करना चाहिए, असावधानीवश कार्य नहीं करना चाहिए।
2. **उद्योगी हिंसा**–गृहस्थ के आजीविका उपार्जन करते समय जो हिंसा हो जाती है, उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं। जिसमें अधिक उद्योगी हिंसा होती हो वह कार्य गृहस्थों को नहीं करना चाहिए।
3. **विरोधी हिंसा**–अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए, अपने धर्म की रक्षा करने के लिए, अपने परिवार की रक्षा करने के लिए, विरोधियों से लड़ाई-झगड़ों में जो हिंसा होती है, उसे विरोधी हिंसा कहते हैं।

4. **संकल्पी हिंसा**–घात लगाकर, संकल्प करके जब दूसरे के या अपने (आत्महत्या) प्राणों का वियोग किया जाता है, उसे संकल्पी हिंसा कहते हैं। इस हिंसा का गृहस्थ पूर्ण रूप से त्याग कर सकता है। पं. दौलतराम जी कहते हैं कि–

रागादि भावहिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत।
जे क्रिया तिन्हें जानहुँ कुधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म।।

(छहढाला 2)

जिन कार्यों के करने में राग-द्वेष पैदा होता हो जिसमें नियम से त्रस और स्थावरों की हिंसा करनी पड़ती हो उन्हें कुधर्म कहते हैं, ऐसे कुधर्म को धर्म मानने वाला जीव दु:ख पाता है।

इस प्रकार जो लोग बिना सोचे-समझे जैनधर्म की अहिंसा को अव्यवहारिक कहते हैं, आशा है उनका भ्रम निवारण निम्न कथन से हो जायेगा–

जैनधर्म के ऐतिहासिक कथानक ग्रंथों में जैन गृहस्थों और जैन साधुओं की सैकड़ों वीरतापूर्वक अहिंसा पालन संबंधी गौरव गाथाएँ भरी पड़ी हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार उन जैन गृहस्थों व साधुओं ने अपने-अपने पदों के अनुरूप अहिंसा धर्म का गरिमापूर्ण पालन करते हुए धीरता-वीरता और गम्भीरता का परिचय दिया था। इतिहास का उज्ज्वल रत्न मौर्य समाज शिरोमणि चन्द्रगुप्त सम्राट, खारवेल और प्रतापी भामाशाह जैसे वीरों ने गृहस्थ के योग्य अहिंसा धर्म का पालन करते हुए भी धीरता से आतताइयों से अपने देश, धर्म और समाज आदि की रक्षा करने में सदा ही प्रशंसनीय वीरता का परिचय दिया था। जो लोग भारतीय अहिंसा को भारत की पराधीनता का कारण कहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे जरा भारतीय इतिहास के अवलोकन का कार्यभार स्वीकार करें, जिससे उन्हें ज्ञात हो जायेगा कि जिस समय भारत पराधीन बना, उस समय बारहवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक भारतीय नरेशों ने लगातार विदेशी आक्रमणकारियों का वीरता के साथ मुकाबला किया और उन्हें पराजित करते हुए देश की पूर्णरूप से रक्षा की, किन्तु अन्त में राजाओं की आपसी फूट, स्वार्थपरता व बिखरी शक्ति के कारण ही भारत पराधीन बना।

एक बार ग्वालियर की महारानी ने आचार्य विद्यानन्द जी से एक प्रश्न पूछा कि–"मुझे जैनों की सब बातें समझ में आती हैं, किन्तु यह अहिंसा समझ में नहीं आती, यह है क्या," तब उन्होंने उत्तर दिया–"दुनिया में सब कार्य अहिंसा के लिए ही हैं, हिंसा के लिए कुछ दिखता ही नहीं। चौराहे पर लालबत्ती है–वह अहिंसा के लिए है, वह कहती है आगे बढ़ने पर आपकी हिंसा हो जायेगी, आप रुक जाइये। यातायात पुलिस भी अहिंसा के लिए तत्पर है कि कहीं दो गाड़ियाँ आपस में टकरा न जाएँ, मजिस्ट्रेट अहिंसा के लिए, पुलिस अहिंसा के लिए, डॉक्टर की

चीरा-फाड़ी भी अहिंसा के लिए है, सब बचाने के लिए हैं, रक्षा करने के लिए हैं। कोई भी कार्य हिंसा के लिऐ नहीं है। अहिंसा के बल पर ही दुनिया बची हुयी है।"

अहिंसा में बहुत बल होता है, यह बात सरलता से समझ में नहीं आती, किन्तु जो अहिंसा को अपने जीवन में प्रयोग करते हैं। जो कार्य पूरे देश में नागरिक मिलकर सैंकड़ों वर्षों में नहीं कर सकते वह कार्य केवल एक व्यक्ति कुछ वर्षों में कर सकता है। इसका जीता-जागता उदाहरण महात्मा गाँधी हैं। सम्पूर्ण विश्व जानता है कि गाँधी जी की शक्ति का आधार अहिंसा ही था जिसके बल पर भारत स्वन्तत्र हुआ था। शक्ति हिंसा में नहीं है अहिंसा में है। यह निम्न दृष्टान्त से भी स्पष्ट हो जाता है।

ससम्मान बरी

किसी जैन भाई को झूठे हत्या के आरोप में फाँसी लगने का दिन आया तो उससे पूछा जाता है कि भाई तुम्हें कुछ चाहिए तो हमें बता दो, अर्थात् तुम्हारी अन्तिम इच्छा क्या है? वह कैदी कहता है-"मुझे एक गिलास पानी पीने को चाहिए और वह भी छना हुआ"। यह बात जज को पता लगती है, तो जज साहब पूछते हैं कि छना हुआ जल क्यों माँगता है? तब वह कैदी कहता है कि पानी में बहुत छोटे-छोटे जीव होते हैं। उनकी रक्षा हेतु मैं जल छानकर पीता हूँ। जज साहब विचार करने लगे कि जब यह छोटे-छोटे प्राणी की रक्षा करता है तो इसने मनुष्य की हत्या नहीं की होगी। जज यह निर्णय करते हुए जैन भाई को ससम्मान बरी कर देते हैं। इस प्रकार वह छना हुआ पानी माँगने से बरी हो जाता है। इसने अपने जीवन में अहिंसा को स्थान दिया। वह बच जाता है। एक दिन महात्मा गाँधी जी ने कहा था-"मैं जैनकुल में जन्म लेने वाले को ही जैनी नहीं मानता अपितु मेरी दृष्टि में अहिंसा का पालन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति जैन है। धर्म-जाति व प्रान्त में जन्म लेने मात्र से जैन नहीं वरन् जो अहिंसा को जीवन मे उतार लेता है वही जैन कहलाता है।

अहिंसा विशाल है, समस्त कार्य अहिंसा के लिए है, सीमा पर सेना खड़ी है वह भी हिंसा के लिए नहीं अपितु हमारी रक्षा के लिए खड़ी है, शरीर पर त्वचा इसलिए है कि मक्खी-मच्छर से भीतर बहने वाले रक्त की सुरक्षा हो सके, आँखों को धूलिकण से बचाने के लिए पलकों पर छोटे-छोटे बाल लगे हैं, वह भी हमारी रक्षा के लिए ही लगे हैं। इस प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु हमारी रक्षा के लिए ही है, इस बात को गंभीरता से सोचना होगा।

अहिंसा समस्त व्रतों की मूल है-अहिंसा समस्त अणुव्रतों व महाव्रतों की मूल है। सभी व्रतों में अहिंसा ही प्रधान है। इसलिए अहिंसा की स्थिरता के लिए आचार्य उमास्वामी जी कहते हैं-

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च॥

— तत्वार्थसूत्र-अ. 7/4

वचनगुप्ति (वचन का रोकना), मनगुप्ति (मन की प्रवृत्ति को रोकना) ईर्यासमिति (चार हाथ जमीन देखकर चलना), आदाननिक्षेपण समिति (जीव रहित भूमि देखकर सावधानी से किसी वस्तु को उठाना-धरना), और आलोकितपानभोजन (शोधकर-देखकर भोजन-पानी ग्रहण करना)—ये पाँच अहिंसा व्रत की भावनाएँ मानी गयी हैं।

वास्तव में अहिंसा के केन्द्र बिन्दु पर करुणा और आनन्द ही उत्पन्न होता है। जितनी अहिंसा भीतर फलित होती है उतनी आनन्द की सुगंध चारों ओर फैलने लगती है और व्यक्ति आनन्द से भर जाता है। उसका सारा आचरण दयामय बन जाता है, अन्तस् में अहिंसा प्रकट हो तो आचरण में दया, करुणा प्रकट होने लगती है। अहिंसा का दीपक जलता है तो करुणा की किरणें सारे जगत् में फैलने लगती हैं, और जब भीतर हिंसा की घटा छाती है तो सारे संसार में अन्धकार फैलता है, घृणा और वैमनस्य फैलता है। जीवों को मारना ही नहीं, बल्कि उनको दु:ख देना, कष्ट पहुँचाना भी हिंसा का एक प्रकार है। इसलिए आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि—

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधा:॥

— तत्वार्थसूत्र-अ. 7/25

बन्ध—प्राणियों को इच्छित स्थान में जाने से रोकना;

वध—प्राणियों को लकड़ी इत्यादि से मारना;

छेद—प्राणियों के नाक-कान आदि अंग छेदना;

अतिभारारोपण—प्राणी के उपर शक्ति से अधिक भार लादना;

अन्नपाननिरोध—अपने आधीन प्राणियों को ठीक समय पर खाना-पीना न देना। ये अहिंसाणु व्रत के पाँच अतिचार हैं। इस प्रकार ये सब अहिंसा के दोष हैं। इनसे अहिंसा पालक को बचना चाहिए।

यदि कोई व्यक्ति दयाहीन है तो वह हिंसक से कम नहीं है। दया ही अहिंसा का मूल है अर्थात् जड़ है। दयाहीन पुरुष की क्या-क्या दुर्गति नहीं होती तथा वह क्या-क्या दु:ख नहीं भोगता, यह निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है—

दयाहीन सेठ

एक नगर में एक सेठ जी रहते थे। उनके पाँच वर्ष का एक लड़का था। सेठ जी व्यापार करने के लिए बाहर चले जाते हैं और बारह वर्षों तक घर नहीं आते। इतने लम्बे अन्तराल के

बाद उन्हें लड़के का मोह सताता है। सेठ जी मिलने के लिए घर आने का मन बनाते हैं। लौटते हुए किसी शहर की धर्मशाला में ठहर जाते हैं। उधर लड़का भी बड़ा और समझदार हो जाता है। वह भी अपने पिताजी को खोजने निकल पड़ता है। दैवयोग से वह भी उसी धर्मशाला में ठहर जाता है जिसमें उसके पिता जी ठहरे हुए हैं। होनहार बलवान होती है। रात को लड़के के पेट में तेज दर्द होता है। लड़का चिल्लाने लगता है। सेठ जी की नींद खराब हो जाती है, क्रोध में ऊपर से आवाज देते है- कौन कुतिया का पिल्ला रो रहा है, मैनेजर को बुला कर उसे कुछ रुपये दे दिये और कहते हैं कि इसे धर्मशाला से बाहर निकाल कर फैंक दो। मैनेजर ने लोभ में आकर सर्दियों की आधी रात के समय उस लड़के को सड़क पर डलवा दिया। बाहर भयंकर सर्दी थी। लड़के ने रात को ही प्राण दे दिये। सेठ सुबह उठकर घर पहुँचते हैं। लड़के को आवाज लगाते हैं, लड़के की माता जी आती हैं। हालचाल पूछा जाता है, फिर सेठ जी पूछते हैं लड़का कहाँ है, सेठानी ने कहा, लड़का तो आपको खोजने गया हुआ है। सेठ जी तुरंत वापिस हो जाते हैं। लड़के को खोजते-खोजते उसी धर्मशाला में पहुँच जाते हैं जहाँ वे स्वयं ठहरे थे। पता करते हैं कि क्या कोई लड़का रात यहाँ ठहरा था? मैनेजर कहता है कि-''हाँ एक लड़का ठहरा था, किन्तु उसे आपने पैसे देकर बाहर डलवाया था वही एक लड़का ठहरा था, वह तो उसी रात ठंड से मर गया। तब सेठ जी पता करते हैं कि वह लड़का कौन था। पता लगता कि यह लड़का तो स्वयं उनका प्यारा मुन्ना था। सेठ जी बिलख जाते हैं। अपना सिर पीटने लग जाते हैं, विक्षिप्त हो जाते हैं, किन्तु अब क्या हो, तो भैया देख लो, समझ लो अगर सेठ जी में दया होती तो उसे ये दिन देखने को नहीं मिलते। इसलिए दिल में हमेशा दया रखनी चाहिए। जहाँ दया होगी वहाँ अहिंसा का वास होगा।

अहिंसा प्रत्येक धर्म में है। कृष्ण जी गायों को पालते थे। वे बड़ी रक्षा करते थे उनकी। आजकल गायों का युवावस्था में तो दूध पीते हैं, किन्तु बुढ़ापे में कसाई को बेच देते हैं। यह भी हिंसा ही तो है।

इसी प्रकार मुलायम चमड़ा प्राप्त करने के लिए पहले पशुओं के छोटे बच्चो को गर्म पानी में खोलाया जाता है। फिर उनको निकाल कर पीटा जाता है। फिर उनका मुलायम चमड़ा उतार लिया जाता है। जिससे अनेक प्रकार के वस्त्र, जूते, बैल्ट आदि बनाये जाते हैं। उन्हें पहन कर शान से चलने वालो, जरा सोचो। क्या तुम महावीर भगवान् के अनुयायी कहलाने लायक हो, अपने नाम के आगे जैन लिखना भी तुम्हारे लिए पाप है। महावीर का संदेश शायद तुम्हें मालूम नहीं है, ''**जियो और जीने दो**'' यही तो कहा था उन्होंने। ये ही तो अहिंसा में गर्भित है।

शास्त्रों में कितने ही उदाहरण आते हैं अहिंसा पालन के। अहिंसा पालन मृगसैन धीवर ने किया। उसने मछली खाना छोड़ने का नियम पालते हुए शुभगति को प्राप्त किया। यमपाल

चण्डाल ने चतुर्दशी के दिन "फाँसी नहीं देना अर्थात् जीव हिंसा त्याग' का नियम पालन किया और अन्त समय में स्वर्ग को प्राप्त किया। इस प्रकार हिंसा का त्याग करना चाहिए और अहिंसा का जीवन पर्यंत पालन करना चाहिए। प्राण भी अगर जाते हों तो अहिंसा नहीं छोड़नी चाहिए। इस संदर्भ में दृष्टव्य है-

अहिंसक शेर

जयपुर के दीवान अमरचन्द बहुत दानी तथा परोपकारी तो थे ही साथ ही अहिंसा के पुजारी भी माने जाते थे। एक बार वहाँ के राजा ने इनकी अहिंसा की परीक्षा लेने की योजना बनाई। योजना के अनुसार वह दीवान जी से कहते हैं कि-"दीवान जी, मैं कुछ दिनों के लिए बाहर जा रहा हूँ, अतः मेरे इस पालतू शेर की देखभाल करने की जिममेदारी आपकी है। इसके खाने-पीने का ध्यान रखना।" दीवान साहब आना-कानी करते हैं पर राजा को तो जैनत्व की, अहिंसा की परीक्षा करनी थी। अतः उनकी एक न चलने दी और शेर के खाने-पीने की व्यवस्था उन पर छोड़कर चले गये।

दीवान जी, पूर्ण शाकाहारी, पूर्ण अहिंसक थे। वे शेर के सामने वही रखते हैं जो स्वयं खाते हैं, अर्थात् दूध और रोटी। माँस भक्षी शेर उस ओर देखता तक नहीं। अनेक प्रयत्न करने पर भी दीवान साहब सफल नहीं होते। दूसरे दिन फिर वही दूध-रोटियाँ लेकर सिंह के सामने पहुँचते हैं। सिंह दो दिन का भूखा था। उन्हें देख कर जोर से दहाड़ने लगा। आज भी दीवान जी का प्रयास व्यर्थ चला जाता है। शेर ने कुछ नहीं खाया। यह देख दीवान जी बहुत दुखी होते हैं। जानते हैं न तो शेर कुछ खा रहा, उधर राजा भी कुपित होंगे। राजा वापिस आने पर कहेंगे-तुमने मेरे शेर को भूखा मार डाला। दुःखी मन से रात को बिस्तर पर लेटे-लेटे सारी रात सोच-विचार में निकाल देते हैं आज तीसरा दिन हैं, उठते हैं और वही शाकाहारी भोजन लेकर पुनः शेर के पास पहुँच जाते हैं। आज शेर तीन दिन का भूखा था; और भूखे आदमी को शेर की उपमा दी जाती है अतः उसके सामने जाना भी खतरे से खाली नहीं होता। दीवान साहब शेर के पिंजड़े के पास जाते हैं और पिंजड़े का द्वार खोल देते हैं। दूध और रोटी लेकर पिंजरे के भीतर शेर के सामने पहुंच कर कहते हैं-"हे सिंह! यदि तुम्हें ये मेरा भोजन दूध और रोटी नहीं भाती तो तुम मेरा शरीर खाकर अपनी भूख शान्त कर लो।" इतना कहकर दीवान साहब उस शेर के सामने आँखें बन्द करके लेट जाते हैं और णमोकार मंत्र का जाप करने लगते हैं। बहुत देर हो जाती है, शेर दीवान जी को कुछ नहीं कहता। आँखें खोलकर देखते हैं शेर चुपचाप रोटियाँ ही खा रहा है।

इससे सिद्ध होता है? अहिंसा में अपूर्व शक्ति भरी है, इस अहिंसा के प्रभाव से तीन दिन

का भूखा खूँखार शेर भी अहिंसक बन जाता है। बाद में राजा दीवान की यह अहिंसा देख कर बहुत प्रभावित होते हैं और दीवान जी सम्बन्धित एक पूर्व की घटना में खो जाते हैं।

पूर्व की घटना–*एक बार राजा शिकार के लिए जंगल जाता है, साथ में दीवान जी को* भी उनकी इच्छा के विरुद्ध ले जाता है। जंगल में हिरणों का एक झुंड शिकारी राजा को देख कर भागने लगता है। तब साथ में दीवान जी यह दृश्य देखकर कहते हैं कि हे हिरणो! तुम सब रुक जाओ। यह सुनते ही हिरणों का झुंड रुक जाता है। राजा को बहुत आश्चर्य होता है, फिर वे इसका कारण पूछते हैं, दीवान जी कहते हैं कि–"जब रक्षक ही भक्षक बने तो फिर भागने से क्या लाभ, यह बात हिरणों के झुंड ने मेरी समझ ली, इसलिए झुंड रुक गया"। राजा यह सुनकर दीवान के पैरों में पड़ जाता है और फिर कभी शिकार न करने की प्रतिज्ञा कर लेता है।

विभिन्न धर्मों में अहिंसा

यह सर्वविदित तथ्य है कि अहिंसा संसार के सभी धर्मों में पायी जाती है, समानरूप से सभी धर्म हिंसा को त्याज्य मानते हैं। यह अलग बात है कि आज इन विभिन्न धर्मों में कुछ विकृतियाँ आ जाने के कारण अहिंसा का पालन कुछ सीमा तक दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु मूल में इनका आधार अहिंसा ही है। कुछ निम्न तथ्य संसार के मुख्य धर्मों के सन्दर्भ दृष्टव्य हैं–

1. **हिन्दू धर्म में**–हिन्दू धर्म सर्वत्र अहिंसा धर्म की प्रशंसा की गयी है। माँस न खाने के बहुत लाभ बताये गये हैं। महाभारत में युधिष्ठिर कहते हैं कि–

इमे वै मानवः लोके नृशंसा माँसगृद्धिनः।
विसृज्य विविधान् भक्ष्यान् महारक्षोगण इव॥

(महाभारत-अनुशासन पर्व-अ. 116/1)

युधिष्ठिर कहते हैं–पितामह! बड़े खेद की बात है कि संसार के ये निर्दयी मनुष्य अच्छे-अच्छे खाद्य पदार्थों का परित्याग करके निर्दयी राक्षसों के समान माँस का भक्षण करना चाहते हैं।

युधिष्ठिर आगे कहते हैं कि–

अपूपान् विविधाकाराञ्शाकानि विविधानि च।
खाण्डवान् रसयोगात्र तथेच्छन्ति यथाऽऽमिषम्॥

(महाभारत-अनुशासन पर्व-अ 116/2)

मांसाहारी भाँति-भाँति के मालपूओं, नाना प्रकार के शाकों तथा रसीली मिठाईयों की भी वैसी इच्छा नहीं रखते, जैसी रुचि माँस के लिए रखते हैं।

उपर्युक्त दो श्लोकों में माँस खाने वालों को निर्दयी राक्षस से कम नहीं कहा गया है, अत: दूसरे शब्दों में अहिंसा की प्रशंसा ही की गयी है।

अहिंसा को परमधर्म बताते हुए कहते हैं कि-

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः।।

महाभारत-अनुशासन पर्व, अ. 116

अहिंसा परमधर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है, और अहिंसा ही परम तपस्या है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दूधर्म में अहिंसा पर पर्याप्त जोर दिया जाता है।

अहिंसा का मूल दया है और दया के सन्दर्भ में महाभारत का निम्न श्लोक ध्यातव्य है-

सर्व वेदान्त तत्कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च यत्कुलानि प्राणिणांदया।।

महाभारत शान्ति पथ-प्रथम पाठ,

हे अर्जुन! जो फल प्राणियों पर दया करने से प्राप्त होता है, वह फल न तो वेद से और न समस्त यज्ञों को करने से, और न किसी तीर्थ वन्दना अथवा स्नान से ही प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दूधर्म में अहिंसा, दया ही प्रधान है, यहाँ पर अहिंसा का पर्याप्त पालन होता है।

2. **इस्लामधर्म में**-''विस्मिल्लाह हिर मान निर रहीम''-इस प्रकार इनके मुख्य ग्रंथ ''कुरान शरीफ' के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुए खुदा का विशेषण ''रहीम'' अर्थात् सब पर रहम करने वाला लिखा है और बाद में सब जीवात्माओं पर रहम का उपदेश दिया है। गहराई से यदि देखा जाये तो इस्लामधर्म में भी अहिंसा का पर्याप्त पालन करने का उपदेश दिया जाता है। इस तथ्य के पक्ष में निम्न दो दृष्टान्त उल्लेखनीय हैं।

हज यहीं

एक फकीर हज करने के लिए काबा की यात्रा को जाता है। रास्ते में उसे एक घायल कुत्ता मिलता है। कुत्ता पीड़ा से चिल्ला रहा है। उस पर मोटर गाड़ी ने जोर से टक्कर मार दी थी। फकीर ने विचार किया कि कुत्ता तो गन्दा होता है अत: इसको हाथ नहीं लगाना चाहिए। किन्तु अंतरंग में उसका रहम उमड़ रहा था। अत: फकीर कुत्ते को उठाता है और एक कुएँ के पास

ले जाता है। कुआँ वीरान पड़ा हुआ था। वहाँ कोई लोटा, डोल, रस्सी आदि नहीं रखी थी। फकीर ने विचार किया कि अब क्या करें, थोड़ी देर मे ही निर्णय लेता है और तुरन्त एक बड़े से पत्ते का दौना बना लेता है। इस दौने पर अपने शरीर के कपड़े (धोती-दुपट्टा हज को जाते हुए पहनते हैं तथा एक रूमाल भी अपने पास रखते हैं) बाँधता है और पानी तक पहुंचा देता है। पानी भरकर पुन: खींचता है और घायल कुत्ते को पिला देता है। कुत्ते को कुछ होश आता है तो फकीर उसे उठाकर पास की एक मस्जिद में ले जाता है और वहाँ के मुल्ला से कहता है कि-"आप मेरे इस कुत्ते की रक्षा करना। मैं काबा हज यात्रा को जा रहा हूँ, आकर ले लूँगा"। रात्रि में ही फकीर को आकाशवाणी होती है कि "तुम्हें काबा जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुमने मेरे बन्दे की रक्षा की है, तुम्हारी हज यहीं हो चुकी है।"

उपर्युक्त दृष्टान्त से यह बात सिद्ध हो जाती है कि मुस्लिम फकीरों में पर्याप्त अहिंसा, दया होती है।

शिकारी में दया जागी

मुहम्मद साहब वन से गुजर रहे थे, रास्ते में उनको एक शिकारी मिलता है। उसने एक हिरणी को पकड़ रखा था। मुहम्मद साहब उस शिकारी को देखकर कहते हैं कि, तुम इस हिरणी को छोड़ दो। इसके बच्चे भूख से तड़फ रहे होंगे। ये उन्हें दूध पिला आयेगी। शिकारी हिरणी को छोड़ने को तैयार नहीं होता है और कहता है कि-"ये मेरा आहार है, मैं इसे कैसे छोड़ दूँ? मुहम्मद साहब को हिरणी पर बहुत दया आती है, अत: वे पुन: कहते हैं कि-"तुम इसे मेरी जमानत पर छोड़ दो अर्थात् मैं इस हिरणी का साक्षी बनता हूँ। यदि यह न आई तो तुम मेरा शिकार कर लेना।" अब शिकारी इस शर्त पर हिरणी को छोड़ देता है। हिरणी बच्चों को दूध पिलाने जाती है। बच्चे भूख से मारे व्याकुल हो रहे थे। तब हिरणी कहती है-"बच्चों जल्दी करो-दूध जल्दी पीकर मुझे छुट्टी दे दो, मुझे जल्दी जाना है। नहीं तो जिसने मेरा साक्षी बनकर तुम्हें दूध पिलाने के लिए भेजा है, समय पर नहीं पहुंचने के कारण शिकारी उस व्यक्ति को मार डालेगा।" हिरणी के बच्चे दूध पीने से मना कर देते हैं। कहते हैं-"माँ! तुम्हारी तो जान जा रही है, और हम दूध पीयें, जाओ जल्दी करो, अपने वचन के अनुसार उस को छुड़ालो। हिरणी वचन के अनुसार तत्काल वहाँ पहुंच जाती है। शिकारी यह देखकर हैरान हो जाता है और सोचता है कि क्या पशु भी वचन के सच्चे होते हैं, मुहम्मद साहब शिकारी से कहते हैं कि-"लो तुम्हारी हिरणी वापस आ गयी, इसे सम्हालो।" यह सब दृश्य देखकर शिकारी कहता है कि-"जब पशु भी अपने वचन के इतने पक्के होते हैं तो मैं तो एक इन्सान हूँ, इसे मैं क्यों अपने पेट की कब्र बनाऊँ, बेरहम, बेवफा शिकारी के मन में अहिंसा जाग्रत हो जाती है और वह कहता है कि मैं आज से शिकार करने का और माँस खाने का त्याग करता हूँ। मैं इससे

तोबा करता हूँ और वह दानव से मानव बन जाता है। हिरणी पुन: अपने बच्चों को दूध पिलाने के लिए चली जाती है।

यह बात जानने योग्य है कि जब मुसलमान लोग हज को जाते हैं तो अपने साथ एक रूमाल भी ले जाते हैं, कहीं कोई मक्खी आदि न मर जाए, उसको रूमाल से हटाते हैं। साथ ही अपने साथ पशु-पक्षी के लिए अनाज भी ले जाते हैं। रास्ते में यदि कोई जीव मर जाये तो ऐसा समझते हैं कि हज मंजूर नहीं हुई।

3. **सिक्खधर्म में**–गुरुनानक देव ने कहा था कि–माँस राक्षसों का भोजन है। वे लिखते हैं कि–

सब राक्षस को नाम जपायो, अमिष खान तिन्हें तजवायो।
नीम घातकी बान बिसाही, सत्संग करे है सुखारी।।

सब राक्षस जैसे क्रूर पुरुषों को प्रभु का नाम जपाया, उससे उन्होंने माँस खाने की आदत छोड़ दी और उन राक्षस पुरुषों ने जीवों का वध करने की भी आदत छोड़ दी। सच कहा है-महात्माओं की संगति सुख देने वाली होती है।

आगे गुरुनानक कहते हैं कि-माँसाहारी के हाथ का खाने-पीने में भी दोष है। कहते हैं कि–

यो नहीं तुमको खाये कदापि, हो सबके संतापी,
प्रथम तजो अमिष का खाना, करो जास हित जीवन
तजो तामसी वृत्ति दु:खारी, करो भकति करतार तुम्हारी।

हम तुम्हारे यहाँ कदापि भोजन नहीं करेंगे, क्योंकि तुम सब जीवों को दु:ख देने वाले हो। सबसे पहले तुम माँस खाना छोड़ो, जिस कारण तुम्हारा जीवन नष्ट हो रहा है। दु:ख देने वाली तामसी प्रवृत्ति को छोड़कर सुखकारी प्रभु की भक्ति में लग जाओ।

4. **ईसाईधर्म में**–ईसाईयों की धर्म पुस्तक "बाइबिल" में ऐसा लिखा है कि–सबसे बड़ा धर्म–"नो शॉट-नो किल" किसी भी प्राणी की हत्या मत करो।

इस प्रकार ईसाईधर्म में भी अहिंसा को ही प्रभुखता दी गयी है।

5. **आर्यसमाज में**–महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि माँस का प्रचार करने वाले सब राक्षस के समान हैं। वेदों में माँस का कहीं भी उल्लेख नहीं है। शराबी और माँसाहारी के हाथ का खाने-पीने, में भी शराब-माँस आदि का दोष लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार के विभिन्न मतों में अहिंसा का पर्याप्त अवस्था में पालन होता है।

सुख-शान्ति विज्ञान से नहीं अहिंसा से ही संभव है–आज के इस वैज्ञानिक युग में प्रत्येक व्यक्ति एक ही प्रश्न से आन्दोलित है कि–"विज्ञान वरदान है या अभिशाप", आज मनुष्य भौतिकता के शिखर पर खड़ा है, किन्तु साथ ही आत्म पतन की खाई में भी पड़ा हुआ है। मानव आज एक भयंकर स्थिति से गुजर रहा है। वह भय से आक्रान्त है कि न जाने कल मेरा हश्र क्या होगा, विज्ञान ने जितनी सुविधाएँ मनुष्य को प्रदान की हैं, वे सब शरीर और मन तक ही सीमित हैं। इससे आत्मा बलिष्ट नहीं हो सकती, तृप्त नहीं हो सकती। महावीर भगवान का युग आत्मतृप्ति का युग था। उस समय केवल एक ही योजना थी कि सच्चा मनुष्य कैसे बना जाऐ, विज्ञान की भी योजनाएँ हैं और इन योजनाओं के अनुसार बड़े-बड़े बाँध बनते हैं, धरती की सिंचाई करने के लिए नहरें बनती हैं, ताकि मरुस्थल भी हरे-भरे खेतों से, फसलों से लहलहा उठें। बड़े-बड़े कारखाने बनते हैं, जिससे देश में अधिक वस्त्र आदि तैयार हो सकें। यह सब उन्नति अच्छी है, बहुत अच्छी है, किन्तु यह सब जिसके लिए बनाते हैं, वह मनुष्य है कहां, मनुष्य को आदर्श मनुष्य कौन बनाएगा? माना आपने बहुत अच्छा उद्यान लगा लिया, कोठी-बँगला बना लिया, बगीचे में फूल भी खिल उठे, वृक्ष भी झूम उठे, पक्षी चहचहा उठे, मखमल जैसी घास पर चांदी जैसे फब्वारे के पास एक मेज भी लगा ली। इस पर भाँति-भाँति के खाने सजा दिये गये, परन्तु जिसके लिए यह सब किया गया वह है कहाँ, यदि वह कहीं हिंसा रूपी गन्दगी में पड़ा हुआ है, उसके बालों में बदबूदार कीचड़ भरा हुआ है, यदि वह चोट के कारण खड़ा नहीं हो पाता, बैठ नहीं पाता, मुख खोल नहीं पाता, यदि उसकी भूख समाप्त हो गयी है तो यह सब ऐशो-आराम किसके लिए।

यदि मानव ही मानव न बना तो इस कला-कौशल निर्माण और उन्नति का क्या करोगे? आज अमेरिका, रूस आदि हमें धन देते हैं कि अपने देश में नई-नई योजनाएँ बनाओ, आगे बढ़ो। दोनों देश धन औरों को भी देते हैं। साथ ही साथ हाइड्रोजन बम और न्युक्लियर बम भी बनाते हैं जिसके प्रयोग से एक ही क्षण में यह सब कुछ समाप्त हो जायेगा। यह उपहासास्पद नहीं तो और क्या है? यह मनुष्य की सहायता नहीं, वरन् बली के बकरे पालना है। आज इस संसार में महल बनाये जाते हैं, बाजार सँवारे जाते हैं, नये-नये नगर बसाये जाते हैं परन्तु मनुष्य बिगाड़े जाते हैं।

पिछले दो महायुद्धों में करोड़ों मनुष्यों की हत्याएँ हुई हैं। आज भी सामूहिक हत्याएँ किसी न किसी रूप में हो रही हैं।

वर्तमान युग में कुछ देशों ने इतने अधिक घातक हथियार संग्रहीत कर लिए हैं कि यदि उनका प्रयोग किया जाये तो मारने के लिए मनुष्य ही नहीं बचेंगे। आज पूरे विश्व में मानव की जनसंख्या लगभग छह अरब है और मारने की क्षमता इस संख्या से कई गुना अधिक है। इतना

प्रबन्ध मानव ने अपनी हत्या का कर रखा है। न केवल मानव अपितु सारे कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों और सूक्ष्म जीवों का भी अस्तित्व नहीं बच पायेगा।

इन खतरनाक हथियारों का अनुमान आप हाइड्रोजन बम की मारक शक्ति से लगा सकते हैं। एक हाइड्रोजन बम के विस्फोट से इतनी अधिक उष्मा पैदा होती है कि जहाँ जिस स्थान पर यह विस्फोट हो, वहाँ और उसके हजारों मील आस-पास सभी मनुष्य वनस्पति व जलराशि का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। विज्ञान के अनुसार सूर्य पृथ्वी से लगभग नौ करोड़ मील की दूरी पर स्थित है। लेकिन इतनी दूरी से भी वह हमें तपा देता है, आकुल-व्याकुल कर देता है। गर्मियों में तो हाल ही बुरा हो जाता है। सूर्य जैसी गर्मी एक इस हाइड्रोजन बम में है। गर्मियों में जरा सा सूर्य नीचे आता है तो मकानों आदि में आग लगनी प्रारम्भ हो जाती है, हवाई जहाजों में अग्निकाण्ड होने लगते हैं। सौ डिग्री ताप के बाद पानी भाप बन कर उड़ने लगता है, यदि उसमें अँगुली डालें तो खाल अँगुली से अलग हो जाये। जबकि सौ डिग्री कोई विशेष गर्मी नहीं है, सूर्य की गर्मी की अपेक्षा बहुत कम है। पन्द्रह सौ डिग्री पर लोहा पिघल जाता है, पच्चीस सौ डिग्री ताप पर लोहा भी भाप बन कर उड़ने लगता है। किन्तु यह ताप भी सूर्य के ताप से बहुत कम है। एक हाइड्रोजन बम में दस करोड़ डिग्री का ताप संग्रहीत रहता है जो चालीस हजार वर्ग मील तक अपना असर दिखाता है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटाइन से एक बार एक व्यक्ति ने प्रश्न किया कि-"विज्ञानाचार्य आप इतने बड़े वैज्ञानिक हैं, क्या यह बता सकते हैं कि आज जो संसार में इतने दुःख और अशान्ति है, उसे दूर करने का क्या उपाय है?" विज्ञानाचार्य कहते हैं कि-"हाँ है, और केवल एक ही उपाय है कि अच्छे मनुष्य उत्पन्न किये जायें"। आइन्सटाइन कोई साधारण वैज्ञानिक नहीं थे। उन्होंने यदि कहा कि श्रेष्ठ मनुष्य, अच्छे मनुष्य उत्पन्न करने से सुख और शान्ति उत्पन्न होगी तो क्यों कहा, यह क्यों नहीं कहा कि विज्ञान के अमुक आविष्कार से सुख होगा, अमुक आविष्कार से शान्ति होगी? केवल इसलिए कि विज्ञान के जितने भी आविष्कार हुए हैं, उससे मनुष्य को वास्तविक सुख नहीं मिला, कुछ आराम मिला अवश्य है, किन्तु वह भी क्षणिक ही है, स्थायी नहीं।

विज्ञान ने मनुष्य बनाना नहीं सिखाया। सिखाया होता तो ये लड़ाईयाँ, ये झगड़े और ये युद्ध नहीं होते। यह घृणा न होती, यह अशान्ति न होती।

वर्तमान परिस्थितियों का सामना केवल एक ही शक्ति कर सकती है और वह शक्ति है-"अहिंसा" जिसका भौतिकवाद से सम्बन्ध न होकर आध्यात्म से है। हमारे हाथ में हिंसा की शक्ति विज्ञान ने दी है, जबकि अहिंसा की शक्ति आध्यात्म ने दी है। जिन लोगों ने हाइड्रोजन बम व न्यूक्लियर बम बनाएँ हैं, उनसे पूछकर देखो कि उनके ये बमं क्या किसी निःसहाय के आँसू पोंछ सकते हैं? क्या वे सर्दी में ठिठुरते किसी निर्धन वृद्ध के लिए आश्रय बन सकते हैं,

क्या वे किसी भूखे की भूख मिटा सकते हैं? यदि नहीं तो अच्छा ही होता कि बम न बनाते। जो जीवन दे नहीं सकता उसे किसी का जीवन लेने का अधिकार नहीं है।

शान्ति की दिशा में अहिंसा ही हमें आध्यात्म की ओर ले जा सकती है। जो कार्य विज्ञान आज तक नहीं कर का, उसे प्राचीन काल से ही आध्यात्म योगी अहिंसा के माध्यम से करते आये हैं। इस प्रकार मनुष्य का भविष्य अहिंसा धर्म के ही हाथों में सुरक्षित है, भौतिक विज्ञान मनुष्य को शान्ति और स्थायी सुख नहीं प्रदान कर सकते अपितु मृत्यु के द्वार पर ले जाकर खड़ा कर सकते हैं। इसलिए अहिंसा को धारण करने के लिए हमें हिंसा से विरक्त होने की भावना भानी चाहिए। इस सन्दर्भ में आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि-

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्।

– तत्त्वार्थसूत्र-अ. 7/9

हिंसा आदि पाँच पापों से इस लोक में तथा परलोक में नाश की, अर्थात् दु:ख, आपत्ति, भय तथा निद्यं गति की प्राप्ति होती है–ऐसा बारम्बार चिन्तन करना चाहिए।

आचार्य आगे कहते हैं कि-

दु:खमेव वा।

– तत्त्वार्थसूत्र-अ. 7/10

ये हिंसादिक पाँच पाप दु:ख रूप ही हैं–ऐसा विचारना चाहिए। तभी हम अहिंसा को धारण कर सकते हैं।

अहिंसा निरोगता का कारण है–जो जीव हिंसा नहीं करते, अहिंसक हैं, वे अपना भोजन बहुत सादा रखते हैं, शुद्ध शाकाहार भोजन करते हैं। अत: वे अधिक आयु वाले व निरोगी होते हैं। भारत सरकार द्वारा प्रकाशित हैल्थ बुलेटिन नं. 23 के अनुसार माँसाहारी खाद्य पदार्थों की अपेक्षा शाकाहारी खाद्य पदार्थों में प्रोटीन आदि सभी पौष्टिक तत्त्व अधिक मात्रा में व सस्ते रूप में पाये जाते हैं।

अब तक इंग्लैंड, अमेरिका आदि में हुई नई वैज्ञानिक खोजों ने व रासायनिक परीक्षणों ने अब यह भली-भाँति सिद्ध कर दिया कि माँसाहार में निम्न आठ प्रकार के विष पाये जाते हैं–

(1) कोलोस्ट्रोल, (2) यूरिक ऐसिड, (3) यूरिया, (4) मर्करी, (5) डी.डी.टी., (6) पी. सी.बी., (7) डी.ई.एस., (8) एम.ए.जी.ए.।

इन विषों के कारण कई भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं–जैसे, दिल की बीमारी, हाई ब्लडप्रेशर, टी.बी., आँतों में कैंसर, हड्डियों का कमजोर होना, पेट में सड़न, गुर्दे में पथरी का

बनना, लीवर में खराबी, गठिया आदि। इस प्रकार शाकाहारी भोजन ही उत्तम है और शाकाहारी भोजन करना अहिंसक होने का प्रतीक है।

सत्य व्रत

"सत्यव्रत क्या है?" जैसा हुआ हो वैसा का वैसा ही कहना, सत्य का सामान्य लक्षण है, किन्तु आध्यात्म मार्ग में 'स्व' व 'पर' अहिंसा की प्रधानता होने से हित-मित-प्रिय वचन को सत्य कहा जाता है। आचार्य अमृतचन्द्र समयसार की टीका आत्मख्याति के प्रारम्भ में ही लिखते हैं कि–

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्व भावांतरच्छिदे।।1।।

समयसार के प्रारम्भ में "नमः समयसाराय" कहकर आचार्य ने शुद्ध आत्मा का सम्मान कर उसे नमस्कार किया है। उसी का नाम निश्चय सत्य है। मोक्षार्थी को शुद्ध आत्मा का सम्मान करना आना चाहिए।

यहाँ आचार्य यह समझाते हैं कि जिसे नमस्कार किया, जिसका आदर किया–वह शुद्ध आत्मा कैसी चित् स्वभावी वस्तु है। 'भाव' कहने से वह सत् वस्तु है, और चित् 'स्वभाव' कहने से चैतन्य उसका लक्षण है तथा स्वयं को स्वयं की स्वानुभूति से ही प्रकाशित करता है, जानता है, अनुभव करता है, वह उसकी क्रिया (पर्याय) है। इस प्रकार शुद्ध आत्मा के द्रव्य, गुण और पर्याय–इन तीनों को पहचान कर उसे नमस्कार किया गया। देखो भाई! जीव ने अनन्त बार चारों गतियों में जन्म धारण किये हैं। उन गतियों में देव और नारकी, राजा और रंक, चींटी और हाथी अनन्त बार हुआ है, किन्तु शुद्ध आत्मा का भान कभी एक क्षण भी नहीं किया है। परमात्म स्वरूप सत्य की महिमा वर्णनातीत है इसकी महिमा को शब्दों में वर्णन करना मानव की क्षमता से परे है।

सत्य अत्यन्त महान् है, अत्यन्त विशाल है, अत्यन्त व्यापक है। जो व्यक्त किया जा सकता है, किया जाता है, वह पूर्ण सत्य कभी नहीं होता है, वह मात्र आँशिक सत्य ही होता है। वास्तव में 'सत्य' एक अत्यन्त सुन्दर सुखद अनुभूति है। यह एक आत्मगत वस्तु है। विषय कषायों के उपशम के उपरान्त ही, सत्य का आत्मा में उदय होता है। शान्ति के सद्भाव में ही इसका शुभ आगमन होता है। सत्य की एक बहुत छोटी किरण मानव के समस्त जीवन को रूपान्तरित कर डालती है। अज्ञानान्धकार कितना भी प्राचीन क्यों न हो, सत्य के प्रकाश की एक छोटी से छोटी किरण भी समस्त अंधकार को छिन्न-भिन्न करने में पूर्ण समर्थ होती है।

व्यवहार सत्यव्रत–प्रशस्त अर्थात् कल्याणकारी वाक्य कहना, प्रमाद के वशीभूत होकर कभी भी अप्रशस्त अर्थात् अकल्याणकारी वाक्य न बोलना, सत्यव्रत है। सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर जो वस्तु जिस देश में व जिस काल में जैसी देखी सुनी हो, उसको वैसी की वैसी ही कहना सत्य नहीं क्योंकि विद्यमान या यथार्थ अकल्याणकारी भी हो सकता है और अप्रशस्त वाक्य कभी भी सत्य नहीं हो सकता क्योंकि सत्य आदि व्रतों का आधार अहिंसा है, इसलिए जो वाक्य जीवों का हित करने वाला है, उन्हें प्राण संकट से बचाने वाला है, वह अविद्यमान या अयथार्थ हो तो भी अहिंसा धर्म का पोषक होने से सत्य रूप है। जो वचन पाप रूप हिंसा कार्य की पुष्टि करता है, वह कितना ही यथार्थ क्यों न हो, अहिंसा मार्ग से प्रतिकूल होने के कारण असत्य एवं निन्दनीय है।

आचार्य वट्टकेर मूलाचार में लिखते हैं कि–

रागादीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणुत्तिं।
सुत्तत्थाणविकहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं॥१.६

राग-द्वेष, मोह, पैशुन्य (चुगलखोरी) ईर्ष्या आदि के वश होकर असत्य नहीं बोलना, जिससे दूसरे को सन्ताप हो, ऐसे सत्य वचन भी नहीं बोलना, सर्वथा अस्ति या नास्ति रूप एकान्त वाक्य का त्याग करना, सूत्रार्थ अर्थात् द्वादशांग वाणी का अन्यथा प्रतिपादन नहीं करना सत्य महाव्रत है।

उपर्युक्त गाथा में छोड़ने योग्य अप्रशस्त क्या है, यह भली-भाँति समझा दिया गया है। राग-द्वेष भावों से बोलना ही अप्रशस्त है। अप्रशस्त वाक्य का त्याग करना ही सत्यव्रत है। कटु एवं कठोर वचन कभी नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि इनके बोलने से स्व-पर को विशेष कष्ट होता है। सत्य रूप प्रिय वचन बोलने से किसी को भी कष्ट नहीं होता, बल्कि स्वयं की आत्मा में आह्लाद और दूसरों को परम संतोष होता है। इस प्रकार असत्य वचन से सदा बचना चाहिए।

आचार्य उमास्वामी भी लिखते हैं कि–

असदभिधानमनृतम॥14॥

– तत्त्वार्थसूत्र, अ. 7

प्रमाद के योग से जीवों को दुःखदायक वचन बोलना ही असत्य है। दूसरे शब्दों में प्रमाद के सम्बन्ध से झूठ बोलना, असत्य है। जो शब्द निकलता है वह तो पुद्‌गल द्रव्य की अवस्था है, उसे जीव नहीं परिणमाता, इसी से मात्र शब्दों के उच्चारण का पाप नहीं किन्तु जीव का असत्य बोलने का जो प्रमादभाव है वही पाप है।

असत्य के भेद

आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि–

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः।।

–पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 91

जो कुछ भी प्रमाद, कषाय के योग से स्व-पर को हानिकारक या अन्यथा रूप वचन कहने में आता है, उसे निश्चय से असत्य जानना चाहिए। इस असत्य के चार भेद हैं।

1 प्रथम भेद–

जो वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से अस्तिरूप हो, उसे नास्तिरूप कहना। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि–

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र।।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 92

जिस वचन में वस्तु का अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विद्यमान होने पर भी निषेध किया गया हो तब उस वचन को असत्य वचन कहा जाता है। जैसे– किसी क्षेत्र में देवदत्त नाम का पुरुष बैठा था वहाँ किसी ने पूछा– यहाँ देवदत्त है क्या? उत्तर मिला- यहाँ देवदत्त नहीं है। यह असत्य वचन का प्रथम भेद है क्योंकि जो कुछ भी पदार्थ है, उसे 'द्रव्य', जिस क्षेत्र में तिष्ठे उसे 'क्षेत्र'; जिस काल में जिस रीति से परिणत करे उसे 'काल' ; तथा उस पदार्थ का जैसा कुछ निजभाव है उसे 'भाव' कहते हैं। अपने इस चतुष्टय की अपेक्षा से सर्व पदार्थ अस्तिरूप हैं। यहाँ देवदत्त का निश्चय तो था ही, परन्तु नास्तिरूप जो कथन हुआ, वही असत्य वचन हुआ।

2. दूसरा भेद–

जो वस्तु अपने द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव रूप से नहीं है, वहाँ उसका सद्भाव स्थापित करना, यानि अविद्यमान वस्तु को विद्यमान कहा जाना। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 93

निश्चय से जिस वचन में परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से पदार्थ सत्तारूप नहीं हैं, तो भी1 वहाँ उनको प्रकट करना, वह दूसरा असत्य है। जैसे–कहना कि यहाँ घड़ा है। दूसरे शब्दों में किसी क्षेत्र में घड़ा तो था नहीं, इसलिए उस समय उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी

नहीं था, दूसरा पदार्थ था, अतः उस समय उसी का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव था। अब किसी ने पूछा कि यहाँ घड़ा है कि नहीं, तो कह दिया कि यहाँ घड़ा है–सो यह असत्य वचन का भेद है क्योंकि नास्ति रूप वस्तु को अस्तिरूप कहा

3. **तीसरा भेद–**

जो पर वस्तु अपने स्वरूप से है, उसे पर रूप से कहना। दूसरे शब्दों में जिस वचन में यद्यपि पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप अपने चतुष्टय में विद्यमान है तथापि उस पदार्थ को अन्य पदार्थ रूप से कथन करना, इसे ही असत्य वचन का तीसरा भेद कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं–

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अमृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 94

जिस वचन में अपने चतुष्टय से विद्यमान होने पर भी पदार्थ अन्य स्वरूप से कहने में आता है, उसे यह तीसरा असत्य जानना चाहिए। जैसे बैल को घोड़ा कहना। अर्थात् किसी क्षेत्र में बैल अपने चतुष्टय में स्थित था। वहाँ किसी ने पूछा कि यहाँ क्या है, तो किसी ने कहा है कि यहाँ घोड़ा है–इस प्रकार वस्तु को अन्य रूप से कहना असत्य ही है।

4. **चौथा भेद–**

चौथा असत्य वचन सामान्य रूप से गर्हित, पाप सहित और अप्रिय–इस तरह तीन प्रकार का माना गया है, जो कि वचन रूप है। दूसरे शब्दों में–(1) वचन से निन्दा के शब्द कहना, (2) हिंसा सहित वचन बोलना (3) अप्रिय अर्थात् जो दूसरे को बुरे लगे ऐसे वचन बोलना। ये चौथे असत्य वचन के तीन भेद हैं।

(1) वचन से निन्दा के शब्द कहने के सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं–

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमशमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 96

जिस वचन में दुष्टता हो, दूसरे को बुरा करने वाला हो तथा अपने को रौद्र ध्यान कराने वाला हो तथा हास्य मिश्रित हो, दूसरे जीव का मर्म छेदने वाला हो, कठोर वचन तथा जो वचन मिथ्या श्रद्धा कराने वाला हो और अप्रमाण रूप तथा शास्त्र विरुद्ध हो, उसे गर्हित वचन कहते हैं।

असत्य बोलने का परिणाम

एक सेठ के यहाँ एक लड़का रहता था। वह बहुत झूठा था। सेठ इससे बहुत परेशान हो गया, विचार करने लगा इसे मैं बाजार में बेच आऊँ। अत: बेचने के लिए सेठ बाजार पहुँच जाता है। लड़के की कीमत रखता है सौ रुपये। अब हर प्राणी यह सोचता है कि इसकी कीमत इतनी कम क्यों है। यह तो मनुष्य है, तब वह सेठ कहता है कि यह लड़का झूठ बोलता है अत: इसकी कीमत कम रखी है। यह सुनकर सब खरीददार पीछे हट जाते हैं। एक दिन राजा ने इसको खरीद लिया। सोचता है झूठ ही तो बोलता है, घर का काम तो ठीक करेगा। रानी से कह देंगे कि यह झूठ बोलता है। राजा उसे घर पर ले जाता है। रानी को सब बातों से अवगत करा देता है। कह देता है कि इसका विश्वास नहीं करना। इस प्रकार दिन कुछ गुजर जाते हैं। एक दिन लड़का विचारने लगा कि मेरा विश्वास तो ये लोग करते नहीं, आज मुझे भी इनको झूठ बोलकर दिखाना है। लड़का रानी से कहता है कि तुम मेरा विश्वास तो करती नहीं, किन्तु फिर भी तुम्हें एक बात बताता हूँ। वह कहता है कि राजा एक अन्य स्त्री से प्रेम करता है, तुम्हारी कोई महत्ता नहीं है। स्त्रियों को ऐसी बातों पर शीघ्र विश्वास आ जाता है। रानी लड़के से उपाय पूछती हैं कि किस प्रकार राजा मुझ पर पूर्व की भाँति मोहित रह सकता है। लड़का कहता है कि जब राजा भोजन करने आए तब उनकी अच्छी खातिर करना और जब वह सो जाएं तब तलवार से एक तरफ से उनकी मूँछे काटकर, पीसकर उन्हें पिला देना, तब तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जायेगा।

अब लड़का राजा के पास जाता है, कहता है राजा साहब तुम्हें मेरा विश्वास तो आता नहीं पर आज देखना जब तुम खाना खाकर लौटोगे, रानी आपको तलवार से मारेगी, अत: सावधान रहना। दोनों तरफ लड़के ने झूठ बोल दिया। राजा खाना खाकर लेट जाता है रानी ने मूँछ काटने के लिए जैसे ही तलवार उठायी, राजा तो पहले से ही सावधान था, राजा एकदम रानी का हाथ पकड़ लेता है। रानी के हाथ से तलवार खींचता है और रानी के टुकड़े-टुकड़े कर देता है। रानी अच्छे घर की स्त्री थी। अत: जब रानी के मायके वालों को पता चलता है तो रानी के पिता राजा पर चढ़ाई कर देते हैं। दोनों ओर से महायुद्ध होता है। इस युद्ध में लाखों प्राणी मारे जाते हैं यह सब झूठ बोलने से, इधर की बात उधर लगाने से युद्ध हुआ फलस्वरूप राज घराना नष्ट हो जाता है। इस प्रकार कभी भी झूठ नहीं बोलना चाहिए।

(2) हिंसा मिश्रित वचन बोलने-के सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं-

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्त्तन्ते।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 97

जो नाक आदि छेदन के, काटने के, मारने के, खींचने के हिंसा व्यापार करने के अथवा चोरी करने आदि के वचन कहने में आवें, वे सदा सावद्य अर्थात् पाप सहित असत्य वचन हैं, क्योंकि इनमें प्राणियों का घात होता है, इसलिए जहाँ हिंसा है वहाँ सत्य नहीं माना जायेगा।

(3) अप्रिय वचन बोलने-के सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 98

जो वचन दूसरों को बुरा लगने वाला हो, भय उत्पन्न करने वाला हो, खेद उत्पन्न करने वाला हो, बैर, शोक और कलह करने वाला हो तथा अनेक प्रकार के दु:ख उत्पन्न करने वाला हो, वे सभी वचन अप्रिय असत्य वचन ही हैं। इस प्रकार असत्य वचन हिंसा रूप ही हैं, इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य आगे कहते हैं

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 99

सभी प्रकार के झूठे वचनों में प्रमाद योग ही कारण है, इसलिए झूठ वचन बोलने से हिंसा अवश्य होती है क्योंकि हिंसा प्रमाद से ही होती है, प्रमाद के बिना हिंसा नहीं होती। तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा का लक्षण 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' लिखा है, अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणों का घात करना ही हिंसा है।

कर्कश वचनों का परिणाम

एक लकड़हारा जंगल गया हुआ था। वहाँ उसने लंगड़ाते हुए एक सिंह को दीन-हीन दशा में देखा। सिंह के पाँव में काँटा लगा हुआ था। सिंह लकड़हारे से प्रार्थना करता है कि मेरे पाँव से काँटा निकाल दो। लकड़हारा शेर के पाँव से काँटा निकाल देता है। इससे प्रसन्न होकर सिंह कहता है कि तुम अपने ऊपर लकड़ियों का इतना बोझ क्यों लादते हो, मेरी पीठ पर लाद दिया करो, मैं उन्हें तुम्हारे घर पहुँचा दिया करूँगा। अब सिंह अपनी पीठ पर लकड़ियों का गट्ठर लादकर लकड़हारे के घर लाने लगा। लकड़हारा अब पहले से चौगुनी लकड़ियाँ लादने लगता है और कुछ ही दिनों में धनवान बन जाता है।

एक दिन पड़ोसी लकड़हारे से जिज्ञासावश प्रश्न करते हैं कि भाई! यह तो बताओ कि तुम इतने जल्दी धनवान कैसे बन गये। तब लकड़हारा कहता है कि भाई! मुझे एक गधैया मिल गयी है जिसकी वजह से मैं धनी बन गया हूँ। यह बात सिंह सुन लेता है। सिंह लकड़हारे से कहता

है कि, हे लकड़हारे, आज तुम अपनी कुल्हाड़ी मेरी गर्दन पर इतनी जोर से मारो कि मेरी गर्दन के टुकड़े-टुकड़े हो जाएं। यह सुनकर लकड़हारा बहुत डर जाता है। कहता है कि सिंह भाई। आज तुम कैसी अनहोनी बात बोल रहे हो। सिंह कहता है कि हमारा आज यही निश्चय है, कि तुम अपनी कुल्हाड़ी से मेरी गर्दन उड़ा दो अन्यथा मैं तुम्हें अभी मार डालूँगा। यह बात सुनकर लकड़हारे ने अपनी प्राण रक्षा के लिए सिंह की गर्दन पर बड़ी जोर से अपनी कुल्हाड़ी मार दी। सिंह कुल्हाड़ी के वार को झेल जाता है, किन्तु घायल होता हुआ कहता है कि, देख लकड़हारे! तेरे कुल्हाड़ी का वार तो मैंने सहन कर लिया, पर तेरे वचनबाणों का वार जो तूने मुझे गधैया बताया, सहन न कर सका। यह गर्दन का घाव तो आज नहीं कल भर ही जायेगा, लेकिन तेरे कर्कश वचन मुझे हमेशा चुभते रहेंगे। यह बात सुन लकड़हारा बहुत पछताता है।

इस प्रकार कभी भी किसी को कर्कश वचन नहीं बोलना चाहिए, ये वचन हिंसा के ही रूप होते हैं। इस प्रकार असत्य वचन हेय जानकर आचार्य अमृतचन्द्र उनको उपदेश देते हैं।

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु॥

— पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 101

जो जीव अपने न्यायपूर्वक भोगोपभोग के कारणभूत सावद्य वचन त्यागने में असमर्थ हैं, उन्हें भी समस्त मिथ्या वचनों का सदा त्याग करना चाहिए। यह त्याग दो प्रकार का है–

1. सर्वदेश त्याग–यह त्याग मुनिधर्म में ही संभव है।
2. एकदेश त्याग–यह त्याग श्रावक धर्म में होता है यदि सर्वदेश त्याग बन सके तो बहुत ही उत्तम है और यदि कदाचित् कषाय के उदय से सर्वथा त्याग न बन सके तो, एकदेश त्याग अवश्य ही करना चाहिए।

असत्य वचन के कारण

असत्य वचन के मुख्य दो कारण हैं–(1) अज्ञान और (2) कषाय।

1. **अज्ञान**–अज्ञान के कारण मनुष्य असत्य वचन बोलता है। यदि अज्ञानजन्य असत्य के साथ कषाय का पुट नहीं है तो उससे आत्मा का अहित नहीं होता, क्योंकि वहाँ वक्ता अज्ञान से रहित है। ऐसा अज्ञान जन्य असत्य वचन योग आगम में बारहवें गुणस्थान पर्यंत बताया गया है।
2. **कषाय**–कषाय के वशीभूत भी मनुष्य कुछ न कुछ झूठ बोलता है। यदि असत्य वचन

में कषाय का पुट है, तब यह आत्मा के लिए बहुत ही अहितकारक होता है।

संसार में राजा वसु का नाम असत्यवादियों में अति प्रसिद्ध है। इसका कारण यही था कि उसके द्वारा बोला गया झूठ कषाय जन्य था। पर्वत की माँ के चक्कर में पड़कर उसने ''अजैर्यष्टव्यम्'' वाक्य का मिथ्या अर्थ किया था। इसलिए उसका तत्काल पतन हो गया। वह दुर्गति का पात्र बना।

निश्चय सत्यव्रत

आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ आत्मा का नहीं हो सकता और दूसरे किसी का कार्य आत्मा नहीं कर सकता–ऐसा वस्तु स्वरूप निश्चय करना चाहिए। शरीर, स्त्री, पुत्र, धन और गृह आदि पर वस्तुओं के सम्बन्ध में भाषा बोलने के समय यह अभिप्राय (उपयोग) रखना चाहिए कि 'मैं आत्मा हूँ,' एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई मेरा नहीं और मैं किसी का कुछ भी कर नहीं सकता, अन्य के सम्बन्ध में बोलने पर यह अभिप्राय, यह विवेक जाग्रत रखना चाहिए कि वास्तव में 'जाति, लिंग, इन्द्रियादिक उपचरित भेदवाला यह आत्मा कभी नहीं है, परन्तु स्थूल व्यवहार से ऐसा कहा जाता है।' यदि इस तरह की पहचान के उपयोगपूर्वक सत्य बोलने का भाव हो तब वह पारमार्थिक अर्थात् निश्चय सत्य है। वस्तुस्वरूप की प्रतीति के बिना परमार्थ सत्य नहीं होता।

सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ–सत्यव्रत को दृढ़ करने के लिए आचार्य उमास्वामी ने अधोलिखित पांच भावनाएं बतायी हैं।

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुबीचिभाषणं च पंच।

– तत्वार्थसूत्र., 7.5

क्रोध का त्याग करना, लोभ का त्याग करना, भय का त्याग करना, हास्य का त्याग करना और शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना–ये पाँच सत्यव्रत की भावनाएँ हैं।

सत्यव्रत के पाँच अतिचार

आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि सत्यव्रत को निर्दोष बनाने के लिए उसे अतिचार (दोष) रहित पालन करना चाहिए। अतिचार पांच हैं।

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः।।

-(तत्त्वार्थसूत्र-अ. 7.) 26

(1) **मिथ्योपदेशः**–सन्मार्ग में लगे हुए किसी को भ्रमवश अन्य मार्ग पर ले जाने का

उपदेश करना मिथ्योपदेश है। (2) **रहोभ्याख्यान**–किसी की गुप्त बात प्रकट कर देना। (3) **कूटलेखक्रिया**–झूठे लेख, दस्तावेज आदि लिखना। (4) **न्यासापहार**–कोई मनुष्य कुछ वस्तु किसी के पास धरोहर के रूप में रख गया, फिर वापस माँगने आया तो भूलवश कम माँगता है, तब ऐसा कहकर कि तुम्हारा ि जतना हो उतना ले जाओ और उसे उसके अनुसार कम देना, न्यासापहार है। (5) **साकार मंत्रभेद**–चेष्टा आदि द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर ईर्ष्यावश उसको प्रकट कर देना, साकार मंत्रभेद है। इन पाँच अतिचारों अर्थात् दोषों से सत्यव्रत मलिन होता है।

सत्यवादी की महिमा अपार है। कदाचित् कभी झूठा आरोप लग भी जाए तो अन्त समय में जीत सत्यवादी की ही होती है। यह बात निम्न दृष्टान्तों से भली-भाँति समझी जा सकती है–

चोर से मन्त्री

एक समय की बात है दिगम्बर मुनिराज उपदेश दे रहे थे कि सदा सत्य बोलना चाहिए, झूठ पाप है। वहीं एक चोर भी मुनिराज के उपदेश सुन रहा था। यह बात चोर के हृदय में कुछ-कुछ बैठती जा रही थी। चोर मुनिराज के पास आता है और कहता है कि, हे महाराज! मैं चोरी करता हूँ, किन्तु मैं सत्य भी बोलना चाहता हूँ, क्या करूँ? महाराज कहते हैं कि–'ठीक है, तुम झूठ न बोलने का नियम ले लो। तब वह चोर झूठ न बोलने का नियम ले लेता है।

कुछ दिनों बाद वह चोर चोरी करने जाता है। रास्ते में इस चोर से जो भी पूछता है कि भाई तुम कहाँ जा रहे हो? तब चोर लिए गये नियम के अनुसार कह देता है, कि 'भाई मैं तो चोर हूँ, चोरी करने जा रहा हूँ।' हर व्यक्ति सोचता है कि यह कैसा चोर है। राजा भी इसी दिन शहर में स्वयं गश्त लगा रहा था। पूछता है कि तुम कौन हो चोर ने कहा–"मैं चोर हूँ, चोरी करने जा रहा हूँ।" राजा कहता है कि भाई मैं भी चोर हूँ। दोनों मिल जाते हैं और चोरी करने राजा के महल पहुँच जाते हैं। असली चोर अन्दर घुस जाता है, अलमारी में से माल चुराने लगता है। वहाँ अलमारी में तीन रत्न रखे थे, वह सोचता है कि तीन रत्न का बँटवारा कैसे करूँगा, दो रत्न उठा लेता है। इसलिए वह सोचता है कि एक-एक रत्न आपस में बाँट लेंगे- एक रत्न वहीं छोड़ देता है। बाहर आकर एक रत्न अपने साथी चोर (राजा) को लाकर दे देता है। राजा इस चोर का पता करता है तथा प्रात: कोतवाल को बुलाकर कहता है कि महल में चोरी हो गयी हैं चोर को पकड़कर ले आओ। इधर मन्त्री से भी कहता है कि जाओ महल के अन्दर देखो, अलमारी में से क्या-क्या चोरी हुआ है? मन्त्री अन्दर जाता है और अलमारी देखकर सोचता है कि यहाँ तो तीन रत्न रखे थे, किन्तु यहाँ केवल एक ही रत्न है। एक रत्न उठा लें, चोरी तो हो ही गयी है, राजा से कह देंगे कि तीनों रत्न चोरी हो गये हैं। इतनी देर में कोतवाल चोर को पकड़कर ले आता है। राजा चोर से पूछता है कि, "क्या तुमने रात को चोरी की? चोर

कहता है–'जी हाँ, मैंने चोरी की है, महल से दो रत्न चुरा कर लाया था, एक अपने साथी को दे दिया और एक मेरे पास है। अब राजा यह सुनकर मन्त्री से कहता है कि यह आदमी तो सच्चा है, तीसरा रत्न बताओ कहाँ है? मन्त्री ने घबराकर कहा–महाराज वह रत्न मैं ले आया था। राजा मंत्री को अपने महल से हटा देता है और चोर को मन्त्री बना देता है। सत्य में अपार बल होता है। सत्य के बल पर ही एक निम्न कोटि का चोर राजा का विश्वास पात्र मन्त्री बन जाता है। अत: जीवन में सदा सत्य बोलना चाहिए।

यह देश साधु-सन्तों और गांधी का देश कहलाता है। गांधी जी सत्य और अहिंसा के पुजारी थे। वह एक जैन साधु श्रीमद् रायचन्द्र से पढ़े थे। इन्होंने सारे देश को सत्य का पाठ पढ़ाकर देश को स्वतन्त्र कराया था। यह सब सत्य और अहिंसा का ही बल था जो ऐसा संभव हो पाया।

सत्य की जीत

एक सत्यवादी राजा अपने सत्य के लिए बहुत प्रसिद्ध था। उसने एक बार एक नया बाजार अपनी प्रिय जनता के लिए खुलवाया और घोषणा की बाजार में जो सामान बिकने के लिए आये यदि वह नहीं बिके तो उसे मैं खरीद लूँगा। एक दिन एक आदमी शनि की मूर्ति सहित अन्य मूर्तियाँ लेकर बाजार आता है। मूर्तिकार की सब मूर्तियाँ बिक जाती हैं किन्तु शनि की मूर्ति का कोई खरीदार नहीं मिलता। तब मूर्तिकार विचारता है कि अब क्या किया जाये? लोगों की धारणा थी कि जिसके घर शनि की मूर्ति होगी, उसके घर धन-सम्पदा नहीं रहेगी। कारीगर सीधे राजा के दरबार में जाता है और राजा को सभी कुछ बता देता है। राजा कारीगर को मुँह माँगा दाम देकर उसे खरीद लेता है।

राजा के महल में मूर्ति आते ही धन-लक्ष्मी भागने लगती है। रात्रि को स्वप्न में लक्ष्मी राजा से कहती है कि 'हे राजन! तुम्हारे घर में शनि की मूर्ति आ चुकी है, अत: मैं जा रही हूँ। इस पर राजा उत्तर देता है कि–'हे देवी! यदि तुम्हें जाना है तो जाओ, पर मैं अपने वचन से पीछे नहीं हटूँगा, मेरे झूठ वचन का त्याग है। मैं सत्य को नहीं छोड़ सकता।' अब कुछ दिन बाद राजा को पुन: स्वप्न में धर्म आकर कहता है कि 'हे राजन्! मैं यहाँ नहीं रह सकता, तुम्हारे घर में शनि की मूर्ति रखी है।' तब राजा कहता है कि, 'मैं सत्य से बँधा हूँ, मैं सत्य को नहीं छोड़ सकता, यदि आप जाना चाहते हैं तो ठीक है।' अब राजा के घर में न लक्ष्मी रही न धर्म, राजा अब भी निश्चिन्त था। कुछ दिनों पश्चात् राजा को पुन: स्वप्न आता है। स्वप्न में सत्य कहता है कि 'हे राजन्! आज मैं भी तुम्हारे घर से जा रहा हूँ, क्योंकि तुम्हारे घर में शनि की मूर्ति रखी है। अब राजा अकड़ जाता है और कहता है कि–हे सत्य! आप मेरे घर से नहीं जा सकते। तुम्हारे कारण ही तो मैंने शनि की मूर्ति खरीदी थी, अत: आपको मेरे घर से जाने का अधिकार

ही नहीं है। आप मेरे घर से कैसे जा सकते हैं।' सत्य निरुत्तर हो जाता है। बाद में धर्म व लक्ष्मी भी लौट आती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्य की सदा जीत होती है। अत: सत्य को कभी भी नहीं त्यागना चाहिए।

अचौर्य व्रत

अचौर्य का विलोम है चौर्य, अर्थात् चोरी करना। संसार में अनेक प्रकार की चोरियाँ होती हैं। जब जीव लोभ कषाय के वशीभूत होकर किसी दूसरे की वस्तु को बिना दिये ही ग्रहण करता है तब वह चोर कहलाता है। यह चोरी नरक आदि गति अपयश तथा निंदा का कारण बनती है। दूसरी ओर गम्भीरता गहराई से विचार किया जाये तो ज्ञात होता है कि जो स्वकर्म को स्व आत्मा को छोड़कर पर को अपनाता है, उसमें ममत्व बुद्धि रखता है, वही भी वास्तव में चोर होता है। पर वस्तु क्या है? अपनी स्वयं की आत्मा के अतिरिक्त सभी पर वस्तुएँ हैं यही निश्चय से चौर्य है। इसको जानकर, समझकर जो मानव इसका त्याग कर देता है वही अचौर्यव्रत का ध रक कहलाता है।

आचार्य अमृतचन्द्र इस प्रकार बताते हैं

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा बंधस्य हेतुत्वात्॥

- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

जो कोई प्रमाद-कषाय के योग से बिना दिये स्वर्ण, वस्त्रादि परिग्रह को ग्रहण करता है, उसे चोरी या चौर्य जानना चाहिए और वही बंध का कारण होने से हिंसा है।

दूसरे शब्दों में जब किसी को चोरी करने का भाव होता है वह उसकी भाव हिंसा है, और जब उसको कोई चोर जानकर उसके प्राणों का वियोग कर दे तो वही उसकी द्रव्यहिंसा कहलाती है। इसके साथ ही जिस जीव की वस्तु चोरी जाती है जिससे उसे अन्तरंग पीड़ा होती है उसकी वह भावहिंसा कहलाती है, तथा उस वस्तु के निमित्त उस जीव के जो द्रव्य प्राण विद्यमान थे उनका जब वियोग हो जाता है तब वही उसकी द्रव्यहिंसा कहलाती है। इस प्रकार चोरी करने से चोरी करने वाले की तथा जिनकी चोरी हुयी है, उसकी द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसा होती हैं। ऐसा जानकर, समझकर जो जीव इसका सर्वथा त्याग करता है वही अचौर्य है और इसका पालन करने वाला अचौर्य व्रती कहलाता है।

अचौर्य निम्न दो प्रकार का होता है–

1. **निश्चय अचौर्य–**

- जो वस्तु अपनी है, अर्थात् स्व-आत्मा, इससे अलग समस्त पर द्रव्यों को ग्रहण करना चोरी

है, जब हम अपने स्वभाव को छोड़कर पर द्रव्यों मे जाते हैं अर्थात् विभाव परिणिति में, तब हम सभी चोर होते हैं। अपने स्वभाव में रहना निश्चय अचौर्य है, पूर्ण अचौर्यव्रत केवल अरहंतों के होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

एयत्ताणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि।।३

(समयसार)

निश्चय से समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्थित रहते हुए ही शोभा पाते हैं, किन्तु इस जीव नामक पदार्थ की अनादि काल से पुद्गल द्रव्य के साथ निमित्त रूप बंध अवस्था है, इस कारण इस जीव में विसंवाद है। अत: वह शोभा को प्राप्त नहीं है। यदि वास्तव में विचार किया जाये तो एकत्व ही सुन्दर है, इससे यह जीव शोभा को प्राप्त होता है।

विशेष अर्थ–संसार में सामान्य रूप से ऐसा देखा जाता है कि जब यह मनुष्य छात्र जीवन में रहकर विद्यालय में विद्याध्ययन करता है, तब तक वह प्राय: सर्व आपत्तियों से विमुक्त रहता है अर्थात् ब्रह्मचारी हो सानन्द जीवन व्यतीत करता है। किन्तु अध्ययन के पश्चात् जब अपने घर प्रवेश करता है तथा माता-पिता की आज्ञा से विवाह बन्धन को स्वीकृत करता है तब वह द्विपद से चतुष्पद होता है। भाग्य से यदि शिशु जन्म ले लेता है, तब यह मनुष्य षट्पद हो भौंरे के समान हो जाता है। जब अपने बालक का विवाह संस्कार करता है तब मानो अष्टपद हो मकड़ी हो जाता है। इस प्रकार वह अपने ही जाल में अपने आप ही मरण को प्राप्त हो जाता है। पर का सम्बन्ध ही इस संसार में आपत्तियों की जड़ है। इस प्रकार अनादि काल से जीव के साथ पुद्गल द्रव्यों के सम्बन्ध से यह बन्ध ही हो रहा है अत: यह विसंवादजनक है। इसलिए द्रव्यों से भिन्न और स्वकीय गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा का जो एकत्व है वही सुन्दर है।

व्यवहार अचौर्य

आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि–अदत्तादानं स्तेयम्।।

- **तत्त्वार्थसूत्र**. अ. 7, 15

प्रमाद के योग से बिना दी हुयी किसी भी वस्तु को ग्रहण करना स्तेय अर्थात् चोरी है।

यहां प्रश्न उठता है कि कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणाओं का ग्रहण, जो कि जीव को अनादिकाल से हो रहा है, क्या यह चोरी है? इस सन्दर्भ में आचार्य पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं कि–''नहीं वह चोरी नहीं कही जायेगी, क्योंकि जहाँ लेन-देन सम्भव हो वहाँ चोरी का व्यवहार होता है, इस कारण से 'अदत्त' शब्द दिया गया है।' फिर प्रश्न उठता है कि

ग्राम-नगर आदि में भ्रमण करने पर गली-दरवाजा आदि में प्रवेश करने से क्या अदत्तादान होता है? इस प्रश्न का समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि-''नहीं'' यह अदत्तादान नहीं है, क्योंकि वह सभी के आने-जाने के लिए खुला है। वैसे भी गली आदि में प्रवेश करने में मुनि के प्रमत्तयोग नहीं होता। अभिप्राय यह है कि बाह्य वस्तु ली जाय या न ली जाय किन्तु जहाँ संक्लेशरूप परिणाम प्रवृत्ति होती है, वहीं स्तेय या चोरी है। इसका त्याग ही अचौर्य है। अत: अचौर्य व्रत का पालन तो पर वस्तु से ममत्व पर ही सम्भव है।

अचौर्यव्रत को स्थिर करने के लिए आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि-

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पंच॥

-तत्त्वार्थसूत्र, अ. 7.6

(1) **शून्यागार वास**-खाली घर, गुफा आदि में रहना। (2) **विमोचितावास**-किसी के छोड़े हुए घर में रहना। (3) **परोपरोधाकरण**-किसी स्थान पर रहते हुए दूसरे को न हटाना तथा यदि कोई अपने स्थान में आये तो उसे न रोकना। (4) **भैक्ष्यशुद्धि**-शास्त्रानुसार भिक्षा की शुद्धि रखना। (5) **सधर्माविसंवाद**-साधर्मियों के साथ यह मेरा है, यह तेरा है, ऐसा क्लेश व्यवहार नहीं करना। ये पाँच भावनाएँ होती हैं जिनके भाने से अचौर्य व्रत दृढ़ होता है। चोरी प्रगटरूप से हिंसा ही है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं-

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्॥

- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 103

जो मनुष्य जिस जीव के पदार्थ अथवा धन को हर लेता है, वह मनुष्य उस जीव के प्राणों को हर लेता है, क्योंकि जगत् में यह धन-सम्पदा आदि पदार्थ मनुष्य के बाह्य-प्राण हैं। दूसरे शब्दों में धन-धान्य, दास-दासी, घर-जमीन, पुत्र-पुत्री आदि जितने भी पदार्थ जिस जीव के पास होते हैं वे सब उतने ही उसके बाह्य प्राण माने जाते हैं। उन पदार्थों में से किसी एक भी पदार्थ का नाश होने पर उसे अपने प्राणघात जैसा दु:ख उत्पन्न होता है। इस अपेक्षा से इन पदार्थों को ही उसके प्राण कहा जाता है। जैसे 'अन्न ही प्राण है,' 'जल ही प्राण है,' इस वचन के अनुसार समझना चाहिए। इस प्रकार जो कोई किसी की कुछ भी वस्तु को चुराता है, वह उसकी हिंसा ही करता है। अत: कभी भी किसी की कोई वस्तु नहीं चुराना चाहिए।

धन में ही प्राण

एक बार किसी शहर में एक महिला अपनी बहुत पुरानी नौकरानी के साथ रहती थी। दोनों में बहुत स्नेह हो चुका था। नौकरानी अपनी आवश्यकता से कम व्यय करती थी। जो कुछ भी

वेतन मिलता, उसमें से अधिकांश भाग को जोड़ लेती थी, कई वर्षों के प्रयास के उपरान्त उसके पास एक अच्छी-खासी राशि एकत्रित हो गयी। अब यह राशि उसको अपने पुत्र के इलाज के लिए पर्याप्त थी। अत: वह योजना बनाती है कि अब आगे मुझे कोई नौकरी नहीं करनी है। फलस्वरूप वह धनराशि लेकर अपने घर लौटती है। घर पर जाकर अपने पुत्र को देखती है, स्नेह से उसे अपनी छाती से चिपका लेती है। अब मेरा पुत्र बहुत जल्दी स्वस्थ हो जायेगा, सोचती है मेरे पास पर्याप्त धनराशि है, मैं अच्छे से अच्छे डॉक्टर से इलाज कराऊँगी। किन्तु यह क्या? जब वह अपने बॉक्स को खोलती है तो बाक्स खाली पाती है। रास्ते में किसी चोर ने उसका सारा धन चुरा लिया था।

पुत्र माँ को आवाज देता है, किन्तु दूसरी ओर से कोई उत्तर नहीं आता। पुत्र माँ को आवाज देता ही रहता है, किन्तु सब व्यर्थ है। घर में पड़ोसियों का आना शुरू हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि धन किस प्रकार उस महिला के प्राण बने हुए थे। चोर ने उस महिला का धन नहीं हरा बल्कि धन के रूप में उसके प्राणों को ही हर लिया था।

चोरी अनेक बुराइयों की जड़ है। चोरी करने वाले को राजदण्ड मिलता है। संसार में अपयश फैलता है। चोरी का पैसा बड़ा दु:खदाई होता है। जैसे-जोंक गंदा खून पीकर मोटी हो जाती है, किन्तु अब जुखयारा खून खींचता है तब वह बहुत कष्ट पाती है। इस प्रकार चोरी करके ध न इकट्ठा करते हैं। लेकिन जब पुलिस पीटती है तब बहुत कष्ट पाता है। इसलिए चोरी कभी नहीं करना चाहिए। चोर के बहुत क्रूर परिणाम होते हैं, हर समय दूसरों को ठगने के भाव रहते हैं। हर समय चोर को भय बना रहता है कि कहीं मेरी चोरी न खुल जाए। चोरी करने वाले अक्सर जेब भी काटते हैं, किन्तु पकड़े जाने पर कभी इतने पिटते हैं कि उनकी मृत्यु तक हो जाती है। चोर मनुष्य प्राय: धन की कमी के कारण परिश्रम से बचने के लिए चोरी करता है, किन्तु सर्वथा ऐसा भी नहीं है। क्योंकि ऐसा देखने में आता है कि बहुत गरीब स्त्री-पुरुष अनेक कष्ट होने पर भी चोरी, बेइमानी, अनीति, अन्याय, धोखा, रिश्वत आदि से बचे रहते हैं। दूसरी ओर बहुत से धनिक भी लोभ में पड़कर काला बाजार करते हैं, इधर से उधर माल भेजते हैं। दृष्टव्य है कि ऐसे व्यक्ति भले ही कुछ समय तक दूसरे की आँखों में धूल झोंकते रहें, पर अन्त में पकड़े जाते हैं।

विश्वासघात का परिणाम

जैनकथा ग्रन्थों में श्रीभूति पुरोहित की कथा बहुत प्रसिद्ध है। श्रीभूति नामक व्यक्ति किसी नगर में राजपुरोहित था। शास्त्रों का ज्ञाता था। सत्य को धारण किये हुए था। इसलिए सत्यघोष नाम से भी विख्यात था। इसका सभी विश्वास व आदर करते थे। एक बार एक वणिक पुत्र समुद्र यात्रा के लिए जाते समय अपने बहुमूल्य सात रत्न सत्यघोष के पास रख जाता है। लौटते समय समुद्र में तूफान आ जाने से उसका सब कुछ नष्ट हो जाता है। किसी तरह अपने प्राण ही बचा

पाता है। अब वह वापस आकर श्रीभूति से अपने रत्नों को माँगता है। श्रीभूति इसको अपमानित करके घर से निकाल देता है। इतना ही नहीं, श्रीभूति राजा से भी उसकी शिकायत करता है कि वणिक पुत्र मुझे व्यर्थ ही बदनाम करता है। राजा का हृदय भी उसकी ओर से उत्तेजित हो जाता है।

बुद्धिमान वणिक् पुत्र विक्षिप्त हो जाता है। वह राजमहल के पीछे एक इमली के वृक्ष पर चढ़ जाता और जोर से चिल्लाता है कि श्रीभूति ने मेरे रत्नों को हड़प लिया है। वे रत्न मेरे इस-इस रंग के थे। मैंने उसके पास धरोहर के रूप में रखे थे। इसकी साक्षी उसकी पत्नी है। यदि मेरा कथन रंचमात्र भी असत्य हो तो मुझे सूली पर चढ़ा दिया जाये। इस तरह चिल्लाते-चिल्लाते वणिक् पुत्र को छळ माह गुजर जाते हैं। एक दिन रानी का ध्यान उसकी ओर जाता है। वह राजा से कहती है कि तुम इस व्यक्ति को बुलाकर इसकी बात सुनो कहीं इसका कथन सत्य न हो राजा ने उसे बुलाया और उसकी सारी बातें ध्यान से सुनी। राजा को उनमें सच्चाई नजर आई और योजना बनाई। योजना के अनुसार रानी श्रीभूति को द्यूत-क्रीड़ा के लिए बुलाती है। श्रीभूति द्यूत-क्रीड़ा का रसिक था। रानी द्यूत-क्रीड़ा में श्रीभूति को हराती जाती है और अनेक वस्तुओं के साथ सातों रत्न जीत कर राजा को दे देती है। राजा इन रत्नों को अनेक रत्नों में मिलाकर वणिक् पुत्र को बुलाता है और उससे अपने रत्न चुनने के लिए कहता है। वणिक् पुत्र अपने रत्न चुन लेता है। यह देख राजा वणिक् पुत्र की बहुत प्रशंसा करता है। दूसरी ओर श्रीभूति का सब कुछ हरण करके गधे पर बिठाकर काला मुँख कर एवं अपने देश से निकाल देता है। किसी की धरोहर हड़पना चोरी का बहुत ही घिनौना रूप है। विश्वासघात है। इस प्रकार चोरी से मनुष्य का सब कुछ मान-प्रतिष्ठा वैभव आदि नष्ट हो जाता है इसलिए सभी को व्यवहार चोरी न करने का व्रत ले लेना चाहिए।

अचौर्यव्रत के दोषों के सन्दर्भ में आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि–

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः॥

–तत्त्वार्थसूत्र. अ. 7.27

स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान आदि आचार्यव्रत के अधोलिखित पाँच दोषअतिचार हैं -

1. **स्तेनप्रयोग**–चोरी करने के लिए किसी को स्वयं प्रेरित करना, दूसरे से प्रेरणा कराना या ऐसे कार्य में सम्मति देना स्तेनप्रयोग है।
2. **तदाहृतादान**–अपनी प्रेरणा या सम्मति के बिना किसी के द्वारा चोरी करके लाये हुए द्रव्य को ले लेना।

3. **विरुद्धराज्यातिक्रम**–उचित न्याय से अधिक भाग को ग्रहण करना अतिक्रम है। राज्य के नियमों के विरूद्ध राज्य में विप्लव होने पर हीनाधिकमान से वस्तुओं का आदान-प्रदान तथा राजा (कानून) की आज्ञा के विरुद्ध चलना विरूद्धराज्यातिक्रम है।

4. **हीनाधिकमानोन्मान**–देने-लेने के बाँट आदि कम-ज्यादा रखना हीनाधिकमानोन्मान है।

5. **प्रतिरूपकव्यवहार**–असली के बदले नकली वस्तु चलाना या असली में नकली वस्तु मिलाकर उसका प्रचलन करना। जैसे–दूध में पानी मिलाकर बेचना। ये पाँच अतिचार (दोष)हैं अत: अचौर्यव्रती को उपरोक्त दोषों से बचना चाहिए।

चोरी के त्याग के प्रकार–चोरी के त्याग के दो प्रकार होते हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि–

असमर्था ये कर्त्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम्।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 106

जो जीव दूसरे के कुआँ, बावड़ी आदि जलाशयों का जल इत्यादि त्याग करने में असमर्थ है, उन्हें बिना दी हुयी वस्तुओं के ग्रहण करने का हमेशा त्याग करना चाहिए। चोरी का त्याग दो प्रकार का है–

1. **सकल त्याग**–इसमें सम्पूर्ण वस्तुओं का त्याग होता है, यहाँ तक की पानी-मिट्टी भी बिना किसी के दिये लेना चोरी के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार का त्याग मुनिधर्म में संभव है। यदि यह बन सके तो अवश्य करना चाहिए।

2. **एकदेश त्याग**–जब श्रावक सम्पूर्ण वस्तुओं का त्याग, करने में असमर्थ होता है, तब वह एकदेश त्याग करता है। श्रावक कुआँ, नदी आदि का पानी, खान की मिट्टी इत्यादि किसी के बिना पूछे भी ग्रहण कर ले तो उसका नाम चोरी नहीं है। यहं श्रावकधर्म में ही संभव है।

गिरी या भूली वस्तु का ग्रहण चोरी

एक भारतीय व्यक्ति बल्व बनाने की विधि जानने हेतु जापान गया। वहाँ वह एक कीमती घड़ी अपने उपयोग के लिए क्रय कर लेता है। एक दिन वह किसी कार्यवश अपने शहर से बाहर जाता है। वहाँ वह एक होटल में जलपान आदि ग्रहण कर लौट जाता है। जब वह अपने कार्यालय में आता है तो उसे ध्यान आता है कि घड़ी तो होटल में ही रह गयी। वह यह सोचकर उदास हो जाता है कि अब घड़ी नहीं मिलने वाली। वहीं एक और महिला कार्य करती थी। उसको जब उदास देखा तो पूछती है कि आपकी उदासी का कारण क्या है? तब वह भारतीय

कहता है कि मैं अपनी कीमती घड़ी होटल में भूल आया हूँ, अब घड़ी वहाँ नहीं मिलेगी। महिला कहती है–क्यों नहीं मिलेगी? अवश्य मिलेगी। भारतीय कहता है–कोई उठा ले गया होगा, इसलिए वह नहीं मिल पायेगी। यह सुनकर वह महिला रोने लगती है। कहती है–क्या आप मेरे देशवासियों को चोर समझते हैं? आप विश्वास कीजिए आपकी घड़ी अवश्य ही मिलेगी। वह महिला और भारतीय घड़ी को लेने होटल जाते हैं। होटल के मालिक से बात करते हैं। अन्दर जाकर देखते हैं घड़ी उसी स्थान पर रखी थी। रखी, पड़ी वस्तु को उठाना चोरी है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक अन्य दृष्टान्त देखिए।

एक नगर में एक राजा राज्य करता था। उसके राज्य में चोरी पर सख्त पाबन्दी थी, उसके राज्य में चोरी करने वालों के हाथ काट दिये जाते थे। एक दिन राजा नगर घूमने के लिए जाते हैं। रास्ते में, अपनी प्रजा की परीक्षा हेतु, एक सोने का कटोरा डाल देते हैं। कुछ देर बाद उसी रास्ते से एक सेठ गुजरते हैं। वे उस सोने के कटोरे को देखते हैं। सोचते हैं, यह सोने का कटोरा कितना सुन्दर है? यह कटोरा राजा का ही हो सकता है। यह सोचकर वह उसे उठाकर राजा के पास ले जाता है। अब राजा इस कटोरे को देखकर कहता है कि–सेठ जी आपने यह ठीक ही सोचा कि यह कटोरा राजा का है, किन्तु यदि यह किसी और का हुआ तो वह आकर कहेगा कि महाराज चोर हैं, इसलिए आपके हाथ काट दिये जायेंगे और उस सेठ के राजा ने हाथ कटवा दिये।

चोरी की निन्दा–चोरी की जितनी भी निन्दा की जाय उतनी ही कम है। आचार्य शिवकोटि महाराज कहते हैं कि–

पदव्वहरणमेदं आसवदारं खु वेति पावस्स।
सोगरियवाहपरदारवेहिं चौरोहु पापदरो।।

(भगवतीआराधना, 865)

परद्रव्य हरण करना पाप आने का द्वार है। सूअर का घात करने वाला मृगादिकों को पकड़ने वाला और परस्त्री गमन करने वाला इनसे भी अधिक पापी चोर गिना जाता है।

चोरी को पापों का भी पाप समझना चाहिए। चोर के पास चुरागई वस्तु अधिक काल तक टिक नहीं सकती। इस बात को निम्न दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है।

यों का धन यों ही जाता है

एक नया चोर कहीं से एक घोड़ा चुरा कर ले आता है। वह घोड़े को लेकर बाजार में बेचने के लिए चल देता है। बाजार में घोड़े का रूप देखकर ग्राहक उसके पास आने लगते हैं। एक ग्राहक घोड़े का मूल्य सौ रुपये लगाता है। चोर कहता है कि, क्या चोरी का माल है, जो इतने कम मूल्य में बेच दूँ? अब ग्राहक घोड़े की कीमत बढ़ाते चले जाते हैं और सबको चोर यही कहता जाता है कि-क्या चोरी का माल है, जो में बेच दूँ? इस घटना को वहीं खड़ा एक पुराना चोर देख रहा था। वह भाँप जाता है कि घोड़ा अवश्य चोरी का है, अतः ठीक मूल्य इसको

भी मालूम नहीं है। पुराना चोर घोड़े वाले के समीप आकर कहता है कि–भाई घोड़ा चाल में कैसा है? घोड़े वाला कहता है कि सवारी करके देख लो स्वयं पता चल जायेगा।

पुराने चोर के हाथ में हुक्का बनाने के लिए एक आने में खरीदा हुआ नारियल था। वह उसे घोड़े वाले को पकड़ा देता है और कहता है कि भाई तुम मेरा जरा यह सामान सँभालो, मैं घोड़े की चाल देखता हूँ। वह यह कहकर घोड़े पर चढ़ जाता हैं और घोड़े को भगा ले जाता है। वह जब नहीं लौटा तो उसके पास ठहरे मनुष्यों ने कहा कि तूने घोड़ा कितने में बेचा, तो चोर कहता है कि जितने में खरीदा था उतने में बेच दिया। फिर मनुष्य पूछते हैं, कि भाई लाभ कितना हुआ, तो चोर हाथ का नारियल दिखाते हुए कहता है कि यह तो चोरी का माल है, जैसे आता है, वैसे ही जाता है। इस प्रकार चोरी का माल किसी भी चोर के पास अधिक समय नहीं टिक पाता।

ब्रह्मचर्य व्रत

धन गया, तो कुछ नहीं गया;
स्वास्थ्य गया, तो कुछ गया;
चरित्र गया, तो सब कुछ गया।

आध्यात्म मार्ग में ब्रह्मचर्य को सर्वप्रधान माना गया है। पाँच व्रतों में यह चौथा व्रत है। कामवासना एक रोग है और उसका प्रतिकार भोग नहीं है, भोग से तो यह रोग और भी अधि क बढ़ता है। चारित्र बल ही सबसे बड़ा बल है। विश्व पर विजय पाना इतना कठिन नहीं है, जितना इन्द्रियों को जीतना है। चारित्र बल से ही मानव महान् बनता है। इस चारित्र बल का मूल आधार ब्रह्मचर्य है। इसलिए भारत के महान् ऋषि-सन्तों ने ब्रह्मचर्य को ही धर्म व जीवन का आधार बताया है। ब्रह्मचर्य दो प्रकार का है -

निश्चय ब्रह्मचर्य–ब्रह्मचर्य दो शब्दों से मिलकर बना है–ब्रह्म और चर्य। ब्रह्म का अर्थ आत्मा और चर्य का अर्थ आचरण अर्थात् स्व आत्मा में रमण करना ही निश्चय ब्रह्मचर्य है। आचार्य पद्मनन्दि स्वामी कहते हैं–

आत्मा ब्रह्मविविक्तवोधनिलयो यत्तत्र चर्यं परः।
स्वांगासंगविवर्तितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः।।

(पद्मनन्दि, पंचविंशतिका-अ. 12.0)

ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञान स्वरूप आत्मा है, उस आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस का मन अपने शरीर के भी सम्बन्ध में निर्ममत्व हो चुका है, वही सही अर्थों में ब्रह्मचर्य का पालन करता है। दूसरे शब्दों में, आत्मा में तल्लीन होना, चेतना में विहार कर भव के समस्त

रोगों से निवृत्त होना, उपयोग की धारा को सीमित कर अनन्त से हटाकर स्व आत्मा में केन्द्रित कर देना ही निश्चय ब्रह्मचर्य है। आज तक इस भवसागर में जितनी भी आत्माएँ पतित स्थिति से परम पावन स्थिति को प्राप्त हुईं हैं, उन सभी ने ब्रह्मचर्य की उपासना की। अपनी अनन्त आत्मा में सर्वथा के लिए स्थान दिया है। आध्यात्म क्षेत्र में साधना का आरम्भ ब्रह्मचर्य से ही होता है।

व्यवहार ब्रह्मचर्य--जो पुण्यात्मा स्त्रियों के (या पुरुषों के) सुन्दर अंगों-उपांगों को देखकर उनमें राग रूप बुरे परिणाम करना छोड़ देता है, वही कठिन ब्रह्मचर्य को धारण करता है। यह व्यवहार ब्रह्मचर्य कहलाता है। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए आचार्य पद्मनन्दि कहते हैं कि--जो अपने शरीर से निर्ममत्व हो चुका है, वह इन्द्रिय विजयी होकर स्त्रियों को क्रम से माता बहन और पुत्री के समान समझता है, वही जीव ब्रह्मचारी होता है। कुल मिलाकर ब्रह्मचर्य का व्यावहारिक रूप स्त्री वैराग्य (या पुरुष वैराग्य) होता है। स्त्री से यहाँ मानुषी, तिर्यंचिनी, देवी, और उसकी प्रतिमा रूप सभी लिए गये हैं। वैराग्य से अर्थ है कि स्त्री से रमण करने की इच्छा का निग्रह। जब तक यह नहीं होता, तब तक ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव नहीं है। इसलिए ब्रह्मचर्य को सब व्रतों का स्वामी कहा है। इससे कठिन दूसरा व्रत नहीं है और इसके बिना समस्त त्याग, यम, नियम व्यवहार आदि सभी व्यर्थ हैं। काम केवल काम वासना नहीं अपितु समस्त इन्द्रियाँ हैं। शरीर को हाथ से छूना ही छू लेना नहीं। शरीर को आँखों से भी छुआ जा सकता है। आँखें भी नित सुन्दर शरीर को छुआ करती हैं। किसी भी मधुर आवाज पर कान उसे छू लेते हैं--उस दिशा में खिंचे चले जाते हैं। जब समीप से कोई स्त्री मधुर-भीनी-भीनी अच्छी गंध लगाकर गुजरती है, तो हमारी घ्राणेन्द्रियाँ उस ओर आकर्षित हो जाती हैं। अर्थात् हाथों का स्पर्श यह अत्यन्त स्थूल स्वरूप का स्पर्श है, अन्य इन्द्रियाँ सूक्ष्म रूप से स्पर्श करती हैं।

इसी बात को आचार्य जयसेन इस प्रकार कहते हैं कि कामभोग में पाँचों इन्द्रियाँ सम्मिलित हैं। स्पर्शन और रसना इन्द्रियों के विषय तो काम हैं; और घ्राण, चक्षु, कर्ण इन्द्रियों के विषय भोग हैं। इसप्रकार काम-भोग का त्याग ही वास्तव में व्यवहार ब्रह्मचर्य है। समयसार की चौथी गाथा की टीका करते हुए उन्होंने कामभोग में पाँचों इन्द्रियों के विषय को ले लिया। पर हम आचार्य जयसेन की इस व्याख्या को कहाँ मानते हैं। हम तो काम और भोग को एकार्थक मानने लगे हैं और उसका भी अर्थ एक क्रियाविशेष (मैथुन) से कर दिया है। मात्र एक क्रियाविशेष को छोड़कर पाँचों इन्द्रियों के विषयों को भरपूर भोगते हुए भी अपने को ब्रह्मचारी मान बैठे हैं। जब आचरण ने काम और भोग के विरुद्ध संकल्प किया तो उसका आशय पाँचों इन्द्रियों के विषयों के त्याग में अन्तर्निहित, न कि मात्र मैथुनक्रिया के त्याग से। आज भी जब किसी को ब्रह्मचर्यव्रत दिया जाता है तो साथ में पाँचों पापों से निवृत्ति कराई जाती है; सादा खान-पान, सादा रहन-सहन रखने की प्रेरणा दी जाती है। सर्व प्रकार के श्रृंगारों का त्याग कराया जाता है।

अभक्ष्य एवं गरिष्ठ भोजन का त्याग आदि बातें पंचेन्द्रियों के विषय के त्याग की ओर ही तो संकेत करती हैं।

कुशील अब्रह्म का स्वरूप–आचार्य अमृतचन्द जी कहते हैं कि–

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 107

जो वेद के रागरूप योग से स्त्री-पुरुषों का सहवास कहा जाता है, वह अब्रह्म है और उस सहवास में प्राणिवध का सर्व स्थान में सद्भाव होने से हिंसा होती है।

विशेष–स्त्री की योनि, नाभि, कुच अर्थात् स्तन का अग्रभाग और कांख (बगल) में मनुष्याकार संमूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए स्त्री के साथ सहवास करने में द्रव्यहिंसा होती है तथा स्त्री और पुरुष दोनों के कामरूप परिणाम होते हैं, जिससे भावहिंसा होती है।

सहवास करना प्रकट रूप से हिंसा है–आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि–

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 108

जिस प्रकार तिलों से भरी हुई बाँस की नली में गर्म की हुई लोहे की शलाका डाली जाय, तो तुरन्त सब तिल भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री के अंग में पुरुष के अंग से मैथुन करने पर योनि में जितने भी जीव होते हैं वे तुरन्त ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं। यही प्रकट द्रव्यहिंसा है।

विशेष–केवली भगवान ने मैथुन के सेवन में नौ लाख जीवों का घात बताया है, इसमें सदा विश्वास करना चाहिए।

वीर्य शरीर का सार–व्यवहार ब्रह्मचर्य का अर्थ शरीर की रक्षा करना भी है। भोजन शरीर में जाकर रस बनाता है, रस से रक्त, रक्त से माँस, माँस से मेद, मेद से मज्जा, मज्जा से वीर्य बनता है। इसलिए वीर्य शरीर की प्रधान शक्ति है। वीर्य के एक बिन्दु का पतन भी शरीर में बहुत शक्ति कम कर देता है। जो हम खाना खाते हैं, उसमें से व्यर्थ-हानिकारक पदार्थ मल-मूत्र, पसीना, आँख-कान-नाक का मल, नाखून, केश आदि के रूप में बाहर निकल जाता है। जो वास्तविक शक्ति है, उसका वीर्य बन जाता है। फिर वह ओजस् रूप में सम्पूर्ण शरीर में चमकता रहता है। स्त्री के सप्त शुद्ध विशुद्ध सार पदार्थ को रज कहते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों के सार पदार्थ

में भिन्नता होती है। वीर्य तो काँच की तरह चिकना और सफेद होता है, जबकि रज लाख की तरह लाल होता है। इस तरह रस से लेकर वीर्य व रज तक छळ धातुओं के पाचन करने में प्रति धातु 5 दिन के हिसाब से 30 दिन लगते हैं। ऐसा आयुर्वेद शास्त्र का सिद्धान्त है। यह वीर्य-रज शरीर के किसी विशेष स्थान में नहीं रहता, अपितु सम्पूर्ण शरीर ही इसका निवास स्थान है। बादाम या तिल में जैसे तेल, दूध में जैसे घी और ईख में जैसे मिठास कण-कण में भरी रहती है, उसी तरह वीर्य भी शरीर में प्रत्येक अणु व परमाणु में भरा रहता है। वीर्य की एक बूँद भी निकलना मानो अपने शरीर को नींबू की तरह निचोड़ना है। कितने भोजन से कितना वीर्य पैदा होता है, इसका निश्चय वैज्ञानिकों ने इस प्रकार किया है, कि एक मन पानी, चालीस किलो भोजन से एक किलो रक्त बनता है। फिर एक किलो रक्त से दो तोला वीर्य का निर्माण होता है। यदि स्वस्थ मनुष्य इतनी खुराक रोज खावें तो चालीस किलो खुराक चालीस दिन में खायेगा। अत: यह सिद्ध हुआ कि चालीस दिन की कमाई दो तोला वीर्य है। इस हिसाब से तीस दिन की अर्थात् एक महीने की कमाई डेढ़ तोला वीर्य हुई। तीस दिन की कमाई करीब एक बार में नष्ट हो जाती है। अब जरा सी बात है इतने कठोर परिश्रम से तीस दिन में प्राप्त होने वाली डेढ़ तोला अमूल्य व अतुल दौलत एक क्षण में फूँकना कितनी बड़ी मूर्खता है, यह कितना घोर पतन है। ऐसा उस मूर्ख बागवान के समान है जो तन-मन-धन से दिनरात परिश्रम करके फूलों का सुन्दर बाग तैयार करता है और पैदा हुए असंख्य फूलों का इत्र निकलवाकर नालियों में डालता है। ऋतुकाल का सच्चा अर्थ समझ कर महीने में दो बार से अधिक वीर्य कभी नाश करना ही नहीं चाहिए।

ग्रीस (यूनान) के महाज्ञानी तत्त्ववेत्ता सुकरात से किसी ने पूछा कि रति प्रसंग कितने बार करना चाहिए, तो उत्तर दिया कि जन्म में एक बार, फिर पूछा यदि इतने में शान्ति न हुई--उत्तर मिला साल में एक बार, फिर पूछा यदि इतने में भी न रहा जाये तो--उत्तर मिला-माह में दो बार किन्तु मृत्यु जल्दी होगी। फिर पूछा यदि इतने पर भी शान्ति न मिले तो--अन्तिम उत्तर मिला कि अपनी मृत्यु का सामान लाकर घर में पहले रख दें और फिर दिल में जैसा आवे वैसा करें।

ब्रह्मचर्य और भोजन--भोजन और ब्रह्मचर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसा भोजन किया जाता है उसी अनुरूप मन और मस्तिष्क का निर्माण होता है। भोजन तीन प्रकार का होता है। (1) राजसी (2) तामसिक (3) सात्विक। आधुनिक युग में लोग राजसी और तामसिक भोजन अधिक करते हैं। मिर्च मसाले, मिठाइयाँ, अण्डे, माँस, बीड़ी, पान, चाय, कॉफी--ये सब उत्तेजक भोजन के अन्तर्गत आते हैं। इनके द्वारा मन काम-वासना की चाह उत्पन्न होती है। नाच, गाना, सिनेमा स्त्रियों के दर्शन आदि सब ब्रह्मचर्य को दूषित करते हैं।

सात्विक आहार और सत्संगति ब्रह्मचारी के लिए अनिवार्य है। सात्विक आहार में पूर्ण हरी सब्जियाँ, दूध, चपाती, आदि खाद्य पदार्थ आते हैं। चटपटे मसाले, युक्त गरिष्ठ भोजन ब्रह्मचारी के लिए वर्जित हैं। चाहे शरीर को पौष्टिक भोजन मिले या न मिले, किन्तु उसे गरिष्ठ भोजन नहीं करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य और उन्नति–ब्रह्मचर्य सबसे बड़ा तप है। यह उन्नति का मूल मंत्र है। दुर्भाग्यवश ब्रह्मचर्य का महत्त्व आज गिरता जा रहा है। भारतीय नवयुवक युवतियों को चाहिए कि वे अपने देश के कल्याण के लिए अपने इस प्राचीन व्रत को अपनाएँ। ब्रह्मचर्य द्वारा शक्ति प्राप्त कर अपना व्यक्तित्व उच्च बनाएँ और देश तथा समाज का उद्धार करें। ब्रह्मचर्य व्रत ही सब व्रतों में उत्तम है। इसके समान कोई दूसरा व्रत नहीं है। जिसने इस व्रत को साध लिया उसके अन्य सब व्रत अनायास ही सध जाते हैं, पर इस व्रत का पालन करना कोई सामान्य बात नहीं है। स्त्री विषयक राग को जीतना बहुत कठिन है। इसको निम्न दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है।

तीव्र काम का परिणाम

दृष्टान्त–कोई पारसी एक थिएटर चलाता था। उसकी पत्नी बड़ी सुन्दर थी। वे दोनों रंग मंच पर अभिनय-प्रदर्शन करते थे। एक दिन वह स्त्री के साथ रंगमंच पर अभिनय कर रहा था। एक मनुष्य तीव्र रागवश कुछ उलटा-सीधा कागज पर लिखकर स्टेज पर फेंकता है। वह स्त्री उस कागज को दिया सिलाई से जलाकर पैरों से कुचल देती है। इधर स्त्री ने उस जले कागज को पैरों से कुचला, उधर उस मनुष्य ने अपना गला कटार से काट डाला। राग बड़ा दु:खदायी होता है। इसलिए कहा जाता है, कामवासना सदैव आत्मघात का ही कारण बनती है और बनाती है।

ब्रह्मचर्य व्रत को दृढ़ करने के लिए आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि–ब्रह्मचारी को निम्न पाँच भावनाएँ भाना चाहिए।

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागा: पंच॥

– तत्त्वार्थसूत्र. अ. 7/7

1. **स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग**–स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथा सुनने का त्याग;
2. **तन्मनोहरांगनिरीक्षणत्याग**–स्त्रियों के मनोहर अंगों को निरखकर देखने का त्याग;
3. **पूर्वरतानुस्मरणत्याग**–अव्रत अवस्था में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग;

4. **वृष्येष्टरसत्याग**–कामवर्धक गरिष्ठ रसों का त्याग करना।

5. **स्वशरीरसंस्कारत्याग**–अपने शरीर को संस्कारों का त्याग अर्थात् अपने शरीर को नहीं सजाना-सँवारना।

ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ हैं, जिन्हें भाने से ब्रह्मचर्य दृढ़ होता है।

व्यवहार ब्रह्मचर्य व्रत के भेद–व्यवहार ब्रह्मचर्य व्रत चार प्रकार का होता है–

(1) शीलव्रत, (2) असिधारा व्रत, (3) ब्रह्मचर्य व्रत, (4) अखण्ड ब्रह्मचर्य।

(1) स्वदारसंतोष (शीलव्रत)–जो व्यक्ति अपनी धर्मानुकूल विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री पर नजर नहीं रखता, उसे स्वदारसंतोष व्रत कहते हैं। इस प्रकार के ब्रह्मचर्य के शास्त्रों में अनेक दृष्टान्त पाये जाते हैं। निम्न दृष्टान्त दृष्टव्य है।

स्वदार संतोषी सेठ सुदर्शन

सेठ सुदर्शन अपने जीवन में स्वदारसन्तोष अपना चुका था। सेठ सुदर्शन बहुत ही रूपवान था। एक बार की बात है कि नगर के राजा की रानी ने अपनी कुछ दासियों को लेकर सेठ सुदर्शन को महल पर बुलवा लिया। पुरुषों द्वारा शीलभंग (बलात्कार) करने की घटना सुनने को बहुत मिलती हैं किन्तु स्त्रियों द्वारा ऐसी घटना करना, बहुत ही कम देखने में आती है। यहाँ महल में रानी ने सेठ सुदर्शन के साथ ऐसा ही किया। रानी ने उसे पलंग पर डालकर बलात्कार करना चाहा। बार-बार, आलिंगन किया, सेठ सुदर्शन स्वदार संतोषी था, अत: उसे भोग न सकी। अन्त में जब रानी असफल रहती है तो दोष लगाती है। सेठ को फाँसी का आदेश मिल जाता है। सेठ को फाँसी लगाने के लिए जैसे ही सूली पर लटकाते हैं तो फाँसी का फंदा फूलों का हार बन जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वदारसन्तोष व्रत के कारण सेठ सुदर्शन की सूली सिंहासन बन गयी। समाज के प्रति व्यक्ति को अपनी भूमिकानुसार यह व्रत पालन करना चाहिए।

महिला समाज में सीता को देखिए। रावण ने सीता को अनेक प्रलोभन दिये, किन्तु सीता ने यही कहा कि, अगर तुम मुझे हाथ लगाओगे तो नरक जाओगे। तुम्हारा यह सब वैभव मेरे लिए मिट्टी के समान है। तात्पर्य यह है कि शील की महिमा अद्‌भुत है। सीता की अग्नि परीक्षा में अग्नि नीर बन जाती है और वह सिंहासन पर जा बैठती है। यह सब शीलव्रत का ही प्रताप था। ऐसे थे हमारे प्रचीन स्त्री-पुरुष। किन्तु आज भौतिक दानव का बोलबाला है। आज के

युवा-युवतियाँ फिल्म, टेलीविजन आदि देखते हैं और वैसा ही अपने जीवन में उतारने की कोशिश करते हैं। फिर शील कैसे बच सकता है? आज फैशन में लड़के-लड़कियों की पहचान तक नहीं हो पाती। क्लबों की सजावट, होटलों की बनावट, साड़ियों की चमक, पैंटों की किरीज, जूतों की चमक, होठों की लाली, नाखून की पालिश, चमड़े का सुन्दर पर्स, चाल में नजाकत, बात में बल, चेहरे पर सफेदी, नयनों में गरीबी और व्यवहार में उग्रता, यह क्या भारत का आदर्श है, क्या यही भारतीय संस्कृति है? कदापि नहीं। हमारी भारतीय संस्कृति ऐसी नहीं है। भारत तो महान् देश है। इसमें महान शीलवान मनुष्य पैदा हुए हैं। ऐसी भूमि पर यदि कुशील का खेल होगा तो क्या होगा? भाई अगर तुम इस देश को, समाज को अपने कुटुम्ब को आदर्श बनाना चाहते हो तो आपको ब्रह्मचर्य अपनाना होगा। कहा भी है –

शीलधारी को मिलती है, सुमुक्ति नार,
शील रत्न मोटा रत्न, है सब रत्नों की खान;
शील रत्न मत छोड़िए, जब तक घट में प्राण।
परनारी पैनी छुरी, तीन ओर से खाये,
धन छीजै योवन हरे, मरे नरक में जाये।।

शीलव्रतधारी में अनेक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसको जानने के लिए निम्न दृष्टान्त पठनीय है –

शीलव्रत की महिमा

एक नगरी के अन्दर एक महिला एवं पुरुष स्वदारसन्तोष व्रत का पालन करते थे। एक दिन पुरुष व्यापार करने के लिए बाहर चला जाता है। जाते समय वह अपनी स्त्री से कहता है कि देखों मैं कुछ दिनों के लिए बाहर जा रहा हूँ, तुम पीछे से शीलव्रत का पालन करते रहना। स्त्री कहती है कि–ठीक है स्वामी। तुम भी शीलव्रत पर दृढ़ रहना क्योंकि बाहर बहुत सुन्दर-सुन्दर युवतियाँ मिलती हैं। सेठ बाहर चले जाते हैं। एक दिन उस नगरी का राजा हाथी पर सैर कर सेठानी के महल के नीचे से गुजरता है उसकी दृष्टि सेठानी पर पड़ती है, और वह सेठानी पर मोहित हो जाता है। राजा महलों में वापस आता है और आकर विचार करने लगता है कि किस तरह उस रूपवान महिला से मिलना चाहिए। वह उस स्त्री से मिलने के लिए भिखारी का वेश धारण कर लेता है और भिक्षा माँगने लगता है; प्रतिदिन उस महिला के पास भिक्षा माँगने जाने लगता है। इधर वह धर्मात्मा स्त्री, शीलव्रती महिला उस भिखारी को भिक्षा देती रहती है। एक दिन उस बनावटी साधु ने विचार किया कि जिस हेतु हम फकीर बने वह मतलब हल नहीं हो रहा है। उससे ऐसी वस्तु मांगी जाये जो वह मुझे समय पर न दे सके। माघ का महीना था, फकीर ने भिक्षा में आम के फल माँगे। वह सेठानी सोचती है कि माघ के महीने में मैं आम कहाँ से ला सकती हूँ फिर भी विचार करती है कि अगर साधु घर से वापस जाये तो यह दु:ख की बात है। अत: सेठानी प्रभु से प्रार्थना करती है कि अगर मेरे पति बाहर गये हुए शीलव्रत में सच्चे हैं

तो यहाँ आँगन में आम का पेड़ खड़ा हो जाये। आँगन में आम का पेड़ खड़ा हो जाता है। दूसरी बार वह कहती है कि यदि मैंने पर-पुरुष को अन्य दृष्टि से स्वप्न में भी देखा हो तो, इस वृक्ष पर फल लग जाये। वृक्ष पर तुरंत फल लग जाते हैं। तीसरी बार वह कहती है कि यदि नगर के राजा का शील सच्चा है तो आम भी पक जायें। अब आम पकते नहीं है। राजा इस दृश्य को देखकर शर्मिन्दा हो जाता है। वह भिखारी के रूप में कहता है कि हे माता! मुझे क्षमा कर दीजिए और वह अपने जीवन में शीलव्रत धारण कर लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शीलव्रत से मनुष्यों में अद्‌भुत शक्ति का समावेश हो जाता है।

असिधारा व्रत--यह ब्रह्मचर्य व्रत का दूसरा प्रकार है। युवा स्त्री व युवा पुरुष को पर्याप्त निमित्त साधन उपलब्ध रहते हुए वे जब ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करते हैं, तब उसे असिधारा व्रत कहते हैं। जैसे पति-पत्नी का ब्रह्मचर्य से रहना। इसको निम्न दृष्टान्त से समझा जा सकता है।

असिधारा व्रत की महिमा

एक नगर के अन्दर विजय नाम का एक लड़का रहता था तथा एक अन्य नगर में एक विजया नाम की लड़की रहती थी। इन दोनों का ब्रह्मचर्य का नियम इस प्रकार था कि विजया तो कृष्ण पक्ष में ब्रह्मचर्य का पालन करती थी और विजय शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य का पालन करता था। संयोगवश उन दोनों का आपस में विवाह हो जाता है। जब दोनों को एक दूसरे के नियमों का पता चला तो दोनों ब्रह्मचर्य से रहने लगे और आपस में तय करते हैं कि जब तक हमारे व्रतों का किसी को पता नहीं चलेगा, तब तक हम घर में रहते हुए असिधारा व्रत का पालन करते रहेंगे और पता चलने पर बाद में हम दोनों क्रमशः मुनि एवं आर्यिका दीक्षा ले लेंगे। इस प्रकार रहते-रहते उन्हें बारह वर्ष बीत जाते हैं। होनहार बलवान होती है। एक बार एक व्यक्ति ने पानी छानकर जीवाणी नहीं की। वह व्यक्ति घबरा जाता है और किसी मुनिराज के पास जाकर उन्हें सब बात बता देता है। मुनिराज बताते हैं कि इस नगरी में दो प्राणी असिधारा व्रत पाल रहे हैं। यदि तुम उन्हें भोजन कराओ तो आपका पाप नष्ट हो सकता है। तब वह व्यक्ति कहता है कि इस बात का मुझे पता कैसे चलेगा कि वे व्यक्ति कौन हैं। तब महाराज जी कहते हैं कि भण्डारे में एक काले रंग का चन्दोवा बाँध दो, जब वे आयेंगे तो वह चन्दोवा सफेद हो जायेगा। अब वह व्यक्ति पूरे नगर को दावत देता है। लेकिन चन्दोवा काला ही रहता है, सफेद नहीं हुआ। तब वह व्यक्ति नगर में खोज करता है कि कौन व्यक्ति भोजन करने को नहीं आया, पता लगने पर उन दोनों को आमन्त्रित किया जाता है। तब अचानक चन्दोवा सफेद हो जाता है। उनके असिधारा व्रत का लोगों को पता चल जाता है। तब वे घर में एक मिनिट भी नहीं रहते। तुरन्त दोनों वन में जाकर गुरुओं से दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। तपस्या में लीन होकर अन्ततोगत्वा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत–जो विवाहित नवबाड़ सहित सदाकाल ब्रह्मचर्य व्रत को पालता है, वह ब्रह्मचर्य नामक सातवीं प्रतिमा का धारी होता है। वह अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निका, दस लक्षण आदि दिनों में उपवास आदि रखता है। जिस प्रकार कोई किसान अपने धान्य आदि को सुरक्षित करने के लिए खेत को चारों ओर से बाड़ से बाँध कर पूर्ण सुरक्षा प्रदान करता है, उसी प्रकार इस ब्रह्मचर्य व्रत का पालक अपने ब्रह्मचर्य को 9 प्रकार बाड़ से बाँधकर अपने को सुरक्षित रखता है। नवबाढ़ को स्पष्ट करते हुए पं. बनारसीदास जी कहते हैं कि–

तियथल वास प्रेम रुचि निरखन, दे परीछ भाखै मधु वैन।
पूरव भोग केलि इस चिंतन, गुरु आहार लेत चित चैन।।
करि सुचि तन सिंगार बनावत, तिय पर जक मध्य सुख सैन।
मनमथ-कथा उदर भरि भोजन, ये नौवाड़ि कहै जिन बैन।।

अखंड ब्रह्मचर्य–जो स्त्री या पुरुष विवाह ही नहीं करते, अखंड ब्रह्मचर्य का नवबाड़ सहित पालन करते हैं वे बाल ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

ब्रह्मचर्य की महिमा–

आचार्य शिवकोटि कहते हैं –

तेल्लोक्काट्विडहणो कामग्गी विसयरुक्खपज्जीलओ।
जोव्वणतणिल्लचारी ज ण डहइ सो हवइ धण्णो।।

- भगवती आराधना, 1115

कामाग्नि विषयरूपी वृक्षों का आश्रय लेकर प्रज्वलित महाग्नि, त्रैलोक्यरूपी वन को यह जलाने को उद्यत है। परन्तु तारूण्य रूपी तृण पर संचार करने वाले जिन महात्माओं को वह जलाने में असमर्थ है, वे महात्मा धन्य हैं। पं. आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत के चौथे अध्याय 99वें श्लोक में कहा है कि–यौवनरूपी दुर्गम वन में विहार करते हुए जो युवावस्था में संयम धारण करके लोगों को सत् शिक्षा देता है वह वृद्धावस्था के बिना भी वृद्ध है।

ब्रह्मचर्य में अपार शक्ति होती है, अखंड ब्रह्मचर्य को पालने वाले को कई तप ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाया करती हैं, किन्तु ब्रह्मचर्य का अन्तिम फल मोक्ष सुख ही है।

आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि ब्रह्मचर्य को निम्न पाँच दोषों अर्थात् अतिचारों रहित पालना चाहिए

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीड़ाकामतीव्राभिनिवेशाः।।

- तत्त्वार्थ सूत्र, अ. 7/28

1. परविवाहकरण–दूसरों के पुत्र-पुत्रियों का विवाह कराना।
2. इत्वरिकापरिगृहीतागमन–पति सहित व्यभिचारिणी स्त्री के घर आना-जाना, लेन-देन रखना, राग-द्वेषपूर्वक वार्तालाप करना।
3. इत्वरिका-अपरिग्रहीतागमन–पति रहित वेश्या व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास आना-जाना, लेन-देन रखना।
4. अनंगक्रीड़ा–काम के अंग योनि और लिंग हैं, इनके सिवा अन्य अंगों से कामसेवन करना।
5. कामतीव्राभिनिवेश–काम सेवन की तीव्र अभिलाषा रखना, इसके सिवा अन्य कार्यों का नहीं रुचना कामतीव्राभिनिवेश है। इस प्रकार उपर्युक्त पाँच अतिचारों (दोषों) रहित ब्रह्मचर्य को अखण्ड रखना चाहिए।

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य व्रत पाँचों ही व्रतों में प्रधान और श्रेष्ठ होता है। इसका पालन करना बहुत कठिन होता है। जो भव्य जीव इसका पालन करते हैं उनमें असीम शक्ति का प्रवाह होने लगता है वे कई ऋद्धियों के धारक भी हो जाते हैं। भोजन खान-पान, संगति आदि का ब्रह्मचर्य से गहरा सम्बन्ध है। यदि आपका भोजन मांसाहारी, गरिष्ठ है, या आप कुसंगति में रहते हैं, तब ब्रह्मचर्य का पालन करना असंभव है। दूसरी ओर शाकाहारी भोजन एवं सुशीलों की संगति ब्रह्मचर्य साधना में बहुत सहायक है। यह ब्रह्मचर्य जीवन में उन्नति करने का मूल मंत्र है। अत: इसको धारण किये बिना जीवन को सुन्दर नहीं बनाया जा सकता। स्वयं को संयत रखने की चेष्टा प्रत्येक विवेकशील प्राणी को करना चाहिए। हृदय को काम-वासनाओं का घर नहीं बनाना चाहिए अन्यथा सद्वृत्तियाँ छोड़कर चली जायेंगी। सदैव अपने ब्रह्म स्वभाव को स्मरण करना चाहिए, कभी भी कुचेष्टाओं में नहीं फँसना चाहिए। जब तक हम मन-वचन-काय की बाह्य चेष्टाओं को समेटकर स्वयं में सीमित नहीं करेंगे तब तक ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं हो सकती। अत: शील ही मानव का सच्चा आभूषण होता है, इसे सदैव धारण करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है अपनी परोन्मुखी उपयोग की धारा को स्व की ओर मोड़ना। वाह्य दृष्टि अन्तर्दृष्टि बन जाए, बाह्य पथ अन्तर्पथ बन जाये–वस्तुत: यही उद्देश्य है ब्रह्मचर्य के पालन का। अत: अपने क्षुद्र वासनाओं की परिपूर्ति के लिए अपने अमूल्य, जीवन को कहीं खो मत देना। वासनाएँ तो क्षणिक प्रभावी होती हैं। वे अग्नि के समान हैं, मात्र जलाकर भस्म करने का ही

कार्य करती हैं। आपका सलोना रूप, आपकी समस्त सुघड़ सुन्दरता, आपका यह मनोरम श्रृंगार, आपको वहाँ पर कभी भी ले जाने में समर्थ नहीं होगा, जहाँ पर अनन्त सौन्दर्य की सरिता प्रवाहित होती रहती है। अत: जिसने सत्पुरुषों के समागम द्वारा विष समान विषयों से विरक्त होकर अपने अतीन्द्रिय आत्मसुख का पान किया है, जो सर्व से उदासीन होकर आत्मचर्या में प्रगट हुआ है वास्तव में वही सच्चा ब्रह्मचारी है। कहा गया है-

मिट जाये सब मन के विकार, प्रगटे निज में समयसार।
आतम हो जाये निर्विकार, यह है ब्रह्मचर्य वैभव अपार।।

अपरिग्रह व्रत

आज विश्व भौतिक दृष्टि से उन्नति के पथ पर प्रगति करते हुए भी अवनति की ओर जा रहा है। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची है, नित्य बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य पर्याप्त सामग्री के अभाव में असन्तोष बढ़ रहा है। आज मनुष्य एक-दूसरे की ओर संशय और भय की दृष्टि से,देख रहा है। एक व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति को हड़पने के लिए अवसर की तलाश में है। जीवन व मृत्यु के झूले में झूल रहा है और निराश होकर अपने दिन गिन रहा है। आज जीवन भार बन चुका है। ऐसी दयनीय अवस्था आज विश्व में व्याप्त है। ऐसी अवस्था से छुटकारा पाने का उपाय केवल अपरिग्रह है। अपनी तृष्णाओं और आकांक्षाओं पर नियन्त्रण है। अपरिग्रह का प्रतिपक्षी परिग्रह है। यह परिग्रह अर्थात् संचय ही आज विश्व की मुख्य समस्या का कारण है। आवश्यकता से अधिक जोड़ना दूसरे के लिए अभाव उत्पन्न करना है। यह धर्म की दृष्टि से बहुत बड़ा पाप है, जिससे अधिकांश मानव आज अनभिज्ञ हैं।

अपरिग्रह का शाब्दिक अर्थ-अपरिग्रह तीन शब्दों से मिलकर बना है। अ=रहित; परि=चारों ओर से; और ग्रह=संग्रह करना। अर्थात् चारों ओर से संग्रह करना ही परिग्रह है और इस संग्रह से रहित होना, अपरिग्रह है। जो पुण्यात्मा इसको अपने आचरण में लाता है, इसे उत्साह से पालता है, वही अपरिग्रही होते हैं।

अपरिग्रह का विलोम परिग्रह है। यह पाप ही है। जैसे क्षमा का विरोधी क्रोध, मार्दव का विरोधी मान; उसी प्रकार आकिंचन्य का विरोधी परिग्रह है, अर्थात् आकिंचन्य के अभाव को परिग्रह अथवा परिग्रह के अभाव को आकिंचन्य कहा जाता है। इस प्रकार आकिंचन्य का दूसरा नाम अपरिग्रह भी है। परिग्रह के त्याग से आकिंचन्य धर्म प्रकट होता है, इसलिए पहले परिग्रह को समझना होगा।

परिग्रह पाप का स्वरूप-आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि-

मूर्च्छा परिग्रहः॥

-तत्त्वार्थसूत्र. 7.17

अर्थात् जो 'मूर्च्छा' है वही परिग्रह है।

मूर्च्छा किसे कहते हैं? परद्रव्य में ममत्व बुद्धि का नाम मूर्च्छा है जो जीव वाह्य-संयोग विद्यमान न होने पर भी ऐसा संकल्प करता है कि 'यह मेरा है' वह परिग्रह सहित है, वाह्य द्रव्य तो निमित्त मात्र हैं। इसी बात को आचार्य अमृतचन्द्र इस प्रकार कहते हैं –

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः॥

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 111

यह जो मूर्च्छा है इसे ही निश्चय से परिग्रह जानना चाहिए मोह के उदय से उत्पन्न हुआ ममत्वस्वरूप परिणाम ही मूर्च्छा है।

परिग्रह जीव को व्याकुल करता है, अशान्त करता है। परिग्रह के कारण ही आज समाज में असमानता है, अशान्ति है, सब झगड़े हैं। कहा है -

परिग्रह मन व्याकुल करे, व्याकुलता दुःख छोर।
जो परिग्रह से सुख लहै, ते मूरख सिरमोर॥

जो मनुष्य परिग्रह में सुख समझते हैं वे मूर्खों में शिरोमणी हैं। अधिक सम्पत्ति सदाचार की शिक्षिका नहीं अपितु दुराचार की देन है। संसार में पाप का मूल परिग्रह ही है। इसका जिसने सम्बन्ध किया, उसी का संसार में पतन हुआ। आज यदि मनुष्य इस परिग्रह में आसक्त न होते, तब यह समाजवाद या कम्युनिस्ट क्यों होते; आज क्या कहें–परिग्रह की मान्यता समाज में अतिव्याप्त है। आज बड़ा वह कहलाता है, जिसके पास भौतिक सामग्री का विशाल भण्डार है, जिसे संसार के विषय-भोगों और इन्द्रियों की आकांक्षा पूर्ति के लिए सभी साधन सुलभ हों। आज बड़ा वह कहलाता है जिसके पास विलासिता के सभी साधन उपलब्ध हों और दूसरों को दण्ड देने के अधिकार हों। जिसके पास मकान, नौकर-चाकर, कारखाने हों वही व्यक्ति समाज की दृष्टि में, सरकार की दृष्टि में बड़ा है। किन्तु आध्यात्म क्षेत्र में, मोक्षमार्ग में आचार्य उसको बड़ा मानते हैं जिसकी आत्मा भौतिक सामग्री और आकांक्षा के भार से हलकी है। जो व्यक्ति सांसारिक वासनाओं के भार से दबे पड़े हैं, वे बड़े कैसे हो सकते हैं? उनकी आत्मा बोझ को ढोते-ढोते छोटी हो गयी है, वे सब तो करुणा के पात्र हैं। वे तो पशु के समान हैं। जो बोझ से दबा जा रहा है, भार में जो वस्तु है उसका कोई रस नहीं आ रहा है। आश्चर्य की बात तो यह है कि दूसरे उसे बड़ा माने तो माने, किन्तु वह व्यक्ति स्वयं बोझ का अहंकार करता है, अपने

आप को बड़ा समझ रहा है। उस भार के कारण उसको जो वेदना हो रही है, उस वेदना को वह दूसरों पर प्रकट नहीं करना चाहता। ऐसे व्यक्ति मन में परिग्रह की आसक्ति और अहंकार की भावना रखकर भगवान के चरणों की आराधना करते हैं। उनकी यह आराधना कैसे सफल हो सकती है? इसमें आश्चर्य की क्या बात है कि परिग्रहधारी वास्तव में संसार में कभी भी बड़े नहीं हो सकते। उनमें कुछ बड़ी चीजें अवश्य हैं वे हैं उनकी चिंताएँ, उनके मन में विशाल भय व्याप्त रहता है, उनकी तृष्णाएँ बड़ी हैं, और उनके पाप भी बहुत बड़े हैं। इसलिए आचार्य कहते हैं कि, हे भव्य! यदि संसार से तुझे तरना है, पार होना है तो परिग्रह रूपी बोझ को हल्का कर अन्यथा संसार में तुम भी पत्थर लिपटी मिट्टी के समान नीचे को डूबते जाओगे।

इस परिग्रह को जिसने ग्रहण किया, उसने कष्ट पाया जैसे सुभौम ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती उसमें लीन रहे, तो उन्हें सातवें नरक में जाना पड़ा, दूसरी ओर भरत चक्रवर्ती जैसे घर में रहते हुए छियानवे हजार रानी, चौदह रत्न और नवनिधि, चौरासी लाख हाथी, अठारह करोड़ घोड़े रहते हुए भी निष्परिग्रही थे, जब वे इस समस्त सम्पदा को छोड़कर मुनि बने तो अन्तमुर्हूत में केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

परिग्रह अर्थात् संग्रह करने की तृष्णा की कोई सीमा नहीं होती। इसलिए पं. बनारसीदास जी कहते हैं कि–

जो दस बीस पचास भये सत्, होत हजार तो लाख चहेगी।
कोटी, अरब्य, खरब्य, असंख्य की, प्रतिपति होने की चाह जगेगी।
स्वर्ग-पाताल का राज्य करो, तृष्णा अघ की आग लगेगी।
सुन्दर एक सन्तोष बिना, तेरी तो भूख कभी न भगेगी।

जब मनुष्य के पास दस-बीस या पचास रुपये हो जाते हैं तब हजार या लाख रुपये होने की इच्छा जागृत हो जाती है, फिर हजार-लाख भी हो जायें तो करोड़, अरब-खरब होने की इच्छा हो जाती है। दूसरे शब्दों में इच्छायें मृगतृष्णा के समान हैं, जो कभी समाप्त नहीं होती। चाहे तीनों लोकों की सम्पदा भी मिल जाय फिर भी तृष्णा रूपी आग नहीं बुझेगी। अत: जो जीव संतोष रहित है उसकी तृष्णा की भूख कभी नहीं खत्म हो सकती। इसलिए संतोष धारण करना ही सुन्दर है अर्थात् सुखी होने का उपाय है।

अपरिग्रह के भेद–अपरिग्रह दो प्रकार का होता है। प्रथम निश्चय अपरिग्रह एवं दूसरा व्यवहार अपरिग्रह।

निश्चय अपरिग्रह–आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह, राग-द्वेष आदि भाव निश्चय परिग्रह और ऐसे भाव न उठना ही निश्चय अपरिग्रह है। दूसरे शब्दों में मूर्च्छा को ही निश्चय परिग्रह जानना चाहिए और मूर्च्छा रहित होना ही निश्चय अपरिग्रह है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय को प्राप्त हुआ जो ममत्व परिणाम है, अर्थात् 'यह मेरा है' ऐसा परिणाम ही मूर्च्छा है।

ममत्व परिणाम ही वास्तविक परिग्रह है इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं–

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिपरिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 112

परिग्रह का मूर्च्छा लक्षण करने से व्याप्ति भले प्रकार से घटित होती है, क्योंकि बाह्य परिग्रह बिना भी मूर्च्छा करने वाला पुरुष निश्चय से बाह्य परिग्रह सहित है। दूसरे शब्दों में जहाँ-जहाँ मूर्च्छा है वहाँ-वहाँ परिग्रह अवश्य है और जहाँ मूर्च्छा नहीं है, वहाँ परिग्रह भी नहीं है। मूर्च्छा की परिग्रह के साथ व्याप्ति है। जैसे कोई जीव नग्न है, बाह्य परिग्रह से रहित है, परन्तु यदि अन्तरंग में मूर्च्छा अर्थात् ममत्वपरिणाम हैं तो वह परिग्रहवान् ही है और एक ममत्व के त्यागरूप दिगम्बर मुनि के पीछी, कमण्डलुरूप बाह्य परिग्रह होने पर भी अन्तरंग में ममत्व नहीं है, इसलिए वह वास्तविक परिग्रह रहित ही है।

व्यवहार अपरिग्रह–अपनी स्व आत्मा के अतिरिक्त बाह्य सभी चेतन व अचेतन वस्तुओं का त्याग करना व्यवहार अपरिग्रह है। दूसरे शब्दों में वाह्य परिग्रह को व्यवहार परिग्रह कहते हैं और इसके त्याग को व्यवहार अपरिग्रह कहते हैं। वाह्य परिग्रह निमित्त कारण है निश्चय परिग्रह का।

परिग्रह के भेद–आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं –

अतिसंक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च वाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु।।

- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 115

यह परिग्रह अत्यन्त संक्षेप से अन्तरंग और बहिरंग दो प्रकार का है। पहला अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का तथा दूसरा बहिरंग परिग्रह दो प्रकार का होता है।

1. **अन्तरंग परिग्रह**–आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं –

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः।।

- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 116

मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (ग्लानि) स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद ये चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह होते हैं।

2. **वाह्य परिग्रह**–आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं –

अथ निश्चित्तसचित्तौ वाह्यपरिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
नैष: कदापि संग: सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 117

बाह्य परिग्रह अचेतन और सचेतन के भेद से दो प्रकार का है। सोना, चाँदी, मकान, वस्त्रादि चेतन रहित पदार्थ अचित्त तथा पुत्र, कलत्र, दासी-दासादि चेतनासहित पदार्थ सचित्त कहे जाते हैं। ये दोनों ही प्रकार के परिग्रह हिंसा के बिना नहीं है।

बाह्य परिग्रह के सन्दर्भ में आचार्य शिवकोटि इस प्रकार कहते हैं कि–

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदं।
यानं शय्यासनं कुप्यं भांडं संज्ञा बहिर्दश।।११५६।।

(भगवतीआराधना)

क्षेत्र (खेत), वास्तु (मकान दुकान आदि), धन (सोना-चाँदी), धान्य (चावल, गेहूँ, आदि अनाज), द्विपद (दो पैर वाले जीव, जैसे दास दासी आदि), चतुष्पद (चार पैर वाले जीव, जैसे हाथी, घोड़ा, गाय भैंस आदि), यान (सवारी-पालकी, रथ आदि) शय्यासन (पलंग, कुर्सी सिंहासन आदि सोने बैठने की चीजें), कुप्य (सोना और चाँदी के अतिरिक्त ताँबा आदि अन्य सब धातु या वस्त्र आदि) और भांड (बर्तन, हल्दी, जीरा, मिर्च आदि मसाले अथवा किराने का सामान)–ये दस प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं।

विशेष–वाह्य परिग्रह के दस भेद विशेषतया गृहस्थों की (अणुव्रतियों की) दृष्टि से हैं। महाव्रतियों की अपेक्षा चेतन और अचेतन–ये दो भेद ही पर्याप्त हैं। दस भेदों में द्विपद का अर्थ दासी-दास किया गया है, वहाँ स्त्री, पुत्रादि का ग्रहण नहीं किया गया पर महाव्रतियों की दृष्टि से किये गये चेतन और अचेतन–इन दो भेदों से स्त्री, पुत्र आदि सभी चेतन का ग्रहण समझना चाहिए। द्विपद के अर्थ में इनके ग्रहण न करने का कारण यह है कि यदि कोई द्विपद प्रतिमाधारी परिग्रह का परिमाण करे तो वह माता, स्त्री, पुत्र, पुत्री, पौत्र आदि की संख्या निश्चित नहीं कर सकता। अत: द्विपद परिग्रह में वहाँ दासी-दास का ही ग्रहण समझना।

परिग्रही को कभी भी शान्ति का अनुभव नहीं होता, वह एक भ्रम में जीता रहता है। उसे सुख नहीं सुखाभास होता है। दूसरी ओर जो परिग्रह नहीं रखता, त्याग प्रवृत्ति जिसकी रहती है, वह हमेशा सुख शान्ति का अनुभव करता है। गाँधी जी का त्याग उनको 'महात्मा गाँधी' बना देता है। यह बात निम्न दृष्टान्त से समझी जा सकती है।

गाँधी जी का त्याग

गाँधी जी जब विदेश से वकालत की पढ़ाई करके अपने देश लौटे तो यहाँ भारत की परतन्त्रता को देखकर चिन्तित हो गये। उन्होंने सोचा कि मुझे अपने देश को स्वतंत्र कराना चाहिए। अत: वे अपने देशवासियों को जानने के लिए निकल पड़े। एक जगह वे देखते हैं कि नदी के किनारे एक महिला अपनी धोती धो रही है, किन्तु उसके पास अपना तन ढकने के लिए दूसरी धोती नहीं है। आधी को अपने शरीर पर लपेटे हुए है और आधी को धो रही है। यह देख गाँधी जी बहुत दु:खी होते हैं। वे अपनी चादर उतारते हैं और दूर से ही नदी में बहा देते हैं। जब यह चादर बहकर उस महिला के समीप आती है तो वह महिला उसको लपककर पकड़ लेती है और अपना तन पूरा ढक लेती है। गाँधी जी इसी क्षण से अपने सब परिग्रह का त्याग कर देते हैं और मात्र एक छोटी-सी धोती और दुपट्टे को पहनने का ही जीवन पर्यन्त प्रमाण कर लेते हैं। यह त्याग गाँधी जी का संसार भर में प्रसिद्ध है, जिसके कारण वे महात्मा गाँधी कहलाने लगे।

परिग्रह अभिमान का कारण होता है, इस को पं. बनारसीदास जी स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

कंचन-भंडार भरे मोतिन के पुँज परे,
घने लोग द्वार खरे मारग निहारते।
जान चढ़ि डोलत हैं झीने सुर बोलत हैं,
काहु की छू औरह नेक नाके ना चितारते॥
कौलौं धन खांगे कोउ कहै यौं न लांगे,
तेई, फिरै पाँय नागे कांगे परपग झारते।
एने पै अयाने गरबाने रहें विभौ पाय,
चिक है समझे ऐसी धर्म ना संभारते॥

जिसके यहाँ सोने के भण्डार भरे रहते हैं, मोतियों के ढेर पड़े हैं, बहुत से लोग उनके आने की राह देखते हुए दरवाजे पर खड़े रहते हैं, जो वाहनों पर चढ़कर घूमते हैं, झीनी आवाज में बोलते हैं, किसी की भी ओर जरा ठीक से देखते तक नहीं हैं, जिनके बारे में लोग कहते हैं कि इनके पास इतना धन है कि उसे ये न जाने कब तक खायेंगे, इनका धन तो ऐसे-वैसे कभी खत्म ही नहीं होने वाला है, वे ही एक दिन (पाप कर्म का उदय आने पर) कंगाल होकर नंगे पैर घूमते हैं और दूसरों के पैरों की मिट्टी झाड़ते रहते हैं, सेवा करते हैं।

अहो! ऐसी स्थिति होने पर भी अभिमानी जीव वैभव पाकर अभिमान करता है, परिग्रह के कारण गर्व करता है। धिक्कार है उनकी उल्टी समझ को, वे यह नहीं समझते कि सुख-शान्ति केवल अपरिग्रह में ही है।

सब वैभव होते हुए भी जो उससे अलिप्त रहता है उसमें मूर्छा नहीं करता वह मनुष्य अपने साथ-साथ देश का भी नाम उज्ज्वल करता है। इसका जीता-जागता उदाहरण हमारे देश के भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्व. लालबहादुर शास्त्री जी हैं। उनका त्याग, उनका अपरिग्रहत्व भी अनुपम था। उनके जीवन की एक घटना निम्न दृष्टान्त के माध्यम से दे रहा हूँ -

शास्त्री जी की महानता

एक बार शास्त्री जी को चार पाँच साड़ियों की आवश्यकता पड़ी। अत: उसे क्रय करने के लिए वह सरकारी गाड़ी में एक कपड़ा मिल में जाते हैं। मिल का मैनेजर बहुत प्रसन्न होता है अपने सामने देश के प्रधानमंत्री को देखकर। वह बहुत आवभगत करता है, किन्तु शास्त्री जी उससे कहते हैं कि भाई मुझे अपने घर के लिए कुछ साड़ियाँ चाहिए, उन्हें दिखाओ। मैनेजर शास्त्री जी को एक से एक बढ़िया साड़ियाँ दिखाता है। कोई पाँच सौ रुपये की तो कोई छह सौ रुपये की। शास्त्री जी कहते हैं कि भाई मुझे इतनी महँगी साड़ियाँ नहीं चाहिए, हल्की चाहिए, कम कीमत की दिखाओ। अब मैनेजर कहता है-सर आप इन्हें हल्की ही समझिये, इसके कोई दाम नहीं हैं, यह तो मेरा सौभाग्य है कि आप यहाँ आये। शास्त्री जी कहते हैं, यह सब नहीं चलेगा। मैं जो तुमसे कह रहा हूँ, उस पर ध्यान दो, मुझे कम कीमत की धोतियाँ दिखाओ और दाम बताते जाओ। तब मिल मालिक चार सौ-तीन सौ की साड़ियाँ दिखाता है। शास्त्री जी फिर कहते हैं कि भाई मुझे पचीस रुपये के आसपास वाली साड़ियाँ चाहिए, इससे अधिक नहीं। विवश होकर वह मैनेजर पचीस रुपये वाली हल्की साड़ियाँ दिखाता है। शास्त्री जी उनमें से कुछ साड़ियाँ चुन लेते हैं। पूरी कीमत चुकाते हैं, मिल से बाहर आते हैं और अपनी कार में बैठ घर चले जाते हैं। यह है सादा जीवन, यह है विलासिता का त्याग, इसका नाम है संयम, इसका नाम है अपरिग्रह। आज संसार भर में शास्त्री जी का नाम प्रसिद्ध है।

परिग्रह त्याग करने का उपाय

इन्द्रियों के विषय मरीचिका के तुल्य हैं। सूर्य की किरणों के रेत में पड़ने से वन में मृगों को जल का भ्रम होता है, उसे मरीचिका कहते हैं। मृग जल समझकर उसके लिए दौड़ता है, वैसे ही लोग परिग्रह में सुख मानकर बड़ी उत्सुकता से इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ते हैं। सर्वप्रथम

इन विषयों को ही त्यागना चाहिए। इसके बाद समस्त आरम्भ त्यागकर छोड़ सकने योग्य सभी प्रकार के परिग्रहों को छोड़ देना चाहिए। बाल की नोक के बराबर भी छोड़ने योग्य परिग्रह को अपने पास नहीं रखना चाहिए। अपने पास न रखने से ऐसा आशय नहीं लेना चाहिए कि स्वयं न रखकर किसी दूसरे के अधिकार में रख दें, जैसा कि आजकल साधु संघ मोटर आदि रखते हैं और उसे किसी संघस्थ श्रावक को सौंप देते हैं। यह परिग्रह का त्याग नहीं है, अपितु उसका भोग है। यद्यपि साधु स्वयं मोटर में नहीं बैठते। उनका संकल्पजाल उसमें बराबर बना रहता है। अपरिग्रही साधु के लिए तो जो छोड़ा नहीं जा सकता, उस शरीर में भी ममत्व भाव त्यागने योग्य है। मोह के उदय से ममकार और अहंकार होते हैं। ममकार और अहंकार करने से आत्मा में राग होता है।

ममकार और अहंकार इन दोनों का स्वरूप इस प्रकार कहा है अपने शरीर वगैरह में 'यह मेरा है' अभिप्राय ममकार है। जो भाव कर्म जन्य है और निश्चयनय से आत्मा से भिन्न हैं, उन्हें अपना मानना अहंकार है। जैसे मैं राजा हूँ। इस प्रकार जिस परिग्रह को छोड़ना शक्य नहीं है उसमें भी ममकार करना जब परिग्रह है तब जिसका त्याग कर चुके हैं उसे ही प्रकारान्तर से अपनाना तो परिग्रह है ही।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि–

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः॥

– पुरुषार्थसिद्‌ध्युपाय, 124

पहले तत्त्वार्थ के अश्रद्धान में जिसने संयुक्त किया है ऐसा मिथ्यात्व और सम्यग्दर्शन के चोर, चार कषाय अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इनका त्याग करने से सम्यग्दर्शन होता है।

दूसरे शब्दों में यहाँ यह बताया गया है कि इन चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रहों का त्याग किस रीति से किया जाए। प्रथम ही यह जीव जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तब मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का नाश करता है। अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तो पाँच का नाश होता है और सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सात का नाश होता है। ये दो भेद अन्तरंग परिग्रह के हुए। तात्पर्य यह कि पहले यह जीव मिथ्यात्व नामक परिग्रह का त्याग करता है। तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होना ही मिथ्यात्व है। पश्चात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ को भी उसी तत्त्वार्थ के श्रद्धान के साथ विदा कर देता है, क्योंकि यह चारों ही सम्यक्त्व के चोर हैं, इनकी उपस्थिति में सम्यग्दर्शन नहीं रह सकता। इसीलिए अनन्त संसार का कारण जानकर इनका नाम अनन्तानुबंधी रखा है, इनकी वासना भी अनन्तकाल तक रहती है।

आगे आचार्य कहते हैं –

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः।
नियत ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 125

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ को छोड़कर फिर देशचारित्र के सम्मुख आता है, क्योंकि ये कषायें निश्चित रूप से एकदेश चारित्र को रोकते हैं।

आगे आचार्य कहते हैं कि–

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरंगसंगानाम्।
कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 126

अपनी शक्ति से मार्दव शौच, संयमादि दशलक्षण धर्म द्वारा अवशेष सभी अन्तरंग परिग्रहों का त्याग करना चाहिए। दूसरे शब्दों में अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का है। उनके नाम ऊपर बताए गए हैं। मिथ्यात्व, चौकड़ी रूप चार कषाय तथा हास्यादि नोकषाय, इस तरह चौदह भेद हैं, इनका श्रमपूर्वक त्याग करना चाहिए। इनमें से मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र का घात करती हैं। अप्रत्याख्यानावरणी देशचारित्र का घात करती हैं, अर्थात् श्रावक पद नहीं होने देती। प्रत्याख्यानावरणी नामक चार कषाएँ सकल संयम का घात करती हैं, अर्थात् मुनिपद नहीं होने देतीं तथा संज्वलनादि चार हास्यादि छह और तीन वेद ये सभी यथाख्यातचारित्र के घात में निमित्त हैं। इस प्रकार इन सभी व्रतों को क्रमपूर्वक धारण करके अन्तरंग परिग्रह को छोड़ना चाहिए।

आगे आचार्य अमृतचन्द कहते हैं –

बहिरंगादपि संगात् यस्मात्प्रभवत्यसंयतोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा।।

- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 127

बाह्य परिग्रह को, भले ही वह अचेतन हो या सचेतन हो सम्पूर्णरूप से छोड़ देना चाहिए, क्योंकि बहिरंग परिग्रह से भी अयोग्य अथवा निन्द्य असंयम होता है। दूसरे शब्दों में बाह्य परिग्रह में संसार के सभी पदार्थ प्रायः आ जाते हैं, इसलिए बाह्य परिग्रह के सजीव और अजीव ऐसे दो भेद किये हैं। रुपया-पैसा खेती आदि अजीव परिग्रह हैं और हाथी, घोड़ा, बैल, नौकर-चाकर आदि सजीव परिग्रह हैं–इनका भी एकदेश और सर्वदेश त्याग होता है।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं –

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम्।।

- रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 50

समस्त अन्तर-बाह्य परिग्रह से विरक्त जो अनगार अर्थात् घर नियत स्थान रहित वनखण्ड आदि में परम दयालु होकर निरालम्बी विचरण करते हैं। ऐसे ज्ञानी मुनीश्वरों के जो चारित्र होता है वह तो सकल चारित्र है और जो स्त्री, पुत्र, धन आदि परिग्रह सहित घर में ही निवास करते हैं, जिन वचनों के श्रद्धानी होते हैं, न्यायमार्ग का उल्लंघन नहीं करते हैं, पापों से भयभीत रहते हैं, ऐसे ज्ञानी गृहस्थों के विकल (एक देश) चारित्र होता है। दूसरे शब्दों में व्रत दो प्रकार के होते हैं–(1) अणुव्रत-इनका पालन गृहस्थ करते हैं। (2) महाव्रत–इनका मुनि पालन करते हैं। अणुव्रत में तो परिग्रह परिमाण सहित होता है जबकि महाव्रत में परिग्रह का सम्पूर्ण त्याग होता है।

इसलिए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि सर्वदेश त्याग न हो सके तो एक देश त्याग करना चाहिए–

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वं।।

– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 128

धन, धान्य, मनुष्य, गृह, सम्पदा इत्यादि परिग्रह सर्वथा छोड़ना शक्य न हो तो उसे कम कर देना चाहिए, क्योंकि त्यागरूप ही वस्तु का स्वरूप है। इस प्रकार अपनी सामर्थ्य अनुसार संयम को पालना चाहिए।

आगे आचार्य कहते हैं कि श्रावक को अपने कर्तव्य का निर्वाह करना चाहिए, धन का अर्जन धर्म नीति से करना ही श्रेष्ठ है, इसी प्रकार मुनि को अपने कर्तव्य का निर्वाह यथोचित रीति से करना चाहिए। दोनों यदि अपने कर्तव्य का जरा सा भी अतिक्रमण करें तो दोनों का जीवन बेकार है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए पं. बनारसीदास जी कहते हैं कि–

गृही बना पर उद्यम बिन हो, धन से वंचित यदि रहता।
श्रमण बना श्रामण्य रहित हो, धन में रंजित यदि रहता।।
ईख पुष्प आकाश पुष्पसम, इनका जीवन व्यर्थ रहा।
सही-सही पुरुषार्थ बन्ध है, जिस बिन सब दुःख गति रहा।

यदि गृहस्थ पुरुषार्थ पूर्वक धन का अर्जन नहीं करता और मुनि यदि धन में आसक्ति रखे तो दोनों का जीवन जीना व्यर्थ है, जिस प्रकार ईख का पुष्प और आकाश कुसुम दोनों ही

अर्थहीन होते हैं इनका कोई महत्त्व नहीं होता, उसी प्रकार इन दोनों का जीवन होता है। अतः सम्यग्पुरुषार्थ पूर्वक अपने-अपने कर्तव्यों का गृहस्थ और मुनि को पालन करना चाहिए। इसी उपाय से दोनों के दु:खों का अन्त संभव है अन्यथा नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्द सकल परिग्रह त्याग के सन्दर्भ में मुनियों के लिए कह रहे हैं –

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदंम्॥१८॥

मुनि यथाजात रूप होते हैं– जैसे जन्मता बालक नग्न रूप होता है, वैसे ही नग्नरूप, दिगम्बर रूप, मुनिराज का होता है। वह अपने पास कण मात्र भी कुछ परिग्रह नहीं रखते, तिल के छिलके के बराबर भी परिग्रह को ग्रहण नहीं करते। इसके विपरीत यदि ग्रहण करे तो वह मुनि निगोद को प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में यदि मुनिधर्म अंगीकार करके साधु अपने पास कुछ भी परिग्रह रखे तो वह जिनसूत्र की श्रद्धा रखने वाला कहाँ रहा, मिथ्यादृष्टि ही है और मिथ्यात्व का फल निगोद ही है।

इसी प्रकार आचार्य आगे कहते हैं–

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो॥

(अष्टपाहुड-लिंगपाहुड 5)

जो निर्ग्रन्थ नग्न दिगम्बर वेष धारण करके भी जो बहुत प्रयत्न करके, बहुत यत्नपूर्वक परिग्रह को जोड़ता है, उसमें लिप्त होता है, उसमें सम्मोहित होता है, उसकी रक्षा करता है, उसके लिए आर्त्तध्यान करता है, वह पाप से मोहित बुद्धिवाला श्रमण, श्रमण नहीं, पशु के समान है, अज्ञानी है।

इसके विपरीत जो मुनि अपने पास तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखता, अपनी आत्मा में लीन रहता है, उसमें नाना प्रकार की ऋद्धियाँ स्वतः ही प्रकट हो जाती हैं। उसके आशीर्वाद मात्र से ही संसारी दु:खी जनों का कष्ट मिटने लगता है। इस सन्दर्भ में निम्न दृष्टान्त पढ़ने योग्य है–

अपरिग्रह का चमत्कार

ईसा से कई शताब्दी पहले इजराइल एवं सीरिया की सीमाएँ एक-दूसरे से मिली हुई थीं। उन दोनों देशों में प्रायः लड़ाइयाँ होती रहती थीं। सीरिया अधिक बलवान था अतः उसकी विजय हो जाया करती थी। उसी समय एक घटना घटती है। सीरिया का सेनापति नामन बड़ा ही बलवान एवं कुशल सेनापति था। जब वह लड़ाई करने मैदान में जाता तो ऐसा गरजता कि मानो शेर आ रहा हो। उसे देखकर सैनिकों की बाँहें फड़कने लगती तथा दुश्मन दूर से ही भागने लगता था।

एक बार वह इजराइल को हराकर उनकी स्त्रियों को बन्दी बनाकर ला रहा था। अपने राज्य में लौटकर उसने एक यहूदी लड़की को अपनी दासी बना लिया। नामन के पास रहते हुए दासी के मन में नामन के प्रति आदर भाव जाग गया। नामन का शरीर पूरा गहनों से ढका रहता था। किन्तु दासी ने नामन को कई बार एक अंधे कमरे में कोने में बैठकर अपने हाथ-पैरों को घूरते देखा, फिर वह रोने लगता था। पता करने पर दासी को ज्ञात हुआ कि नामन को कोढ़ है, और कोढ़ धीरे-धीरे सारे शरीर में फैल चुका है। राज्य के हकीमों ने बहुत उपचार भी किया, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। इतना जानकर दासी सोचती कि ऐसा क्या किया जाये कि जिससे नामन का कोढ़ खत्म हो जाये। उसे अपने देश इजराइल के सन्त ऐलिसा की याद आती है, जो महान् तपस्वी तथा अपरिग्रही थे। उन्होंने कई मनुष्यों की बीमारियों को मिनटों में ठीक किया था। दासी यहूदी रानी से कहती है कि यदि नामन जो आपका सेनापति है, को इजराइल के संत ऐलिसा के दर्शन कराए जाएं तो वह ठीक हो सकता है। रानी राजा से कहती है और दोनों ऐसा करने को तैयार हो जाते हैं। नामन कई रथ सोने-चाँदी के भरकर इजराइल की ओर रवाना होता हैं नौकरों सहित पड़ाव डालते हुए इजराइल पहुँच जाता है। नामन इजराइल के राजा के पास पहुँच कर राजा को सीरिया के राजा का पत्र दिखाता है। पत्र में लिखा था कि आप जल्द से जल्द मेरे सेनापति का रोग ठीक कर दें। पत्र पढ़कर राजा शक करता है पत्र की सच्चाई पर। कहता है–'हूँ', ठीक कर दूँ मैं, मैं कोई खुदा हूँ, जो कोढ़ को ठीक कर दूँ, लड़ने का बहाना बनाकर पत्र भेज दिया। यदि लड़ना ही है तो सीधे मैदान में आओ।' तभी सन्त एलिसा की ओर से सन्देश आता है कि आप निश्चिन्त हो जाइए। सेनापति को आप मेरे पास भेज दें। सन्देश सुनकर नामन अपनी सेना के साथ ऐलिसा के निवास स्थान की ओर चल पड़ता है। आधे रास्ते से ही नामन अपने नौकर के द्वारा ऐलिसा के पास संदेश भेजता है कि सीरिया के सेनापति आपसे मिलने आ रहे हैं। नामन के सन्देश से सन्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वह बहुत ही शान्त स्वभाव से नौकर को कहता है कि जाओ नामन से कह देना कि सात बार जॉर्डन नदी में डुबकी लगाले। इससे वह ठीक हो जायेगा। इधर नामन सोच रहा था कि मेरा संदेश पाकर ऐलिसा मेरी अगवानी के लिए आयेंगे, फिर भगवान से प्रार्थना करेंगे और मेरा रोग खत्म हो जायेगा। किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। नौकर आकर ऐलिसा का संदेश सुना देता है। कहता कि उन्होंने कहा कि आप जॉर्डन नदी में सात बार डुबकी लगा लें, इससे आपका रोग ठीक हो जायेगा। यह सुन सेनापति गुस्से से आग-बबूला हो जाता है। कहता है कि क्या मैं इस छोटे से नाले जॉर्डन नदी में नहाने इतनी दूर आया हूँ। मेरे देश में इससे कई गुना बड़ी नदियाँ हैं। क्या मैं वहाँ नहीं नहा सकता था। नामन का गुस्सा देख सब घबरा जाते हैं। एक हिम्मत करके पूछता है, फिर कहता है कि अगर सन्त कोई कठिन आज्ञा देते तो भी आप कर ही देते। इस छोटी-सी आज्ञा मानने में क्या नुकसान

है। नौकर के कहने पर नामन का गुस्सा शान्त होता है। वह जॉर्डन नदी में उतर जाता है नहाने के लिए। नदी में छळ बार डुबकी लगाता है लेकिन कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु जब सातवीं बार डुबकी लगाई तो उसका कोढ़ नष्ट हो जाता है। यह देख सब आश्चर्य चकित हो जाते हैं। अब नामन अपने बदन को देख बहुत प्रसन्न था तथा सन्त एलिसा के प्रति उसका मन श्रद्धा से भर जाता है। अब वह सन्त के पास पहुँचता है और उसके नौकर-चाकर सोने-चाँदी के थाल सजाकर भर-भरकर साथ लाते हैं। सेनापति सन्त के पैरों की धूल उठाकर मस्तक पर लगाता है और कहता है कि प्रभु भेंट स्वीकार कीजिए। किन्तु ऐलिसा को कोई लोभ नहीं था। कोई परिग्रह अपने पास वे नहीं रखते थे। अत: वे नामन को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि यह सोने-चाँदी की भेंट अपने देश वापिस ले जाओ। मैं इसका क्या करूँगा। नामन भक्ति-भाव से इजराइल की थोड़ी सी मिट्टी बाँध लेता है।

अब वह स्वयं नौकर-चाकरों के साथ सीरिया अपने देश वापिस चलने लगता है। यह सब एक शिष्य देख रहा था। उसे बहुत क्रोध आता है यह सब देखकर। सोचता है—यह सन्त कैसा मूर्ख है। सारा धन वापस कर दिया, हमारा कुछ ख्याल नहीं रखा। वह नामन के पीछे-पीछे दौड़ता है; नामन से कहता है कि सन्त के पास दो युवा साधु आ गये हैं, उनके लिए थोड़ा धन छोड़ दीजिए। नामन यह सुनकर बड़ा प्रसन्न होता है और थोड़ा धन शिष्य को दे देता है। शिष्य वापस चला आता है।

अब सन्त ऐलिसा, शिष्य से पूछते हैं कि–'कहाँ गए थे?' तब शिष्य कहता है कि यहीं था। सन्त तो सब जानते थे, कहने लगे कि तुम मेरे साथ रहकर भी लोभी हो और अब तो तुम्हारे पास इतना धन है कि जो चाहो खरीद सकते हो। हाँ, लेकिन एक बात सुन लो तुमने नामन का कोढ़ खरीद लिया है। यह कोढ़ तुम्हारी पीढ़ी में पुश्त दर पुश्त चलता रहेगा। यह कहते ही शिष्य के बदन में कोढ़ हो जाता है। वह शिष्य अन्ततोगत्वा निराश होकर जॉर्डन के ही जंगलों में कहीं खो जाता है।

मनुष्य अपना सम्पूर्ण जीवन दूसरों की आँखों में झाँकने में गुजार देता है। दूसरे के दर्पण में उसका चेहरा रहता है और उसे अपना असली चेहरा समझता रहता है। कितनी बड़ी भूल है यह और ऐसी भूलें कितनी ही अपने जीवन में आप लोग करते हो। अपने आप को समझना होगा। अपनी चीज को जानकर उसमें रमना होगा। पर वस्तु से ममत्व को हटाना होगा तभी सुख-शान्ति का अनुभव हो सकता है।

संग्रह दु:खों को आमन्त्रण देता है, त्याग-दान करना सुख प्राप्त करने का उपाय है। आचार्य उमास्वामी अपरिग्रह व्रत को दृढ़ करने के लिए कहते हैं कि–

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच।।

(तत्त्वार्थसूत्र. अ. 7.)

पाँचों इन्द्रियों के इष्ट विषयों में राग और अनिष्ट विषयों में द्वेष नहीं करना, ये अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।

यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं–(1) द्रव्येन्द्रिय और (2) भावेन्द्रिय। भावेन्द्रिय ज्ञान का विकास है, वह जिन पदार्थों को जानती है वे पदार्थ ज्ञान के विषय होने से ज्ञेय हैं, किन्तु यदि उनके प्रति राग-द्वेष किया जाए तो उसे उपचार से इन्द्रियों का विषय कहा जाता है। वास्तव में वह विषय (ज्ञेयपदार्थ) स्वयं इष्ट या अनिष्ट नहीं, किन्तु जिस समय जीव राग-द्वेष करता है, तब उपचार से उन पदार्थों को इष्ट या अनिष्ट कहा जाता है। यहाँ आचार्य उन पदार्थों से राग-द्वेष छोड़ने की भावना करने के लिए कहते हैं।

उपर्युक्त सूत्र में (1) स्पर्शन-इन्द्रिय; (2) रसना इन्द्रिय; (3) घ्राण इन्द्रिय; (4) चक्षु-इन्द्रिय; और (5) कर्ण इन्द्रिय के इष्ट अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष नहीं करना बताया गया है।

धनसंग्रह करना अज्ञानता

धन का संग्रह करना अशान्ति को निमंत्रण देना है। समाज में, राज्य में, देश में और यहाँ तक कि पूरे विश्व में आज जो यह अशान्ति का वातावरण बना हुआ है, उसका कारण केवल परिग्रह है। यदि अपनी आवश्यकता से अधिक परिग्रह जोड़ने का, धन संचय करने का भाव न हो तो विश्व में शान्ति स्थापित होने में देर नहीं लगेगी। धन का संग्रह करना कितनी बड़ी अज्ञानता है यह बात निम्न दृष्टान्त द्वारा भी स्पष्ट हो जाती है–

पण्डित जी परिग्रह में बहुत लिप्त थे। न ठीक से खाते न पहनते, दिन-रात पैसा इकट्ठा करके ब्याज पर साहूकार के यहाँ भेज देते। एक दिन पण्डित जी विचार करने लगे कि मुझे पता लगाना चाहिए कि मेरा पैसा ठीक भी है या नहीं। पण्डित जी सेठ जी के यहाँ पहुँचते हैं और जाकर देखते हैं कि सेठ जी तो कोठी-बँगले में खूब आनन्द से रह रहे हैं। किसी बात की कमी नहीं है। फिर सोचते हैं कि पैसा तो मेरा है और आनन्द सेठ जी-साहूकार ले रहे हैं। सेठ जी वहाँ पर नहीं थे। नौकरों ने पंडित जी के ठहरने का प्रबन्ध कर दिया। वे जानते थे कि इनके यहाँ से ही पैसा आता है। रात्रि में जब पंडित जी सो जाते हैं तो स्वप्न में लक्ष्मी कहती हैं कि 'आप कौन हैं', पंडित जी कहते हैं कि मैं तो पंडित हूँ। किन्तु 'आप कौन हैं,' 'मैं लक्ष्मी हूँ', उधर से उत्तर मिलता है। पंडित जी कहते हैं कि 'तुम इसके यहाँ क्यों आती हो,' लक्ष्मी बोली–कि 'इस सेठ जी की मैं दासी हूँ, सेठ जी परिग्रह से मोह न रखकर दान देते हैं।' अब पंडित जी कहते हैं कि 'आप हमारे यहाँ क्यों नहीं आती,' तब लक्ष्मी कहती हैं कि–'आप तो पैसे के मोही हैं, इसीलिए मैं आपके पास नहीं आती।' पंडित जी कहते हैं कि–'जब हम दान देने लगेंगे तब तो हमारे पास आओगी न।' तब लक्ष्मी कहती हैं कि–'जब तुम दान देने लगोगे

तब तुम्हें तुम्हारे लड़के मारने लगेंगे।' पंडित जी कहते हैं कि 'मैंने तो सारा धन अपने हाथों से कमाया है, मुझे वे क्यों रोकेंगे और मारेंगे,' स्वप्न भंग हो जाता है, आँख खुल जाती है।

पंडित जी अपने घर जाते हैं और अपने लड़कों से कहते हैं कि बेटा तुम सब दान किया करो, दान करने से लक्ष्मी आती हैं। लड़के कहते हैं–'पिता जी धनसंग्रह करने के लिए होता है, खोने के लिए नहीं।' बेटे पिता जी का कहना नहीं मानते। अब पंडित जी स्वयं दान देने की कोशिश करते हैं। परन्तु जब भी कुछ दान देते बेटे पण्डित जी की दुर्दशा कर देते।

पंडित जी सोचते काश! मैं प्रारम्भ से ही दान में प्रवृत्ति रखता तो बच्चों को भी वही अभ्यास रहता और मेरी भी दुर्दशा न होती।

अपरिग्रहव्रत के अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः॥

(तत्त्वार्थ सूत्र. अ. 7.29)

1. क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम–क्षेत्र और रहने के स्थान के परिमाण का उल्लंघन करना।
2. हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम–चाँदी और सोने के परिमाण का उल्लंघन करना।
3. धनधान्यप्रमाणातिक्रम–धन (रुपया-पैसा-पशु आदि) और धान्य (फसल आदि) के परिमाण का उल्लंघन करना।
4. दासीदासप्रमाणातिक्रम–दासी और दास के परिमाण का उल्लंघन करना।
5. कुप्यप्रमाणातिक्रम–वस्त्र, बर्तन आदि के परिमाण का उल्लंघन करना।

ये पाँच अपरिग्रह व्रत के दोष या अतिचार माने जाते हैं। इन्हें अपने व्रत में नहीं लगने देना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पर में एकत्व बुद्धि और लीनता का अभाव ही अपरिग्रह व्रत है। यही आकिंचन्य आत्मा का धर्म है। परिग्रह के त्याग से ही आकिंचन्य धर्म प्रकट होता है। यह परिग्रह चौदह प्रकार का अन्तरंग और दस प्रकार का बाह्य रूप, कुल चौबीस भेद रूप होता है। यह अपरिग्रहव्रत भी दो प्रकार से पाला जाता है। एक तो समस्त अन्तर-बाह्य परिग्रह से विरक्त हो महाव्रत के रूप में, जिसे केवल मुनि ही पाल सकते हैं, जो जिनलिंग धारण करके अपने आत्मा में रहते हैं। दूसरे एकदेश अन्तर-बाह्य परिग्रह का प्रमाण करके अणुव्रत के रूप में-जिसे गृहस्थ लोग पालते हैं। परिग्रह पाप रूप ही है, क्योंकि इसमें स्व और पर दोनों की हिंसा होती है। वास्तव में परिग्रह जीव को आकुल-व्याकुल करता है। यह एक ऐसी मृगतृष्णा है जो कभी भी पूरी नहीं होती। यह अपरिग्रह भी दो प्रकार का है। निश्चय अपरिग्रह-जिसमें आत्मा

में मोह-राग-द्वेष परिणाम उत्पन्न ही नहीं होते तथा व्यवहार अपरिग्रह-जिसमें समस्त बाह्य पर वस्तुओं के परिग्रह का त्याग आता है। बाह्य परिग्रह का त्याग भावों की विशुद्धि के लिए किया जाता है, परन्तु रागादिभाव रूप आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग बिना बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है। पर पदार्थ के छूटने से कोई अपरिग्रही नहीं होता, बल्कि उसके रखने का भाव, उसके प्रति एकत्वबुद्धि या ममत्व परिणाम छोड़ने से परिग्रह छूटता है।

इस प्रकार प्रत्येक नागरिक को विश्व की सम्पत्ति और उसकी चाह में तड़पने वाले असंख्य प्राणियों का विचार करके धन की तृष्णा से विरक्त हो जाना चाहिए, क्योंकि न्याय की कमाई से मनुष्य जीवन निर्वाह कर सकता है, किन्तु धन का अटूट भण्डार एकत्र नहीं कर सकता। अटूट भण्डार, पाप की कमाई से ही भरता है। सब पापों की जड़ होने से परिग्रह सबसे बड़ा पाप है। अत: भौतिक बोझ से कम होने पर ही मूर्च्छा से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इस तरह 'आत्म' तत्त्व के अतिरिक्त इस जगत् में मेरा कुछ भी, तिल-तुष मात्र भी अपना नहीं है, यह भावना दृढ़ होनी चाहिए।

ते उण ण दिट्ठ-समाओ
विहयइ सच्चे व अलीए वा।

अनेकान्त रूप समय के ज्ञाता पुरूष 'यह नय सच्चा है,
यह नय झूठा' ऐसा विभाग नहीं करते हैं।

———— ————

जिसे एक पद या अक्षर प्रमाण आगम भी
नहीं रूचता हो उसे शेष बहुभाग आगम पर श्रद्धा होते
हुए भी वह मिथ्यादृष्टि है।

एकादश अध्याय : गृहस्थों के षट् आवश्यक

आज का विषय 'गृहस्थों के षट् आवश्यक हैं,'। मानव जीवन एक महान् जीवन है। क्योंकि सभी पर्यायों में यह मानव पर्याय उत्तम है। कर्म से प्रेरित होकर चौरासी लाख योनियों में भटककर, भ्रमणकर, यह मनुष्य पर्याय हमें प्राप्त हुई है। अतः इसकी सार्थकता धर्म करने में ही है, जैसा कहा भी है–

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्।।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

भोजन, निद्रा, भय और मैथुन क्रियायें मनुष्य और पशु में समान रूप से हैं। मनुष्यों में केवल धर्म ही विशेष है, जो इन्हें तिर्यंचों से अलग करता है। धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान है।

आज हमें सभी सुलभ एवं अनुकूल साधन मिले हुए हैं। अच्छा कुल, पूर्ण स्वस्थ शरीर, साक्षात् दिगम्बर मुनिराजों के दर्शन एवं धर्मोपदेश, फिर भी यदि जीवन में शान्ति नहीं मिली, सुख का अनुभव नहीं हुआ, फिर इस मनुष्य पर्याय पाने का क्या लाभ। आज मानव जीवन की प्रत्येक दिशा में तीव्र अशान्ति का नग्न ताण्डव नृत्य हो रहा है। चारों ओर पाप, पाखण्ड, अन्याय और अत्याचार का ही साम्राज्य छाया हुआ है। शक्तिशाली बलहीनों को, धनवान निर्धनों को, उच्च जाति, नीच जाति को, राजा प्रजा को और भाई-भाई को सताकर, धोखा देकर यहाँ तक की उसका सर्वस्व हरण करके भी अपनी आसुरी इच्छाओं को तृप्त नहीं कर पा रहा है। न केवल सामाजिक अपितु राजनैतिक क्षेत्र में भी युद्ध जैसे निर्दयतापूर्ण कार्य द्वारा नरसंहार आदि के भयानक दृश्य देखने को मिलते रहते हैं आज साम्राज्य लोलुपी वर्ग दुनिया के छोटे और शस्त्रहीन देशों के लोगों की स्वतंत्रता का अपहरण कर उसके धन-जन सर्वस्व को हड़पने पर तुले हुए हैं। इस प्रकार मनुष्य अपनी मानवता को कुचलकर एक खूँखार जंगली पशु से भी भयंकर रूप में दिखाई देता है तथा मार-काट, लूट-पाट का बाजार गर्म कर विश्व शान्ति का गला घोटता रहता है।

सुन्दर शरीर मिलने, भोग-उपभोग पाने, या अनुचित कार्य करने, बहुत धनवान बनने, महान् उद्योगपति बनने, महान् अधिकारी या राजा-सम्राट बनने से मनुष्य जन्म सफल नहीं होता। ऐसी बातों में तो देव मनुष्य से बहुत आगे हैं। अतः मनुष्य भव की सफलता उस धर्म की आराधना करने से है जो देव पर्याय में नहीं हो सकती और जिससे आत्मा का उत्थान हो वह साधना केवल मनुष्य पर्याय में ही संभव है। इस महान् और दुर्लभ मनुष्य पर्याय जिसमें संयम धारण हो सकता है, इन्द्र और अहमिन्द्र भी तरसते हैं, इस प्रकार यदि मोह को दूर करना चाहते हो तो संयम रूपी लक्ष्मी को स्वीकार करना होगा। राग-द्वेष रूपी वृक्ष को भेदना होगा और सम्यक्त्व का आलम्बन

लेना होगा। इसकी प्राप्ति के लिए आचार्यों ने हमें प्रतिदिन कुछ करने योग्य कार्य बताये हैं, जिन्हें षट् आवश्यक कहते हैं। ये षट् आवश्यक देवों में नहीं हैं, तिर्यचों में नहीं है और नारकियों में भी नहीं है। ये केवल मनुष्य पर्याय में ही संभव हैं।

षट् आवश्यक-परिभाषा–अवश्य करने योग्य क्रिया को आवश्यक कहते हैं, अथवा जो वश में नहीं है (इन्द्रियों के आधीन नहीं है) वह अवश है, अवश के कार्य आवश्यक हैं। इसलिए धर्मात्मा को अपने त्रिरत्न को सुरक्षित रखने के लिए प्रतिदिन ये कार्य करने चाहिए। ये कार्य छह हैं।

षट् आवश्यकों का वर्गीकरण–षट् आवश्यकों को संयम धारण करने की भूमिकानुसार मुनि और गृहस्थ के षट् आवश्यक के रूप में विभक्त किया गया है।

मुनि के षट् आवश्यक कार्य–महाव्रतों के धारक मुनिराजों के षट् आवश्यक पं. दौलतराम जी के अनुसार निम्न होते हैं–

समता सम्हारे थुति उचारैं, बन्दना जिन देव को।
नित करैं श्रुतिरति, करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेव को॥५॥

छह ढाला-छठी ढाल

सामायिक, वन्दना, स्तुति, स्वाध्याय प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के छह मुनिराजों के आवश्यक हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न है–

1. **सामायिक**–किसी को भला और किसी को बुरा आदि न मानकर सबके ऊपर एक समान दृष्टि रखना 'समभाव' है; अथवा त्रिकाल में पंच नमस्कार का करना सामायिक है; अथवा जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग में शत्रु-मित्र में समभाव रखना सामायिक है।
2. **वन्दना**–एक तीर्थङ्कर से सम्बन्धित नमस्कार करना वन्दना है।
3. **स्तुति**–चतुर्विंशति तीर्थङ्करों का गुणगान करना, स्तुति स्तव है।
4. **स्वाध्याय**–वैराग्यवर्द्धक शास्त्रों का पठन-पाठन करना स्वाध्याय है।
5. **प्रतिक्रमण**–अपने सदाचार में आये दोषों का संशोधन करना प्रतिक्रमण है।
6. **कायोत्सर्ग**–शरीर से ममत्व का त्याग करना और जिनेन्द्रदेव के गुणों का चिंतन करना कायोत्सर्ग है।

ये छह आवश्यक कार्य मुनिराज प्रतिदिन करते हैं।

गृहस्थों के षट् आवश्यक कार्य–प्राचीन काल में (प्रथम, द्वितीय और तृतीय काल में)

जब कल्पवृक्षों की सत्ता समाप्त होने लगी और चतुर्थकाल का प्रारम्भ था तब अन्तिम चौदहवें कुलकर (मनु) नाभिराय और पत्नी मरुदेवी से ऋषभदेव का जन्म होता है। ऋषभदेव के समय में प्रजा के सामने जीवन-यापन की समस्या विकट हो गई थी, क्योंकि जिन कल्पवृक्षों से लोग अपना जीवन निर्वाह करते आये थे, प्राय: लुप्त हो चुके थे और जो नई वनस्पतियाँ पृथ्वी पर उत्पन्न हुई थीं, उनका उपयोग करना वे नहीं जानते थे। ऋषभदेव ने प्रजा को उगे हुए इक्षु-दण्डों से रस निकालकर खाना सिखलाया। इसलिए इनका वंश इक्ष्वाकुवंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ और ये उनके आदिपुरुष कहलाये। प्रजा की इस विकट स्थिति में उन्होंने प्रजा को असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विज्ञान इन षट् कर्मों से आजीविका करना बतलाया। व्यवस्था को चलाने के लिए उन्होंने तीन वर्णों की स्थापना की। जिनको रक्षा का भार दिया गया वे क्षत्रिय कहलाये; जिन्हें खेती-व्यापार आदि का कार्य दिया गया वे वैश्य कहलाये और जो सेवावृत्ति करने के योग्य समझे गये, उन्हें शूद्र नाम से पुकारा गया। आगे चलकर इनके पुत्र भरत ने एक और नए वर्ग की स्थापना की जो पठन-पठन का कार्य करता था, उसे उन्होंने ब्राह्मण वर्ग के नाम से पुकारा। तब से लेकर आजतक ऐसी सामाजिक व्यवस्था चली आ रही है।

गृहस्थों को छह कार्य प्रतिदिन अपने घर-गृहस्थी उदरपूर्ति और घर को स्वच्छ रखने के लिए भी करने पड़ते हैं। वे इस प्रकार हैं-

1. **चक्की चलाना**-आज इसका स्थान बड़ी-बड़ी आटामिलों (फ्लोरमिल्स) ने ले लिया है।
2. **चूल्हा जलाना**-आज इसका स्थान खाना बनाने की गैस ने ले लिया है।
3. **ओखली**-आज इसका स्थान मिक्सी, ग्राइंडर आदि मशीनों ने ले लिया है।
4. **पानी भरना**-आज इसका स्थान जैटपंम्प और ट्यूब-वैल ले चुके हैं।
5. **बुहारी देना**-इसका स्थान आज क्लीनर और वाईपर ले चुके हैं।
6. **व्यापार करना**-उचित आजीविका का उपार्जन करना।

उपर्युक्त छह कार्यों के बिना भोजन तैयार नहीं हो सकता। इसके लिए गृहस्थों को आरम्भ, परिग्रह आदि रूप बहुत दोष लगते हैं। उन दोषों को दूर करने के लिए गृहस्थों को आचार्यों ने षट् आवश्यक कार्य प्रतिदिन करने के लिए कहा है।

गृहस्थों के षट् आवश्यक कार्य निम्न हैं-आचार्य पद्मनन्दि कहते हैं-

देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्याय: संयमस्तप:।
दानं चैव गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने॥१॥

(पद्मनन्दि पंचविंशतिका)

(1) देवपूजा (2) गुरूपासना (3) शास्त्र-स्वाध्याय (4) संयमधर्म का पालन (5) तपश्चर्या और (6) पात्रदान।

ये श्रावकों के धार्मिक षट् आवश्यक कार्य होते हैं, जिन्हें प्रत्येक गृहस्थ को करना चाहिए। इन षट् कार्यों का विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है-

धर्माचरणहीन व्यक्ति मूर्ख हैं। जो मनुष्य उत्तम कुल, सम्पत्ति, सत्कुटुम्ब आदि को प्राप्त करके भी धार्मिक क्रियाओं को नहीं करता, वह व्यक्ति अज्ञानी, मूर्ख है। पशु से भी निम्न कोटि का है। धर्म का आचरण करने से संसार भ्रमण का नाश होता है और संसार के नाश होने से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

एक व्यापारी बहुत धनवान था। वह अपने व्यापार को बढ़ाने के लिए एक बहुत बड़ी और सुन्दर दुकान सोने-चाँदी, जवाहरात, हीरे-मोतियों की सर्राफे बाजार में खोलता है। उसमें बहुत सुन्दर फर्नीचर लगवाता है, सजाता है। बेचने के लिए माल भी ले आता है, किन्तु सब माल तिजोरियों में बन्द कर देता है। तत्पश्चात् वह नया माल लाता है कोयले का और कोयला बेचना प्रारम्भ कर देता है।

इस प्रकार जो करने योग्य कार्य है उसे न करके उल्टा कार्य करता है, मनुष्य उसे मूर्ख और पागल नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे?

ठीक इसी प्रकार की स्थिति उस मनुष्य की है जो अपने इस दुर्लभ मानव पर्याय को अपने इस शरीर रूपी सोने-चाँदी की दुकान में षट् आवश्यक रूपी सोने-चाँदी का व्यापार नहीं करता, अपितु भोग-विषय रूपी कोयलों का व्यापार करने लगता है और धीरे-धीरे अपनी मनुष्य पर्याय खो देता है। इस प्रकार श्रावक को षट् आवश्यक कार्य प्रतिदिन नियम से करने चाहिए, तभी व्यक्ति सुखी हो सकता है और मुक्त भी हो सकता है।

मानव जीवन की दुर्लभता और उसकी उपयोगिता–अनादि काल से आज तक इस जीव का अधिकांश समय निगोद में बीता है। निगोद एक इन्द्रिय प्राणी होता है जहाँ यह एक श्वास में अट्ठारह बार जन्म-मरण करता है और घोर दु:ख को सहता रहता है। जब किसी पुण्य के उदय से निगोद से निकलकर यह जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदि त्रस पर्याय में जाता है तब त्रस पर्याय का काल उसे दो हजार सागर का मिलता है। इस काल में वह सभी संभव योनियों में भ्रमण करता है। इस अवधि में मनुष्य पर्याय के 48 भव मिलते हैं जिसमें 24 भव नपुंसक पर्याय के 16 भव स्त्री पर्याय के और 8 पुरुष पर्याय के मिलते हैं। यदि इस पुरुष पर्याय में जीव अपना कल्याण नहीं कर पाता है। तो फिर निगोद में दो हजार सागर पूर्ण कर वापस चला जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य पर्याय ही दुर्लभ है। इस पर्याय को देव, इन्द्र, अहमिंद्र भी पाने को तैयार हैं। मानव पर्याय की दुर्लभता निम्न दृष्टान्त में दृष्टव्य है-

पालकी का मूल्य

तृतीय काल के अन्त समय में ऋषभदेव राज्य करते थे। एक बार वे अपने महल में नीलांजना का नृत्य देख रहे थे। तभी नीलांजना की मृत्यु हो जाती है, किन्तु इन्द्र अपनी शक्ति से शीघ्र दूसरी नीलांजना का रूप बना देते हैं, सभा में किसी को अवगत नहीं होता है कि नर्तकी नीलांजना की मृत्यु कब हो गयी। परन्तु ऋषभदेव इस परिवर्तन को जान जाते हैं और जीवन की क्षणभंगुरता को देख स्वयं के जीवन से विरक्त हो जाते हैं।

जब भगवान तप के लिए जंगल जाने लगते हैं तो देव, मनुष्य और विद्याधर भगवान की पालकी को वन में ले जाने हेतु खूब सजाते हैं। इसी बीच एक घटना घटित हो जाती है। इन्द्र और मनुष्यों में विवाद हो जाता है कि भगवान की पालकी पहले कौन उठायेगा। इन्द्र कहता है मैं पहले उठाऊँगा और मनुष्य कहते हैं कि पहले हम उठायेंगे। जब विवाद बढ़ जाता है तो निर्णय नाभिराय पर छोड़ दिया जाता है कि पहले पालकी को कौन उठायेगा, ऋषभदेव के पिता राजा नाभिराय से इन्द्र कहते हैं कि मैंने भगवान का गर्भ जन्म कल्याणक मनाया, नगरी में रत्न बरसाये, इसलिए भगवान की पालकी सर्वप्रथम हम उठायेंगे। राजा नाभिराय पर इन्द्र के कहने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वे कहते हैं कि भगवान तपस्या हेतु वन जा रहे हैं। तप केवल मनुष्य ही कर सकता है। तुम नहीं कर सकते हो इसलिए पालकी को पहले मनुष्य ही उठाएँगे, बाद में देवता। तब इन्द्र कहता है कि मैं एक साथ 170 समवशरण लगा सकता हूँ और एक समवशरण में 100 चक्रवर्ति की सम्पदा लगती है। अरे मनुष्यों! तुम मेरी यह सारी सम्पदा ले लो, किन्तु कुछ समय के लिए मुझे मनुष्य जन्म दे दो, जिससे मैं भगवान की पालकी उठा सकूँ।

मनुष्य भव का कितना मूल्य है यह अधिकांश मानव नहीं जानते। इसे भोग-विलास में खोना, पंचेन्द्रिय के विषयों में फँस करके इस जीवन को नष्ट करना महामूर्खता है। अगर इस मनुष्य पर्याय में कल्याण नहीं किया, तो क्या मालूम यह पुरुष भव अन्तिम अर्थात् आठवाँ भव हो और पुन: निगोद जाना पड़े। मनुष्य जन्म की सार्थकता आत्मा के विकास करने में है। आत्मा का विकास स्व-पर भेद विज्ञान से होता है, जिसके सद्‌भाव में आत्मा सुमार्ग गामी होता है। सुमार्ग वही होता है जिसमें आत्मपरिणति निर्मल हो जाती है। इसलिए प्रत्येक गृहस्थ को षट् आवश्यकों का प्रतिदिन उत्साह से पालन करना चाहिए।

खेद का विषय है कि आज अधिकांश मनुष्य (विशेषत: जैन भाई) अपने षट् आवश्यकों को भूलते जा रहे हैं। इस आधुनिक युग की अन्धी दौड़ में, उसने अपने षट् आवश्यकों को निम्न प्रकार परिवर्तित कर लिया है–

चायपूजा धनोपास्ति सिगरेटम् बूटपालिशम्।
सिनेमा-टी.वी. च गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने-दिने॥

प्रात: उठते ही चाय-कॉफी पीना; धन की पूजा करना-धन प्राप्ति के लिए कुछ भी कार्य कर डालना, उचित-अनुचित का विचार न रखना। पान-सिगरेट, गुटका, तम्बाकू आदि का खाना। चमकते हुए जूते-कपड़े पहनकर टिप-टॉप से रहना। सिनेमा, टी.वी., केबल देखना और होटलों में खाना खाना।

उपर्युक्त आधुनिक षट् आवश्यक नरक-निगोद में ले जाने वाले हैं। इनको छोड़कर अपने धार्मिक षट् आवश्यकों का पालन करना चाहिए, जिससे इसी भव में कल्याण को प्राप्त होने की भूमिका तैयार हो सके तभी मानव जीवन सार्थक है अन्यथा सब कुछ व्यर्थ है। इस तथ्य को समझने के लिए निम्न दृष्टान्त को देखें।

शादी या बर्बादी

किसी नगर में वीर्यसागरदत्त और उनकी धर्मपत्नी सागरदत्ता नाम के दो श्रावक रहते थे। कुछ समय उपरान्त सागरदत्ता की कुक्षि से एक कन्या-रत्न का जन्म होता है। पिता ने कन्या का नाम सरला रखा। वास्तव में वह सरला ही थी। जब वह पाँच वर्ष की हुयी तो उसे गुरुकुल में शिक्षा के लिए भेजा गया। शिक्षित होकर वह घर वापस लौटी और माता-पिता को नमस्कार करके विनयपूर्वक माता के समीप-बैठ जाती है। यद्यपि वह शरीर से अभी बालिका ही थी परन्तु विचारों में प्रौढ़ और गम्भीर थी। उसकी गम्भीर और शान्त मुद्रा को पिता सागरदत्त बार-बार देखते, किन्तु उनके नेत्र तृप्त नहीं होते थे। कुछ समय बाद उसकी युवा अवस्था को देखकर उसके हृदय में उसकी शादी के विचार उभरने लगे। ठीक ही है, लड़की कितनी भी सुन्दर, विनयशील, मनमोहक क्यों न हो, उसको दूसरे के घर जाना ही पड़ता है। अत: एक दिन सागरदत्त ने अपनी प्रिय पुत्री का विवाह रामदत्त के साथ कर दिया। जब पुत्री जन्म देने वाली माता और पिता से विदा होने लगी तो उसका हृदय वियोग से भर जाता है। नेत्रों से अश्रु टपकने लगते हैं। उसका मन विषय वासनाओं को धिक्कारने लगता है। वह विचारने लगती है कि क्षणिक इन्द्रिय सुख के लिए मुझे अपने माता-पिता को छोड़कर कहाँ जाना पड़ रहा है, वास्तव में वे ही महिलाएं धन्य हैं जिन्होंने चन्दना, अनन्तमती आदि के समान विषय वासनाओं के चक्रव्यूह में न फस कर आत्मकल्याण किया। वह सोचती है कि मैं सब कुछ जानती हुई भी मोह के वशीभूत होकर दु:ख की नदी में गिरने जा रही हूँ। क्योंकि शादी करना, अपने जीवन को नष्ट करना ही है। एक कवि ने कहा है-

फूलो-फूलो फिर रहयो, आज हमारो विवाह।
मूर्ख गाय बजाय के, बेड़ी पहरन जाये।।

यह मनुष्य विवाह के समय बहुत खुश होता है, किन्तु वह उस मूर्ख के समान है जिसको

सोने की बेड़ी अच्छी लगती है। दूसरे शब्दों में अपनी पराधीनता पर प्रसन्न होना मूर्खता ही है। विवाह का बन्धन दु:ख का कारण है। परन्तु चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से यह प्राणी संयम के मार्ग में चलने के लिए समर्थ नहीं हो पाता।

कुछ क्षण विचार कर संसार की असारता को जानने वाली सरला ने माता-पिता के चरणस्पर्श करके नमस्कार किया। माता-पिता ने आनन्दांश्रु के साथ पुत्री को वक्षस्थल से लगाकर आशीष दिया और भविष्य के लिए शिक्षा इस प्रकार दी–बेटी! तुम माता-पिता को छोड़कर पराये घर बहू बनने जा रही हो। वहाँ संभल-संभल के रहना। अपने विनय, नम्रता और सद्व्यवहार के द्वारा सबको प्रसन्न रखना। ससुर एवं सासु को माता-पिता समझना, ननद को अपनी बहन और देवर को भाई समझकर दुलार करना। अपने से बड़ी जेठानी का सत्कार करना। अपने घर में कभी कलह-क्लेश नहीं करना। पति की सेवा करना क्योंकि स्त्रियों के लिए पति की सेवा से बढ़कर अन्य कोई दूसरा बड़ा कार्य इस संसार में नहीं होता। कहा भी है–

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो, न व्रतं नान्युपपोषणं।
पति शुश्रूयते येन तेन, स्वर्गे न हीयते।।

पतिव्रता नारियाँ अनायास ही सर्व सिद्धियों को प्राप्त कर लेती हैं। इसलिए बेटी स्वप्न में भी पति का अनादर न करना। प्रात:काल उठकर उनके चरणों को नमस्कार करना और रात्रि को उनके चरणों को दबाकर सोना। पति की आय के अनुसार व्यय करना। घर पर आये अतिथि का सत्कार करना। अत: बेटी तुम अपने व्यवहार से सबको प्रसन्न रखना।

आगे माता-पिता शिक्षा देते हैं कि इन लौकिक कर्तव्यों के अतिरिक्त प्रतिदिन प्रात: देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और पात्र दान, ये धार्मिक कार्य गृहस्थों के षट् आवश्यक नियम से करना, भूलना नहीं। इनका पालन करना, अपने शील और संयम का पालन करने के लिए सीता, अंजना, चन्दना और अनन्तमति बनने का यथायोग्य प्रयत्न करना।

जिस प्रकार नमक के बिना भोजन की, आँख के बिना मुख की, न्याय के बिना राज्य की, सत्य के बिना कंठ की, दान के बिना हाथ की, सूर्य के बिना दिन की, चन्द्रमा के बिना रात की, सुगंध के बिना फूल की और पुत्र के बिना कुल की शोभा नहीं होती, ठीक इसी प्रकार बेटी! शील के बिना नारी की शोभा नहीं है। यदि तू अपने शील व संयम को सुरक्षित रखेगी तो देव तुम्हारे चरणों की धूल को मस्तक पर चढ़ाकर कृत्य-कृत्य हो जायेंगे।

सरला के पिता ने पुत्री को धर्मोपदेश और सत् शिक्षा देने के साथ-साथ यह भी कहा कि बेटी कभी भी घर की बात बाहर मत कहना। कटु वचनों के द्वारा किसी का हृदय मत दुखाना। सरला माता-पिता की शिक्षा को शिरोधार्य करके अपनी ससुराल चली जाती है। पति के घर में

प्रवेश करते ही घर का वातावरण स्वर्ग के समान बन जाता है। वह यहाँ अपने सद्व्यवहार से सबको अपना बना लेती है। यद्यपि घर में सांसारिक भोगों की कमी नहीं थी। पंचेन्द्रियों के सब विषय सुलभ थे। घर के सभी सदस्य धार्मिक क्रियाओं से अनभिज्ञ थे। निशदिन पंचेन्द्रिय भोगों में लीन रहते थे। घर के सदस्यों की इस प्रकार की क्रियाओं से सरला का मन बहुत खेद खिन्न हो जाता है।

अब सरला को उपाय विचय नामक धर्मध्यान की भावना जागृत होती है, अर्थात् यह संसारी प्राणी अन्याय मार्ग को छोड़कर सन्मार्ग में कैसे लगे, इस प्रकार का चिन्तन वह करने लगी। मेरे कुटुम्बीजन विषयों से, भोगों से कैसे विरक्त होकर धर्म के मार्ग में लगे एतदर्थ सरला प्रयत्नरत थी। सर्वप्रथम उसे कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, फिर धीरे-धीरे उसे सफलता मिलने लगी। उसने अपने पति, जिठानी, जेठ को धार्मिक बना लिया। सासू अभी जिनधर्म के तत्त्वों में शंकालु थी और ससुर को तो धर्म का नाम विष के समान प्रतीत होता था।

एक दिन उस सेठ के घर दिगम्बर मुनि का आगमन होता है। साधु महाराज को आते देखकर सरला उनका पड़गाहन करती है तथा बड़ी भक्ति से आहार देकर स्वयं को धन्य मानती है। मुनि महाराज की युवावस्था और चेहरे के तेज से सरला के हृदय में कई सहज प्रश्न उठ खड़े होते हैं। वह धर्म भाव से पूछती है कि हे मुनीश्वर! अभी तो सबेरा ही है। इतनी जल्दी क्यों की, बाल मुनि ने उनकी धार्मिक रुचि देखकर उत्तर दिया–"बहन! मुझे काल का पता नहीं चला।"

ससुर अभी दुकान से लौटे ही थे। मुनिराज को घर पर देखकर पहले तो उनको क्रोध आया। फिर जिज्ञासु हो दरवाजे के पीछे जाकर खड़े-खड़े उनका वार्तालाप सुनने लगे। दोनों की बात सुनकर उनका मस्तिष्क चक्कर खाने लगता है। वह मन ही मन सोचता है कि दोनों कितने मूर्ख हैं। सूर्य सिर पर चढ़ आया है और बहू कह रही है कि अभी तो सवेरा ही है तथा इसका गुरु (मुनिराज) उत्तर दे रहे हैं कि मुझे समय का पता नहीं चला।

दोनों के प्रश्नोत्तर अभी चल ही रहे थे कि मुनिराज ने सरला से पूछा–"भगिनी! तुम्हारे पति की उम्र कितनी है,' सरला कहती है कि–'पाँच वर्ष की।' पुन: पूछते हैं कि 'तुम्हारी जेठानी की आयु कितनी है?' उत्तर मिलता है–'दो वर्ष की।' 'तुम्हारे जेठ साहब की कितनी आयु है?' एक वर्ष की। फिर मुनिराज पूछते हैं कि–'तुम्हारी सासू की कितनी आयु है', सरला ने आत्मविश्वास के साथ कहा कि–'वे तो अभी झूले में ही झूल रही हैं। पुनः मुनिराज कहते हैं कि–'तुम्हारे ससुर की कितनी आयु है?' उत्तर मिलता है कि–'उनका तो अभी जन्म ही नहीं हुआ।' मुनिराज ने पूछा–'बहन ये ताजा खा रहे हैं कि बासी?' सरला कहती है–'गुरुदेव हम तो बासी ही खा

रहे हैं और भूखे सो रहे हैं।' इन दोनों का वार्तालाप सुनकर वृद्ध सागरदत्त के हृदय में तूफान उठ गया एक-एक शब्द उसे शूल के समान चुभने लगे। उसे यह बात बहुत बुरी लगी, कि प्रतिदिन मेवा मिष्ठान्न बनते हैं और यह कह रही है हम बासी खा रहे हैं और भूखे सो रहे हैं। इसके अतिरिक्त तब तो आश्चर्य और क्रोध का ठिकाना न रहा जब उसने यह कहते सुना कि उसकी सास झूले में झूल रही है और ससुर का तो जन्म ही नहीं हुआ। जबकि हम दोनों की 60-65 वर्ष की आयु है। उसको बहू पर इसलिए क्रोध आ रहा था क्योंकि आज उसने लक्षाधीश सेठ की इज्जत खाक में मिला दी और बालमुनि पर इसलिए कि साधु होकर उन्हें ऐसे प्रश्न पूछने की क्या आवश्यकता थी। अन्त में सेठ सागरदत्त दाँत पीसता हुआ, मुनिराज और बहू के पास आता है और आँख लाल करके बोलता है कि 'महात्मन्! घर की मान-मर्यादा को खाक में मिला देनेवाली नादान इस छोकरी के साथ वार्तालाप करके अपना समय व्यर्थ में क्यों नष्ट कर रहे हो। आप समझदार हैं, इसलिए इस मूर्ख के साथ वार्तालाप मत करो।

मुनिराज कहते हैं कि–सेठ तुम्हारी यह बहू मूर्ख नहीं है, अपितु बहुत विदुषी है। शास्त्रज्ञ है। क्रोध से तम-तमाता सेठ कहता है कि–इसने कौन-सी चतुरता की बात कही; दस बजे हैं, और यह कह रही है कि अभी तो सवेरा है। इसका ससुर 65 साल का है और इसके सामने उपस्थित है, तो भी यह कह रही है कि ये तो अभी पैदा ही नहीं हुये। आप ही बताइये कि सास-ससुर के बिना इसके पति का जन्म कैसे हुआ, हमारे घर में प्रतिदिन पकवान बन रहे हैं, हम बासी कैसे खाएंगे और भूखे रहने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

अब मुनिराज एक-एक प्रश्न का उत्तर देते हैं। कहते हैं कि सेठ तेरी वधू ने मेरी युवा अवस्था व तेजस्विता देखकर कहा था–'अभी सबेरा है। अत: इस उभरती हुई अवस्था में ही सन्यास जैसे कठोर मार्ग पर अनुसरण कैसे कर लिया, मैंने इस बहिन के रहस्य भरे भाव को देखकर उत्तर दिया था कि काल का मुझे पता नहीं है अर्थात् मृत्यु का कोई भरोसा नहीं है, समय अपना ग्रास अवश्य बनाऐगा।

उसके बाद मैंने तत्त्वज्ञान की दृष्टि से और परीक्षा लेने की दृष्टि से प्रश्न पूछे थे कि तुम्हारे घर में धर्म रुचि वाले कोई व्यक्ति हैं कि नहीं, क्योंकि जो मानव धार्मिक प्रवृत्ति वाला होता है, उसका जन्म ही सार्थक है। अन्यथा उसका जन्म पशु के समान है। भोजन करना, निद्रा लेना, भयभीत होना तथा भोग करना ये तो सब क्रियाएँ पशुवत् ही हैं, केवल धर्माचरण के द्वारा ही मानव और पशु में भेद है। इसलिए मैंने तुम्हारी पुत्रवधू से तुम्हारे बारे में प्रश्न पूछे थे। उसके उत्तर से ज्ञात हुआ कि तुम्हारा छोटा लड़का अर्थात् उसका पति पाँच साल से धर्म रुचि रखते हैं। तुम्हारी बड़ी पुत्रवधू दो साल से धर्म में रुचि रखती है और बड़ा पुत्र एक साल से। इस दृष्टि

से उनकी उम्र क्रमशः 5 वर्ष, 2, वर्ष और एक वर्ष हुई। तुम्हारी पत्नी को अर्थात् सेठानी को अभी धर्म पर अटल विश्वास नहीं है। धार्मिक क्रिया करती है, परन्तु देखा-देखी संयम के पालने में झूल रही है और तुम स्वयं धर्म के नाम से अनभिज्ञ हो। दिनरात परिग्रह जुटाने और खाने-पीने में मस्त हो, इसलिए तुम्हारा जन्म नहीं हुआ है।

ताजे खाते हो या बासी, इसका तात्पर्य यह था कि तुम्हारे घर में कोई दान-पूजा, संयमाचरण आदि अनुष्ठान होते हैं कि नहीं। उसका उत्तर था जो पूर्व भव में उपार्जित पुण्य है। उसके फल को भोग रहे हैं अर्थात् बासी खा रहे हैं। इसलिए भूखे सो रहे हैं।

बालमुनि के इस रहस्यपूर्ण मधुर ज्ञानप्रद वार्तालाप को सुनकर सेठ का क्रोध रूपी ज्वर उतर जाता है और सेठ मुनिराज के चरणों में गिरकर क्षमा याचना करने लगता है। कहता है-'गुरुदेव हम लोग वास्तव में बासी खा रहे हैं। मानव जैसे उत्तम तन को पाकर पशु के समान आचरण कर रहे हैं। विषय वासनाओं के कीड़े बने हुए हैं, इसलिए वास्तव में मेरा अभी जन्म नहीं हुआ है। अब मेरा हृदय पश्चाताप से जल रहा है। आपके सदुपदेश ने मेरे अज्ञान रूपी नेत्र खोल दिये हैं। मुनिराज कहते हैं कि अभी समय है। जो बीत गया सो बीत गया। बचे जीवन का प्रत्येक-क्षण मूल्यवान् है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करो, षट् आवश्यक प्रतिदिन पालो और अपना कल्याण करो। क्योंकि इस संसार में ज्ञान प्राप्त करना ही दुर्लभ है।

अतः स्पष्ट है कि षट् आवश्यक कुछ ऐसे धार्मिक कार्य हैं जो केवल मनुष्य पर्याय में ही सम्पन्न हो सकते हैं। ये कार्य किसी भी इन्द्रिय के आधीन नहीं होते इसलिए इन्हें आवश्यक कहते हैं। अतः जो अवश हो उन्हें अवश्य करना चाहिए। ये ऐसे आवश्यक कार्य हैं जिनके द्वारा चाहे गृहस्थ हो और चाहे मुनि हो, दोनों का कल्याण होता है। अपनी-अपनी भूमिकानुसार दोनों को ये षट् आवश्यकों का पालन करना बताया गया है। जो मनुष्य इनकी अवहेलना करता है, इन्हें नहीं पालता, वह पशु के समान ही माना जायेगा। क्योंकि जिसके जीवन में धर्म नहीं है, उसका जीवन जीना व्यर्थ है। ये मनुष्य भव बहुत कठिनाइयों से मिलता है, इस पर्याय को प्राप्त करके इसे भोजन, निद्रा, भय और मैथुन में खोना बिलकुल मूर्खता है, ये सब क्रियाएँ तो मनुष्य और पशु में समान हैं।

आज के इस भौतिक युग में, फैशन की अन्धी दौड़ में, अधिकतर मनुष्य अपने ये षट् आवश्यक भूल गये हैं, इसलिए उनको सुख-शान्ति का अनुभव नहीं होता। मानव जीवन आत्मविश्वास करने के लिए होता है। अपने पूर्व और वर्तमान के कष्टों का स्मरण करके आवश्यक कार्य अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार अपने मानव जीवन को सार्थक बनाना चाहिए।

जैनधर्मः वचनपटुता कौशलं सत्क्रियासु,
विद्वद्गोष्ठी प्रकटविभवः संगतिः साधुलोके।
साध्वी लक्ष्मी चरणकमलोपासना सद्गुरुणां,
शुद्धं शीलं मतिविमलता प्राप्यते भाग्यवृद्धिम्॥

जिन्होंने पूर्वभव में बहुत पुण्य किया है, ऐसे भाग्यवान् पुरुषों को ही जैनधर्म, विशेष ऐश्वर्य की प्राप्ति, सज्जनों की संगति, विद्वानों के साथ तत्त्वचर्चा करना, सदाचार पालन में चतुराई, शुद्धशील और ज्ञान की निर्मलता, आदि ये इष्ट साधन प्राप्त होते हैं। इसलिए प्रत्येक प्राणी को धार्मिक कर्तव्यों में दृढ़ रहना चाहिए। चूँकि मानव जीवन बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ है। इसकी सार्थकता प्रथम आवश्यक 'देवपूजा' करने में होती है। कृषि आदि छ्ळ कर्मों के द्वारा आजीविका करने वाले गृहस्थ को जो पाप होता है तथा चूल्हा-चक्की आदि क्रियाओं को करने में जो हिंसा होती है, उसके निवारणार्थ यह देवपूजा करना परम आवश्यक हो जाता है।

(1) देव कैसे हो (2) पूजा कैसे करें और (3) पूजा का फल क्या है, देवपूजा के अन्तर्गत इन विषयों को जानना, पहचानना होगा तभी देवपूजा करनी सार्थक होगी। इसके साथ ही यह भी जानना होगा कि देवपूजा कितने प्रकार की होती है।

देव कैसे हों-देव कई प्रकार के होते हैं, जैसे-सर्वज्ञ देव जिन्हें सुदेव कहते हैं, कुदेव जो रागी-द्वेषी होते हैं, अदेव-जिनकी संज्ञा ही नहीं होती, भ्रमवश कल्पना से मानने लगते हैं और देव जैसे भवनवासी आदि देव। इस प्रकार इनको जानकर, पहचान कर हित-अहित का विचार करते हुए निर्णय कर देवपूजा करनी चाहिए। इन 4 प्रकार के देवों का वर्णन अधोलिखित है-

1. **सुदेव**-जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होता है, वह सुदेव या सच्चा देव कहलाता है। सुदेव का लक्षण बताते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि-

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत॥

(रत्नकरण्डश्रावकाचार, 5)

जो सर्व दोष रहित होने से वीतरागी हैं, सर्व के ज्ञाता होने से सर्वज्ञ हैं और हित के उपदेशक होने से हितोपदेशी हैं। इस प्रकार जो तीनों गुणों से युक्त हैं, वे आप्त कहलाते हैं दूसरे शब्दों में आप्त ही सुदेव हैं।

आगे आचार्य वीतराग का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि-

क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥

(रत्नकरण्डश्रावकाचार, 3)

जो (1) भूख, (2) प्यास, (3) बुढ़ापा, (4) व्याधि, (5) जन्म, (6) मृत्यु, (7) भय, (8) मद, (9) राग, (10) द्वेष (11) मोह, (12) चिंता, (13) रति, (14) निद्रा, (15) आश्चर्य, (16) शोक (17) पसीना, (18) खेद–इन अठारह दोषों से रहित हो वह निर्दोष सर्वगुण सम्पन्न वीतराग होता है। यह आप्त का पहला गुण है। दूसरे गुण को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं –

परमेष्ठी परंज्योतिः विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तो पलाल्यते॥

(रत्नकरण्डश्रावकाचार, 7)

जो परमेष्ठी, परंज्येति, विराग, विमल, कृतकृत्य आदि, मध्य और अन्त से रहित, तीर्थङ्कर, जिन और सर्वज्ञ हैं, सभी प्राणियों का हित करने वाले होने से 'सार्व' हैं, वे ही सच्चे उपदेष्टा हैं। इसलिए उनके शासन को मुनिगण 'सार्वभौम' कहते हैं।

दूसरे शब्दों में इन्द्रादिक से पूज्य परमपद में स्थित अक्षय केवलज्ञान सहित, रागद्वेष आदि भावकर्म रहित घातियाकर्म रूप द्रव्यकर्म रहित, कृतकृत्य, सत्यार्थदेव के प्रवाह की अपेक्षा आदि, मध्य, अन्त रहित, सर्व पदार्थों के ज्ञाता-दृष्टा और सब जीवों का हित करने वाले हितोपदेशी होते हैं। आचार्य कहते हैं कि आप्त के उपदेश में राग नहीं होता, द्वेष का भी अभाव होता है। यथा–

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते॥

(रत्नकरण्डश्रावकाचार, 8)

जो धर्मोपदेशरूप शिक्षा देने वाले अरहन्त आप्त हैं, वे अनात्मार्थ अर्थात् अपनी ख्याति, लाभ, पूजादि प्रयोजन के बिना ही तथा शिष्यों में रागभाव के बिना ही सत्पुरुष जो निकट भव्य हैं, उन्हें हितरूप शिक्षा देते हैं; जिस प्रकार वाद्य बजाने वाले शिल्पि के हाथ का स्पर्श मात्र पाकर मृदंग अनेक प्रकार से ध्वनि करने लगता है किन्तु बदले में वह मृदंग कुछ भी नहीं चाहता। ऐसे देवाधिदेव अरहंत होते हैं, जिन्हें सुदेव कहते हैं।

षट् आवश्यकों के प्रथम आवश्यक में इन्हीं देव की पूजा करना आचार्यों ने बतलाया है। अन्य किसी देव की पूजा करना मिथ्यात्व सेवन करना है, जिसका फल घोर दुःख रूप संसार भ्रमण है।

2. **कुदेव**–जो राग-द्वेष सहित हैं, जो पक्षपात करते हैं उन्हें कुदेव कहते हैं। पं. दौलतराम जी कहते हैं कि–

जो रागद्वेष मलकरि मलीन, वनिता गदादिजुत चिन्हचीन्ह।
ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव; शठकरत न तिन भव भ्रमणछेव॥

जो देव अपने भक्तों पर तो प्रसन्न होते हैं और जो इनकी भक्ति न करे उस पर रुष्ट हो जायें। इस प्रकार जो पक्षपात करे, जिसका राग-द्वेष से मन मैला है, जो स्त्रियाँ आदि रखते हैं, जो शस्त्र, गदा आदि रखते हैं, जिनके ऐसे लक्षण दिखाई देते हैं वे सब कुदेव होते हैं।

ये आत्महित के कर्ता नहीं हैं, इन्हें भ्रम से हित का कर्ता जानकर जो सेवन करते है वह मिथ्यात्व का सेवन करता है इनको मानने वाले, इनकी पूजा करने वालों के तीन प्रयोजन होते हैं। कोई तो इन्हें मोक्ष का प्रयोजन रखकर पूजते हैं, कोई इन्हें परलोक सुधर जाये, ऐसा प्रयोजन रखकर पूजते हैं, कोई इन्हें वर्तमान भव सुधर जाये, सुखी हो जायें, ऐसा मानकर पूजते है। जो स्वयं तो पाप बाँधता है और कहता है ईश्वर हमरा भला करेगा। यह सब मिथ्यात्व का सेवन करना है। जिसका फल संसार भ्रमण ही है।

3. **अदेव**–कल्पना करके किसी भी वस्तु-पुद्‌गलादि को देव की तरह मानना-पूजना, जिसकी सत्ता ही नहीं है, उन्हें अदेव कहते हैं। जैसे संध्याकाल लाइट खोलते ही हाथ जोड़ना, मन्दिर आदि में प्रवेश करते समय देहली, पैड़ियों आदि को माथे से लगाना, अग्नि, जल आदि का पूजना, गाय, घोड़ा आदि तिर्यंचों को पूजना पेड़-पौधों को पूजना, जैसे–पीपल का वृक्ष, तुलसी का पौधा आदि, शस्त्रादिक को पूजना और यहाँ तक की ईट-पत्थर तक को पूजना ये सब अदेव माने जाते हैं। इनकी कहीं सत्ता है ही नहीं। इनके पूजने का प्रयोजन जो शत्रुनाश, धनप्राप्ति, पुत्रप्राप्ति आदि हैं सो कैसे पूरे होंगे अर्थात् नहीं हो सकते क्योंकि वे सब मिथ्याबुद्धि का परिणाम होने से संसार के भ्रमण के कारण हैं।

4. **देव**–जो जीव देवगति में चला जाता है, उसे देव कहते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं, आचार्य उमास्वामी कहते हैं– **'देवाश्चतुर्णिकाया:'** (तत्त्वार्थसूत्र. अ. 4.1)

देव चार प्रकार के हैं– 1. भवनवासीदेव; 2. व्यंतर देव; 3. ज्योतिषिदेव; और 4. **वैमानिक** देव।

1. **भवनवासीदेव:**–ये देव पृथ्वी के ख़र और पंक भाग में स्थित भवनों में अपने परिवार सहित रहते हैं। ये दस प्रकार के होते हैं।
2. **व्यंतर देव:**– ये देव पृथ्वी के ख़र भाग में और मध्य लोक में सर्वत्र नाना द्वीपों, वनों,

पर्वतों की चोटियों, कुंजगृहों आदि में विहार करते हैं। ये आठ प्रकार के होते हैं और कोतुहलवश नाना प्रकार की क्रियाएँ करते हैं।

3. **ज्योतिषदेवः—** सूर्य, चन्द्र आदि ऊपर आकाश में सुमेरू पर्वत के चारों ओर घूमने वाले ज्योतिष देव कहलाते हैं। ये पाँच प्रकार के होते हैं। अढ़ाई द्वीप के अन्दर जितने भी ज्योतिष देव हैं, वे सब घूमने वाले हैं, जिससे दिन-रात का निर्धारण होता है, किन्तु अढ़ाई द्वीप से बाहर के सब ज्योतिष देव स्थिर हैं, वे चक्कर नहीं लगाते हैं।

4. **वैमानिक देवः—** ऊपर उर्ध्वलोक के विमानों में जन्म लेने वाले देव वैमानिक देव कहलाते हैं। सोलह स्वर्गों तक के देव कल्पदेव कहलाते हैं। उससे उपर के देव अर्थात् नवग्रैवेयक, नवअनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों के देव कल्पातीत या अहमिंद्र कहलाते हैं। ये विमान ऊपर-ऊपर स्थिर हैं।

उपर्युक्त चारों प्रकार के देवों को किसी भी प्रकार कल्याणकारी मानकर या अन्य किसी लौकिक दृष्टि से लाभ देने वाले मानकर मानना और पूजना निषेध है, क्योंकि ये किसी का भला-बुरा करने में समर्थ नहीं हैं। यदि ये समर्थ हों तो ये कर्ता ठहरेंगे, किन्तु इनके करने से कुछ होता दिखाई नहीं देता। ये प्रसन्न होकर धन आदि दे नहीं सकते और द्वेषी होकर कुछ बुरा नहीं कर सकते। इनको मानना-पूजना आचार्यों ने देव मूढ़ता बताई है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी देवमूढ़ता का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि—

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते।।

- रत्नक० श्रा०, 23

पुत्रप्राप्ति, रोगनिवृत्ति और धनलाभ आदि इस लोक सम्बन्धी वर अर्थात् फल की आशा से रागी-द्वेषी देवताओं की पूजन, उपासना करना देवमूढ़ता कहलाती है। यह देवमूढ़ता सम्यग्दृष्टि के नहीं होती। मिथ्यादृष्टि को ही मूढ़ताएँ होती हैं।

पूजा कैसे करें- सुदेव का जो लक्षण कहा गया है, उसके स्वामी अर्हन्त देव हैं, उन्हीं की भक्ति-स्तुति और पूजन करना योग्य है। क्योंकि उनकी भक्ति भव्य प्राणियों को संसार समुद्र से पार उतारने के लिए जहाज के समान होती है।

अरहंतों के छियालीस गुण—

चवतीसों अतिशय सहित, प्रातिहार्य पुनि आठ।
अनंतचतुष्टय गुण सहित, छीयालीसों पाठ।।

34 अतिशय, 8 प्रातिहार्य, और 4 अनंतचतुष्टय–ये 46 गुण अरहंतों के हैं। 34 अतिशयों में 10 अतिशय जन्म के होते हैं, 10 केवलज्ञान के होते हैं और 14 देवकृत होते हैं।

इस प्रकार अरहंत भगवान उपर्युक्त 46 गुणों सहित और 18 दोषों रहित होते हैं। उनकी पूजा दो प्रकार की होती है–

प्रत्यक्ष पूजन–समवशरण में गंधकुटी के मध्य अष्टप्रातिहार्य सहित, अतिशय से विराजमान तीर्थङ्कर भगवान् की प्रत्यक्ष पूजन होती है। भगवान तीर्थङ्कर अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय सहित जीवन मुक्त अवस्था में विराजमान हैं। इसी प्रकार विदेह क्षेत्र में सीमन्धर स्वामी आदि 20 तीर्थङ्कर विद्यमान रहते हैं। उनकी जो पूजा की जाती है, वह भी प्रत्यक्ष पूजा कहलाती है।

परोक्ष पूजन–उन तीर्थङ्कर अरहंतों की प्रतिमा की जो पूजा अरहंत की स्थापनापूर्वक पूजा की जाती है, वह परोक्ष पूजन कहलाती है। ये प्रतिमाएँ साक्षात् अरहंत भगवान् के समान हैं, केवल इनमें और अरहंत भगवान में चेतन और अचेतन का ही अन्तर है।

अभिषेक पूजा का अंग नहीं–पूजा करने से पूर्व अभिषेक करना आवश्यक नहीं होता। यह क्रिया श्रावकों को करनी अवश्य चाहिए, किन्तु यह पूजा का अंग नहीं माना जा सकता। अरहंत भगवान की प्रतिमा अरहंत भगवान के समान ही होती है और अरहंत भगवान का साक्षात् समवशरण में जब पूजन होता है तो वहाँ अभिषेक क्रिया नहीं होती। अभिषेक क्रिया का प्रयोजन तो केवल प्रतिमा का रख-रखाव और स्वच्छता होता है, जो कि अति आवश्यक है। अभिषेक से तात्पर्य यहाँ प्रक्षाल से लिया जाता है, किन्तु आज अधिकांश श्रावक प्रक्षाल (गीले वस्त्र से पौछना) करना तो भूलते जा रहे और अभिषेक क्रिया को अनिवार्य मानने लगे हैं। अभिषेक में जल अधिक लगने से दोष है और जब जल बहता हुआ लिंग के पास के स्थान में जमा हो जाता है तो वहाँ ठीक से जल शुष्क न होने से जीव उत्पन्न हो जाने से हिंसा होने का पाप लगता है। ये क्रियाएँ सम्यग्दृष्टि नहीं करता है।

एक बार प्रासुक जलाभिषेक होना उचित है

जल को दुहरे वस्त्र में छानकर गर्मकर प्रासुक जल से भगवान का प्रक्षाल प्रतिदिन केवल एक बार करना चाहिए। बार-बार प्रक्षाल या अभिषेक नहीं करना चाहिए। पूजा करने से विपुल मात्रा में पुण्य प्राप्त होता है जबकि जलादि का उपयोग पाप का भी कारण बनता है। आचार्य समंतभद्र कहते हैं–

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ।।

-स्वयंभूस्तोत्र, 58

हे भगवन्। आपको पूजते हुए जो पूजाकृत सावध आरम्भ होता है, वह लेश थोड़ा होता है, और पुण्य की राशि बहुत विपुल प्राप्त होती है। जिस प्रकार शीतल जल से भरे हुए समुद्र में एक विष की बूँद का कुछ असर नहीं होता, उसी प्रकार आपके पूजन द्वारा प्राप्त किये हुए पुण्य समूह में पूजन कृत आरम्भ जनित दोष का कुछ असर नहीं होता।

पंचामृत अभिषेक का निषेध–वि.सं. 753 में काष्ठासंघ की उत्पत्ति हुई थी चूँकि इस संघ में काष्ठ की प्रतिमा का अभिषेक जल से ही होता था। अनन्तर जल से अभिषेक होने के कारण वह काष्ठ की प्रतिमा फटने लगी तब काष्ठा संघ के संस्थापक गुणभद्र और कुमारसेन नामक मुनियों ने दुग्ध, दही, घृत, इक्षुरस और चन्दन से प्रतिमा का अभिषेक करने को कहा। यह कार्य मात्र मूर्ति को फटने से रोकने का उपचार था। बाद में जल से अभिषेक करने की आज्ञा दी तथा साथ में यह भी कहा कि जब तक धातु अथवा पाषाण की दूसरी प्रतिमा तैयार न हो जाये, तब तक ही यह पंचामृताभिषेक करना। जब दूसरी प्रतिमा तैयार हो जाये तब इन सब प्रपंचों को छोड़कर भगवान् का अभिषेक केवल शुद्ध जल से ही करना। आज यह पंचामृताभिषेक अनेक जगह रूढ़ि में आ चुका है। यह सर्वविदित है कि काष्ठासंघ आम्नाय आर्षमार्ग नहीं है ये लोग भट्टारक थे।

विचारणीय है कि अहिंसाव्रत एवं अहिंसा के पूर्ण रूप से पोषक जैनधर्म में पाँच अभिषेक के पदार्थों का विधान कहाँ तक संगत होगा, जिसमें प्रत्यक्ष परिग्रहण की झलक के साथ हिंसा, न केवल स्थावर की, बल्कि उसके सहयोग से इक्षुरस आदि मिष्ठान्न के कारण चींटियों आदि जीवों की भी हिंसा होती है। दूध, दही, घी आदि पदार्थ कभी-कभी शुद्ध न मिलने पर अमर्यादित, बाजारू एवं अस्पृश्य तक भी काम में लाये जाते हैं। यदि वीतराग धर्म में भी अभिषेक पंचामृत से मान लिया तो सर्वथा अहिंसा तथा निवृत्तिमार्ग का लोप हो जायेगा। अत: पंचामृताभिषेक, वीतरागता, अहिंसा एवं अपरिग्रहत्व का विरोधी धर्म है। विचारशीलों को यह अभिषेक नहीं करना चाहिए। इस प्रकार कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओं के अभिषेक का विधान जल से ही अनेक स्थानों पर पाया जाता है और भगवान जिनसेनाचार्य एवं गुणभद्राचार्य आदि मूलसंघ के दिगम्बर आचार्यों ने कहीं पर भी पंचामृताभिषेक का नाम तक नहीं लिया।

स्त्री द्वारा अभिषेक का निषेध–स्त्रियों द्वारा जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक नहीं होना चाहिए। इसके बहुत पुष्ट प्रमाण शास्त्रों में प्राप्त होते हैं। जैसे–जन्म कल्याणक के समय इन्द्र ने भी जब भगवान् का अभिषेक किया था, उस समय भी इन्द्राणी को साथ में नहीं लिया था, फिर स्त्री को प्रक्षाल करने की शास्त्र आज्ञा देता है, यह कैसे कहा जा सकता है? शास्त्रकारों ने कहा है कि आचार्यों को, उपाध्यायों को और मुनिराजों को आर्यिकाएँ और स्त्रियाँ क्रमश: 5 हाथ, 6 हाथ, और 7 हाथ दूर से ही नमस्कार करती हैं, तब महामुनिराज अर्हंत परमात्मा को स्त्री कैसे स्पर्श कर सकती है? स्त्री द्वारा अभिषेक से उनके ब्रह्मचर्य एवं शील में दोष लगने का

महापाप स्त्रियों को लगता है। अतः स्त्री द्वारा भगवान का अभिषेक करना सर्वथा धर्म विरुद्ध क्रिया है। इसे नहीं करना चाहिए।

नित्यमह (पूजा) के पाँच अंग–आचार्यों ने नित्यमह (पूजा) के पाँच अंग बताये हैं। (मह का अर्थ पूजा है–नित्य पूजा करना नित्यमह है।) यह चार प्रकार की है– (1) आह्वान (2) स्थापना (3) सन्निधिकरण (4) पूजन (5) विसर्जन

विशेष–जब भगवान् के समवशरण में 20 हजार सीढ़ियाँ चढ़कर श्रावक पहुँचते हैं और उनकी वन्दना-पूजा करते हैं तब वहाँ क्या कोई जलाभिषेक या पंचामृताभिषेक से पूजा की जा सकती है अर्थात् नहीं, तो फिर क्या वहाँ भगवान की पूजा नहीं हुई? हुई और अवश्य हुई। इस प्रकार आज जो यह सब हो रहा है कि अभिषेक बिना पूजा पूर्ण नहीं, ये सब कल्पना के आधार पर ही है। यह मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व का फल अनन्त संसार है।

पूजा के आठ द्रव्य

शास्त्रकारों ने पूजा के आठ द्रव्य बताये हैं– (1) जल, (2) चन्दन, (3) अक्षत, (4) पुष्प, (5) नैवेद्य, (6) दीप, (7) धूप और (8) फल।

ये आठों द्रव्य अचित्त ही होना चाहिए, सचित्त नहीं। जो श्रावक सचित्त दोष से भयभीत हैं, विवेकी हैं और ज्ञानी हैं, वे अचित्त द्रव्य से ही पूजन करते हैं। अब प्रश्न उठता है कि अचित्त द्रव्य कौन-कौन से हैं–जिससे हम पूजन कर सकें। शास्त्रकारों ने निम्न आठ द्रव्यों को अचित्त माना है–

1. **जल**–सफेद व अत्यंत गाढ़े वस्त्र को दुहरा करके उससे पानी छानना चाहिए तथा छन्ने के मध्य स्थित जीवों को बड़े यत्न से छने जल के द्वारा नीचे जल की सतह में पहुँचा देना चाहिए। इस प्रकार जिवानी करके, छने जल को दो घड़ी अर्थात् अड़तालीस मिनट के अन्दर गर्म करके लौंग आदि से प्रासुक करना चाहिए। यह अचित्त जल ही पूजा में प्रयोग होने योग्य है। इस शुद्ध जल से जीव के आश्रित अनन्त संताप को देने वाली जन्म, जरा, और मृत्यु रूपी अग्नि को बुझाने के लिए अरहंत भगवान के दोनों चरणों के आगे तीन धाराओं का क्षेपण करना चाहिए।
2. **चन्दन**–शुद्ध जल में शुद्ध केसर या चन्दन मिलाकर, चन्दन द्रव्य बनाना चाहिए। इसमें हार-सिंगार के फूलों का प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसमें सूक्ष्म जीव पानी का संयोग पाकर तुरन्त पैदा हो जाते हैं, इसलिए हार-सिंगार का प्रयोग सचित्त द्रव्य माना गया है, इससे पूजन करना उचित नहीं है। जो श्रावक अचित्त द्रव्य शुद्ध चन्दन से जिनेन्द्र भगवान की पूजन करते हैं वे इसके प्रभाव से स्वर्ग में अत्यन्त उत्तम सुगन्धित शरीर पाते हैं।

(विशेष–बाजार में केसर प्राय: अशुद्ध मिलती है। हमें कश्मीर सरकार के केसर अधिकारियों से ज्ञात हुआ है कि यह अशुद्ध केसर मुर्गे की आँतों और खून से तैयार की जाती है। यदि दूरवीक्षण यन्त्र से देखा जाय तो इस बात की पुष्टि सहज ही हो जाती है। मन्दिर के लिए केसर कश्मीर सरकार से ही मँगानी चाहिए। अन्यथा चंदन का ही प्रयोग करना चाहिए।

3. **अक्षत–** अखण्ड और उज्ज्वल अक्षतों से भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा करने से अक्षयपद अर्थात् मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

4 **पुष्प–**सफेद अखण्ड चावलों को रंग कर उसमें पुष्पों की कल्पना करनी चाहिए। हरे पुष्पों का प्रयोग बिलकुल नहीं करना चाहिए क्योंकि इसमें विकलेन्द्रिय जीव विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार रंगे हुए चावल चढ़ाते समय कोई कह सकता है कि–'आप सत्य नहीं बोल रहे हैं, चढ़ा रहे हैं रंगे हुए चावल और बोल रहे हैं पुष्प।' इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि जब स्थापना निक्षेप के द्वारा पत्थर की मूर्ति में भगवान् के गुणों की स्थापना करके उसे पूजा जा सकता है तब इसी प्रकार हिंसा को बचाने के लिए चावलों में पुष्पों की कल्पना करके क्यों नहीं उनको पुष्पों की तरह चढ़ाया जा सकता? अत: चढ़ाये जा सकते हैं और रंगे हुए चावलों को चढ़ाते समय पुष्प कहना असत्य नहीं है।

5. **नैवेद्य–**गोले की चटक बनाकर पूजा करनी चाहिए। यदि आप इसके स्थान पर या इसके साथ कोई मिष्ठान्न, लड्डू, बर्फी या कोई पकवान चढ़ाएं तब आरम्भ होना निश्चित है और जहाँ आरम्भ होगा वहाँ हिंसा होगी। इसके अतिरिक्त जहाँ वह चढ़ेगा वहाँ अनेक जीव-जन्तु आ जायेंगे। इसलिए नैवेद्य की कल्पना गोले की चटक में करनी चाहिए। गोले की चटक के अतिरिक्त बाकी अन्य मिष्ठान्न सचित्त हैं।

निर्वाण दिवस पर निर्वाण लड्डू नहीं अपितु निर्वाण फल चढ़ाना चाहिए–अनेक स्थानों पर आजकल तीर्थङ्करों के मोक्ष कल्याणक के दिन मन्दिर जी में मीठा लड्डू चढ़ाने लगे हैं। यह क्रिया उचित नहीं है, हिंसाजनक क्रिया है। हमने बहुत शास्त्र पढ़े कहीं भी लड्डू चढ़ाने का कथन नहीं मिला। लड्डू पहले दिन अथवा कई दिन पहले बनाया जाता है, जिससे वह मर्यादित नहीं रहता तथा इसके बनाने में महान् आरम्भ होता है। प्राय: बनाने वाले अविवेकी होते हैं, उन्हें पानी छानने आदि की क्रियाओं का सामान्य ज्ञान भी नहीं होता है। सब कार्य पैसे देकर व्यापारिक स्तर पर कराया जाता है। इसलिए मन्दिर जी में लड्डू चढ़ाना नितान्त विपरीत क्रिया है। जब ये मीठे लड्डू चढ़ाये जाते हैं तो मन्दिर में अनेक चींटियाँ, जीव-जन्तु आदि आ जाते हैं और उनकी हिंसा हो जाती है।

एक ओर तो मुनिराजों को भी मर्यादित भोजन का आहार दिया जाता है, वहीं दूसरी ओर भगवान् के समक्ष अमर्यादित लड्डू चढ़ाते हैं। निर्वाण लड्डू चढ़ाना आगम के विरूद्ध है। यह एक भट्टारकीय प्रथा है जो कि अविवेकपूर्ण होने से कभी भी मान्य नहीं मानी जा सकती है। इसलिए इस रूढ़िवादी परम्परा के स्थान पर निर्वाण दिवस पर बादाम, गोला, अथवा सूखे फल चढ़ाये जाना चाहिए। इससे हम हिंसा से बच जाते हैं और भगवान् का निर्वाण उत्सव भी मना सकते हैं। हिंसा क्रिया में धर्म मानना मिथ्यात्व है, जिसका फल घोर संसार भ्रमण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

6. **दीप**– गोले की चटक को केसर से या चन्दन से रंगकर दीप की कल्पना करना चाहिए। इससे पूजन करना शास्त्रानुकूल है। इससे भाव निर्मल होते हैं। यदि आप साक्षात् दीपक जलाते हैं तो वह स्थावर जीव होने से सचित्त है। दीपक की ज्योति जो अग्नि जीव है, ऊपर-जाकर के भी अनेक जीवों को हनन करती है। इसमें हिंसा होती है और पूजन में हिंसा करना उचित नहीं है। अत: हिंसा से बचने के लिए गोले की चटक आदि को चन्दन से रंगकर दीप की कल्पना करनी चाहिए।

दीपक से आरती करना धर्म विरुद्ध– आरती करना जैनसिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। आरती का समय सामायिक का समय है। आरती के लिए रात्रि में दीपक जलाना पड़ता है, जो किसी भी तरह उचित नहीं कहा जा सकता। जब पूजन में भी दीप जलाना हिंसा मानी गयी तब रात्रि को दीपक जलाना कैसे उचित हो सकता है? सामायिक के समय को टालकर उसको आरती के कार्य में लगाना शास्त्र से कभी भी सिद्ध नहीं होता। आरती के सन्दर्भ में शास्त्रों में कहा गया है कि–

> **दीपप्रकाशे प्रपतन्ति जीवा:, अरार्तिकं दीपमृते न भावि।**
> **तज्जीवघातान्नरकप्रसूतिरारार्तिकं नैव ततो विधेयम्।।**
> **दीपप्रकाशव्यसना हि शलभा:, दीपे पतन्तो विरमन्ति नैव।**
> **तज्जीवघातान्नरके प्रयान्ति, अरार्तिकं नैव दयालुध्येयम्।।**

नियम से दीपशिखा पर मच्छर और पतंगे आदि चतुरिन्द्रिय जीवों का घात होता है। मच्छर आदि प्रकाश के व्यसनी जीव हैं वे आने से कभी नहीं रुकते और जीव घात से प्राणी नियम से नरक को जाते हैं। आरती बिना दीप के नहीं बन सकती। अत: आरती करना कभी विज्ञ तथा दयालु पुरुषों का ध्येय नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाए कि आरती में जो जीव घात होता है वह धर्म के लिए होता है इसलिए ऐसे जीवघात से बचने की आवश्यकता नहीं है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि–

देवधर्मतपस्विनां कार्ये महति सत्यपि।
जीवघातो न कर्तव्यः खभ्रपातक हेतुमान॥

देव, धर्म, और गुरुओं के निमित्त भी महान् से महान् कार्य पड़ने पर भी जीव घात नहीं करना चाहिए। क्योंकि जीव घात नरक में ले जाने का कारण है। जो इसकी परवाह नहीं करते वे जिनेन्द्र भगवान् के वचन रूपी आँखों से रहित हैं।

आरती करना जैसा कार्य प्राय: हठी लोग करते हैं। जिनके पूर्वाग्रह रहता है, वे यह विचार ही नहीं कर पाते कि यह पुण्य कार्य है अथवा पाप कार्य है। इस प्रकार पक्ष पकड़कर कार्य करना अपना हित एवं अहित नहीं विचारना, पाप का कारण है एवं कुगति में ले जाने वाला है। दीपक से आरती करने में प्रत्यक्ष उड़ने वाले चार इन्द्रिय जीव आकर गिर ही जाते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष हिंसा जैन धर्मानुयायी किस प्रकार से कर सकेगा? क्योंकि जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नहीं हो सकता, ऐसा जैनधर्म का मुख्य उद्देश्य है।

अखण्ड ज्योति जलाना भी धर्म विरूद्ध– अब से लगभग चार सौ वर्ष पहले जब भारत में मुसलमान शासकों का राज्य था और बलात् मूर्तियाँ खंडित की जा रही थीं, ऐसे संकटकाल में जिनमूर्तियों को गर्भगृह अथवा तलघरों में स्थापित कर दिया गया था वहीं जैनी लोग दर्शन करने जाते थे, वहाँ तब प्रकाश हेतु दीपक जलाये जाते थे। चूँकि उस समय आज की तरह बिजली प्रकाश नहीं था एवं मंदिरों में खिड़कियाँ एवं रोशनदान नहीं बनाये जाते थे, जिस कारण प्रकाश अपर्याप्त रहता था। तब एक हाथ में दीपक लेकर उसके द्वारा भगवान की प्रतिमा के दर्शन करते थे और उनका गुणानुवाद करते थे, इसलिए बाद में इस क्रिया को आरती से जोड़ दिया गया। जबकि उस समय की परिस्थितियों में उनकी विवशता थी लेकिन उनके अभिप्राय में दोष नहीं था, हठ नहीं था, लेकिन आज उस क्रिया को धर्म की क्रिया बताना महान् अज्ञान है। इसलिए अखंड ज्योति जलाना भी जैन आम्नाय की परिचायक नहीं है। इससे महान् हिंसा होती है। धर्मस्थान में धार्मिक क्रियाओं में कदापि हिंसा नहीं करनी चाहिए। शास्त्रों में कहा गया है कि–

अन्यस्थाने कृतं पापं धर्मस्थाने विनश्यति।
धर्मस्थाने कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥

अन्य स्थानों में किया गया पाप मन्दिर आदि धार्मिक स्थानों पर कट जाता है, किन्तु धर्मस्थान में किया गया पाप वज्र लेप हो जाता है। अत: गृहस्थों को सावधानी पूर्वक मन्दिर बनवाना, पूजन आदि करना चाहिए। आरती, अखण्ड ज्योति आदि हिंसक कार्य नहीं करना चाहिए। आरती का सम्बन्ध दीपक से कदापि नहीं है। पं. प्रवर संतलाल जी ने सिद्धचक्र विधान में कई जगह भगवान की महिमा का वर्णन करने को आरती नाम दिया है।

जग आरत भारत महा, गारत करि जयपाय।
विजय आरती तिन कहुँ, पुरुषारथ गुणगाय॥

इसी प्रकार अन्य पूजाओं में भी आरती शब्द का अर्थ गुणगान करना ही सिद्ध होता है। अब यह प्रश्न उठ सकता है कि मन्दिर में बड़े-बड़े बल्ब, लाईट आदि से भी तो जीव मरते हैं, जनरेटर आदि चलाये जाते हैं, उससे भी तो तीव्र हिंसा होती है। इसका समाधान यह है कि इसका समर्थन भी हम नहीं करते, चूँकि आज के भौतिक युग में मनुष्यों में वैसी श्रद्धा नहीं है जैसी पूर्वकाल में थी। यह पंचमकाल का प्रभाव है यदि मंदिरों में बल्ब आदि नहीं जलायें तब रात्रि में मंदिर खुलेगा ही नहीं और लोग मंदिर में आना ही बन्द कर देंगे। तब स्वाध्याय आदि का क्रम लुप्त प्राय: हो जायेगा। रात्रि में तो मनुष्यों को अपने सब आरम्भ आदि क्रियाओं से विराम लेकर सामयिक आदि क्रियाओं में लीन होना चाहिए। लेकिन ऐसा तो करते नहीं तथा जिनदर्शन करना तथा जिनालय आना ही बन्द कर देंगे तब महान् अहित होगा। आज भी दिल्ली के धर्मपुरा में 250 वर्ष प्राचीन मंदिर है, जहाँ बिजली का कनैक्शन ही नहीं है तथा रात्रि में मंदिर खुलता ही नहीं है, दीपक व अखण्ड ज्योति जलाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे, मंदिर में बल्ब आदि जलाने में धर्म नहीं माना जाता, परन्तु दीपक जलाकर आरती करने को लोग धर्म मानते हैं। इस प्रकार यह उल्टी मान्यता होने के कारण मिथ्यात्व की ही श्रेणी में आता है। आज के सन्दर्भ में दीपक व आरती का यथार्थ अभिप्राय व प्रयोजन जानकर प्रचलित प्रथा को सही दिशा देने का प्रयास करना चाहिए तथा रूढ़िवाद, अज्ञानता व पक्षपात को छोड़कर सही मार्ग को समझकर जिनधर्म की सच्ची प्रभावना करना चाहिए।

आशिका लेना मिथ्यात्व है–प्राय: यह देखा जाता है कि जब पूजा समाप्त हो जाती है तब ठोने के ऊपर चावलों (पुष्पों) की दोनों हाथों से आशिका ली जाती है, इसी प्रकार दीपक की भी (यदि कोई जलाता है तब) तथा अन्य वस्तुओं की भी जो दोनों हाथों से आशिका ली जाती है, उसका प्रयोजन क्या है, यह कहीं शास्त्रों में देखने को नहीं मिला। अत: यह केवल मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व का फल संसार भ्रमण है। इस प्रकार की क्रिया से कोई विनय आदि सिद्ध नहीं होते।

7. **धूप**– भव्य जीव भगवान् के सामने चन्दन आदि सुगन्ध द्रव्यों की धूप बनाकर थाली में चढ़ाते हैं वे कर्म रूपी ईंधन को भस्म करते हैं। धूप बनाने के लिए चन्दन की गट्टी बाजार से लाकर कर रेती से रेत लेना चाहिए। तीन दिन की धूप एक साथ रेत कर रखी जा सकती है। इस धूप को हमेशा पूजा की थाली में ही चढ़ाना चाहिए। यदि आप इसे अग्नि में खेवेंगे

तो अग्नि तो सचित्त है, वह अचित्त नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त और भी जीव-जन्तु आकर अग्नि में गिरकर मर जाएंगे। इस प्रकार हिंसा होने से धर्म नहीं अपितु अधर्म ही होगा जिसका फल संसार भ्रमण ही है। अत: आप थोड़ी-सी धूप थाली में चढ़ाकर अपने भाव बना लें। यही उचित है और शास्त्रानुकूल है।

8. **फल**—यह अन्तिम पूजन द्रव्य है। आचार्य कहते हैं कि–

उच्चै: फलाय परमामृतसंज्ञकाय, नानाफलैर्जिनपतिं परिपूजयामि।
त्वद्भक्तिरेव सकलानि फलानि दत्ते, मोहेन तत्तदपि याचत एव लोके॥

-पद्मनन्दि पंचविंशतिका

हे जिनेन्द्र! परमामृत है नाम जिसका ऐसे उच्चपद हेतु हम आपको नाना प्रकार के फलों से पूजते हैं। हे भगवन्! आपकी भक्ति ही सकल निर्दोष फल को देती है तो भी लोक में मोह से फल की याचना होती ही है। भगवान के सामने फल कैसे हो यह अच्छी तरह विचारना चाहिए। सूखे बादाम, इलायची, लौंग, जायफल आदि कुछ भी प्रयोग किये जा सकते हैं। हरा फल कदापि न चढ़ायें ये सचित्त होते हैं। सचित्त वस्तु भगवान को चढ़ाने में बहुत दोष लगता है। आप स्वयं समझदार हैं, जरा विचार कीजिए यदि मन्दिर का व्यास (माली) कहीं गया हुआ है तो वे हरे फल सड़ जाएंगे। सड़ने से जीवों की उत्पत्ति होगी और उनका मरण होगा। अत: सचित्त फल चढ़ाना हिंसापूर्ण कार्य सिद्ध होगा। इसके विपरीत यदि सूखे फल चढ़ायेंगे तो व्यास कभी भी आये, हिंसा होने का कोई अन्देशा नहीं है। इस प्रकार आपको हमेशा सूखे फल ही चढ़ाना चाहिए, यही धर्मानुकूल क्रिया है। वास्तव में भगवान तो वीतरागी हैं। उनको आप कैसा ही द्रव्य चढ़ाये, वह विवेक तो आप पर है। सिर्फ भाव शुद्ध बनाने के लिए सामग्री का सहारा लिया जाता है। यदि उसमें हिंसात्मक क्रिया होती है तो वह धर्म नहीं पाप ही होगा। पं. दौलतराम जी भी कहते हैं–

रागादि भावहिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत।
जे क्रिया तिन्हें जानहुँ कुधर्म, तिन सरधै जीव लहै अशर्म॥

-छह ढाला-द्वितीय ढाल

जिन कार्यों के करने में राग-द्वेष पैदा होता हो एवं जिनमें नियम से त्रस और स्थावरों की हिंसा करनी पड़ती हो, उन्हें कुधर्म कहते हैं, ऐसे कुधर्म को धर्म मानने वाला जीव दु:ख पाता है। इस प्रकार विवेकपूर्ण कार्य करना चाहिए।

यहां कोई प्रश्न कर सकता है कि श्रावक गृहस्थ भी अग्नि, दीपक, हरे पत्ते का प्रयोग, मिठाई

आदि अनेक सचित्त वस्तुओं का प्रयोग करता है तब भगवान को चढ़ाने में क्यों मना किया जाता है।

इसका समाधान यह है कि श्रावक की गृहस्थ की क्रिया, गृहस्थ में ही होती है और भी अनेक मिथ्या और विपरीत क्रियाएँ होती हैं इसलिए गृहस्थ की क्रियाओं की तुलना मन्दिर की क्रियाओं से नहीं की जा सकती।

विशेष–भगवान् की मूर्ति को कभी भी चन्दन नहीं लगाना चाहिए। भगवान् की प्रतिमा समस्त परिग्रह रहित होती है, चन्दन लगाने से परिग्रह सहित बन जाती है। इसी प्रकार प्रायः यह भी देखा जाता है कि जब थाल में भगवान को विराजमान् करते हैं तब थाल में चन्दन से श्री जी लिखते हैं यह भी भगवान् को चन्दन लगाने के समान ही है, क्योंकि ठीक इसके ऊपर भगवान विराजमान करके ऊपर से जलधारा छोड़ते समय जल में चन्दन मिलने से प्रतिमा चन्दन युक्त होती है। प्रतिमा को श्रृंगार युक्त नहीं बनाना चाहिए। चन्दन लगाना श्रृंगार करना ही है, इस क्रिया से भगवान की वीतराग मूर्ति में दोष उत्पन्न होता है और इसका पाप चन्दन लगाने वाले और ऐसी प्रतिमा को पूजने वाले को लगता है। श्री जी भी चौकी पर लिखा जा सकता है। हमें निष्पक्ष होकर विचार करना चाहिए। हम प्रथमानुयोग ग्रंथों के उदाहरणों से सिद्धान्तों की परिपुष्टि के लिए दृष्टान्त को कसौटी नहीं कह सकते क्योंकि प्रथमानुयोग के ग्रथों के एक ही कथानक में परस्पर विपरीतता देखी जाती है। इन ग्रंथों से हमें राग से वैराग्य की शिक्षा लेनी चाहिए।

मूर्ति पूजा पत्थर की या गुणों की– इस काल में भगवान की मूर्ति आत्मकल्याण के लिए सच्चा अवलम्बन है। यह संसार समुद्र से पार उतरने के लिए नौका के समान है। यह मूर्ति वीतराग भावों को उत्पन्न करने में निमित्त कारण है। कहा भी है कि–

आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्याया कृतिपूजनम्।
ताक्ष्र्य मुद्रा न किं कुर्यात् विषसामर्थ्यसूदनम्।।

- यशस्तिलक, 1

तीर्थङ्कर भगवान के न होने पर भी उनकी प्रतिष्ठित प्रतिमाओं की भक्ति पूजन से महान् सातिशय पुण्य बंध होता है। जैसे गरुड़ के न होने पर भी उसकी मूर्ति मात्र से क्या सर्प का विष नहीं उतरता? अवश्य उतरता है।इस प्रकार आप पक्षपात छोड़कर निष्पक्ष हो जाएं। यह धर्म तो दिगम्बर एवं वीतरागी है। यह अहिंसामय धर्म है। रूढ़ियों को पकड़ कर बैठने से काम नहीं चलेगा, मोक्षमार्ग नहीं बनेगा। अब आप प्रश्न उठा सकते हैं कि प्रथमानुयोग ग्रन्थों में ऐसे बहुत से कथन मिलते हैं, जिनको करना उचित लग रहा है, किन्तु आप उनको आगम विरुद्ध कहते हैं। इसका समाधान यह है कि प्रथमानुयोग तो एक अलंकार ग्रन्थ है, उसमें अतिशयोक्ति अधि

क मिलती है, ऐसा जानकर आपको विवेक से कार्य करना चाहिए। पद्मपुराण में एक जगह लिखा है कि सीता राजा जनक की पुत्री थी। उत्तर पुराण में लिखा है कि सीता रावण की पुत्री थी। प्रथमानुयोग ग्रन्थों का आर्ष ग्रन्थों से मूल नहीं खाता। प्रथमानुयोग ग्रन्थों से तो हमें राग से वैराग्य की शिक्षा लेना है, इस दृष्टि से अनुयोग कार्यकारी है।

संसार में प्राय: यह देखा जाता है कि जैसे बाह्य निमित्त हों, उनको देखने से उस ही जैसे परिणाम होते हैं। जैसे–यदि हम कोई चरित्रहीन व्यक्ति का चित्र देखते हैं तो हृदय में काम वासना पैदा होती है। यदि किसी वीर पुरुष की फोटो देखते हैं तो वीर रस का संचार होता है, और यदि किसी साधु-महात्माओं का चित्र देखते हैं तो हृदय में वैराग्यभावों का संचार होता है। ठीक इसी प्रकार तीर्थङ्कर भगवान् की आदर्श प्रतिमा के दर्शन-पूजा से आत्मा में वीतराग भावों का संचार हुए बिना नहीं रहता। तीर्थङ्कर भगवान की प्रतिमा देखने से आत्मा में ये भाव होते हैं कि धन्य हैं इनका आदर्श त्याग, धन्य है इनकी आत्मिक और शारीरिक शक्ति, जिसके द्वारा आत्मा स्वाभाविक, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप शक्ति को प्राप्त कर जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त हुए हैं। वीतराग प्रभु की प्रतिमा के दर्शन से वीतराग भावों की उत्पत्ति होती है। यदि वीतराग प्रभु की मूर्ति न होती, तो फिर हमारी आत्मा में ये आदर्श भाव भी पैदा नहीं हो सकते। तब मोक्ष के उपाय की बात भी नहीं सोच सकते और सांसारिक विषय कषाय रूपी कीचड़ से किसी प्रकार भी नहीं निकल सकते। अत: तीर्थङ्कर भगवान् की मूर्ति धार्मिक भाव पैदा करने में प्रधान कारण है।

जो लोग यह कहते हैं कि जैन लोग पत्थर की उपासना करने वाले हैं वे लोग जैनाचार्यों के सिद्धान्तों से शायद बिलकुल ही अनभिज्ञ हैं। क्योंकि जैन लोग तीर्थङ्कर भगवान् की मूर्ति को देखकर भगवान् के वास्तविक स्वरूप तथा उनकी आत्मा की विशुद्ध वीतराग विज्ञान परिणति की उपासना करते हैं कि हे प्रभो! आपने राज्य लक्ष्मी को तृण के समान तुच्छ समझते हुए त्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की, जिसमें लेश मात्र भी आरंभ परिग्रह नहीं था। आपने आत्मध्यान रूपी प्रज्वलित अग्नि से घातिया रूप कर्म ईंधन को भस्म कर दिया। जिससे आपकी आत्मा में अनन्त चतुष्टय उत्पन्न हो गये, तथा जन साधारण में पाये जाने वाले क्षुधा, तृषा भय, राग, द्वेष, चिन्ता आदि 18 दोषों से रहित होकर वीतराग की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए। आपकी आत्मा में अनन्त गुण हैं जिन्हें वृहस्पति भी निरूपण करने में समर्थ नहीं है, फिर हम सरीखे अल्पज्ञानी उनका निरूपण कर किस प्रकार शक्ति प्रदान कर सकते हैं। तो भी क्या दीपक की लौ से सूर्य की उपासना नहीं की जाती, उसी नीति के अनुसार आप की भक्ति के कारण उपासना करने को हम तत्पर हो रहे हैं। हे प्रभो! आपने केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने पर उस महान धर्मतीर्थ का निरूपण किया, जिसकी छत्रछाया में रह कर संसार के प्राणी आवागमन से छुटकारा पाकर

वास्तविक मुक्तिलक्ष्मी को प्राप्ति करते हैं। इस प्रकार जैन लोग मूर्ति को देखकर उस मूर्तिमान् तीर्थङ्कर प्रभु की उपासना करते हैं। यदि जैन मूर्ति देखकर पत्थर की उपासना करते हैं कि पत्थर तू कहाँ से आया, तू बड़ा मनोज्ञ है, तब जैनों पर पत्थर की उपासना का दोष दिया जा सकता था; किन्तु ऐसा कदापि नहीं है।

इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन लोग मूर्ति पूजा क्यों करते हैं। वे पत्थर को नहीं पूजते अपितु उनमें स्थित अनन्त गुणों की पूजा करते हैं।

पूजा का फल- पूजा करने से पूर्व भगवान् के दर्शनों का लाभ मिलता है। भगवान् के दर्शनों की महिमा अपार है जिनमन्दिर में मात्र भगवान के दर्शन मिलने के सन्दर्भ में कहा जाता है कि-

मन चिन्तु तव सहस्त्र फल, लखा फल गमन करे।
कोड़ाकोड़ी अनन्त फल, जब जिनवर दर्शे।।

भगवान् के दर्शन करने का विचार करने मात्र से हजार उपवास का फल प्राप्त होता है, यदि भगवान के दर्शन करने के लिए प्रस्थान करे तो एक लाख उपवास का फल मिलता है, यदि दर्शन कर ले तो एक कोड़ाकोड़ी उपवास का फल प्राप्त होता है-ऐसी महिमा भगवान अरहंत प्रभु के दर्शनों की बतलाई गई है। इतना ही नहीं इस जीव का कल्याण सिर्फ दर्शन-पूजा द्वारा ही बनता है, इसके अतिरिक्त कोई अन्य निमित्त इस संसार में विद्यमान नहीं हैं। यह बात निम्न दर्शन स्तोत्र से स्पष्ट हो जाती है-

दर्शनं देवदेवस्य, दर्शनं पापनाशनम्।
दर्शनं स्वर्गसोपानं, दर्शनं मोक्षसाधनम्।।

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, साधूनां वंदनेन च।
न चिरं तिष्ठते पापं, छिद्रहस्ते यथोदकम्।।

वीतरागं मुखं दृष्ट्वा, पद्मरागसमप्रभम्।।
जन्म-जन्मकृतं पापं, दर्शनेन विनश्यति।।

दर्शनं जिनसूर्यस्य, संसारध्वांतनाशनम्।
बोधनं चित्तपद्मस्य, समस्तार्थप्रकाशनम्।।

दर्शनं जिनचन्द्रस्य, सद्धर्मामृतवर्षणाम्।
जन्मदाहविनाशाय, वर्धनं सुखवारिधेः।।

जन्म-जन्मकृतं पापं, जन्मकोटिमुपार्जितम्।
जन्ममृत्युर्जरारोगं, हन्यते जिनदर्शनात्।।

आपके दर्शन, पापों के नाशक, स्वर्ग प्राप्ति के कारण और मोक्ष को देने वाले हैं, इन्द्रिय विजेता जिन भगवन्तों के दर्शन और साधुजन का वन्दन करने से पाप शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, जैसे सछिद्र हाथ में पानी अधिक समय नहीं रुक सकता, इसी प्रकार आपके दर्शन करने से पाप अधिक समय नहीं रुक सकते, पद्मराग मणि की आभा के तुल्य प्रभा वाले वीतराग प्रभु के दर्शन से जन्म-जन्म के संचित पाप नष्ट हो जाते हैं, जिन भगवान् रूपी सूर्य का दर्शन संसार (मोह) रूपी अन्धकार का नाशक, चित्तरूपी कमल का विकासक तथा समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है, जिन भगवान् रूपी चन्द्रमा का दर्शन, सत्धर्म रूपी अमृत का वर्षण करने वाला, जन्म-मरण रूपी दाह का विनाशक, तथा सुख रूपी समुद्र को बढ़ाने वाला है, एवं जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन मात्र से करोड़ों जन्मों के संचित पाप समूह, जन्म-मृत्यु व रोगादि शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

देवपूजा का फल अतुल है। आचार्य सोमदेव सूरि कहते हैं-

एकाऽपि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः॥

(यशस्तिलक, 2)

केवल जिनेन्द्र भगवान की पूजा-भक्ति भी विवेकी श्रावक को दुर्गति के दुःखों से छुड़ा कर सद्गति में पहुँचाती है तथा महान् पुण्यबन्ध कराती है एवं परम्परा से मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देती है।

कृत्वा न पूजां गुरुदेवयोः यः, करोति किञ्चित् गृहकार्यजातम्।
भक्त्या विहीनः भवतीह पापी, गाढ़ान्धकारे महति प्रविष्टः॥

जो भगवान् की पूजा किये बिना तथा सद्गुरुओं की उपासना किये बिना भोजन करते हैं; वे केवल पाप रूपी अन्धकार का भक्षण ही करते हैं।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए मानतुंगाचार्य कहते हैं कि-

नात्यद्भुतं भुवन-भूषण भूतनाथ भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तम-भिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥

त्रिलोक भूषण! आपके पवित्र गुणों से आपकी स्तुति का कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि संसार में वे स्वामी मान्य नहीं हैं, जो अपने आधीन सेवकों को अपने समान नहीं बनाते।

दर्शनार्थी किस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के तुल्य बन जाते हैं यह निम्न दृष्टान्त से भी स्पष्ट हो जाता है-

बालक का दृढ़ श्रद्धान

एक लड़का किसी स्कूल में पढ़ने जाया करता था। वहाँ वह मन लगाकर एकाग्रचित्त हो अध्ययन किया करता था। जो कुछ भी स्कूल में उसके अध्यापक उसे पढ़ाते वह उसे कंठस्थ करने का प्रयत्न करता रहता था। एक दिन उसे पढ़ाया गया डी.ओ.जी. 'डोग', 'डोग अर्थात् कुत्ता। पुत्र जब घर पर होता तो अपना पाठ याद करता रहता था। माता-पिता पुत्र के मुख से डी.ओ.जी. डोग सुनकर प्रसन्न होते कि बेटा अंग्रेजी का अध्ययन कर रहा है।

एक दिन वह लड़का अपने पिता जी के साथ खेल देखने बाहर कहीं जाता है। जब वह खेल देखने लगता है, तब उसे मुख से डी.ओ.जी. डोग की जगह जी.ओ.डी. गोड, गोड माने कुत्ता निकल जाता है। यह पिताजी सुन लेते हैं। खेल समाप्त होने के पश्चात् पिता-पुत्र घर पहुँचते हैं। पिताजी पुत्र से कहते हैं कि-''बेटा आज तुम खेल देखते समय क्या बोल रहे थे? जी.ओ.डी. गोड, माने तो भगवान् होता है।' पुत्र कहता है कि-पिताजी! मैंने तो भगवान देखा ही नहीं कि ये कैसे होते हैं?' पिताजी कहते हैं-कि 'अच्छा चलो बेटा, तुम्हें मन्दिर जी ले चलते हैं, वहाँ तुम्हें दिखाते हैं कि भगवान् कैसे होते हैं,' पिता-पुत्र दोनों मन्दिर जी आते हैं। पुत्र भगवान् की मूर्ति के दर्शन करता है, कहता है-'यहाँ तो बहुत शान्ति है, पिताजी! इनके न तो कोई वस्त्र हैं और न कोई शस्त्र हैं, ये तो महान् सुखी हैं।' 'हाँ बेटा! ऐसे ही होते हैं वीतरागी भगवान!' पिताजी ने पुत्र का श्रद्धान दृढ़कर दिया।

अब वह लड़का प्रतिदिन नियम से मन्दिर जाकर भगवान के दर्शन और पूजा आदि करने लगता है। यह क्रम चलता रहता है, और एक दिन यह लड़का वीतरागी मुद्रा के माध्यम से वीतरागी बन जाता है। अन्तत: एक दिन अपना कल्याण कर लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि, लड़का पहले भक्त बनता है और तदोपरान्त भक्ति-पूजा करता हुआ उन्हीं के समान भगवान् बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक श्रावक को दर्शन, भक्ति-पूजा का फल, यदि श्रद्धावान (सम्यग्दर्शन) हो, तो नियम से वह भगवान के समान बन जाता है, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।

जीवन में दर्शन-पूजा का अधिक महत्त्व होता है। जिसके जीवन में अरहंत भगवान के दर्शन-पूजन नहीं है, उसका जीवन व्यर्थ है। महावीराष्टक स्तोत्र में कहा गया है कि-

यदर्चा भावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह,
क्षणादासीत्स्वर्गी गुणगणसमृद्धः सुखनिधिः।
लभंतेसद्भक्ताः शिवसुखसमाजं किमुतदा,
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः)॥

इस लोक में जब अरहंत भगवान की अर्चना-पूजा के भाव से प्रसन्न चित्त, मेंढक क्षणमात्र में मरकर स्वर्ग में गुणों से समृद्ध, सुखनिधि से संयुक्त, देव हो जाता है, तब आपके चरणों के सम्यक्दृष्टि भक्त मोक्ष प्राप्त करें तो क्या आश्चर्य है, अत: सच्चे भक्तों को मुक्ति प्रदान करने वाले हे वीर प्रभु! मेरे नयनपथगामी बन जाओ।

यहाँ पर पूजन का तिर्यंचों को भी निषेध नहीं है। अनेक तिर्यंच जिनेन्द्र भगवान की भक्ति-स्तुति और पूजन करने से स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं। पूजन के फलप्राप्ति के विषय में एक मेढ़क की कथा सर्वत्र जैनशास्त्रों में प्रसिद्ध है।

मेंढ़क की भक्ति

विपुलाचल पर्वत पर अन्तिम तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामी का समवशरण आया हुआ था। उसके समाचार से हर्षित होकर राजा श्रेणिक आनन्द भेरी बजाते हुए परिजन और पुरजन सहित श्रीवीरजिनेन्द्र की पूजा और वन्दना को चलते हैं। उसी समय एक मेढक भी जो कि नागदत्त श्रेष्ठी की बावड़ी में रहता था और जिसको अपने पूर्वजन्म की स्त्री भवदत्ता को देखकर जाति स्मरण हो गया था, श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा के लिए मुख में एक कमल की पाँखुड़ी दबाकर उछलता और कूदता हुआ नगर के लोगों के साथ समवसरण की ओर चल देता है। मार्ग में महाराजा श्रेणिक के हाथी के पैर के तले आ जाने से वह मेढक कुचल जाता है और अपने पूजा करने के भाव सहित प्राणों को छोड़ देता है। यह मेढक पूजन के इस संकल्प तथा उद्यम के प्रभाव से मरकर सौधर्म स्वर्ग में महाऋद्धि का धारक देव हो जाता है। वहाँ वह देव अवधिज्ञान से सब पूर्ववृतान्त जानकर महावीर भगवान् के समवसरण में उपस्थित होता है और प्रसन्नचित्त होकर साक्षात् अरहंत भगवान् की पूजा करता है। इस प्रकार जब एक तिर्यंच देवपूजा के विचार मात्र से इतना फल पाता है, तब श्रावक शरीर से जल, चन्दन आदि के द्वारा और वचनों से स्तवन के द्वारा की गई पूजन के तो फल का कहना ही क्या है। जिनेन्द्र भगवान के पूजन का फल परम्परा से साक्षात् मोक्ष को देने वाला है। कहा जाता है कि-

सिंह वानर, सर्पसूकर, नवल, अज सब तुमने तारे हैं।
उच्च और नीच नहीं देखा, शरण आये उबारे हैं।।

भगवान जिनेन्द्र अखिल जीवों के हितकारक हैं और उनकी पूजन भक्ति आदि के द्वारा संसारी जीव मात्र आत्मकल्याण करने के अधिकारी हैं, फिर शूद्र कैसे पृथक् रह सकते हैं। नीचता और उच्चता तो कर्मकृत है और जिनेन्द्र का स्मरण कर्मों का दग्ध करने वाला है। अत: सब ही उनकी भक्ति पूजन आदि के अधिकारी हैं। यह बात उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाती है। दूसरे शब्दों में देवपूजा मुक्ति का कारण है। ऐसा कहा जाता है कि- **'पूयाफलेण तिलोके सुरपुज्जो**

हवेइ सुद्धमणो'' जो पुरुष शुद्ध हृदय होकर भगवान् की पूजन करता है, वह तीन लोक में देवादिक से पूजनीय तीर्थङ्कर होता है। यह पूजन का फल बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्रदेव के पूजन के फल से ही श्रावक स्वर्ग लोक में जाकर सागरों पर्यंत काल तक सुख भोगकर मनुष्य पर्याय धारण करके, मुनिपद धारण करके मोक्ष के अविनाशी परम सुख को प्राप्त कर सकता है।

देवपूजन से श्रेष्ठ भाग्य का निर्माण होता है। श्रावक जब देवपूजन करता है तो अतिशय पुण्य का बन्ध होता है। उसके भाग्य के द्वार उसी क्षण से खुलने लगते हैं पूजा के माहात्म्य का वर्णन करते हुए आचार्य धर्मसंग्रह में लिखते हैं कि–

मानिनो माननिर्मुक्ता मोहिनो मोहवर्जिताः।
रोगिणो निरुजो जाता वैरिणो मित्रताश्रिताः।।

चक्षुष्मन्तोऽभवन्नंधा बधिराः श्रुतिधारिणः।
मूकाः पटुत्वमापन्नाः पंगवः शीघ्रगामिनः।।

निर्धनाः सधना लोके जड़ा पाण्डित्यमाश्रिताः।
इत्यन्येऽपि च सम्पन्ना मानस्तंभादिदर्शनात्।।

भगवान के समवसरण के मानस्तंभ के दर्शन करने मात्र से ही अभिमानियों के मान दूर हो गये और मोह में फँसे जीवों का मोह दूर हो गया, बैरी मित्र बन गये, अन्धों को दिखाई देने लगा, बधिर पुरुषों को शब्द सुनाई पड़ने लगे, गूँगे भी बोलने लगे और पंगु भी शीघ्रगामी हो गये अर्थात् पाँवों से चलने लगे, निर्धन धनवान हो गये और तो और मूर्ख भी पण्डित हो गये। ऐसा माहात्म्य है जिनेन्द्र भगवान के दर्शनों का तो पूजा करने का कहना ही क्या। इस प्रकार पुजारी का भाग्य ऐसा हो जाता है कि उसके असंभव कार्य भी संभव हो जाते हैं। पुजारी के भाग्य का एक दृष्टान्त यहाँ दृष्टव्य है–

सबका पुण्य अपना अपना

एक सेठ के चार पुत्र थे, जिनमें एक कमाऊ, दूसरा जुआरी, तीसरा अन्धा और चौथा पुजारी था। कमाऊ बेटे की स्त्री सेठ से प्रायः झगड़ा करती, मेरा ही स्वामी सब कुछ कमाता है, बाकी सब बैठे-बैठे खाते हैं। कोई कुछ कमाई-धमाई नहीं करता, इसलिए हम तो अलग होकर रहेंगे। धीरे-धीरे यह बात सेठ का कमाऊ पुत्र भी बोलने लग जाता है। सेठ उन्हें समझाते हैं कि-देखो बेटा सबका भाग्य उनके साथ होता है, कोई किसी का नहीं खाता और न ही कोई किसी को खिलाता है। सब अपने-अपने भाग्य का खाते हैं। तुम क्यों व्यर्थ इतना अहंकार करते हो कि हम

ही कमाकर सबको पालते-पोसते हैं। यों सेठ उन्हें रोज समझाता, पर पुत्र और उसकी बहू के समझ में कुछ न आता।

एक दिन सेठ अपने कमाऊ पुत्र से कहता है–'अच्छा बेटे तुम अलग हो जाना, पर एक बार तुम सब भाई मिलकर मेरे साथ पूरे परिवार सहित सब जगह की तीर्थयात्राएँ कर लो, क्योंकि पता नहीं कब आप लोग एक-दूसरे से अलग हो जाओ। फिर तीर्थयात्रा एक साथ करने का मौका मिले या न मिले।' कमाऊ बेटा तैयार हो जाता है और सबका तीर्थयात्रा का कार्यक्रम बन जाता है।

तीर्थयात्रा करते हुए एक दिन सेठ अपने कमाऊ पुत्र को दस रुपये देता है और कहता है कि बेटा जाओ, बाजार से भोजन सामग्री खरीद लाओ। कमाऊ पुत्र बाजार से भोजन सामग्री लेने चल देता है। रास्ते में विचारता है कि दस रुपये की भोजन सामग्री में क्या होगा, कुछ पहले कमाकर, भोजन सामग्री खरीदनी चाहिए। कमाऊ बेटा दस रुपये का माल खरीदकर ग्यारह रुपये में बेच देता है। अब भोजन सामग्री खरीदकर घर लौटता है। सेठ जी को घर पर वह सब बात बता देता है कि अधिक सामग्री मैं कैसे लाया। घर पर भोजन बनता है और सब प्रसन्तापूर्वक खा-पीकर तीर्थयात्रा का यह दिन व्यतीत कर लेते हैं।

अब दूसरे दिन सेठ अपने जुआरी बेटे से कहता है कि–'बेटा! ये लो दस रुपये, आज तुम्हारी बारी है। तुम बाजार से जाकर इसकी भोजन सामग्री ले आओ।' बेटा दस रुपये लेकर भोजन सामग्री लेने बाजार चला जाता है। जब वह बाजार पहुँचता है तो, एक जगह देखता है कि जुआरियों का अड्डा लगा हुआ है। यह पुत्र तुरन्त वहाँ पहुँच जाता है और अपने स्वभाव के अनुसार एक दाँव में पूरे दस रुपये लगा देता है। भाग्य की बात कि वह दाँव जीत जाता है, और दस के बीस रुपये हो जाते हैं। अब यह बीस रुपये की भोजन सामग्री खरीदता है और अपनी धर्मशाला लौट जाता है। आज पहले दिन की अपेक्षा दूनी भोजन सामग्री होने से सभी बहुत अच्छी तरह से खाते-पीते हैं और अपने इस दिन को भी व्यतीत कर देते हैं। यह देख कमाऊ बेटा बहुत शर्मिन्दा होता है।

आज तीसरे दिन सेठ अपने अन्धे बेटे को दस रुपये देकर बाजार से भोजन सामग्री लाने को कहता है। बेटा तो अन्धा था, क्या करे, सो पत्नी को साथ ले, जो उसे लकड़ी से रास्ता सुझाती, दोनों बाजार भोजन सामग्री लेने चल पड़ते हैं। अब क्या होता है कि रास्ते में एक जगह इस अन्धे की ठोकर पत्थर से लग जाती है। अन्धा यह विचारते हुए कि इससे पहले भी कई अन्धों को इस पत्थर से ठोकर लगी होगी, वह उसे बीच रास्ते से हटा देता है। भाग्य की बात है कि उस पत्थर के नीचे एक गड्ढा था जिसमें अशर्फियों से भरा एक घड़ा रखा था। यह अन्धे की पत्नी देख लेती है। अब क्या था, कुछ अशर्फियों से वह बहुत-सी भोजन सामग्री

खरीद लेते हैं, और शेष बची अशर्फियों सहित अपने पिता को भोजन सामग्री ले जाकर दे देते हैं। सबने पहले तो बहुत अच्छा खाया, साथ में अपने अड़ोस-पड़ोस वालों को भी खिलाया, और भविष्य के लिए बची अशर्फियाँ अपने पास जोड़ कर रख लेते हैं। यह दृश्य देखकर कमाऊ बेटा व उसकी पत्नी बहुत ही शर्मिन्दा होते हैं तथा अपनी भूल पर अन्दर ही अन्दर पछताने लगते हैं।

आज चौथे दिन पुजारी बेटे का नम्बर था। सेठ जी दस रुपये देकर कहते हैं कि 'बेटा जाओ, बाजार से इन रुपयों की भोजन सामग्री ले आओ। आज तुम्हारी बारी है।' 'ठीक है पिताजी कहकर बेटा बाजार भोजन सामग्री लेने चला जाता है। अब रास्ते में उसे एक जिनमन्दिर दिखाई पड़ता है। वह देखता है बहुत से लोग मन्दिर में पूजा पाठ का आनन्द ले रहे हैं। वह भोजन सामग्री लाना तो भूल जाता है और दस रुपये की पूजा सामग्री खरीद लेता है। जिनमन्दिर में पहुँचता है और पूजा-पाठ करता हुआ जिनेन्द्र भक्ति में खो जाता है। इसका सारा दिन यहीं पर व्यतीत हो जाता है। इधर घर वाले प्रतीक्षा कर रहे थे कि कब भोजन सामग्री आये और कब भोजन बने। इधर वह पुजारी पुत्र जिनेन्द्र भगवान की भक्ति में इतना तल्लीन हो गया कि अन्य सब बातें भूल गया।

अब इस जिनमन्दिर में रहने वाले देव विचारने लगे देखो यह तो भगवान की भक्ति में लीन है और इसके घर वाले सब भूखे बैठे हैं, इसलिए इसकी सहायता करनी चाहिए। यह सोच कर एक देव ने उस पुजारी का रूप बनाया और गाड़ियों में भोजन सामग्री भरकर उस सेठ के घर पहुँचा देता है। भोजन बनता है, सब खूब अच्छी तरह खाते-पीते हैं, पड़ोसियों को भी खिलाते-पिलाते हैं, और भोजन सामग्री भविष्य के लिए बचाकर भी रख लेते हैं। इधर पुजारी पुत्र को कुछ पता नहीं कि घर पर क्या हुआ और क्या नहीं हुआ। यह दृश्य देख कमाऊ बेटा बहुत ही शर्मिन्दा होता है और यह मान जाता है कि वास्तव में सब भाई मेरे से अधिक भाग्यशाली हैं। मैं व्यर्थ ही कमाने का झूठा अहंकार करता था।

इधर पुजारी पुत्र जब पूजन कार्य समाप्त होता है तो बड़ा पश्चाताप करने लगता है, अपनी इस क्रिया पर, सोचता है कि आज तो पिताजी बहुत ही नाराज होंगे, सभी लोग भूखे बैठै होंगे। वह डरता हुआ खाली हाथ पिता जी के पास पहुँचता है। हाथ जोड़कर कहता है कि-'पिताजी मेरी भूल माफ कर दीजिए, मैंने जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति में आकर आप सभी को आज भूखों मार डाला, अब मेरे से ऐसी भूल कभी नहीं होगी।'' पिताजी कहते हैं-'अरे यह क्या कह रहे हो, अभी तो तुम अनेक गाड़ी भोजन सामग्री पहुँचाकर गये थे।' पुजारी कहता है-''नहीं पिताजी, मैं नहीं पहुँचाने आया था, मैं तो मन्दिर में पूजन ही करता रहा हूँ। अब सबकी समझ में आ जाता है कि आज जो भोजन सामग्री आई थी, वह देवकृत थी।

अब सेठ सभी लड़कों को अपने पास बुलाते हैं और सबसे पहले कमाऊ पुत्र से पूछते हैं कि कहो किसका कितना भाग्य है, तब वह कमाऊ बेटा कहता है–'पिताजी! मेरा तो केवल एक रुपया का भाग्य है, और जुआरी बेटा का, उसका मेरे से दस गुना अधिक का भाग्य है और पुजारी बेटे का, पिताजी उसका तो मेरे से अनगिनत गुणा अधिक भाग्य है। तो क्या तुम अब भी सबसे अलग होकर रहना चाहते हो, नहीं-नहीं पिताजी, अब मैं अलग होकर नहीं रहूँगा। मुझे पता चल गया है कि सबका भाग्य सबके साथ है। कोई किसी को पालता-पोषता नहीं, सब अपने-अपने भाग्य से पलते हैं।

इस दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने वाले का भाग्य चारों पुत्रों में सर्वश्रेष्ठ था।

जिनेन्द्र भगवान की पूजन करने से मोह का अभाव होता है– आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि–

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जाति तस्स लयं॥

जो अरहंत को द्रव्य, गुण और पर्याय की दृष्टि द्वारा जानता है, वह आत्मा को जानता है और उस जीव का मोह अवश्य नाश को प्राप्त हो जाता है।

जो वास्तव में अरहंत को द्रव्यरूप से, गुण रूप से और पर्याय रूप से जानता है, वह अपनी आत्मा को ही जानता है क्योंकि दोनों अर्थात् अरहंत और अपनी आत्मा में निश्चय नय से कोई अन्तर नहीं है। अरहंत का स्व रूप भी अन्तिम ताव को प्राप्त सोने के स्वरूप की भाँति शुद्ध आत्मा का ही रूप है, इस कारण से उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान हो जाता है। सर्व आत्मा का ज्ञान होने पर मोह का विनाश हो जाता है। इस प्रकार मोह के विनाश का उपाय अरहंत भगवान को नमस्कार करना, पूजन करना और स्तुति करना आदि है।

जिन पूजा के भेद

जिनेन्द्र भगवान की पूजा कई प्रकार से की जाती है। कहा है कि–

नित्या चतुर्मुखाख्या च कल्पद्रुमाभिधानका।
नैमित्याष्टाह्निकापूजा दिव्यध्वजेतिषष्ठधा॥१॥

नित्य, चतुर्मुख, कल्पद्रुम, नैमित्तिकी, अष्टाह्निका, और इन्द्रध्वज–ये जिनपूजा के छह भेद हैं। इनका संक्षेप में वर्णन निम्न प्रकार है–

1. **नित्यपूजा**–जो अपने घर, चैत्यालय अथवा मन्दिर में जाकर प्रतिदिन भक्तिपूर्वक

अष्टद्रव्यों द्वारा जिनेन्द्र भगवान की पूजा की जाती है, उसे नित्यमह या नित्यपूजा कहते हैं।

2. **चतुर्मुख (सर्वतोभद्र या महामह) पूजा**–मण्डलेश्वर राजाओं के द्वारा भक्तिपूर्वक जो जिनपूजा की जाती है, उसके नाम चतुर्मुख, सर्वतोभद्र और महामह पूजा है। जिनको सामन्त आदि के द्वारा मुकुट बाँधे गये हैं उन्हें मुकुटबद्ध या मण्डलेश्वर कहते हैं। वे जब भक्तिवश जिनदेव की पूजन करते हैं तो उस पूजा को सर्वतोभद्र पूजा कहते हैं। यह पूजा सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली होती है; इसलिए इसे सर्वतोभद्र कहते हैं। यह एक चतुर्मुख मण्डप में की जाती है इसलिए चतुर्मुख कहते हैं। अष्टाह्निका की अपेक्षा महान् होने से यह महामह पूजा कहलाती है।

3. **कल्पद्रुमपूजा**–जिस पूजा में कल्पवृक्षों के समान चक्रवर्तियों द्वारा संसार की आशा पूर्ण की जावे अर्थात् याचकों को इच्छानुसार दान दिया जावे उसको कल्पद्रुम पूजा कहते हैं।

4. **नैमित्तिकपूजा**–जो उचित अवसर पर बिम्बप्रतिष्ठा आदि महोत्सव के समय पञ्चकल्याणक आदि की पूजन की जाती है, उसको नैमित्तिक पूजा कहते हैं।

5. **अष्टाह्निका पूजा**–जो पूजन नन्दीश्वर द्वीप में देवताओं द्वारा आठ दिनों तक की जाती हैं, उसे अष्टाह्निका पूजा कहते हैं। यह पूजन एक वर्ष में तीन बार की जाती है–

   1. कार्तिक शुक्ला से पूर्णिमा तक; 2. फाल्गुन शुक्ला से पूर्णिमा तक; और

   3. आषाढ़ शुक्ला से पूर्णिमा तक यह पूजा की जाती है।

6. **इन्द्रध्वज पूजा**–अकृत्रिम चैत्यबिम्बों की पञ्चकल्याणकों में देवताओं के साथ इन्द्र-प्रतीन्द्र, सामानिक के द्वारा जिनपूजा की जाती है, उसको इन्द्रध्वज पूजा कहते हैं। यह पूजन मनुष्यों की सामर्थ्य से बाहर है। इन्द्रों की सामर्थ्य से सम्पन्न होने के कारण इसे इन्द्रध्वज पूजा कहते हैं।

दूसरा आवश्यक : गुरूपास्ति
गुरुओं को आहार दान देने की विधि (नवधा भक्ति)

गुरुओं को आहार दान नवधा भक्तिपूर्वक दिया जाता है। दूसरे शब्दों में साधुओं को आहार दान देने से पहले श्रावक-श्राविका नौ प्रकार से विनय प्रस्तुत करते हैं, उसे नवधा भक्ति कहते हैं। ये निम्न हैं–

1. **पड़गाहन**–इस भक्ति में निम्न बातों का ध्यान रखा जाता है–

   1. साधु के आने से पूर्व, पूर्ण शुद्धि व विवेक के साथ हाथों में कलश, श्रीफल, सूखे

फल बादाम-लौंग-इलायची आदि संजोकर रखने चाहिए। हाथ में सचित्त फल कभी न रखें।

2. पड़गाहन के लिए खड़े हुए आहार दाता के वस्त्र शुद्ध एवं स्वच्छ हों। ध्यान रखें कि वस्त्र कहीं से भी फटे न हों। एकदम भड़कीले भी न हों तथा वस्त्र संभालकर पहने, जिससे वे जमीन पर न लगें।
3. पड़गाहन के लिए श्रावक-श्राविका हरी घास आदि पर खड़े न हों। वहाँ जीवों की विराधना होती है।
4. पड़गाहन के समय आचार्य आदि मुनि-साधु को आता हुआ देखकर अनेक बार स्पष्ट बोलें कि-

-हे स्वामी! नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु।

अर्यिकाओं के लिए-

हे माता जी! वंदामि, वंदामि, वंदामि।

ऐलक, क्षुल्लक एवं क्षुल्लिकाओं के लिए-

हे स्वामी! इच्छामि, इच्छामि, इच्छामि।

-अत्र, अत्र, अत्र (अत्रो=यहाँ)

-तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ (तिष्ठ=ठहरो)

-आहार-जल शुद्ध है।

यदि साधु आपके पास रुक जाये तो तुरन्त बोलें कि-मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, आहार-जल शुद्ध है। गृह प्रवेश कीजिए।

किसी-किसी संघ में तीन-प्रदिक्षणा करने का नियम नहीं होता है, परन्तु जिस संघ का जैसा नियम हो तदनुसार पड़गाहन करना चाहिए।

पात्र के हिसाब से विधि/भक्ति अपनाते हुए, आगे-आगे स्वयं जाते हुए, किन्तु पात्र को पीठ दिखाये बिना विवेक के साथ जीव रक्षा करते हुए स्वयं पैर ऐसी जगह धोयें कि कहीं चींटी आदि जीवों की विराधना न हो। यह ध्यान रखे कि पानी कहीं नाली इत्यादि में नहीं जाये। क्योंकि वहाँ जीवों की विराधना होती है।

2. **उच्चासन**-गृह में ले जाने के पश्चात् साधु को चौके से बाहर लगाये गये उच्चासन पर बैठाने के लिए ऐसा कहें कि-

''हे स्वामी! उच्चासन ग्रहण कीजिए।''

3. **पादप्रक्षालन**-जो पड़गाह कर लाया है वह दातार प्रासुक जल से मुनिराज के घुटनों पर्यंत पादप्रक्षालन करे।

विशेष–मुनियों के पादप्रक्षालन पुरुषों को ही करना चाहिए। पहले एक पाँव का घुटने पर्यंत प्रक्षालन करें, तत्पश्चात् अपने हाथ धोयें, पुन: दूसरे पाँव का घुटने पर्यंत प्रक्षालन करना चाहिए। पुन: हाथ धो लेना चाहिए। इस प्रकार शुद्धि करके पूजन करना चाहिए। थाल में मुनियों के पाँव रखकर गंधोदक बनाना और मस्तक पर लगाना, कदापि न करें। प्राचीन काल से यही विधि शुद्धि एवं पादप्रक्षालन की मान्य है। ऐल्लक-क्षुल्लक, आर्यिका के पाद प्रक्षालन नहीं होते।

4. **पूजन**–पादप्रक्षालन के पश्चात् त्रिरत्न के धारक आचार्यमुनि आदि साधु की पूजा तीन बादाम से त्रिरत्न का अर्घ चढ़ाकर निम्न प्रकार से करना चाहिए–

   परमपूज्य 108 श्री (साधु का नाम) महाराज के चरणों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र अर्घ निर्वपामीति स्वाहा (जो भी आचार्य-मुनि हों उनका नाम लेकर अर्घ चढ़ाएँ। परन्तु जिस संघ में अष्टद्रव्य से पूजा करने का नियम हो वहाँ उसी प्रकार श्रावक को पूजन करना चाहिए। पूजन में दृष्टि, कम से कम आरम्भ करने पर रहना चाहिए। जहाँ आरम्भ है, वहाँ हिंसा है।)

अष्टद्रव्य से पूजा विधि

ॐ ह्रीं 108 श्री .... मुनीन्द्र! अत्र अवतर, अवतर संवौषट् आह्वाननम्।

ॐ ह्रीं 108 श्री .... मुनीन्द्र! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ: ठ: स्थापनम्।

ॐ ह्रीं श्री 108 .... मुनीन्द्र! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधिकरणम्।

1. ॐ ह्रीं 108 श्री .... मुनीन्द्राय जलं निर्वपामीति स्वाहा।
2. ॐ ह्रीं 108 श्री .... मुनीन्द्राय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा।
3. ॐ ह्रीं 108 श्री .... मुनीन्द्राय अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा।
4. ॐ ह्रीं 108 श्री .... मुनीन्द्राय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।
5. ॐ ह्रीं 108 श्री .... मुनीन्द्राय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।
6. ॐ ह्रीं 108 श्री .... मुनीन्द्राय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।
7. ॐ ह्रीं 108 श्री .... मुनीन्द्राय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।
8. ॐ ह्रीं 108 श्री .... मुनीन्द्राय फलं निर्वपामीति स्वाहा।

उदकचंदनतंदुलपुष्पकैश्चरूसुदीपसुधूपफलार्घ्यकै:।
धवलमंगलगानरवाकुले मम गृहे मुनिनाथ महं यजे।।

ॐ ह्रीं 108 श्री ..... मुनीन्द्रचरणकमलाभ्यामनर्घ्यपदप्राप्ताये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

(108 के बाद जो भी मुनि, आचार्य हों उनका नाम बोलें)

5. **नमस्कार**–सभी उपस्थित श्रावक एवं श्राविकाएं मुनिराज से निम्न प्रकार कहें–
   ''नमोऽस्तु'' महाराज जी, भोजन शाला में प्रवेश कीजिए।
   शुद्धि बोलकर आर्यिका से यथायोग्य वंदामि माता जी इत्यादि कहें।
   नोट–मुनिराज की पाँच भक्तियाँ चौके से बाहर होती हैं। चौके में प्रवेश करने के पश्चात् निम्न चार भक्तियाँ बोले–
6. **मन शुद्धि;**
7. **वचन शुद्धि;**
8. **काय शुद्धि;**
9. **आहार-जल शुद्ध है।** मुद्रिका छोड़, अँजुली बाँध आहार ग्रहण कीजिए। (ऐसा बोलना चाहिए।)

इस प्रकार नवधा भक्ति करने के बाद चौके में बनाया गया आहार एक-दो थालियों में, कटोरियों-कटोरों में रखकर अतिथि को दिखावे, जिस वस्तु को अतिथि मना करें, हटाना चाहें, उस वस्तु को हटा दें।

मन-वचन-काय शुद्धि

1. **मनशुद्धि**–अतिथि के प्रति मन में आदरभाव के साथ भक्तिभाव रखना व मन को आर्त-रौद्र कलुषता से बचाना तथा दान देते हुए मन में अहंकार व अन्य दाताओं से ईर्ष्या भाव नहीं रखते हुए निर्मल शुद्ध परिणाम रखना ही मन शुद्धि है।
2. **वचनशुद्धि**–अतिथि के प्रति आपके मुख से अत्यन्त मीठे तथा भक्तिपूर्ण शब्द निकले। आपकी भाषा से प्रेम झलकता हो, झुंझलाहट या उतावली के शब्द, जैसे–जल्दी कर, जल्दी परोस, पानी ला इत्यादि मुख से नहीं निकलने चाहिए। यही वचन शुद्धि का व्यवहार चौके में उपस्थित सभी सज्जनों के प्रति रखना चाहिए।
3. **कायशुद्धि**–कायशुद्धि में निम्न चीजें आती हैं–
   1. बाहरी वस्त्रों की स्वच्छता व शुद्धता के साथ-साथ भीतर के वस्त्र भी शुद्ध होने चाहिए।
   2. शरीर में फोड़ा-फुन्सी, घाव आदि से मल स्रवित न हो रहा हो।
   3. शरीर में पसीना व किसी तरह की गंध न आ रही हो। अच्छी तरह से शरीर की शुद्धि करना काय शुद्धि है।

4. आहार देते समय महिलाओं-पुरुषों को अपने हाथ सिर, शरीर के किसी अंग व वस्त्रों को नहीं छूना चाहिए। यदि छू जाये तो प्रासुक जल से धो लें।

4. **इसके अतिरिक्त दातार में निम्न गुण भी होना चाहिए–**

1. **श्रद्धावान्**–पात्र को रत्नत्रय का आधार समझकर उसपर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। यह श्रद्धा गुण कहलाता है।
2. **भक्तिवान्**–पात्र के गुणों में प्रीति रखते हुए उनकी प्रशंसात्मक स्तुति करना, भक्ति गुण है।
3. **संतोषी**–अतिथि यदि अपने घर पर नहीं आयें तथा आहार देने को न मिल रहा हो तो खेद-खिन्न नहीं होना चाहिए और सन्तोष धारण करना चाहिए।
4. **विवेकवान्**–अतिथि की तात्कालिक स्थिति देखकर, बाल, वृद्ध, शिक्षाशील, तपस्वी, आदि के अनुसार व देशकाल व स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए क्रमबद्ध आहार देना, विवेक गुण है।
5. **अलोलुप**–आहार आदि दान देकर इसके फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। उदार भाव से अतिथि का आहार-सत्कार करना चाहिए।
6. **क्षमाशील**–जब किसी कारण चौके में आहार न दे पा रहे हो या किसी के द्वारा अंतराय हो जाये तब क्रोध नहीं करना चाहिए। इस स्थिति में क्षमाभाव धारण कर ले। दाताओं से ईर्ष्या आदि नहीं करना क्षमागुण कहलाता है।
7. **सामर्थ्य**–अपनी सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार आहार देना चाहिए। जो क्लेश का कारण बने ऐसा दान नहीं देना चाहिए।
8. **ज्ञानवान्**–दातार को आहार की वस्तुओं की प्रकृति आदि का ज्ञान होना चाहिए। आहार सादा, पौष्टिक, और सुपाच्य हो।
9. **दयावान्**–दातार को यह भी देखना चाहिए कि अपने तथा किसी अन्य की आत्मा का किसी बात से या किसी कार्य से हनन तो नहीं हो रहा। इस तरह दातार को दयावान होना चाहिए।
10. **प्रसन्नता**–दातार को प्रसन्नतापूर्वक अतिथि को आहार देना चाहिए, झुंझलाहट या क्रोध में नहीं।
11. **निर्लोभी**–दातार को किसी प्रकार का लोभ नहीं करना चाहिए। निर्लोभी दातार ही आहार दान का फल पाता है।

चौके में नहीं करने योग्य कार्य

1. शोर, अनावश्यक बातें, जल्दबाजी व भीड़-भाड़ न करें।
2. प्रकाश व हवा को नहीं रोकना चाहिए एवं साधु को घेरकर आहार नहीं देना चाहिए।
3. अस्वस्थ, बाल, वृद्ध व अनज़ान व्यक्ति तथा 8 वर्ष से कम उम्र वालों से, आहार नहीं दिलवाना चाहिए।
4. अतिथि के आनेपर कोई आरम्भ अर्थात् भोजन आदि नहीं बनाना चाहिए।
5. अशुद्ध वस्त्र व अशुद्ध सौंदर्य प्रसाधन का उपयोग नहीं करना चाहिए।
6. महिलाओं के बाल खुले न हों तथा वस्त्र जमीन को न झाड़ रही हों, यह भी ध्यान रखना चाहिए।
7. मौन से आहार दे, संकेतों में कार्य करें, जिससे मुख से अनावश्यक पदार्थ न निकले।
8. चौके में पंखा, लाइट का प्रयोग भोजन तैयार होने से लेकर आहार देने पर्यंत तक कदापि न करें। पंखे में आहार बनाना ठीक नहीं है। हिंसा दोष लगता है।
9. चौके में शंख, सीप, कौड़े आदि अपवित्र वस्तुओं द्वारा सजावट नहीं करनी चाहिए।
10. पड़गाहन से पूर्व पुन: चौका का निरीक्षण कर लें, कहीं कोई अपवित्र बाल, वस्तु, जीव, मृत-जीव आदि न पड़ा हो।

उपर्युक्त प्रकार से आहार देना गुरु उपासना करना माना जाता है। निम्न प्रकार से भी गुरु उपासना होती है–

वसतिका बनवाकर– सद् श्रावक का यह कर्तव्य है कि वह अपनी शक्ति के अनुसार साधु को ठहराने के लिए वसतिका का निर्माण करे, जो उनके रहने के अनुकूल हो। धन का लोभ नहीं करना चाहिए। धर्म रहेगा तो धन स्वत: ही प्राप्त हो जायेगा। यह बात निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है–

माया मिली न राम

एक समय की बात है कि विष्णु और लक्ष्मी में विवाद छिड़ जाता है, कि कौन अधिक जनप्रिय है। बस इस बात को परखने के लिए दोनों मनुष्य लोक में आ जाते हैं। विष्णु एक सन्यासी का वेश धारण करते हैं और एक सेठ के सुन्दर गृह में बने सन्त निवास में स्थिर हो जाते हैं। प्रतिदिन प्रवचन आदि होने लगते हैं, जनता आने लगती है और भीड़ बढ़ने लगती है। यह देखकर सेठ-सेठानी और उनकी पुत्र एवं पुत्रवधु सब अपने भाग्य को सराहने लगते हैं।

स्थिति यह बनती है कि सन्त निवास छोटा पड़ने लगता है। धर्म प्रेमी जन दिन-प्रतिदिन बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार उमड़ते इस जनसमूह को देखकर बाबा का मन बल्लियों उछलने लगता है।

एक दिन जब धर्म सभा अच्छी तरह जमी थी तब लक्ष्मी एक बूढ़ी भिखारिन का वेश बनाकर सेठ के द्वार पर आती है। द्वार पर खड़ी होकर कहती है-"पानी पिलाओ-पानी पिलाओ, प्यास लगी है।"

सेठानी ने यह दो चार बार सुनकर अनसुना कर दिया, पर जब वह बराबर चिल्लाती रही तब उसकी पुत्रवधु पूछती है कि माता जी क्या बात है? माता जी कहती हैं कि बेटी बाहर कोई पानी माँग रहा है जाओ उसे पानी पिला दो। बहु भी सरस प्रसंग को छोड़ना नहीं चाहती थी, किन्तु सास का आदेश था अत: उठना ही पड़ा। बहु जल्दी से उठी और आनन-फानन में पानी का लोटा ले घर के बाहर आ जाती है। जैसे ही वह उसे पानी पिलाने लगती है, वह भिखारिन के रूप में लक्ष्मी अपनी झोली में से एक रत्न जड़ित सोने का अनुपम कटोरा निकालती है, और उसमें पानी डलवा कर पीने लगती है। जैसे ही वह पानी मुँह में डालती है, तो यह कहते हुए कटोरे को फैंक देती है कि-"पानी गर्म है। थोड़ा ठण्डा पानी पिलाओ।'

पुत्रवधु भिखारिन का कटोरा देखकर हैरान हो जाती है और अन्दर ठण्डा पानी लेने चली जाती है। भिखारिन पुन: अपनी झोली से एक और रत्न जड़ित कटोरा निकालती है और उसमें जल डलवाकर थोड़ा सा पानी पीती है। फिर कहती है-"ठण्डा तो है, परन्तु खारा है।" यह कहकर पानी गिरा देती है, और कटोरे को वहीं फैंक देती है। इस प्रकार वह चार-पाँच कटोरे यूँ ही फैंक देती है। ऐसा दृश्य देखकर पुत्रवधु की बुद्धि चकरा जाती है। दौड़ी-दौड़ी अन्दर जाती है, सासू को सब बात बताती है। सासू आकर जब देखती है और समझ जाती है कि यह लक्ष्मी ही है, कोई भिखारिन नहीं। सेठानी आगे आती है और भिखारिन के पैर पकड़कर कहती है कि-"आप ये कटोरे छोड़कर कहाँ जा रही हैं? वह भिखारिन कहती है कि-"मेरा तो नियम कुछ ऐसा ही है, मैं जहाँ भोजन करती हूँ, उन रत्न जड़ित थालों को व कटोरों को वहीं फैंक देती हूँ। उसमें पुन: भोजन व पानी लेना मेरे धर्म के विपरीत है।"

अब सेठ-सेठानी-पुत्र-पुत्रवधु सब मिलकर यहीं रहने के लिए आग्रह करने लगते हैं। बहुत प्रार्थना करने पर वह भिखारिन कहती है कि-जिस घर में साधु ठहरा हुआ हो, उस घर में मैं कैसे रह सकती हूँ?"

लक्ष्मी की साक्षात्मूर्ति को ठुकराकर लोग स्वर्ग-नरक की चरचा सुनने के लिए भला बाबा को कैसे अपने घर रखे? यह कब संभव हो सकता है? अब जल्दी से जल्दी बाबा को घर से निकाला जाता है। संन्यासी 'जाता हूँ, जाता हूँ' कहता हुआ जाने लगता है। वह कहता है-'मैंने पहले ही कहा था, मैं चार महीने यहीं रहूँगा। तुम अपने वादे से मुकर रहे हो।' पर

सुनना किसको था, किसी ने भी संन्यासी की बात पर ध्यान नहीं दिया। इस तरह संन्यासी चला जाता है।

अब वह भिखारिन कहती है—"तुम लोग जब इनसे वचनबद्ध थे फिर इन्हें निकाल क्यों दिया? कल मेरे साथ भी ऐसा ही करोगे। ऐसे लोगों के यहाँ मैं भी नहीं रहना चाहती।"

सन्यासी और भिखारिन के रूप में जाते-जाते लक्ष्मी विष्णु से पूछती है—"क्यों! देख लिया न, कौन अधिक प्रिय है?" लोग गुनगुनाने लगते हैं कि— दुविधा में दोनों गये; माया मिली न राम।

इस दृष्टान्त से यह बात सिद्ध हो जाती है कि—जहाँ सन्त निवास करते हैं, वहाँ लक्ष्मी पीछे-पीछे चलती है। जो धन की ओर नहीं देखता और गुरु की सेवा में लगा रहता है, उनको वसतिका आदि में बहुत मान-सम्मान से ठहराता है, उसे सब कुछ मिलता है, किन्तु इसके विपरीत जो धन के लोभ में साधु की विराधना करता है, वह बिल्कुल खाली हाथ हो जाता है। न लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति होती है और न अलौकिक वस्तुओं की ही। इसीलिए धन कहता है कि—

सन्त न ठहरें जब यहाँ, मैं क्यूँ लूँ विश्राम।
दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम।।

गुरुओं की उपासना अपने जीवन में जिसने नहीं की, उसका जीवन व्यर्थ है।

गुरुओं पर कभी-कभी दुष्ट जीवों द्वारा आक्रमण हो जाया करता है। उस स्थिति में उनके प्राणों को अपने प्राण देकर भी बचाना गुरु उपासना है। मनुष्य ही नहीं तिर्यंचों तक के ऐसे भाव होते हैं कि हम गुरु के प्राणों की रक्षा करें। इस बात का एक अनूठा दृष्टान्त जैनग्रन्थों में शूकर और सिंह का मिलता है।

शूकर और सिंह

एक मुनिराज जंगल में एक गुफा में बैठे आत्मा में लीन हैं। तत्त्व चिन्तन चल रहा है—कहाँ पर क्या होने वाला है। कोई पता नहीं और किसीं प्रकार की कोई चिन्ता नहीं। उनके मस्तिष्क में चिंतन चल रहा है कि मैं शुद्ध बुद्ध एक आत्मा हूँ। निष्कलंक, निरंजन, ज्ञान, दर्शन, रूप, उपयोग के अलावा अणुमात्र भी मेरा नहीं है। इस प्रकार शुद्धोपयोगमयी भावना भा रहे हैं। इधर एक घटना घटती है।

कई दिनों का भूखा एक भयंकर सिंह दहाड़ता हुआ आ रहा है, गुफा की ओर, उसने देखा कि अभी-अभी एक सुर्ख लाल व्यक्ति गुफा के अन्दर गया है। बहुत अच्छा शिकार है, मेरी सम्पूर्ण भूख मिट जायेगी, मैं तृप्त हो जाऊँगा। सिंह दहाड़ता हुआ उस गुफा की ओर दौड़ता है।

सिंह की दहाड़ एक शूकर सुन लेता है। उस दहाड़ में सिंह का क्या उद्देश्य था यह भी वह समझ जाता है। किस ओर जायेगा और क्या करेगा, इन सब बातों को शूकर तुरन्त समझ जाता है। शूकर अब शीघ्र ही सिंह के सामने आ धमकता है, और कहता है–"तुम उधर नहीं जा सकते।" शूकर ने दृढ़ता के साथ कहा। "मैं जाऊँगा", सिंह दहाड़ते हुए कहता है। "कैसे जाओगे? मैं तो बीच में हूँ, पहले मुझे अलग करो, फिर बाद में ही तुम गुफा में जा सकोगे।" शेर गुस्से से कहता है–"क्या कहता है तू? जरा ध्यान से सुन, मैं वनराज हूँ।" "हाँ! तुम वनराज हो, मैं भी वन में रहता हूँ।" शूकर ने उत्तर दिया।

आज राजा और प्रजा की बात है। राजा यदि अन्याय पर उतारू हो जाता है, तो प्रजा उसे कभी नहीं छोड़ेगी। पुनः शूकर कहता है कि–"मैं तुम्हारे आधीन रहने वाला प्राणी जरूरी हूँ, लेकिन मेरा प्रण है कि अन्याय करने वाले को और साधु पर हमला करने वाले को नहीं छोड़ूँगा, चाहे मेरे प्राण भले ही चले जाएँ।" "छोड़ दे रास्ता'। शेर दंभपूर्वक कहता है। 'नहीं छोड़ूँगा, कदापि नहीं छोड़ूँगा'। शूकर अपनी बात पर अड़ा रहता है।

अब दोनों में घमासान द्वन्द आरम्भ हो जाता है। जंगली शूकर अधिक बलशाली होता है। अत: एक-दूसरे को ऊपर-नीचे, उलट-पुलट करने लगते हैं। कस्मकस्सा, गुथ्थम-गुत्था होते-होते दोनों का प्राणान्त हो जाता है।

यहाँ विचार करने की बात यह है कि दोनों तिर्यंचों की गति क्या हुयी, दौलतराम जी कहते हैं कि–

अति संक्लेश भावते मरयो घोर शुभ्र सागर में परयो।

अर्थात् जो जीव संक्लेश अर्थात् हिंसा के परिणाम से मरता है वह सीधे नरक में जाता है।

लड़ाई तो दोनों तिर्यंचों ने आपस में लड़ी, लड़ते-लड़ते दोनों मर भी गये। दोनों को रौद्र ध्यान था, दोनों को कृष्ण लेश्या भी थी। इसलिए नियम से दोनों को नरक में जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। उनमें शूकर स्वर्ग गया और सिंह नरक में गया। शूकर का अध:पतन इसलिए नहीं हुआ क्योंकि शूकर का परिणाम शुभ था और सिंह नरक में इसलिए गया क्योंकि उसके परिणाम अशुभ थे। सिंह का भाव मुनिराज के ऊपर प्रहार करने का था और उस प्रहार को रोकने के लिए शूकर ने हमला बोला था। वह मुनिराज को बचाना चाहता था। अत: वह हमला करने वाला शूकर स्वर्ग चला जाता है। इस दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि परिणामों के द्वारा ही उन्नति या अवनति हुआ करती है। शूकर ने ऐसा क्या किया जो उसे स्वर्ग की प्राप्ति हो गयी। शूकर ने वसतिका दान दिया था। वसतिका दान का अर्थ होता है जहाँ पर धर्म ध्यान किया जावे, उस क्षेत्र की रक्षा करना। धर्मध्यान करना या धर्म ध्यान करने वालों की सुरक्षा करना दोनों एक ही बात है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक शूकर वसतिका दान देकर तथा गुरू पर हमला होते देख अपने प्राण देकर भी उनकी रक्षा करता है। यही गुरू उपासना है। पशुओं से भी मनुष्य को शिक्षा लेना चाहिए।

उपासना का फल

जैनदर्शन में पंचपरमेष्ठी की पूजा-अर्चना की जाती है। पंचपरमेष्ठी की पूजा का फल नियम से संसार भ्रमण का अन्त है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति। पंचपरिमेष्ठियों में आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरू माने जाते हैं। अत: जो सद्गृहस्थ गुरु उपासना करता है वह परम्परा से स्वर्ग आदि गतियों को प्राप्त होता हुआ, अपना कल्याण कर लेता है। इसलिए गुरू उपासना को गृहस्थ के षट् आवश्यक में दूसरा स्थान प्राप्त है।

गुरू उपासना से साक्षात् और परोक्ष रूप से सुख-शान्ति और निराकुलता प्राप्त होती है। 'गुरू उपासना कैसे करें' के अन्तर्गत जितने भी दृष्टान्त दिये गये हैं, उनसे यही बात सिद्ध होती है कि जिसने गुरू की सेवा सुश्रूषा की वही सुखी रहा और जिसने ऐसा नहीं किया वह संकटों में फंस गया। उसका अध:पतन हो गया। जैसे–भद्रबाहु स्वामी की आज्ञा मानने वाले भीषण अकाल से बच जाते हैं और इसके विपरीत उनकी आज्ञा न मानने वाले मुनि अकाल की चपेट में आ जाते हैं और धर्म से भी च्युत हो जाते हैं। इसी प्रकार राजा बज्रगंध और रानी श्रीमती का दृष्टान्त भी यह सिद्ध करता है कि आहार दान, गुरू उपासना का फल मोक्ष है। जो किसी साधु की आत्मसाधना में सहायक बनता है, वह आने वाले समय में नियम से आत्मसाधना में रत होता हुआ अपना कल्याण करता है। यही गुरू उपासना का फल है। गुरू तो तरन-तारन होते हैं। स्वयं भी पार उतरते हैं और अन्यों को भी संसार से पार उतार देते हैं। ऐसी अपूर्व महिमा होती है गुरू की। किसी कवि ने कहा है कि–

अग्नि लगी आकाश में, झर-झर पड़े अंगार।
सन्त न होते संसार में, तो जल जाता संसार॥

निम्नप्रकार से गुरू की सेवा-सुश्रूषा करना गुरू उपासना नहीं है–

1. आहार-विहार में बैंड-बाजे बजवाना।
2. किसी भी प्रकार का परिग्रह देना।
3. गुरु का जन्मदिन या दीक्षा-दिन मनाना।
4. आरती उतारना।
5. टेपरिकार्डर, मोबाइल फोन आदि देना।

6. कूलर, पंखा ए.सी. आदि लगाना।

7. हेलोजन आदि लगाना।

8. कछुआ छाप अगरबत्ती या गुडनाइट लगाना।

9. रुपया-पैसा देना।

10. रात्रि को या दिन में तौलिये से शरीर को पौंछना।

ये सब कार्य साधु की आत्मसाधना में बाधक होने के कारण मोक्षमार्ग के विरुद्ध हैं। गुरू उपासना वही कहला सकती है जो मोक्षमार्ग में साधक हो। अत: गृहस्थों को उपर्युक्त अकरणीय कार्य नहीं करना चाहिए।

गुरू के समक्ष त्याज्य क्रियाएँ–कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें गुरू के समीप नहीं करना चाहिए। क्योंकि इनके करने से पापबन्ध होता है।

पं. आशाधर जी सागरधर्माऽमृत में लिखते हैं कि–

निष्ठीवनमवष्टम्भं जृम्भणं गात्रभंजनम्।
असत्यभाषणं नर्महास्यं पादप्रसारणम्।।
अभ्याख्यानं करस्फोटं करेण करताडनम्।
विकारमंगसंस्कारं वर्जयेद्यतिसन्निधौ।।

अर्थात् थूंकना, गर्व करना, झूठा दोष आरोपण करना, हाथ ठोकना, खेल खेलना, हँसना, पैर फैलाकर बैठना, जंभाई लेना, शरीर मोड़ना, ताली बजाना, शरीर के अन्य विकार करना, शरीर संस्कारित करना आदि क्रियाएँ गुरु के समीप नहीं करनी चाहिए। ये सब क्रियाएँ पाप-बन्ध के कारण हैं।

उपर्युक्त गुरु अर्थात् आचार्य, उपाध्याय गुरु ही हमें अरहंत भगवान की पहचान करवाते हैं, इस अपेक्षा से गुरू भगवान तुल्य हैं। जिस प्रकार सिद्ध भगवान बड़े हैं, किन्तु अरहंत भगवान हमें समवशरण में अपनी दिव्यवाणी से सदुपदेश देते हैं, इस उपकार की अपेक्षा से हम णमोकार मंत्र में सबसे पहले उन्हें ही नमस्कार करते हैं। इसी प्रकार गुरू की स्थिति है, जो सदा जीवों का कल्याण चाहता हुआ स्वकल्याण करता है।

मोक्षमार्ग में गुरू के अभाव में कोई भी मुमुक्षु एक कदम नहीं चल सकता। गुरू सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र से युक्त धर्म का उपदेश देने वाले, लोभ रहित तथा भव्यों को तारने वाले तथा स्वयं भी इस संसार से पार होने वाले होते हैं। यह सद्गुरू की बात है। इसके विपरीत जो गुरू स्वयं संसार समुद्र में डूब रहा हो, वह अन्य प्राणियों को भवसागर से पार नहीं उतार सकता।

आरम्भी गुरु के उपासक नरक और तिर्यंच गति की प्राप्ति करते हैं। इस प्रकार बुद्धिमानों को गुरु की पहचान करके गुरु उपासना करना चाहिए। आरम्भ रहित एवं सम्यग्दर्शनादि गुण सम्पन्न गुरु की उपासना से स्वर्ग और मुक्ति सुख की प्राप्ति होती है। जैसे सेवक वर्ग अपने निश्छल व्यवहार और विनयपूर्वक आज्ञा पालन से राजा के मन में प्रवेश करके उसे अपना अनुरागी बना लेता है, उसी तरह गुरु के आने पर खड़े होना आदि कायिक विनय से, हित-मित भाषण आदि वाचनिक विनय से और गुरु के प्रति शुभ चिन्तन आदि मानसिक विनय से गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए गुरु के मन में अपना स्थान बनाना चाहिए। यह सद्‌गृहस्थ का परम् कर्तव्य तथा स्वकल्याण के लिए आवश्यक है।

निःसंग हैं जो वायुसम निर्लेप हैं आकाश से,
निज आत्मा में ही विहरते जीवन न पर की आस से।।
जिनके निकट सिंहादि पशु भी भूल जाते क्रूरता,
उन दिव्य गुरुओं की अहो, कैसी अलौकिक शूरता।

जहाँ धरें गुरु चरण, वहाँ की रज चन्दन बन जाती है।
मरुस्थल में भी कल-कल करती, कालन्दी बह जाती है।।
पावन पग दो पड़ने से, भू पुष्य भूमि बन जाती है।
निर्गम में भी पहचानी सी पगडण्डी बन जाती है।।

तीसरा आवश्यक : स्वाध्याय

इस पंचम काल में साक्षात् अरहंत भगवान का अभाव है हम सब अल्पज्ञों को मोक्षमार्ग का रास्ता दिखाने वाले श्रुत शास्त्र हैं। यद्यपि देव (अरहंत भगवान) से मूक उपदेश प्राप्त होता है, पर वह भी कितनी देर तक मन्दिर में रहकर प्राप्त किया जा सकता है? गुरु के द्वारा भी मौखिक उपदेश दिया जाता है, किन्तु वह भी कितनी बार। पहली बात तो आज सद्‌गुरु ही बहुत कठिनता से और बड़े भाग्य से दिखाई देते हैं। अतः गुरु प्रतिदिन दर्शन देते रहें, यह भी संभव नहीं दिखता। आज मिले, कल नहीं। वे तो रमतेजोगी हैं, वन-वन विचरते हैं। क्या जाने किधर निकल जाएँ और फिर जीवन में अन्धकार छा जाए। तात्पर्य यह है कि देवपूजा और गुरु उपासना यद्यपि जीवन में शान्ति का संचार करते हैं, किन्तु गृहस्थ का मन संसार में और गृहस्थी की उलझनों में अटका होने से वह अपना उपयोग अधिक समय तक देवपूजा आदि में नहीं लगा सकता। अतः गृहस्थों के अन्धकारमय जीवन में प्रकाश की किरण देने वाली केवल जिनवाणी ही है, जो दिन-रात गृहस्थों को घोर अन्धकार में रास्ता दिखाती रहती है। इस प्रकार गृहस्थों को शास्त्रस्वाध्याय प्रतिदिन करना उनका कर्तव्य ही नहीं वरन् आवश्यक है।

स्वाध्याय का अर्थ–स्वाध्याय दो शब्दों से मिलकर बना है–स्व+अध्याय। स्व का अर्थ है निज तथा अध्याय का अर्थ अध्ययन या दर्शन होता है। इस प्रकार निज आत्मा का दर्शन स्वाध्याय है। यद्यपि देव दर्शन-पूजा व गुरु उपासना से भी यही कार्य सिद्ध होने के कारण वे दोनों कार्य भी स्वाध्याय कहे जा सकते हैं, किन्तु शास्त्रों का स्वाध्याय किये बिना विशेष ज्ञान की उपलब्धि संभव नहीं है।

आगम (जिनवाणी) का स्वरूप–आगम, या जिनवाणी, या सच्चे शास्त्र का लक्षण बताते हुए आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि–

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं, शास्त्रं कापथघट्टनम्॥

शास्त्र उसे कहते हैं जो सर्वज्ञ-वीतराग का कहा हुआ हो, खंडन रहित हो, प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणों से विरोध रहित हो, यथार्थ सातों तत्त्वों या वस्तु स्वरूप का उपदेश करने वाला हो, सब जीवों का हितकारक, मिथ्यात्व और कुमार्ग का खंडन करने वाला हो, वही सच्चा शास्त्र है।

आगम तीन अक्षरों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ इस प्रकार है–

1. आ = जो आप्त (सर्वज्ञ, वीतरागी-हितोपदेशी) के द्वारा कहा गया।
2. ग = जो गणधरों द्वारा गूँथा गया हो तथा
3. म = जिसको मुनियों ने मनन किया हो, जीवन में उतारा हो।

ऐसा आगम, या जिनवाणी या शास्त्र चार अनुयोगों में लिपिबद्ध है। चार अनुयोगों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

(1) **प्रथमानुयोग**–इसमें 63 शलाका पुरुषों का वर्णन बहुत आकर्षक रूप से किया जाता है। यह एक अलंकारिक अनुयोग है, जिसको पढ़ने से भटके हुए सांसारिक जीव महान् पुरुषों का जीवन चरित्र पढ़ने से संसार से विरक्त हो जाते हैं और धर्मध्यान में लगने का प्रयत्न करते हैं। इस अनुयोग के माध्यम से पौराणिक महापुरुषों के समूल जीवन चरित्र का ज्ञान होता है।

(2) **करणानुयोग**–इस अनुयोग में तीन लोक, गुणस्थान, मार्गणाओं, बीस प्ररूपणाओं आदि का वर्णन मिलता है। इस अनुयोग से सम्बन्धित शास्त्रों को पढ़ने से यह शिक्षा मिलती है कि हमें कैसे भाव करने से कैसा फल मिलेगा है। परिणामों की विचित्रता का ज्ञान हमें इन्हीं शास्त्रों के स्वाध्याय करने से होता है।

(3) **चरणानुयोग**–यह अनुयोग नीति से परिपूर्ण है। इसके माध्यम से हमें यह ज्ञात होता है कि मुनिधर्म व श्रावकधर्म क्या है तथा श्रावक और मुनि को कैसे अपने जीवन में चलना है। यदि अपने जीवन को पवित्र बनाना हो तो महापुरुषों के आचरण को देखकर, समझकर अपने जीवन में उतारना होगा। इस अनुयोग द्वारा हिंसा आदि पाँच पापों से बचाकर अणुव्रतों एवं महाव्रतों को धारण करके धर्ममार्ग पर आरूढ़ होने का उपदेश दिया जाता है।

(4) **द्रव्यानुयोग**–इस अनुयोग से सम्बन्धित शास्त्रों में पंचास्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, हितकारी-अहितकारी भावों-बन्धमार्ग, मोक्षमार्ग, सम्बन्धी सत्यासत्य का निर्णय आदि का वर्णन होता है। इन शास्त्रों के द्वारा स्व-पर का भेद जीव को होता है, फलस्वरूप वह अपनी आत्मा में स्थिर होता हुआ अपना कल्याण कर लेता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भगवान् तीर्थंकर अरहंत के द्वारा कहे गये 4 अनुयोगों–प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के शास्त्रों को यथार्थ रूप से पढ़ना और पढ़ाना, इसी का नाम स्वाध्याय करना है। स्वाध्याय के अन्तर्गत सत्शास्त्रों का वाँचना, मनन करना, उपदेश देना आदि समाहित है। मोक्षमार्ग में इसका अत्यधिक महत्त्व है।

जिनवाणी और अन्यवाणी में अन्तर–जिनवाणी और अन्यवाणी में यही सबसे बड़ा अन्तर है कि जिनवाणी जीव को आकुलता रहित करके अपने परम धाम, स्व-आत्मा में पहुँचा देती है, जिसे मोक्ष कहा जाता है, किन्तु अन्यवाणी जीवन-मरण से मुक्त करने में असमर्थ रहती है।

स्वाध्याय के भेद–आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि–

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः।। –तत्वार्थसूत्र-अ. ९.

अर्थात् स्वाध्याय के पाँच भेद हैं–

1. **वाचना**–निर्दोष ग्रन्थ, उसका अर्थ तथा दोनों का भव्य जीवों को श्रवण कराना, वाचना है।
2. **पृच्छना**–संशय को दूर करने के लिए अथवा निश्चय को दृढ़ करने के लिए प्रश्न पूछना, पृच्छना है।

   नोट–(अपना उच्चपन दिखाने के लिए, किसी को नीचा दिखाने के लिए, किसी को हराने के लिए, किसी का उपहास करने के लिए, आदि खोटे परिणामों से प्रश्न करना पृच्छना की कोटि में नहीं आता। वास्तव में आगम को समझने के लिए जो प्रश्न किया जाता है वही पृच्छना है।)

3. **अनुप्रेक्षा**–पढ़े हुए पाठ का मन से बार-बार चिंतन करना, अभ्यास करना, सो अनुप्रेक्षा है।

4. **आम्नाय**–जो पाठ पढ़ा है, उसका शुद्धतापूर्वक पुनः-पुनः उच्चारण करना आम्नाय है।

5. **धर्मोपदेश**–धर्मकथा या धर्म का उपदेश करना, धर्मोपदेश है।

पाँच प्रकार के स्वाध्याय, ज्ञान की अधिकता, प्रशंसनीय अभिप्राय, उत्कृष्ट उदासीनता, तप की वृद्धि और अतिचार की विशुद्धि इत्यादि इसके कारण कहे गये हैं।

सम्यग्ज्ञान के भेद या अंग–आचार्यों ने सम्यग्ज्ञान के निम्न आठ भेद या अंग बताये हैं–

1. व्यंजनाचार – व्यंजन की शुद्धि।
2. अर्थाचार – अर्थ की शुद्धि।
3. उभयाचार – व्यंजन और अर्थ दोनों की शुद्धि।
4. विनयाचार – विनय, आदरपूर्वक स्वाध्याय करना।
5. कालाचार – काल शुद्धि।
6. उपाधनाचार – धारणसहित आराधना करना।
7. बहुमानाचार – गर्वहीन होते हुए स्वाध्याय करना।
8. अनिह्नवाचार – ज्ञान प्रदाता गुरु के नाम का न छिपाना।

उपर्युक्त आठ अंगों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

1. **व्यंजनाचार**–अक्षरों के उच्चारण, व्यंजन आदि की शुद्धि, ग्रन्थ शुद्धि कहलाती है। दूसरे शब्दों में जिससे शब्दों का ज्ञान होता है, वह व्यंजनाचार है इसमें व्याकरण के अनुसार अक्षर, पद, मात्रा का शुद्ध पढ़ना-पढ़ाना होता है।

2. **अर्थाचार**–शब्द और अर्थ को ठीक-ठीक पढ़कर आगम को पढ़ना-पढ़ाना अर्थाचार कहलाता है।

3. **उभयाचार**–शुद्ध शब्द और अर्थ सहित सिद्धान्त को पढ़ना-पढ़ाना उभयाचार कहलाता है।

4. **विनयाचार**–पर्यंक आसन, पद्मासन आदि आसन से स्थित होकर अँजुलि जोड़कर नमस्कार कर जो पढ़ता है वह विनयाचार कहलाता है। शुद्धजल से हाथ-पैर धोकर पवित्र स्थान पर आसन लगाकर चौकी आगे रखकर आगम स्तुति को नमस्कार कर श्रुतशक्तिपूर्वक आगम का पढ़ना-पढ़ाना उत्तम विनयाचार है।

5. **कालाचार**–सूत्रग्रंथों को सुकाल में द्रव्यादि शुद्धि को करके जो पढ़ते हैं, उसकी वह कालशुद्धि उनके ज्ञान रूपी सूर्य को प्रगट करने के लिए होती है।अकाल अर्थात्

सामायिक काल में सूत्रग्रन्थों का और आर्षग्रंथों का अध्ययन नहीं करना चाहिए।

6. **उपाधनाचार**—इस ग्रन्थ के स्वाध्याय पर्यंत इस वस्तु का मैं त्याग करता हूँ, इस प्रकार अवग्रह करके पढ़ने पर वह उपधान या उपाधनाचार कहलाता है। दूसरे शब्दों में धारणा सहित आराधना करना स्मरण सहित स्वाध्याय करना-भूलना नहीं, उपाध नाचार है।

7. **बहुमानाचार**—ग्रंथों के वाचना आदि कार्य में गर्वहीन होते हुए जो आदर किया जाता है और गुरु तथा ग्रन्थ आदि की आसादना नहीं करना, बहुमान नाम का गुण है। दूसरे शब्दों में ज्ञान का, शास्त्र का, पढ़ने का, विशेष ज्ञानी का बहुत आदर करना, शास्त्र को ले जाते हुए, लाते हुए उठकर खड़ा होना, पीठ न दिखाना, आगम को उच्चासन पर विराजमान करना, पढ़ते समय लौकिक बात नहीं करना, अशुद्ध वस्त्रों व शरीर की अवस्था होने पर शास्त्रों को नहीं छूना, बहुमानाचार के अन्तर्गत आता है।

8. **अनिहृनवाचार**—अपने कनिष्ठ-लघु या अप्रसिद्ध आदि गुरु का नाम छिपाकर अन्य महान् गुरु के नाम का कथन करने पर अथवा ग्रंथ के विषय में भी ऐसा करने पर निह्नव नाम का दोष और ऐसा न करने पर अनिह्नव नाम का गुण होता है अर्थात् किसी के द्वारा गुरु का नाम पूछे जाने पर 'अपने गुरु अल्प हैं तो उनके नाम से मेरी विशेषता नहीं होगी', ऐसा सोचकर अपने को किसी बड़े प्रसिद्ध गुरु का शिष्य बता देना या जिस ग्रंथ से ज्ञान प्राप्त किया है उसके अतिरिक्त बड़े ग्रंथ का नाम बता देना आदि निह्नव दोष है। ऐसा न करने से अनिह्नव गुण होता है।

आर्षग्रन्थों का स्वाध्याय करें—गृहस्थों को आर्षग्रन्थों का ही स्वाध्याय करना चाहिए।

आर्षग्रन्थ—महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के उपरान्त सुधर्माचार्य जम्बूस्वामी आदि अनुबद्ध केवली हुए, फिर विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली 465 ई. पू. से लेकर 365 ई. पू. तक हुए। यहाँ तक सम्पूर्ण ज्ञान प्रवाह अनवरत चलता रहा। इसके उपरान्त आचार्यों की स्मृति क्षीण होने लगी। ग्यारह अंग और दस पूर्व ज्ञान के धारी मुनि 182 ई. पू. तक हुये। फिर केवल ग्यारह अंग के धारी मुनि 49 ई. पू. तक हुए। इसके उपरान्त दस अंग के ध ारी मुनि भी कम होते गये और केवल एक अंग के धारी मुनि की परम्परा चलती रही। महावीर भगवान 527 ई. पू. को मोक्ष पधारे थे। इसके 683 वर्ष बाद सन् 156 ईस्वी में प्रथम बार षट्खण्डागम के रूप में आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबली द्वारा श्रुत की रचना पूर्ण हुई। यह लिपिबद्ध आगम आज हमें अनेक रूपों में मिलता है। इस प्रकार इन्हीं की परम्परा में आचार्य

जिनचन्द्र, आ. कुन्दकुन्द, आ. उमास्वामी, आ. समन्तभद्र, आ. अमृतचन्द्र, आ. पूज्यपाद स्वामी आदि आचार्यों ने विभिन्न ग्रन्थों की रचना की है। ये ग्रथ ही आर्षग्रन्थ कहलाते हैं। इन ग्रन्थों के आधार पर की गयी टीकाएँ चाहे आचार्यों ने की हों या पंडितों ने सभी का स्वाध्याय करने योग्य है। ये ग्रन्थ चाहे कहीं से भी प्रकाशित हों सभी जिनवाणी कहलाते हैं। यह कभी भी पक्ष नहीं रखना चाहिए कि ये यहाँ से प्रकाशित ग्रन्थ हैं और ये वहाँ से प्रकाशित ग्रन्थ हैं, इसलिए ये ग्रन्थ तो पढ़ेंगे और वे ग्रन्थ नहीं पढ़ेंगे। ऐसा अपमान जिनवाणी का कभी भी नहीं करना चाहिए। यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि मूल आचार्य के ग्रन्थ में कही फेर बदल किया गया हो, गाथा या श्लोक में परिवर्तन किया गया हो एवं अर्थ का अनर्थ किया गया हो, तब वे ग्रन्थ पठनीय नहीं है।

उपर्युक्त सभी प्रकार के ग्रन्थों का स्वाध्याय घरों में चटाई बिछाकर सामने चौकी रखकर करें। स्वाध्याय कहीं भी किया जा सकता है, घरों में, दुकान पर, मन्दिर में, जहाँ भी अच्छी सुविधा हो वहाँ स्वाध्याय करें।

जिनवाणी का महत्त्व–हमारे जीवन में जिनवाणी का बहुत महत्त्व है। जिनवाणी मोक्षमार्ग में साक्षात् माता के समान है। जिस प्रकार माँ पाल-पोस कर पुत्र को सक्षम और सामर्थ्यवान् बनाती है, उसी प्रकार जिनवाणी माँ हमें अनादि काल के अज्ञान रूपी अन्धकार से निकाल कर मोक्ष रूपी प्रकाश भवन में बैठा देती है। जिनवाणी माँ का कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए। किसी ने कहा है–

जिनवाणी की विराधना से कोई गुणवान् नहीं होता।
जिनशास्त्र को रौंदने से कोई पहलवान नहीं होता।।
सद्गुरुओं को दोष नहीं लगाओ, थोड़ा गहराई से सोचो।
अनुचित बातें करने से कोई विद्वान् नहीं होता।।

प्राय: ऐसा देखने-सुनने को मिलता है कि अमुक पक्षपाती ने अमुक के ग्रन्थों को मन्दिर से हटा दिया या मन्दिर जी में रखने नहीं दिया। यह क्रिया श्रावक की उचित नहीं है। किसी ने इसलिए कहा है कि–

यदि शास्त्र नष्ट होने लगे तो शास्त्र का क्या होगा?
यदि अन्दर की शर्म निकल गई तो बाहर की लाज से क्या होगा?
धर्म प्रचार के स्वप्न को साकार करने वालो,
धर्म रक्षक ही भक्षक बन गये तो धर्म का क्या होगा?

इस प्रकार जिनवाणी की विराधना करना अपनी माँ की विराधना करने के समान है।

एक गृहस्थ को जिनवाणी के अभ्यास के प्रति कैसी भावना रखना चाहिए, इस बात को स्पष्ट करते हुए पं. बनारसीदास जी कहते हैं कि–

आगम-अभ्यास होहु सेवा सर्वज्ञ! तेरी,
संगति सदीव मिलौ साधरमी जन की।
सन्तन की गुन की बखान यह बान परौ,
मेटौ टेव देव! पर-औगुन-कथन की।।
सब ही सौं ऐन सुखदैन मुख वैन भाखौं,
भावना त्रिकाल राखौं आतमीक धन की।
जौलौं कर्म काट खोलौं मोक्ष के कपाट तौलौं,
ये ही बात हूजौ प्रभु! पूजौ आस मन की।।

हे सर्वज्ञदेव! मेरी अभिलाषा यह है कि मैं जब तक कर्मों का नाश करके मोक्ष का दरवाजा नहीं खोल लेता हूँ, तब तक मुझे सदा शास्त्रों का अभ्यास रहे, आपकी सेवा का अवसर प्राप्त रहे, साधर्मीजनों की संगति मिली रहे, सज्जनों के गुणों का बखान करना ही मेरा स्वभाव हो जावे, दूसरों के अवगुण कहने की आदत से मैं दूर रहूँ, सभी से उचित और सुखकारी वचन बोलूँ और हमेशा आत्मिक सुखरूप शाश्वत धन की ही भावना भाऊँ। हे प्रभो! मेरे मन की यह आशा पूरी होवे।

जो जीव, आगम का, शास्त्र का आदर करता है, उसको अपने जीवन में सर्वश्रेष्ठ स्थान देता है, उसका फल तथा परिणाम क्या होता है, यह निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है–

मतिवरण से कुन्दकुन्दाचार्य

भरतखण्ड के दक्षिण देश में 'पिड्थनाडू' नाम का एक प्रदेश है। इस प्रदेश के अन्तर्गत 'कुरूमरई' नामक ग्राम में 'करमण्डु' नाम का एक धनिक वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था। उसके यहाँ एक ग्वाला रहता था जो उसकी भैंस चराया करता था। उस ग्वाले का नाम मतिवरण था। एक दिन जब वह अपने पशुओं को एक जंगल में ले जा रहा था, तो उसने बड़े आश्चर्य से देखा कि सारा जंगल आग से जल कर राख होता जा रहा है, किन्तु मध्य भाग के कुछ वृक्ष हरे-भरे थे। उसे उसका कारण जानने की बड़ी उत्सुकता होती है। वह वहाँ पर जाता है तो उसे ज्ञात होता है कि यह स्थान किसी मुनि का है, क्योंकि वहाँ एक पेटी में उसे

(दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, और पंचइन्द्रिय जीव) छह काय के जीवों को बचाकर कार्य करना संयम के अन्तर्गत है। दु:ख इस बात का है कि गृहस्थ पंचेन्द्रिय के विषयों में फँसा रहता है। भ्रमित रहता है। चक्षु इन्द्रिय अपना भोजन तलाशती है, कभी सुन्दर रूप में तो कभी विकृत रूप में। कर्ण इन्द्रिय मधुर आवाज सुनना चाहती है, कठोर, कर्कश ध्वनि इसे पसन्द नहीं। कभी घ्राण इन्द्रिय कहती है कि यह दुर्गन्ध है और यह सुगन्ध, कभी रसना इन्द्रिय को मीठे-मीठे पकवान चाहिए। कसैला भोजन इसे पसन्द नहीं। पेट मात्र इतना कहता है कि भूख लगी है, कुछ भी दे दो मुझे पसन्द है, किन्तु जिह्वा इसे नाच नचाती है। स्पर्शन इन्द्रिय भी इस गृहस्थ को अपने चंगुल में फँसाती है। कहती है मुझे मृदु स्पर्श चाहिए, कठोर नहीं। कभी कहती है मुझे कूलर, ए.सी. में बैठाओ, तो कभी हीटर जलाओ। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के जाल में फँसकर यह गृहस्थ मन इन्द्रिय रूपी घोड़े पर बैठकर तीनों लोक में घूम आता है। आप कल्पना कीजिए, ये इन्द्रियाँ आप से अलग-अलग अपनी-अपनी पसन्द की वस्तुयें माँगती है। एक अकेला आत्मा पाँच-छह की माँग कैसे पूरा करे? अनादि काल से लेकर आज तक इनकी माँगों की पूर्ति करते-करते, इनकी माँगे पूरी नहीं हो पायी हैं। इनकी माँगों के जाल से निकलने के लिए ही संयम धारण करना होगा। पूर्ण संयम तो मुनिराज धारण करते हैं, व्रत, समिति, गुप्ति आदि के रूप में, किन्तु गृहस्थ भी आंशिक संयम धारणकर पंचेन्द्रिय के जाल को तोड़ने में पूर्ण सक्षम हैं।

संयम का शाब्दिक अर्थ एवं परिभाषा

संयम दो शब्दों से मिलकर बना है–सम्+यम्। सम् का अर्थ होता है सम्यक् प्रकार से और यम का अर्थ होता है शमन करना, दमन करना, नियंत्रण करना, दबाना आदि अर्थात् संयम का अर्थ हुआ सम्यक् प्रकार से दमन करना उन विकल्पों का जो कि विषय भोगों के दृढ़ संस्कारवश प्रतिक्षण नया-नया रूप धारण करके हमारे अन्त:करण में आते रहते हैं।

वस्तुत: संयम का अर्थ विषयों का संयमन-उपशमन करना होता है।

''संयम्यन्ते इन्द्रियाणि मनश्च येनासौ संयम:।''

अर्थात्–जिस शक्ति के द्वारा पाँचों इन्द्रियों एवं छठे मन वृत्ति को संयमित किया जावे उसको संयम कहते हैं।

भाव संयम से रहित द्रव्य संयम, संयम नहीं कहलाता है।

संयम के भेद–संयम दो प्रकार का होता है।

(अ) इन्द्रिय संयम, (ब) प्राणी संयम।

पहले इन्द्रिय संयम होता है, उसके बाद प्राणी संयम।

(अ) **इन्द्रिय संयम**–पाँचों इन्द्रियों और मन की प्रवृत्ति को रोकना इन्द्रिय संयम कहलाता है। इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

1. **स्पर्शन इन्द्रिय संयम**–शरीर सुन्दर नहीं बनाना। तेल फुलेल, सिंगार आदि के द्वारा प्रतिक्षण शरीर को पोषण करने में नहीं रहना। यदि गर्मी में कूलर, पंखा, ए.सी. आदि लगाया गया तो स्पर्शन इन्द्रिय का संयम नहीं होगा। सर्दी में हीटर अथवा अँगीठी का प्रयोग भी संयम के अन्तर्गत नहीं आता। यदि शरीर से मोह होगा तो स्पर्शन इन्द्रिय का संयम नहीं होगा। अत: गृहस्थ को ये कार्य नियन्त्रित करना चाहिए।
2. **रसना इन्द्रिय संयम**–जिह्वा पर नियन्त्रण करना, रसों का त्याग करना (दूध, घी, दही, तेल, मीठा, नमक ये छ्ळ रस), रसना इन्द्रिय संयम हैं। नमक का त्याग किया और जवाखार का सेवन किया अथवा यह कहा कि कल नमक का त्याग है हलवा बना लेना अर्थात् एक वस्तु की इच्छा घटाई और दूसरी वस्तु लेने की इच्छा बढ़ाई तब रसना इन्द्रिय संयम नहीं होगा। अत: गृहस्थों को जिह्वा पर नियन्त्रण करना चाहिए।
3. **घ्राण इन्द्रिय संयम**–सुगन्ध और दुर्गन्ध में राग-द्वेष नहीं करना, मध्यस्थ रहना ही घ्राण इन्द्रिय संयम है। यदि सुगन्धित वस्तु में प्रसन्नता और दुर्गन्धित वस्तु में द्वेष होता है, वहां घ्राण इन्द्रिय संयम नहीं होगा।
4. **चक्षु इन्द्रिय संयम**–सिनेमा देखना, टी.वी. देखना, स्त्री-पुरुष के सुन्दर रूप को देखकर मोहित होना, कोठी-बँगले आदि की सुन्दरता देखकर उनमें राग रखना चक्षु इन्द्रिय संयम नहीं कहलायेगा। गृहस्थों को इन कार्यों से बचना चाहिए तभी चक्षु इन्द्रिय संयम होगा।
5. **कर्ण इन्द्रिय संयम**–गाना सुनना, मधुर-प्रिय शब्दों से राग और कटु शब्दों से द्वेष करना, कर्ण इन्द्रिय संयम नहीं कहलाता है। दोनों स्थितियों में एक समान रहना, उदार रहना कर्ण इन्द्रिय संयम कहलाता है। ज्ञान के शब्दों को सुनकर उसमें ही रत रहना, भगवान की वाणी सुनकर, अपने आत्मा में उतारना ही कर्ण इन्द्रिय संयम है। गृहस्थ को इसके विपरीत नहीं चलना चाहिए।
6. **मनेन्द्रिय संयम**–मन सब इन्द्रियों के ऊपर सवार रहता है। सबसे कठिन मनेन्द्रिय संयम होता है, क्योंकि यह बहुत ही चंचल होता है, इसलिए इसे नियन्त्रिन करना कुछ कठिन होता है। यदि मन संयम, अर्थात् मन को चारों ओर भटकने से रोकना, साध लिया जाये

तो अन्य पाँचों इन्द्रियों पर नियन्त्रण हो जाता है। मन की दौड़ सबसे तेज होती है। गृहस्थ को अपना मन स्थिर करना चाहिए।

(ब) **प्राणी संयम**–पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पति कायिक–ये पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव, स्थावर जीव कहलाते हैं। दो इन्द्रिय जीव, तीन इन्द्रिय जीव, चार इन्द्रिय जीव और पाँच इन्द्रिय जीव–ये चार प्रकार के जीव त्रस जीव कहलाते हैं। इन स्थावर और त्रस जीवों के प्राणों की रक्षा करना, ऐसे कार्य नहीं करना जिस कारण इन्हें कष्ट पहुँचे, उसे प्राणी संयम कहते हैं।
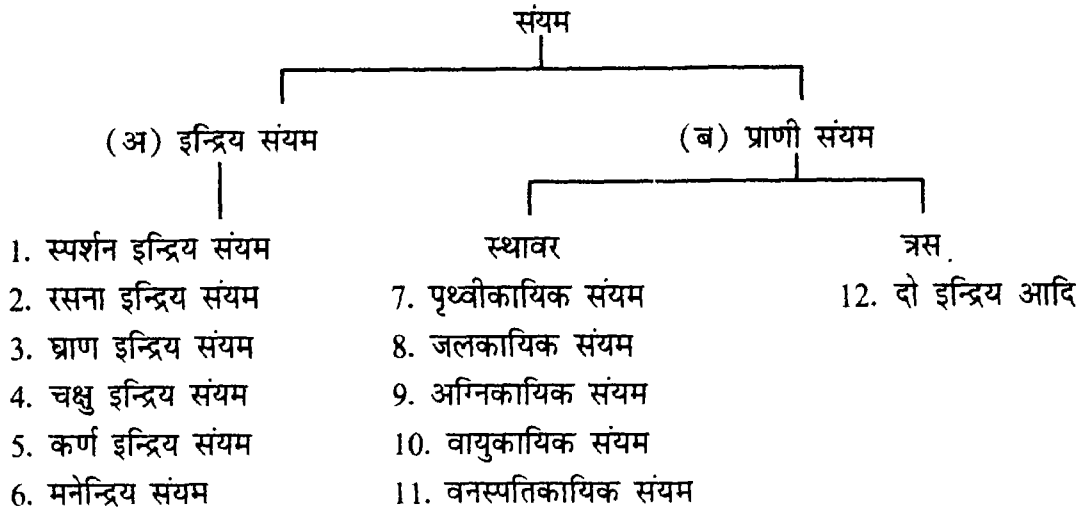
इस प्रकार संयम के मूल भेद दो इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम तथा उत्तर भेद बारह (छह इन्द्रिय संयम के और छह प्राणी संयम के) हो जाते हैं। यह बारह प्रकार का संयम गृहस्थ को अपनी भूमिकानुसार धारण करना चाहिए। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि–

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम्।।

–रत्नक.श्राव.50

गृह–कुटुम्ब आदि समस्त परिग्रह के त्यागी और अपने शरीर से भी निर्ममत्व रखने वाले मुनिराज सकल चारित्र-संयम को धारण करते हैं। गृहस्थ, जो गृह, परिवार धन आदि रखते हैं, वे विकल चारित्र-संयम को धारण करते हैं। सकल अर्थात् संपूर्ण या सर्वदेश और विकल अर्थात् आंशिक या एकदेश की अपेक्षा से संयम दो प्रकार का हो जाता है। दूसरे शब्दों में संयम को महाव्रत रूप, समिति, गुप्ति रूप में मुनिराज पालते हैं और अणुव्रत तथा प्रतिमाओं के रूप में गृहस्थ पालते हैं।

महाव्रतों के सन्दर्भ में पूर्व में चर्चा हो चुकी है, आज अणुव्रत के सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा करेंगे।

अणुव्रत : श्रावक

जो सद्गृहस्थ संयम को धारण करता है वह 'श्रावक' कहलाता है। श्रावक तीन अक्षरों से मिलकर बना है। श्रा+व+क=श्रावक "श्रा" अर्थात् जो गृहस्थ "श्रद्धावान्" हो; "व" अर्थात् जो गृहस्थ "विवेकवान्" हो; और "क" अर्थात् जो गृहस्थ "क्रियावान्" हो, उसे श्रावक कहते हैं।

कम अधिक संयम धारण करने की अपेक्षा श्रावक के निम्न तीन भेद किये जाते हैं–

(1) पाक्षिक श्रावक; (2) नैष्ठिक श्रावक; (3) साधक श्रावक।

(1) **पाक्षिक श्रावक**–जो श्रावक अष्टमूलगुणों का धारक हो तथा सात व्यसनों का त्यागी हो, बाइस अभक्ष्य का सेवन न करता हो, देवदर्शन करने का नियम हो, रात्रि भोजन करने का त्याग हो, छना पानी प्रयोग करता हो एवं जीव दया करता हो वह श्रावक पाक्षिक श्रावक कहलाता है।

आठ मूलगुण–आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि–

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥

– रत्नकश्राव, 66

शराब, माँस और शहद का त्याग और पाँच अणुव्रतों का पालन–ये आठ मूलगुण गृहस्थों के लिए कहे गये हैं।

आचार्य सोमदेव के अनुसार– मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग, गृहस्थों के आठ मूलगुण होते हैं।

मद्यमांसमधुत्यागाः सहोदुम्बरपञ्चकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ताः मूलगुणाःश्रुतेः॥

–यशस्तिलक-उपा, 270

चारित्रसार में आचार्य चामुण्डराय ने लिखा है–

हिंसासत्यास्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरति-र्गृहिणोऽष्टसन्त्यमी मूलगुणाः॥

मद्य, माँस और द्यूत तथा स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और स्थूल

परिग्रह त्याग–ये आठ मूलगुण गृहस्थों के होते हैं। (यहाँ मधु के स्थान पर जुए का त्याग कराया गया है)

आचार्य अमृतचन्द कहते हैं कि–

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथमदेव।।
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यभूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मादेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः।।

जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहते हैं, उन्हें प्रथम ही यत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बरफल–ये आठ वस्तुओं का त्याग करना योग्य है।

दुःखदायक, दुस्तर और पाप के स्थान ऐसे आठ पदार्थों का परित्याग करके निर्मल बुद्धिवाले पुरुष अर्थात् श्रावक जैनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं। दूसरे शब्दों में प्रथम इन आठ वस्तुओं का त्याग कराया जाय, तत्पश्चात् ही कोई अन्य उपदेश दिया जाय। जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहीं होता, वैसे ही इनका त्याग किए बिना श्रावक नहीं होता, इसी कारण इनका नाम मूलगुण है।

सागारधर्मामृत में पं. आशाधर जी लिखते हैं कि–

अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा।
फलस्थाने स्मरेत् द्यूतं मधुस्थानं इहैव वा।।

मद्य, माँस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग आठ मूलगुण हैं। दूसरे शब्दों में पाँच फलों के त्याग के स्थान में पाँच स्थूल हिंसा आदि के त्याग को भी गृहस्थों के मूलगुण कहते हैं। दूसरे शब्दों में मद्य, माँस, मधु तथा पाँच स्थूल हिंसा आदि के त्याग रूप आठमूल गुणों में ही मधु के स्थान में जुए के त्याग को आठ मूलगुणों में कहा है।

आचार्यों के कथन को दृष्टि में रखते हुए यह बात सिद्ध हो जाती है कि अष्ट मूलगुणों का आधार हिंसा का त्याग करना है।

1. मद्य (शराब) सेवन का त्याग।
2. माँस भक्षण का त्याग।
3. मधु (शहद) भक्षण का त्याग।
4. पाँच उदुम्बर फल (बड़फल, पीपल फल, पाकर (पिलखन) फल, कठूमर (अंजीर) फल और गूलर फल) भक्षण का त्याग।
5. रात्रि भोजन करने का त्याग।

6. छना जल का प्रयोग करना।

7. देवदर्शन करना (पंचपरमेष्ठी की भक्ति करना)।

8. जीवों पर दया करना।

यह बात पं. आशाधर जी इस प्रकार कहते हैं–

मद्यपलमधुनिशासनपञ्चफलविरतिं पञ्चकाप्तनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्ट मूलगुणाः॥

अर्थात् मद्य का त्याग, माँस का त्याग, मधु का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग पाँच उदुम्बर फलों का त्याग, त्रिकालदेव वन्दना, जीव दया और छने पानी का उपयोग ये आठ मूलगुण शास्त्र में कहे हैं।

इन अष्ट मूलगुणों में एक पाक्षिक श्रावक के योग्य सभी आवश्यक आचार (संयम) आ जाता है, जिसे श्रावक सरलता से पाल सकता है। यह श्रावक निम्न सात व्यसनों का भी पहले से ही त्यागी होता है–

सात व्यसन–

1. जुआ खेलना–हार-जीत पर जो कार्य निर्धारित हो वह द्यूत क्रीड़ा कहलाती है।
2. नशा करना–मद्य, गाँजा, चरस, अफीम, गुटका हेरोइन, तम्बाकू आदि नशीले पदार्थों का सेवन, नशा करना कहलाता है।
3. माँस सेवन करना–जीवों का कलेवर (मृत शरीर) खाना, माँस सेवन करना है।
4. वेश्या गमन–व्यभिचारिणी स्त्री के घर आना-जाना, उससे काम सेवन करना वेश्या गमन है।
5. शिकार खेलना–पशुओं को मारना, उनके प्राणों को हरना, शिकार खेलना है।
6. चोरी करना–दूसरे की वस्तु को उसकी आज्ञा के बिना, उठाना चोरी करना है।
7. पर-स्त्री सेवन–दूसरे की स्त्री से काम सेवन करना, बुरी दृष्टि डलना, पर-स्त्री सेवन है।

अष्ट मूलगुणधारी श्रावक के ये सात व्यसन नहीं हो सकते, क्योंकि पहले इनका ही त्याग होता है, फिर अष्ट मूलगुण धारण किये जाते हैं। संयम का मूल आधार हिंसा से बचना और अहिंसा को धारण करना है। पाक्षिक श्रावक न केवल स्थूल हिंसा से बचना चाहता है वरन् वह सूक्ष्म हिंसा भी नहीं करना चाहता। इसलिए वह रात्रि भोजन का त्यागी होता है और जल भी

छानकर प्रयोग करता है। यहाँ यह बात दृष्टव्य है कि अन्य मतों में भी इस प्रकार की अहिंसा को जीवन में पर्याप्त स्थान दिया गया है।

अहिंसा और जैनेतर धर्म

जल छानकर प्रयोग करने के सन्दर्भ में–मनु महाराज कहते हैं कि–

दृष्टिपूतं न्येसत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिवेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं, मनः पूतं समाचरेत।।

अर्थात्–नीचे दृष्टिकर ऊँचे-नीचे स्थान को देखकर चलें, वस्त्र से छानकर जल पीवे, सत्य से पवित्र करके वचन बोले और मन से विचार कर आचरण करें।

उक्त श्लोक से स्पष्ट है कि जल छानकर पीना एक ऐसी क्रिया है जिसे वैदिक परम्परा में भी माना गया है। इसका उद्देश्य हिंसा से बचना तथा आत्मकल्याण करना ही है।

रात्रिभोजन त्याग के सन्दर्भ में अर्जुन को उपदेश देते हुए महाभारत शान्तिपर्व में कृष्ण द्वारा कहा गया हैं कि–

चत्वारि नर्कद्वारं, प्रथमं रात्रिभोजनम्।
द्वितीयं परस्त्रीगमनं चैव, सन्धानानन्तकायकम्।।

ये रात्रौ सर्वदाऽऽहारि, पर्जयन्ति सुमेधसः।
तेषां पक्षोपवासस्य, फलं मासेन जायते।।

चार कार्य नरक के द्वार रूप हैं, जिसमें सबसे पहला रात्रि भोजन करना है, दूसरा पर स्त्री सेवन करना है, तीसरा अचार खाना और चौथा अनन्तकाय अर्थात् कन्दमूल खाना है। इसलिए जो सुबुद्धि वाले मनुष्य सर्वरात्रि में भोजन का त्याग करते हैं, वे एक महीने में एक पक्ष के उपवास का फल प्राप्त करते हैं।

मार्कण्डेय पुराण में मार्कण्डेय महर्षि लिखते हैं कि–

अस्तं गतं दिवा नाथे, आपो रुधिर मुच्यते।
अन्नं मासं समं प्रोक्तं, मार्कण्डेय महर्षिभिः।।५३।।

अर्थात् सूर्य अस्त होने पर भोजन करना, माँस खाने और रुधिर पीने के समान है।

इन दो श्लोकों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि आठमूलगुण को धारण करना और सात व्यसनों का त्यागी होना ही सद्गृहस्थ के संयम का प्रथम आधार है। यही संयम भविष्य में मोक्षमार्ग प्रशस्त करता है।

विशेष—पाक्षिक श्रावक अष्टमूलगुण अतिचार सहित पालता है, अतिचार रहित पालन करने पर वह प्रथम दर्शनप्रतिमाधारी हो जाता है।

इस प्रकार पाक्षिक श्रावक अपनी दिनचर्या को व्यवस्थित कर लेता है। संसार के समस्त प्राणियों में मैत्री भाव रखना, वे सब सुखी रहें, ऐसा चिन्तन करना, गुणवानों को देखकर प्रमोद हर्ष प्रकट करना, दु:खी प्राणियों को देखकर दया-भाव रखना, धर्म से विपरीत चलने वालों में माध्यस्थ भाव रखना, रागद्वेष न करना, उक्त चारों भावनाओं से चारित्र संयम धर्म की वृद्धि करने को एवं दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय रूप त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा के त्याग करने को तथा धर्म आदि के निमित्त जीव हिंसा न करने को पक्ष कहते हैं। अर्थात् उक्त प्रकार के संयम धर्म के पालने की प्रवृत्ति को पक्ष कहते हैं। जो सम्यग्दृष्टि हो अर्थात् देव-शास्त्र और गुरु की यथार्थ श्रद्धा करने वाला हो तथा अतिचार सहित आठमूलगुण एवं पाँच अणुव्रतों का जो स्थूल रूप से पालन करने वाला हो और देव-शास्त्र गुरु की पूजन का अनुरागी हो तथा आगे प्रतिमारूप संयम धर्म पालने का इच्छुक हो, वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। पाक्षिक श्रावक का निम्न 22 अभक्ष्यों का भी त्याग रहता है। ये निम्न हैं—

(1) ओला; (2) दही बड़ा (कच्चे पक्के दूध से जमाये गये दही का बड़ा) (3) रात्रि भोजन; (4) बहुबीजा अनाज; (5) बैंगन; (6) अचार-मुरब्बा (चौबीस घण्टे के बाद का); (7) बड़ फल; (8) पीपल फल; (9) पाकर (पिलखन); (10) कठूमर (अंजीर) फल; (11) गूलर फल; (12) अजान फल (जिसको हम पहचानते नहीं ऐसे कोई फल पत्ते आदि); (13) कन्द (मूली, गाजर आदि जमीन के अन्दर लगने वाले); (14) मिट्टी; (15) विष (संखिया, धतूरा आदि); (16) आमिष (मांस); (17) शहद; (18) मक्खन; (19) मदिरा; (20) अतितुच्छ फल (जिसमें बीज नहीं पड़े हों ऐसे बिलकुल कच्चे छोटे-छोटे फल); (21) बर्फ; और (22) चलित रस (जिनका स्वाद बिगड़ जाये ऐसे फटे हुए दूध आदि)। ये सब अभक्ष्य हैं।

बाजार की बनी हुई चीजों में मर्यादा आदि का विवेक न रहने से तथा अनछने जल आदि से बनाई होने से सब वस्तुएँ अभक्ष्य हैं। इसलिए इन सबका त्याग करना ही उचित है।

2 नैष्ठिक श्रावक

यह श्रावक का दूसरा भेद है। जो पाक्षिक श्रावक के आचार को पालता हुआ सम्यग्दर्शन को 25 दोषों से रहित निर्मल बनाकर अतिचार रहित आठमूल गुण पालने वाला जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त रहता है, जिसकी एकमात्र अन्तर्दृष्टि अरहंत आदि पाँच परमेष्ठियों के चरणों में ही रहती है, वह नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। इस श्रावक के ग्यारह भेद या

श्रेणी होती हैं, जिनपर यह क्रम से धीरे-धीरे चढ़कर अपनी आध्यात्मिक उन्नति करता हुआ अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच जाता है। इन ग्यारह श्रेणियों को श्रावक की **ग्यारह प्रतिमाएँ** कहते हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

1. **दर्शन प्रतिमा**–जो श्रावक 25 दोषों से रहित सम्यग्दर्शन को निर्मल बना लेता है, संसार, शरीर, भोगों से विरक्त रहता है, पंच परमेष्ठी के चरणों का ध्यान करता है और अष्टमूलगुणों को निरतिचार पालता है, वह श्रावक दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है। यह सब कार्य कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक करता है।

2. **व्रत प्रतिमा**–जो दर्शन प्रतिमाधारी, माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्यों से रहित होता हुआ, अतिचार रहित पाँच अणुव्रतों को और सात शील व्रतों को (तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को) धारण करता है, वह व्रत प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

   पाँच अणुव्रत–हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह–इन पाँचों पापों का एक देश त्याग करना पाँच अणुव्रत हैं। इनका अतिचार रहित पालन किया जाता है। तीन गुणव्रत–दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डविरति-ये तीन गुणव्रत हैं, जो पाँच अणुव्रतों को दृढ़ करते हैं। दिग्व्रत अर्थात् दशों दिशाओं में आने-जाने का परिमाण कर लेना क्षेत्र सीमित कर लेना कि मर्यादित श्रेत्र से ही सम्बन्ध रखूँगा-दिग्व्रत कहलाता है। देशव्रत–दिग्व्रत की सीमा के अन्दर निश्चित किये गये स्थानों में आने-जाने में और भी कमी कर लेना देशव्रत है। दिग्व्रत में तो जीवनपर्यन्त के लिए मर्यादा की जाती है किन्तु देशव्रत में कुछ समय के लिए मर्यादा की जाती है, यही दोनों में अन्तर है। अनर्थदण्ड विरति व्रत बिना प्रयोजन दिग्व्रत की सीमा के अन्दर मन-वचन-काय से जो पाप होते हैं उन्हें नहीं करना अनर्थदण्डविरतिव्रत है। सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि संविभाग-ये चार शिक्षा व्रत कहलाते हैं। ये मुनि अवस्था के लिए अभ्यास मात्र होते हैं।

ये बारह व्रत पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के निरतिचार एवं निःशल्य रूप होते हैं। ये श्रावक के 12 व्रत भी कहलाते हैं।

3. **सामायिक प्रतिमा**–व्रत प्रतिमा का अभ्यासी तीनों सन्ध्याओं में सामायिक करता है और कष्ट आ जाने पर भी अपने ध्यान से विचलित नहीं होता, मन-वचन-काय की एकाग्रता को स्थिर रखता है, उसे सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक कहते हैं। यह श्रावक कम से कम दो घड़ी (48 मिनिट) सर्वसावद्य योग का त्यागकर समता धारण करता हुआ अपनी आत्मा

में स्थिर होता है। सामायिक का जघन्य काल 2 घड़ी मध्यम काल 4 घड़ी और उत्कृष्ट काल 6 घड़ी माना गया है।

4. **प्रोषधोपवास प्रतिमा**—सामयिक प्रतिमाधारी श्रावक प्रत्येक महीने की दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी-इन चारों पर्वों में अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर उपवास या एकाशन करता है तथा धर्मध्यान में रत होते हुए विधिवत् प्रोषधोपवास करता है। वह चतुर्थ प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

   प्रोषध—इसमें आरम्भ और विषयकषाय आदि का त्याग करते हुए केवल दिन में एक बार भोजन किया जाता है।

   उपवास—इसमें भोजन करने का दिनभर सर्वथा त्याग रहता है।

   प्रोषधोपवास—इसमें अष्टमी और चौदश आदि पर्वों के पूर्व और बाद के दिन भी एकाशन किया जाता है।

   यह जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का होता है।

5. **सचित्तत्याग प्रतिमा**—फल, मूल, पत्ते, कोंपल, शाक, कंद, पुष्प और बीज—ये सब सचित्त हैं और भी अनेक प्रकार की हरित वनस्पतियाँ हैं, इनमें से जो केवल फल और शाक को प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी प्रासुक करके खाता है, सचित्त नहीं खाता, वह दयामूर्ति सचित्त त्याग प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है। यह प्रासुक जल ही प्रयोग करता है। जिसमें उगने की योग्यता हो ऐसे अन्न एवं हरी वनस्पतियां जिसमें बढ़ने की योग्यता हो-उसको सचित्त कहते हैं।

6. **रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा**—जो चारों प्रकार के आहार (अन्न, खाद्य, लेह, पेय) को रात्रि में कृत, कारित और अनुमोदना से त्याग कर देता है, वह सभी प्राणियों में दया करने वाला श्रावक, रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमाधारी कहलाता है। किन्हीं आचार्यों ने इस प्रतिमा वाले को दिवामैथुन त्याग वाला भी कहा है।

7. **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—जो व्रती शरीर को रज और वीर्य से उत्पन्न, दुर्गन्ध और ग्लानियुक्त जानकर कामसेवन का सर्वथा त्याग कर देता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

8. **आरम्भत्याग प्रतिमा**—सेवा, नौकरी, खेती, व्यापार आदि भी गृहस्थी के आरम्भ, प्राणी हिंसा के निमित्त हैं। जो इन गृह कार्यों से दूर हट जाते हैं, वे आरम्भत्याग प्रतिमाधारी श्रावक पापास्राव से बच जाते हैं। ये जिनपूजा, यात्रा, दान आदि सत्कार्यों को करते हैं।

9. **परिग्रहत्याग प्रतिमा**–जो आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी बाह्य दश प्रकार के परिग्रहों से सर्वथा ममत्व छोड़ निर्मोही होकर मायाचार रहित, ,परिग्रह की आकांक्षा का त्याग करता है, वह परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है। इस प्रतिमाधारी का जीवन वैराग्यमय, संतोषी एवं साम्यभावधारी होता है।

10. **अनुमतित्याग प्रतिमा**–जो परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी, गृह आरम्भ आदि कार्यों में, परिग्रह में, विवाह आदि लौकिक कार्यों में और धनसंचय, व्यापारादि कार्यों में अनुमति सहमति भी नहीं देता, माध्यस्थ भाव धारण करता है, वह अनुमतित्याग प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

11. **उद्दिष्टत्याग प्रतिमा**–जो घर छोड़कर मुनि के पास जाकर, गुरु के सान्निध्य में ग्यारहवीं प्रतिमा के व्रत लेकर तपश्चरण करता हैं और संघ में रहते हुए भिक्षावृत्ति से आहार लेते हैं, वे श्रावक उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारी श्रावक कहलाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं–(1) जो कोपीन (लँगोट) और खण्डवस्त्र धारण करते हैं तथा कैंची या उस्तरे से अपने केशों को कटवाते हैं, वे क्षुल्लक कहलाते हैं, (2) जो केवल कोपीन (लँगोट) मात्र ही रखते हैं, नियम से केशलोंच करते हैं, वे ऐलक कहलाते हैं। क्षुल्लक कटोरे में आहार लेते हैं और ऐलक पाणिपात्र में आहार ग्रहण करते हैं, दोनों ही बैठकर आहार लेते हैं। ये दोनों पिच्छी और कमण्डलु अपने पास रखते हैं। पिच्छीधारी साधु वाहन का प्रयोग नहीं करते हैं।

नोट– एक से छठ प्रतिमाधारी श्रावक–जघन्यव्रती श्रावक कहलाता है। सात से नौ प्रतिमाधारी श्रावक–मध्यम व्रती श्रावक कहलाता है। अपने व्रतों में अतिचार लगाने वाला नैष्टिक श्रावक, पाक्षिक श्रावक हो जाता है, इसलिए व्रतों को निरतिचार पालना चाहिए। प्रतिमाओं को क्रम से ही पाला जाता है।

(3) **साधक श्रावक**– यह श्रावक का तीसरा भेद है। जो जीवन का अन्त आने पर शरीर, आहार और मन-वचन-काय के व्यापार को त्याग कर ध्यानशुद्धि के द्वारा आनन्दपूर्वक आत्मा की शुद्धि की साधना करता है, वह साधक श्रावक कहलाता है।

दूसरे शब्दों में जो मरण की साधना करता है, वह साधक श्रावक है। जब जीवन का अन्त उपस्थित हो तब शरीर से ममत्व को त्यागकर चारों प्रकार के आहार को त्यागकर और मन-वचन-काय के व्यापार को रोक कर ध्यानशुद्धि के द्वारा आत्मशोधन करने वाले को साधक कहते हैं। अन्त समय में वह अपने उपयोग को सब ओर से हटाकर अपनी आत्मा में लगा लेता है। आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर स्वात्मा में स्थिर होता है और निर्विकल्प

होता हुआ समाधिमरण करता है। इसी को सल्लेखना व्रत कहते हैं, और इस प्रकार के मरण को सल्लेखना मरण भी कहते हैं।

सल्लेखना के भेद

सल्लेखना दो प्रकार की होती है– 1. यम सल्लेखना; और 2. नियम सल्लेखना।

1. **यम सल्लेखना**–जब नेत्र ज्योति आदि मंद हो जाती है, हाथ की रेखाएँ दिखनी बन्द हो जाये तब, संयम की रक्षा होना कठिन हो जाता है, तब जीवन भर के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करना यम सल्लेखना कहलाता है। उत्कृष्ट यम सल्लेखना बारह वर्ष की होती है। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अवधि वाली जघन्य यम सल्लेखना होती है और जघन्य से लेकर उत्कृष्ट के पहुँचने तक मध्यम के अनेक भेदरुप मध्यम यम सल्लेखना कहलाती है।

2. **नियम सल्लेखना**–जब कोई उपसर्ग आदि आ जाता है, तब भी चारों प्रकार के आहार का त्याग, उपसर्गादि के निवारण तक किया जाता है। इस प्रकार की सल्लेखना को नियम सल्लेखना कहते हैं। वस्तुत: काय और कषाय का कृश करना ही वास्तविक सल्लेखना है। जितने भी व्रत लिए जाते हैं श्रावक अवस्था में उनका निरतिचार पालन कर व्रतों सहित शान्तिपूर्वक काय और कषाय को कृश करते हुए रागद्वेष नहीं होवे, कदाचित् वेदना बढ़ जावे तब भी शान्ति बनाये रखें, धीरता के साथ समाधिमरण हो जावे, यही उद्देश्य अन्त समय में साधक श्रावक का होता है। इस प्रकार सल्लेखना के दो भेद काय और कषाय की अपेक्षा से होते हैं–

    1. **काय सल्लेखना**–इसमें बारह वर्ष तक रस परित्याग, पूर्वक उसको घटाते-घटाते, अन्त समय में सब कुछ त्याग अर्थात् चारों प्रकार का आहार का त्याग हो जाता है। इसमें काय को कृश किया जाता है।

    2. **कषाय सल्लेखना**–इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों एवं राग-द्वेष को घटाते-घटाते पूर्ण वीतराग भाव प्रकट किया जाता है, तब इसे कषाय सल्लेखना कहते हैं।

जीवन में संयम का महत्त्व–जीवन में संयम धारण करने का बहुत महत्त्व है। सबसे पहले, संयमी को जो लाभ होता है वह यह है कि उसके विकल्पों का दमन होता है। उसे भूमिकानुसार साक्षात् शान्ति का अनुभव होता है। जिनके जीवन में संयम है वे प्राय: अपने जीवन में सफल हो जाते हैं। कहा भी है कि–

जब संयम चुनौती देता है, तो कर्म घूमने लगते हैं।
संयमी मानव के फिर सब, बार-बार चरण चूमने लगते हैं॥
विपदायें होती रुखसत, दुःख के बादल उड़ने लगते हैं।
धर्मात्मा संग देव, किन्नर, चाँद-तारे भी चलने लगते हैं॥

असंयमी का जीवन नष्ट हो जाता है–जिसके जीवन में संयम नहीं है उसका जीवन जीना व्यर्थ है। असंयमी का जीवन एक कटी पतंग के समान होता है जैसे कि निम्न दृष्टान्त में समझाया गया है–

संयम की डोर

आसमान में एक पतंग उड़ रही थी। यह देख ऊपर आसमान में हवा पतंग का स्वागत करती है। कहती है–"अरी बहन अब तुम हमसे मिलकर रहो, जो तुम्हारी डोर पकड़े है उसका साथ तुम छोड़ दो, फिर तुम पूर्ण स्वतंत्र होकर हमारे साथ रहना।" पतंग कहती है–"हमारा उससे छूटना कैसे बन पायेगा?" हवा कहती है–"हम तुम्हारा साथ देंगे, तुम्हारी मदद करेंगे। बोलो तुम्हें हमारे साथ रहना स्वीकार है?" हाँ-हाँ स्वीकार है। पतंग ने उत्तर दिया। अब हवा बहुत तेज चलने लगती है, और पतंग की डोर टूट जाती है। पतंग स्वतंत्र होकर हवा के साथ किलोल करने लगती है। अब पतंग स्वच्छन्द हो जाती है, किसी प्रकार का कोई बन्धन नहीं रह जाता। जब तक पतंग डोर के आश्रय में थी तब तक तो वह सुरक्षित थी, किन्तु स्वच्छन्द हो जाने से असुरक्षित हो जाती है। अब हवा की तेज चाल से पतंग फटने लगती है, तब पतंग कहती है कि 'हवा बहन जरा धीरे-धीरे चलो, थोड़ी देर के लिए बन्द हो जाओ हमें इस तरह न सताओ।' हवा कुछ ध्यान नहीं देती, थोड़ी ही देर में ऊपर से बादल गरजने लगते हैं। पानी बरसने लगता है। पतंग भीग जाती है और नीचे गिरने लगती है। कीचड़ में गिरकर फँस जाती है और अन्ततः नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार जिसका जीवन संयम रूपी डोर से नहीं बँधा है, उसका जीवन कटी पतंग, टूटी पतंग के समान स्वच्छन्द है। पंचेन्द्रियों के विषय और मन हवा के समान है जो इसको लुभाते हैं और यदि यह मानव इन विषयों के आकर्षण में आ जावे तो अन्ततः ये इसको संसार रूपी कीचड़ में फँसा देते हैं। इसलिए मन की चंचलता को रोकने के लिए संयम धारण करना अनिवार्य है। यदि मन नियन्त्रित हो जाये तो अन्य पाँच इन्द्रियाँ आसानी से नियंत्रित की जा सकती हैं। जो मानव अपने जीवन में थोड़े से कष्टों को सहकर संयम धारण कर लेता है वह अपने जीवन को सुरक्षित तथा सुखमय बना लेता है। संयम का जीवन में बहुत अधिक महत्त्व है। यह संयम जीवन

में अनेक रूपों में धारण किया जा सकता है। भोगी मनुष्य अविवेकी होता है, इसीलिए जीवन में वह संयम नहीं धारण कर पाता। भोगों में अपने बहुमूल्य जीवन के क्षणों को खोता रहता है, जीवन के किसी मोड़ पर जब उसे अपनी गलती का अहसास होता है तो बहुत पश्चाताप करता है, रोता है। कहा भी है कि–

जिनके हाथों में संयम की पतवार है।
उनके हाथों में शूली का नहीं फूलों का हार है॥
अरे! भोगी परमात्मा को क्या जाने।
जिनको आत्मा से नहीं भोगों से प्यार है॥

मानव को अपना जीवन असंयम में नहीं खोना चाहिए, यह बात निम्न दृष्टान्त द्वारा भी समझी जा सकती है।

रत्नों की कीमत

एक खेत में बल्ली गाड़ने के लिए एक गड्ढ़ा खोदा गया। यह खेत एक किसान का था। यहाँ किसान को एक कलश रत्नों का भरा हुआ मिलता है। किसान यह जानकर बहुत खुश होता है कि अब मुझे पक्षियों को उड़ाने के लिए कंकड़-पत्थर इकट्ठे नहीं करने पड़ेंगे। अत: वह पक्षी उड़ाने में उनका प्रयोग करने लगा। एक-एक करके वह रत्न फेंकता जाता और पक्षियों को, चिड़ियों को उड़ाता जाता। वहीं पास में एक नदी थी, वे लाल उस नदी में गिरते जाते। एक दिन एक लाल किसी तरह उसकी नदी किनारे बनी झोंपड़ी में गिरा। इसी समय उस किसान की पत्नी घर से रोटी लेकर खेत पर आती है और उस लाल की चमक को देखकर, बहुत प्रसन्न होती है, सोचती है, घर पर बच्चे इससे खेल खेल लेंगे। अत: वह उसे उठाकर अपने घर ले जाती है। घर पर ले जाकर वह लाल खेलने के लिए अपने बच्चों को दे देती है।

एक दिन नगर सेठ किसान के घर आता है तथा वह बच्चों को लाल से खेलता हुआ देखता है वह विचारने लगता है कि यह लाल इन बच्चों को किसने दिया। वह बच्चों की माँ को आवाज लगाता है। पूछता है–'बच्चे ये क्या ले रहे हैं?' बच्चों की माँ कहती है कि–'यह पथरी खेत में पड़ी थी, सोचा बच्चों के लिए सुन्दर रहेगी, अत: इसे उठाकर मैं घर ले आई, और बच्चों के खेलने के लिए दे दी। आपके मतलब की हो तो ले जाइये।' सेठ अणुव्रती थे। वे बोले–'कीमत बताओ, ऐसे नहीं लेंगे। बच्चों की माता बोली–'कीमत कुछ नहीं है, यदि आपको कुछ देना ही है तो बच्चों को दो-चार पैसों की कुछ चीज दिला दीजिए।' सेठ जी कहते हैं कि–'ऐसे नहीं, किसी को हमारे साथ भेजो।' सेठ जी के साथ वह किसान की पत्नी खाली हाथ

चल देती है। सेठ जी अपने घर चलने से पहले, उसे एक चादर अपने साथ ले चलने के लिए कहते हैं। अब सेठ जी अपने घर जाकर उस चादर को अशर्फियों से भर देते हैं और वह लाल अपने पास रख लेते हैं। किसान की पत्नी बहुत प्रसन्न होती है तथा अपने घर वापिस लाकर कुछ दिनों में एक अच्छी सी हवेली तैयार कर लेती है। किसान जब एक दिन अपने घर वापिस आया तो यह देखकर चकित रह जाता है। अपनी पत्नी से पूछता है कि–'यह हवेली किसने बनवाई, यह किसकी है?' पत्नी उत्तर देती है कि–'यह हवेली आपकी ही है। एक दिन एक पथरी खेत से उठाकर मैं घर ले आई थी, उसकी सेठ ने इतनी अशर्फियाँ दी हैं कि यह हवेली तैयार हो गयी।' यह सुनकर किसान सेठ के घर जाता है, उस पत्थरी को देखता है। पुनः घर वापिस आता है और अपना सिर पीट-पीट कर रोने लगता है। कहता है ये तो मुझे बहुत प्राप्त हुई थीं, किन्तु मैंने इन्हें एक-एक करके सभी की सभी पक्षियों को उड़ाने में फैंक दी हैं।

जिस प्रकार किसान ने लालों की कीमत नहीं समझकर अज्ञानवश यूँ ही लाल फैंक दिये, और जीवन पर्यंत घर से खेत और खेत से घर फिरता हुआ भोगों में फँसा रहकर जीवन निकाल दिया। इसी प्रकार ये मानव अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को संयम धारण न करके असंयम में खो देता है और अन्त समय में बहुत कष्ट उठाता है। इसलिए सद्‌गृहस्थ को संयम धारण करना अनिवार्य ही है।

त्याग से संयम धारण होता है, संयम से जीवन निखरता है, जीवन निखरने से सुख-शांति की प्राप्ति होती है, इसलिए त्याग प्रवृत्ति जिसके जीवन में आ जाती है, वह अपना ही नहीं, औरों का भी उपकार करता है। इसीलिए किसी ने कहा है कि–

गाँव की भलाई के लिए, मनुष्य अपने कुल को छोड़ दे।
देश की भलाई के लिए, मनुष्य अपने गाँव को छोड़ दे।।
मानव समाज की भलाई के लिए, मनुष्य अपने देश को छोड़ दे।
विश्व की भलाई के लिए, मनुष्य अपना सर्वस्व छोड़ दे।।

संयमी का भक्ष्य-अभक्ष्य विचार–व्रती श्रावक अपने खाने-पीने की वस्तुओं को देखभाल कर ग्रहण करता है। जहाँ जीवों का घात हो या घात होने की संभावना हो, वह उन वस्तुओं को ग्रहण नहीं करता। यहाँ कुछ वनस्पतियों, फलों तथा रस त्याग के सम्बन्ध में वर्णन करना अपेक्षित है।

वनस्पति–यह एक इन्द्रिय जीव का शरीर माना गया है। इसके साधारण और प्रत्येक के रूप में दो भेद किये गये हैं–

1. **साधारण वनस्पति**–जिन जीवों के आहार, आयु, श्वासोच्छ्वास और काय साधारण अर्थात् समान और एक होते हैं, उन्हें साधारण वनस्पति कहते हैं। दूसरे शब्दों में एक शरीर के कई जीव भी होते हैं उन्हें साधारण वनस्पति या निगोद कहते हैं। यह भी दो प्रकार के होते हैं–1. नित्य निगोद और 2. इतर निगोद।

उदाहरण–समस्त जमींकन्द (आलू, गाजर, मूली, अरबी, अदरक आदि) साधारण वनस्पति को व्रती श्रावक नहीं लेता, क्योंकि इसको खाने में अनन्तानन्त जीवों के घात का दोष लगता है।

2. **प्रत्येक वनस्पति**–जिस वनस्पति का स्वामी एक ही जीव होता है उसे प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। उदाहरण–जो वनस्पतियाँ जमीन से ऊपर उगती है, जैसे–तोरी, घीया (लौकी), मटर, मिर्च, नींबू, आँवला आदि। प्रत्येक वनस्पति दो प्रकार की होती है।

अ. **सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति**–जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रय अनेक साधारण वनस्पति शरीर होते हैं, उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। जैसे–कच्ची लौकी, तथा कच्ची तोरी, कच्चे टिन्डे, पत्तेदार वनस्पति, कच्चे आम आदि।

ब. **अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति**–जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रय में कोई भी साधारण वनस्पति शरीर नहीं होते हैं, उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। जैसे–पकी लौकी, पकी तोरी, पकी ककड़ी, पके टिण्डे, पके खीरे आदि।
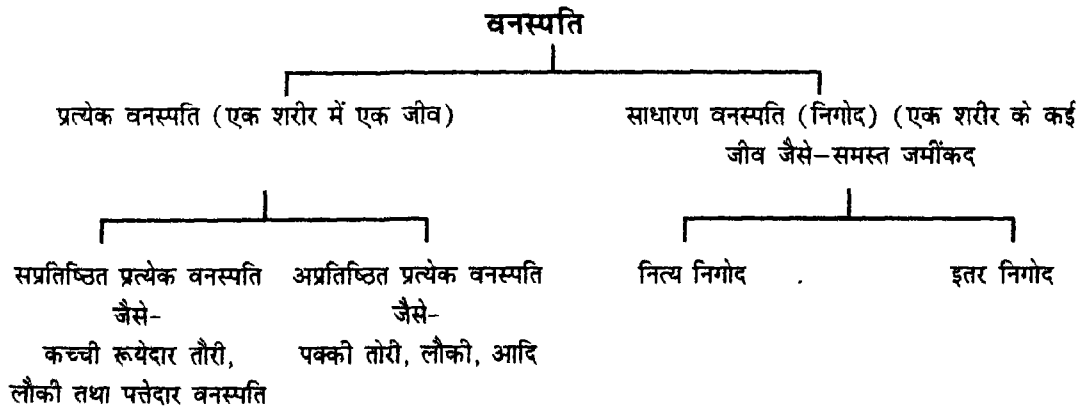
सद्गृहस्थ को अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति ग्राह्य

1. आजकल जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत होकर गृहस्थ अनेक वस्तुएँ खाने लगे हैं–जैसे टमाटर। यह बहुबीजा होता है। इसका बीज शौचालय में भी ज्यों का त्यों निकल जाता है तब भी अंकुर होने की शक्ति नष्ट नहीं होती। अत: टमाटर अभक्ष्य है।
2. सभी बड़े फल, जैसे–तरबूज, पेठा, कद्दू, आदि के गूदे में बीज पाये जाते हैं। इसलिए अभक्ष्य है। तरबूज का रंग भी घिनौना है।
3. हींग-हींगड़ा ये दोनों ही पेड़ में से काष्ठ फोड़कर निकलता है। अत: अभक्ष्य है।
4. भिण्डी नहीं लेनी चाहिए, इसके ऊपर रोम होते हैं, चौइन्द्रिय जीव बैठे रहते हैं, अत: अभक्ष्य है। अन्दर बीज गोल होता है तथा त्रस जीव अन्दर हो सकते हैं।
5. पपीता नहीं लेना चाहिए, यह क्षीरफल है, बहुबीजा है, अत: अभक्ष्य है।
6. पिण्ड खजूर अभक्ष्य है, क्योंकि इस पर मक्खी-मच्छर बैठकर उड़ते नहीं, चिपक कर मर जाते हैं।
7. आड़ू पर रोम होते हैं तथा गुठली के आश्रय में जीव पैदा हो जाते हैं, अत: अभक्ष्य है।
8. जामुन तथा बेर की गुठली के आश्रय जीव पैदा हो जाते हैं, अत: अभक्ष्य है।
9. लीची भी खाने योग्य नहीं है क्योंकि इसकी डन्ठल में जीव पैदा हो जाते हैं तथा इसका रंग (छीलने पर) भी सफेद है, अण्डे जैसा लगता है।
10. पत्थर बेल तथा कैथ के गूदे में गोल बीज होते हैं और तार भी छूटता है। गूदा ऊपर से चिपका रहता है। इसलिए खाने योग्य नहीं है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में यह उल्लेख आया है कि जिसका छिलका मोटा हो और गूदे से चिपका हो वह खाने योग्य नहीं है।
11. कटहल जिसकी सब्जी बनती है बिलकुल अभक्ष्य है, क्योंकि इस पर जीव बैठते ही चिपक जाते हैं, उड़ नहीं सकते, सब मर जाते हैं। यह दूधदार वृक्ष से प्राप्त होता है।
12. गौंद भी अभक्ष्य है क्योंकि इस पर त्रस जीव बैठते ही चिपक जाते हैं और मर जाते हैं।
13. परवल जिसकी सब्जी बनती है, यह बहुबीजा है और बीज भी गोल है, जीव पैदा हो जाते हैं, अत: अभक्ष्य है।
14. सिंघाड़ा, कसेरू तथा भिस आदि तालाब में पैदा होते हैं। इनके छिलके के आश्रय से जीव की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिए खाने योग्य नही है।
15. साबूदाना अभक्ष्य है क्योंकि शकरकन्दी (जमीकन्द) को सड़ाकर बनाया जाता है।
16. गोभी (फूल गोभी तथा पत्ता गोभी) अभक्ष्य है क्योंकि निगोदिया जीव के साथ-साथ त्रस जीव भी इनके आश्रय से रहते हैं।

17. टाटरी अभक्ष्य है क्योंकि वह गन्दे रसायनों से तैयार की जाती है।

18. हल्दी जमींकन्द है, जल में डालते ही जीवों की उत्पत्ति हो जाती है अतः अभक्ष्य है।

19. गोला कच्चा नहीं खाना चाहिए, उसका पानी भी नहीं पीना चाहिए।

20. सूखा गोला अच्छा हो तो ले सकते हैं, उसकी रंगत नहीं बिगड़नी चाहिए।

21. **द्विदल**–जिस खाद्य पदार्थ के दो दल बराबर-बराबर हो जायें उसे द्विदल खाद्य पदार्थ कहते हैं। जैसे–दाल, चना, सेम की फली आदि।

द्विदल के भेद–यह तीन प्रकार का होता है–

1. **अन्नद्विदल**–मूँग, मोठ, अरहर, मसूर, उर्द, चना आदि।
2. **काष्ठ या सूखे मेवाद्विदल**–बादाम, पिस्ता, जीरा, धनिया आदि।
3. **सब्जी या हरी द्विदल**–तोरई, लौकी, खीरा, ककड़ी, टिण्डा, सेम, करेला आदि घने बीज युक्त सब्जियाँ हैं। इस अपेक्षा से इन्हें द्विदल में गिना गया है।

उपर्युक्त खाद्य पदार्थों को पके-कच्चे दोनों प्रकार के दूध, दही तथा छाछ के साथ मिलाने पर तथा मुख की लार मिलने पर असंख्य सम्मूर्च्छन त्रस जीव राशि पैदा हो जाती है। इससे हिंसा होती है। अतः यह सर्वथा त्याज्य है, अभक्ष्य है।

रस त्याग–बहुत से त्यागी व्रत लेते हैं, किन्तु खाद्य पदार्थों में राग नहीं छूटा तो व्रत लेना बेकार है। उनका सच्चा त्याग नहीं कहा जा सकता है। जैसे– रविवार को नमक छोड़ा, किन्तु जवाखार ग्रहण किया, अर्थात् दो पैसे का नमक छोड़कर, हलवा, रसमयी खीर बनवाना यह सिद्ध करता है कि उनका राग नहीं छूटा अतः सच्चा त्याग नहीं कहा जा सकता। मंगलवार को मीठा छोड़ा 100 ग्राम, केवल रु. 1.50 का, किन्तु मुनक्का, किशमिश, पिंडखजूर, छुआरे का जमकर प्रयोग किया अर्थात् मीठे से राग छूटा नहीं है। अतः यह व्रती का त्याग सच्चा नहीं है। बुधवार को घृत छोड़ा, किन्तु गोले का तेल लिया अर्थात् घृत का राग नहीं छूटा? बृहस्पतिवार को दूध छोड़ा, किन्तु रबड़ी बनवा ली, या मुनक्का बादाम का निशास्ता बनवा लिया या कुछ कर पेड़े बनवा लिए तो यह दूध का त्याज्य नहीं है।

शुक्र तथा शनिवार को क्रमशः दही-छाछ तथा तेल का त्याग करना चाहिए और सोमवार को हरी का त्याग करते हैं, यदि इनसे राग नहीं छूटा तो सब व्यर्थ है।

कभी-कभी अनाज छोड़ देते हैं, 200 ग्राम अनाज, रु. 1.50 का छोड़ा किन्तु कुट्टू का आटा, सिंघाड़े की गिरि, चौलाई अनेक सामग्रियाँ इकट्ठी करना, यह सिद्ध करता है कि राग अन्दर गहरा बैठा हुआ है। इसलिए त्याग सच्चा नहीं है, मिथ्या है। किसी ने कहा है कि–

मूँड-मुँडाये तीन गुण, सिर की मिट जाये खाज।
खाने को हलुआ-मेवा मिले, लोग कहे महाराज।।

त्याग वही कर सकता है जिसका राग छूट गया हो। राग छूटे बिना त्याग नहीं हो सकता और त्याग करे बिना संयम धारण नहीं हो सकता। जीवन में संयम का बहुत महत्त्व होता है। संयम के बिना जीवन सुचारू रूप से चल ही नहीं सकता।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गृहस्थ को संसार में भटकाने के दो कारण हैं, एक तो पंचेन्द्रियों के और मन के विषय और एक छठ काय के जीवों का घात। इनको नियन्त्रित करना ही क्रमश: इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम कहलाता है। इन दोनों संयम को धारण करने के लिए श्रावक की ग्यारह प्रतिमा हैं, जिन्हें श्रावक अपनी शक्ति अनुसार पालता हुआ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है। संयमी गृहस्थ का जीवन सफल हो जाता है, इसके विपरीत इन्द्रियों के विषयों से अनुरक्त पुरुष के लिए विद्या, दया, द्युति, अनुद्धतता, सत्य, तप, नियम, विनय, विवेक सब व्यर्थ हो जाते हैं। बुद्धिमान पुरुष इन विषयों में आसक्त नहीं होते। जो इस संसार में अत्यन्त दुर्जेय इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है उसको संसार में कोई वस्तु एवं संपत्ति दुर्लभ नहीं होती। उसका जीवन प्रशंसनीय और बड़े-बड़े लोगों से पूजनीय हो जाता है। अत: सद्गृहस्थ को अपना जीवन सार्थक करने के लिए षट् आवश्यक का चौथा आवश्यक संयम को प्रतिदिन अपने जीवन में धारण करना अनिवार्य है।

संयम लिया है हमने, हर हद तक निभाएँगे।
कर्मों को अब तो हँस-हँसकर भगाएँगे।।
जियेंगे संयम की खातिर, समाधि लेंगे आत्महित में।
सबक संयम का, सारी दुनिया को हम सिखाएँगे।।

पाँचवाँ आवश्यक : तप

आज का विषय है–"पाँचवाँ आवश्यक 'तप'। किसी ने कहा है–

तप करते यौवन गयो, दरब गयो मुनिदान।
प्राण गये सन्यास में, तीनों गये न जान।।

इच्छा का दमन करना "तप" माना गया है। गृहस्थों की इच्छाएं असीम होती हैं। एक सद्गृहस्थ को अपनी इच्छाओं का दमन करने का पर्याप्त अवसर मिलता है। क्योंकि मानव को संसार के पंक में, कमल की भाँति विकसित होने के लिए तप करना अनिवार्य है।

जैसे–कमल कीचड़ से पोषक तत्त्वों को ग्रहण करके विकसित होता है, खिलता है, उसी प्रकार मानव का संसार में रहकर उससे वैराग्य के पोषक तत्त्वों को ग्रहण कर जीवन को विकसित करता हैं।

मानव का तप से ही यह सुन्दर रूप-रंग खिलता है। उसमें चमक और आत्मिक तेज प्रकाशित होता है। संसार रूपी कीचड़ में रहकर भी उसका मुख कीचड़ से ऊपर उठा रहता है। वह आत्मज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश की ओर उन्मुख रहता है। तप रूपी सूर्य के प्रखर ताप से तपकर ही वह उज्ज्वल कीर्ति प्रकट करता है। इस प्रकार वह इस संसार कीचड़ से ऊपर उठता हुआ, इस संसार के पापों से लिप्त नहीं होता। संसार पंक में रहता हुआ भी संसार में लिप्त नहीं होता ऊपर उठा रहता है, कमल की भाँति। कर्मरूपी मल से मुक्ति प्राप्त करने के लिए तप करना अनिवार्य है। ऐसे तप करने वाले को ही तापसी कहा जाता है। अपनी इच्छा से वह तपता है, कष्टों को प्रसन्नतापूर्वक सहता है। किसी प्रकार की कोई शिकायत नहीं करता। समस्त तपों के कष्टों को हृदय में संजोए उनसे अप्रभावित रहता हुआ शान्त और निश्चल बन जाता है।

मानव जीवन एक शुद्ध, स्वच्छ दर्पण के समान होता है। समय-समय पर, इस पर शुभाशुभ कर्मो की धूलि की परतें जमती रहती हैं, ये पर्ते तप की बुहारी द्वारा ही हटती हैं और तप रूपी बुहारी, आत्मा को स्वच्छ बनाने में परम् सहायक सिद्ध होती है। जो मानव आत्मारूपी दर्पण पर कर्म रूपी धूलि के कणों को जमने देते हैं, और तपरूपी बुहारी से साफ नहीं करते हैं, उनका आत्मरूपी दर्पण, दर्पण नहीं रह जाता, उनकी आत्मा, आत्मा नहीं रह जाती। उस आत्मा रूपी दर्पण पर परमात्मा का स्व-आत्मा का बिम्ब, बिंबित नहीं हो सकता। अत: आत्मा रूपी दर्पण को स्वच्छ रखने के लिए तप करना होगा। इच्छाओं का दमन करना होगा और तपस्वी बनकर आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना होगा और फिर आत्मा में ही रहना होगा। क्योंकि शरीर सतह है, गहराई तो आत्मा में होती है। जो सतह पर ही जीता हो, गहराई का आनन्द वह क्या जाने? निधि तो गहराई में ही होती है, इसलिए वह तपस्वी नहीं रह जाता, अपनी आत्मा में समा जाता है, वह सदा के लिए आत्मा को हो अपना निवास बना लेता है।

तप का अर्थ

आचार्य जयसेन प्रवचनसार-तात्पर्यवृत्ति में लिखते हैं कि-

समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तप:॥७९॥

समस्त रागादि पर भावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्व-स्वरूप में प्रतपन अर्थात् आत्मतेज या आत्मशक्ति की जागृति करना, विजयन करना तप है। दूसरे शब्दों में समस्त रागादि भावों के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप में, अपने में लीन होना अर्थात् आत्मलीनता द्वारा विकारों पर विजय प्राप्त करना तप है। यह निश्चय तप कहलाता है। कहा गया है कि 'इच्छा निरोधो तप:'।

आचार्य कुमार कार्तिकेय कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखते हैं-

इह पर लोय सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि सम भावो।
विविहं काय-किलेसं तवधम्मो णिम्मलो तस्य॥४००॥

जो समभावी इस लोक और परलोक के सुख की अपेक्षा न करके अनेक प्रकार का काय क्लेश करता है, उसके तप धर्म होता है। दूसरे शब्दों में अपनी शक्ति को न छिपाकर, मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश देना यथाशक्ति तप है। वह व्यवहार तप कहलाता है।

सद्गृहस्थ के षट् आवश्यकों के पाँचवें आवश्यक तप के सन्दर्भ में आचार्य पद्मनंदि कहते हैं-

पर्वस्वथ यथाशक्तिभुक्तित्यागादिकं तपः।
वस्त्रपूतंपिबेत्तोयं रात्रिभोजनवर्जनम्।।२५

(पद्मनंदिपंचविंशतिका-अ. 6)

श्रावक को पर्व के दिनों में (अष्टमी एवं चतुर्दशी आदि) अपनी शक्ति के अनुसार भोजन के परित्याग आदि रूप, जिसे अनशन कहते हैं, तपों को करना चाहिए। इसके साथ ही उन्हें रात्रि भोजन छोड़कर वस्त्र से छना हुआ जल पीना चाहिए।

पद्मपुराण-अ. 14 में आचार्य रविषेण कहते हैं-

नियमश्च तपश्चेति द्वयमेतन्न भिद्यते।।२४२।।
तेन युक्तो जनः शक्या तपस्वीति निगद्यते।
तत्रसर्व प्रयत्नेन मतिः कार्या सुमेधसा।।२४३।।

नियम और तप ये दो पदार्थ अलग-अलग नहीं है। जो मनुष्य नियम से युक्त है वह शक्ति के अनुसार तपस्वी कहलाता है, इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को सब प्रकार से नियम अथवा तप में प्रवृत रहना चाहिए।

तप के भेद

तप दो प्रकार का माना गया है-

(अ) बहिरङ्ग तप, (ब) अन्तरङ्ग तप।

(अ) **बहिरङ्ग तप**-जो तप बाहर से अन्यों को दिखाई दे कि यह तपस्वी है, उसे बहिरङ्ग तप कहते हैं। जैसे-कहीं दो व्यक्ति रहते हों तब एक व्यक्ति अपने भोजन में मीठा, घी, दूध, दही आदि रसों को छोड़कर भोजन करता हो, किन्तु दिन भर गृहस्थी के कार्यों में, कषायों में उलझा रहा। दूसरे व्यक्ति ने यद्यपि भोजन में सभी रस लिए हों, किन्तु दिन भर आध्यात्मिक चिंतवन मनन में व्यस्त रहा हो। तब रस छोड़ने वाला तपस्वी नहीं कहलायेगा।

यह वाह्य तप छह प्रकार का होता है जैसा कि आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थ सूत्र में लिखते हैं कि-

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः वाह्यं तपः।।9.19

(1) अनशन (2) अवमौदर्य (3) वृत्तिपरिसंख्यान, (4) रसपरित्याग (5) विविक्तशय्यासन (6) कायक्लेश। ये छह बाह्य तप हैं।

विशेष–यह तप के वाह्य भेद सम्यग्दृष्टि के हैं, मिथ्यादृष्टि के नहीं।

इनका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है–

1. **सम्यक् अनशन**–सम्यग्दृष्टि जीव के आहार के त्याग का भाव होने पर, विषय कषाय कम होते हैं जिससे, अन्तरंग में परिणामों की शुद्धि होती है, तब वह चारों प्रकार का आहार, अन्न, खाद्य, लेह और पेय का त्याग कर देता है। इसे सम्यक् अनशन तप कहते हैं।

2. **सम्यक् अवमौदर्य**–सम्यग्दृष्टि जीव के राग भाव दूर करने के लिए, जितनी भूख हो, उससे कम भोजन करने का भाव होता है। जब वह इस अन्तरंग परिणामों की शुद्धता सहित भूख से कम भोजन ग्रहण करता है तब उसे उसका सम्यक् अवमौदर्य तप कहते हैं।

3. **सम्यक् रसपरित्याग**–सम्यग्दृष्टि जीव के रसना इन्द्रिय सम्बन्धी राग का शमन करने के लिए, घी, दूध, दही, तेल, मीठा तथा नमक इन छह रसों में से यथाशक्ति त्याग करने का भाव बनता है, तब इस अन्तरंग परिणाम की शुद्धता सहित जो रस त्याग किया जाता है वह सम्यक् रसपरित्याग तप कहलाता है।

4. **सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान**–सम्यग्दृष्टि जीव के संयम के प्रयोजन, निर्दोष आहार लेने के लिए जाते समय, भोजन की वृत्ति तोड़ने वाले नियम करना, अटपटी आखड़ी लेना, परिणामों की शुद्धता सहित जाना, वह सम्यग्दृष्टि का सम्यक्वृत्तिपरिसंख्यान तप कहलाता है।

5. **सम्यक् विविक्तशय्यासन**–सम्यग्दृष्टि जीव के स्वाध्याय ध्यान आदि की प्राप्ति के लिए एकान्त निर्दोष स्थान में प्रमादरहित सोने, बैठने की वृत्ति होने पर अन्तरंग परिणामों की जो शुद्धता होती है, उसे विविक्तशय्यासन तप कहते हैं।

6. **सम्यक् कायक्लेश**–सम्यग्दृष्टि जीव के शारीरिक आसक्ति घटाने के लिए यह नियम लेना कि आज सामायिक इस आसन से करेंगे और उसमें उपसर्ग आ गया तो भी कदापि चलायमान नहीं होंगे, इतने अन्तरंग शुद्ध परिणामों सहित, उस समय वाह्य कष्टों को सह जाना, सामायिक कायक्लेश तप है।

(ब) **अन्तरङ्ग तप**–जो तप वाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं करते, अन्तःकरण के व्यापार से होते हैं, उन्हें अन्तरङ्ग तप कहते हैं। दूसरे शब्दों में जिस तप में बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रहती,

अन्तरङ्ग परिणामों की मुख्यता रहती है तथा जिनका स्वयं ही संवेदन होता है, वे तप अन्तरङ्ग तप कहलाते हैं। ये देखने में नहीं आते। यह अन्तरङ्ग तप छह प्रकार का होता है जैसा कि आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि–

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।। –त० सूत्र 9.20

सम्यक् प्रकार से–(1) प्रायश्चित (2) विनय (3) वैयावृत्य (4) स्वाध्याय (5) व्युत्सर्ग और (6) ध्यान। ये छह अन्तरङ्ग तप हैं।

विशेष–यह तप के अन्तरंग भेद सम्यग्दृष्टि के हैं, मिथ्यादृष्टि के नहीं। इसलिए सम्यक् प्रकार से कहा गया है।

छह अन्तरङ्ग तपों का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार हैं–

1. **सम्यक् प्रायश्चित**–प्रमाद अथवा अज्ञान से लगे हुए दोषों की शुद्धता करने से वीतराग स्वरूप के आलंबन के द्वारा जो अन्तरंग परिणामों की शुद्धता होती है, उसे सम्यक् प्रायश्चित तप कहते हैं।

2. **सम्यक् विनय**–अपने गुण में दीक्षा में, आयु में, ज्ञान में, एवं व्रत में जो अधिक हो उन पूज्य पुरुषों का आदर सत्कार करना, उच्चासनादि देना आदि करने पर वीतराग स्वरूप अन्तरङ्ग परिणामों की शुद्धता होती है, उसे सम्यक् विनय तप कहते हैं।

3. **सम्यक् वैय्यावृत्य**–शरीर तथा अन्य वस्तुओं से मुनियों की सेवा करने पर, वृद्ध-रोगी-दीन-अन्धा-लंगड़ा आदि की ग्लानि छोड़कर सेवा करने पर वीतराग स्वरूप के लक्ष्य द्वारा अन्तरङ्ग परिणामों की जो शुद्धता होती है, उसे सम्यक् वैय्यावृत्य तप कहते हैं।

4. **सम्यक् स्वाध्याय**–सम्यग्ज्ञान की भावना में आलस्य न करना, जिन शास्त्रों से स्व अर्थात् आत्मा का ज्ञान हो, ऐसे समीचीन पदार्थों के दर्शाने वाले शुद्ध निर्दोष शास्त्रों का अध्ययन करना, कराना एवं उसकी शिक्षा पर ध्यान रखना, जहाँ तक बने आत्मधर्म में शिथिलता न आने देना, इनमें वीतराग स्वरूप के लक्ष्य के द्वारा अन्तरङ्ग परिणामों की जो शुद्धता होती है, उसे सम्यक् स्वाध्याय तप कहते हैं।

5. **सम्यक् व्युत्सर्ग**–बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह के त्याग की भावना में वीतराग स्वरूप के लक्ष्य के द्वारा अंतरंग परिणामों की जो शुद्धता होती है, वह सम्यक् व्युत्सर्ग तप है।

6. **सम्यक् ध्यान**–चित्त की चंचलता को रोककर, तत्त्व के चिंतन में लगना, जिस समय सामायिक करते हैं, उस समय आध्यात्मिक चिंतन करना, बारह भावना भाकर चित्त को स्थिर करना और आत्मस्थ भावों में जितना हो उतना रमण करना, इसमें वीतराग स्वरूप

के लक्ष्य द्वारा अन्तरङ्ग परिणामों की जो शुद्धता होती है, सो सम्यक् ध्यान तप है।

इस प्रकार तप के कुल 12 भेद होते हैं, छह बाह्य तथा छह अन्तरङ्ग इन तपों को सद्गृहस्थ को अपनी भूमिकानुसार प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए।

तप के भेद

(1) वाह्य तप	(2) अन्तरंग तप
1. सम्यक् अनशन	1. सम्यक् प्रायश्चित
2. सम्यक् अवमौदर्य	2. सम्यक् विनय
3. सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान	3. सम्य+क् वैयावृत्य
4. सम्यक् रसपरित्याग	4. सम्यक् स्वाध्याय
5. सम्यक् विविक्तशय्यासन	5. सम्यक् व्युत्सर्ग
6. सम्यक् कायक्लेश	6. सम्यक् ध्यान

संयम तथा तप में अन्तर

संयम के अन्तर्गत इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण किया जाता है, जबकि तप के अन्तर्गत कषायों का शमन किया जाता है। इच्छाओं का दमन किया जाता है।

प्रतिदिन तप करने से, चाहे वह तप किसी भी रूप में किया जाये, उससे श्रावक की आत्मा परिष्कृत होकर विकसित होने लगती है। वही श्रावक आगे जाकर मुनिधर्म अंगीकार करता है। अपनी तपस्या के बल पर अन्यों को भी प्रभावित करता है। संसार में दो ही प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं। एक तो तालाब के समान होते हैं, जो एक स्थान पर बंद हैं, वहीं पर गन्दगी फैला रहे हैं, वहीं पर सड़ रहे हैं, और वहीं पर समाप्त हो रहे हैं। ये वे मानव हैं जो अपने जीवन में कोई तप नहीं करते, इनका जीवन व्यर्थ है। दूसरी ओर सरिता के समान भागते हुए लोग हैं, जो सागर को प्राप्त करने की आकांक्षा से भरे हुए हैं। ये वे लोग हैं जो तप करते हैं, तपस्वी कहलाते हैं। किन्तु सरिता के समान विश्व में ऐसे कितने लोग हैं? ये तो नहीं के बराबर हैं। जब संसार में सरिता के समान लोग रहते हैं तब उतना ही अधिक धर्म होता है, सुसंस्कृति होती है, तथा तालाब के समान लोग जितने बढ़ते जाते हैं संस्कृति उतनी ही अधिक विकृत होती जाती है, और अन्त में नष्ट हो जाती है। धर्म भी विलीन होता जाता है। यह सर्वविदित है कि आकाश में बदलियाँ

जब पानी से भर जाती हैं तब वे स्वतः ही बरस जाती हैं, या उन्हें फिर बरसना ही पड़ता है, क्योंकि बदलियों का स्वभाव ही बरसना है। जो पानी का निमित्त पाकर स्वयं को परिवर्तित करने को तैयार हो जाते हैं। वे हरे भरे वृक्ष के रूप में लहरा भी जाते हैं तथा दूर-दूर तक अपनी शाखाओं को फैला देते हैं। जिस पर हरे-हरे पत्ते एवं फल भी लग जाते हैं। मिट्टी के कण भी बरसात का पानी पाकर हरी-हरी घास को अंकुरित कर चारों ओर अपनी हरियाली को बिखेर देते हैं और सुमन की सुवास स्वतः ही चारों ओर फैल जाती है, फैलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। फूलों का स्वभाव है अपनी सुवास को फैलाना, बस तपस्या का भी यही स्वभाव होता है। कहा गया है कि-

नदी की शोभा रेत से नहीं, पानी से होती है।
पेड़ की शोभा पत्तों से नहीं फलों से होती है।।
पर्वत की शोभा पत्थरों से नहीं हरे-भरे वृक्षों से होती है।
मनुष्य जन्म की शोभा विषय-भोगों से नहीं तप-संयम से होती है।।

तप का फल

जो तप सम्यक्दर्शन सहित किया जाता है वह निश्चय ही मोक्ष को प्राप्त कराने वाला होता है। तप चारित्ररूप होने से मोक्षमार्ग बनता है, जिसपर चलकर तपस्वी मोक्ष को प्राप्त करता है। यह बात निम्न दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाती है।

सेठ सुदर्शन का ध्यान तप

चम्पापुरी नामक नगरी में एक बहुत प्रतापी एवं कामदेव के समान रूपवान, गुणवान सेठ सुदर्शन रहते थे। एक दिन युवा सेठ सुदर्शन अपने मित्रों के साथ घूमने के लिए निकलते हैं। वहाँ वे एक मनोरमा नामक कन्या को देख उसपर मोहित हो जाते हैं। जब उनके पिता श्रेष्ठी वृषभदास जी को पता चलता है तो वे सुदर्शन का विवाह मनोरमा के साथ करवा देते हैं। कुछ समय बाद उनके सुकान्त नामका पुत्र उत्पन्न होता है।

सुदर्शन के माता-पिता अपना सारा गृहभार सुदर्शन को सौंपकर दीक्षित हो जाते हैं। सेठ सुदर्शन अपने धार्मिक षट् आवश्यकों को अच्छी तरह पालन करते थे और अष्टमी एवं चतुर्दशी को गृहत्याग कर प्रोषधोपवास करते थे। रात्रि में मुनि सदृश सर्वपरिग्रहों का त्याग कर एकान्त स्थान श्मशान में कायोत्सर्ग अवस्था में आत्मध्यान किया करते थे। वे सम्यग्दर्शन में दृढ़ थे।

एक बार उनके मित्र कपिल की स्त्री कपिला सेठ सुदर्शन पर मोहित हो जाती है। इसका पति जब बाहर गया हुआ था, तब वह मौका देखकर छल से सुदर्शन सेठ को अपने घर बुला लेती है और अपना प्रयोजन उसे बता देती है। सेठ सुदर्शन कहता है कि मैं नपुंसक हूँ, इस प्रकार कहकर वह अपने शील की रक्षा कर लेता है।

एक बार राजा प्रजा को आदेश देता है कि वसंत ऋतु की छटा बहार देखने को नगर का भ्रमण करना है। राजा हाथी पर आगे-आगे चल रहे हैं, उनके पीछे उनकी रानी का रथ और उसके पीछे सेठ सुदर्शन का रथ चला जा रहा है। सेठ सुदर्शन अपने परिवार सहित रथ पर सवार थे। रानी की दृष्टि जब सेठ सुदर्शन पर पड़ती है तो वह उस पर मोहित हो जाती है। उसके पास बैठी उसकी सखी कपिला सब समझ जाती है तब वह कहती है कि वह तो नपुंसक है। तब रानी कहती है कि यदि सेठ नपुंसक होता तो इसके यह पुत्र कैसे होता? यह सोच महल में जाकर धाय के द्वारा वह सुदर्शन को अष्टमी के दिन श्मशान से उठाकर महल में बुला लाती है। वहाँ वह अपना मन्तव्य पूरा करने की सभी कुचेष्टाएँ करती है, किन्तु सेठ सुदर्शन अपने शील में दृढ़ रहते हैं। जब रानी का उद्देश्य सुबह तक पूर्ण नहीं हुआ तब वह भयभीत होती है कि अब क्या होगा? यह सोच वह अपना सारा शरीर नाखूनों से नोंच लेती है, कपड़े आदि फाड़ लेती है और चिल्लाने लगती है कि बचाओ-बचाओ, यह पापी मेरा शील लूटने आया है। बड़ा धर्मात्मा बनता है, यह ढोंगी है, पापी है। राजा के सत्य बात पूछने पर भी सुदर्शन सेठ कुछ नहीं बोलता है। ध्यान में लीन खड़ा रहता है, तब राजा सेवकों को आदेश देता है कि इसे मृत्यु स्थल पर ले जाकर फाँसी लगा दो।

मृत्यु स्थल पर सेठ सुदर्शन को ले जाकर खड़ा कर दिया जाता है। वे ध्यान में लीन हैं, जब सेवक फाँसी लगाने लगते हैं तब देखते हैं कि फाँसी का फंदा फूलों का हार बन जाता है। शूली सिंहासन बन जाती है। चारों ओर शीलवान की जय-जय आदि के नारे लगने लगते हैं। सेवक गण यक्षों द्वारा कील दिये जाते हैं। जब राजा को पता चलता है तो वह वहाँ अपनी विशाल सेना सहित पहुँचता है और यक्षों को युद्ध के लिए ललकारता है। युद्ध होता है और राजा पराजित हो भागने लगता है। वह सेठ सुदर्शन के पास आता है और उसके चरणों में गिर पड़ता है। कहने लगता है–हे शीलवान! मेरी रक्षा करो। तब सेठ सुदर्शन की आज्ञा से यक्ष उसे और उसके सेवकों को मुक्त कर देते हैं।

इधर रानी को जब पता चलता है कि सेठ सुदर्शन बच गया है, मारा नहीं गया तब वह भयभीत हो फाँसी लगा कर आत्मघात कर लेती है। रानी की धाय भी डर के मारे भाग कर पटना में देवदत्ता नामक वेश्या के पास रहने लग जाती है। जब सुदर्शन के बारे में वह उसे बताती है तो सुनकर वह भी उस पर मोहित हो जाती है।

इधर सेठ सुदर्शन संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हो अपने पुत्र सुकान्त को सारा गृहभार सौंपकर विमलवाहन मुनिराज से दीक्षित हो जाते हैं और निरतिचार 28 मूलगुणों का पालन करते हुए आत्मध्यान करने लगते हैं।

अब एक बार सुदर्शन महाराज पटना नगर के उद्यान से आहार के लिए नगर को निकलते हैं। तब वह रानी की धाय उन्हें देखकर देवदत्ता वेश्या को बताती है। देवदत्ता मायाचारी से श्राविका का रूप बनाकर मुनिराज सुदर्शन को पड़गाह लेती है। अन्दर ले जाकर वह मुनिराज के शरीर से कई कुचेष्टाएँ करती है किन्तु मुनिराज अपने शीलव्रत में दृढ़ रहते हैं। जब उसका मन्तव्य सिद्ध नहीं होता तब वह मुनिराज को मर्मछेदी वचन कहने लगती है। मुनिराज शान्त रहते हैं। तब वह मुनिराज के चरणों में गिर जाती है और क्षमा माँगने लगती है। मुनिराज क्षमा कर देते हैं। धर्म का उपदेश और आशीर्वाद देते हैं। अन्त में सुदर्शन महाराज वापस लौट जाते हैं और ध्यान मग्न हो जाते हैं। अपने चारों घातियाँ कर्मों का नाशकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और अन्तत: मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

इस दृष्टान्त से यह सिद्ध हो जाता है कि जो सद्गृहस्थ अपने षट् आवश्यकों को पालता हुआ तप करता है वह भविष्य में मुनिधर्म स्वीकार कर अन्त में मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए सभी श्रावकों को यह तप प्रतिदिन आवश्यक रूप से तपना चाहिए।

मन की तपन न मिटा सकेंगे वासना के ये ईंधन।
वासना के त्याग से ही मिलेगा जीवन धन॥
होंगे वे कितने सुखद क्षण कर पायें यदि।
एक आत्मा की सकल सत्ता को सफल समर्पण॥

राजा श्रेणिक के पुत्र वारिषेण भी गृहस्थ में रहते हुए सम्यक्दर्शनपूर्वक षट् आवश्यकों का यथायोग्य पालन करते थे और अष्टमी-चतुर्दशी को आत्मध्यान करते थे; अन्त में मुनिधर्म अंगीकार करते हुए उत्कृष्ट आत्मध्यान कर अपने समस्त कर्मों का क्षय कर मोक्ष को प्राप्त हुए। यह आदर्श प्रत्येक श्रावक को अपने जीवन में प्राप्त करना चाहिए।

तप का महत्त्व–निर्दोष तप से सब कुछ प्राप्त हो जाता है। जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि तृण को जलाती है, वैसे तपरूप अग्नि कर्म रूपी तृण को जलाती है। उत्तम रूप से किया गया कर्मास्रिव रहित तप के फल का वर्णन करने में हजार देवों की जिह्वा भी समर्थ नहीं है, ऐसा तप का महत्त्व है।

तप से सभी अर्थों की सिद्धि होती है। इससे ऋद्धियों की प्राप्ति होती है। तपस्वियों के चरण से पवित्र स्थान भी तीर्थ बन जाते हैं। कहा है जिसके तप नहीं वह तिनके से भी लघु है; उसे सब गुण छोड़ देते हैं, वह संसार से मुक्त नहीं होता है।

तप का महत्त्व बताते हुए पं. द्यानतराय जी दशलक्षण पूजा में लिखते हैं कि-

तप चाहैं सुरराय, करम शिखर को वज्र है।
द्वादश विध सुखदाय, क्यों न करैं निज सकति सम॥
उत्तम तप सब माहिं बखाना, करम-शैल को वज्र समाना॥

जिस तप को देवराज इन्द्र भी चाहते हैं, जो तप कर्मरूपी पर्वतों को भेदने वाला है, वह बारह प्रकार का तप वास्तविक सुख प्रदान करने वाला है; उसे हम शक्ति के अनुसार क्यों न करें? अर्थात् इस मनुष्य भव में हमें यह बारह प्रकार का तप अवश्य तपना चाहिए, क्योंकि यही संसार को छेदने वाला है।

यहाँ यह बात समझने की है कि तप में राग को घटाया जाता है। तपस्वी का मोह पहले ही नष्ट हो चुका होता है। वह सम्यक्त्व प्राप्त किये हुए होता है, तत्पश्चात् तप को करता है तभी वह सम्यक् तप कहलाता है जो उसे मोक्ष प्रदान करता है। यदि वह सम्यक्त्व के बिना करोड़ों वर्षों तक भी तप करे तब भी वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। यही भाव पं. दौलतराम भी व्यक्त करते हैं

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माँहि, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते॥४॥

सम्यग्ज्ञान के बिना अज्ञानी जीव बाल तप के द्वारा करोड़ों जन्मों में तप करके जितने कर्मों को दूर करता है, उतने कर्मों को ज्ञानी जीव अपने मन-वचन और काय इन तीनों को वश में करके तप द्वारा क्षण भर में ही नष्ट कर देता है। इस प्रकार तप की जीवन में बहुत महिमा है। तप साक्षात् मुक्ति का कारण है। यह बात इस दृष्टान्त से भी स्पष्ट हो जाती है।

शिवकुमार का वैराग्य

पूर्वविदेह के पुष्कलावती देश में एक वीतशोकापुरी नाम का एक नगर है। यहाँ का चक्रवर्ती राजा महापद्म महा बलवान था। उसकी एक वनमाला नाम की रानी थी। कुछ समय बाद इनसे एक पुत्र उत्पन्न होता है, जिसका नाम शिवकुमार रखा जाता है। यह बालक "यथा नाम तथा गुण" सम्पन्न था। जब बालक आठ वर्ष का हुआ तब वह बालक व्याकरण, साहित्यादि शास्त्रों को अर्थ सहित पढ़ने लग जाता है। आगे चल यही बालक शस्त्रविद्या, संगीत, नाटक आदि अनेक विद्याओं में कुशलता प्राप्त कर लेता है। कुमार अवस्था को पार कर यौवन अवस्था देख पिता महापद्म इनका विवाह अति सुन्दर एवं योग्य पाँच सौ कन्याओं के साथ बहुत ही हर्षोल्लास के साथ कर देता है। शिवकुमार सभी विद्याओं में निपुण होने के कारण राजकुमार यौद्धाओं के साथ

मित्रों के साथ, वैद्यों के साथ और कभी ज्योतिषियों के साथ नाना प्रकार के कार्यों को करते थे। पवित्र जिनमन्दिर में जाकर प्रतिदिन जिनेन्द्र पूजन आदि करता और इस प्रकार अपने गृहस्थ के षट् आवश्यकों का वे यथायोग्य पालन करते थे।

एक दिन शिवकुमार चारणऋद्धि मुनिराज के पास जाते हैं तो इनको अपना पूर्व भव स्मरण हो आता है। इस जातिस्मरण से इनको वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। घर आने पर पिता से कुछ नहीं कहते, उदास रहने लगते हैं। एक दिन अपने मित्र से कहते हैं कि मैं आदि अनन्त अपरिमित अतीन्द्रिय सुख की दात्री जैनेश्वरी दीक्षा लेना चाहता हूँ, और माता-पिता मुझे वीतरागी पथ पर जाने से रोकेंगे, मेरे ऊपर प्रतिबंध लगाएंगे, परन्तु अब मैं एक क्षण भी उसमें फँसना नहीं चाहता हूँ। इनका मित्र यह सब स्थिति समझ जाता है तथा राजा से सब वृतान्त कह सुनाता है। राजा महापद्म पुत्र को बुलाते हैं तथा समझाते हैं कि जैसे तुम प्राणियों पर दया कर रहे हो, ऐसे ही मुझ पर भी दया करो। तुम तप अंगीकार करके अपने घर में ही एकान्त स्थान में रहकर शक्ति अनुसार तप करो, जिससे तुम्हारी साधना भी होती रहे और हम तुम्हें देखते भी रहें, जब तुम्हारे मन में राग-द्वेष नहीं तब वन या घर सभी समान हैं।

पिता के मर्मान्तक वचन सुनकर शिवकुमार दुविधा में पड़कर विचारने लगे-कि यह कैसी विडम्बना! अति महादुर्लभ वैराग्य पाकर भी आत्माभ्यास के बिना एवं कषायोदय की तीव्रता के वश मेरा मन पिता के वचनों में अटक रहा है। भले ही कुछ समय के लिए मेरा राग तीव्र हो ले, परन्तु मैं अन्तत: तो सकल संयम धारण कर आत्महित करूँगा। इस प्रकार शिवकुमार पिता की आज्ञानुसार घर में रहकर आत्माभ्यास करने पर सहमत हो जाते हैं।

अब शिवकुमार मुनिराज से श्रावक के अणुव्रत स्वीकार कर लेते हैं, और संसार, देह भोगों और सर्वजनों से विरक्त हो, महल के ही उद्यान में एकान्तवास करने लगते हैं। अपने ब्रह्मस्वरूप में लीन रहने लगते हैं। वैरागी शिवकुमार रानियों आदि को भूल जाते हैं और 'जल से भिन्न कमल' की भाँति घर में रहते हैं। सचमुच सम्यग्ज्ञान की अद्‌भुत महिमा है।

अनाहारी पद की साधना में रत ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले शिवकुमार कभी एक उपवास, कभी दो उपवास, कभी एक पक्ष के उपवास तो कभी एक माह के उपवास के बाद शुद्ध प्रासुक आहार लेते हैं और उग्रतप करते हुए काम, क्रोधादि विकारी भावों को नष्ट कर 64000 वर्ष तक घर में तप किया और आयु के अन्तिम समय में अतीन्द्रिय आनन्दमयी परम दिगम्बर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करते हुए, मुनिपद को शोभायमान किया। एक दिन जितेन्द्रिय मुनिराज चारों प्रकार के आहारों का त्यागकर आत्माधीन हो नश्वर काया को त्यागकर देव पद को प्राप्त कर लेते हैं और नियम से मोक्षपद को प्राप्त करने के अधिकारी होंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जो सद्‌गृहस्थ घर में रहकर भी तप करता है, षट् आवश्यकों का पालन करता है वह एक दिन मुनिपद प्राप्तकर इस संसार सागर से छूट जाता है। 'तपसा निर्जरा च।' तप निर्जरा और संवर का कारण है- ऐसा आचार्य उमास्वामी ने कहा है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि जिसके द्वारा दु:ख रूप संसार छूट जावे वह तप है। वह तप निर्मल अनन्त सुख का प्रधान कारण है, और दु:ख रूप अग्नि के लिए मेघ के समान है। तप का मुख्य उद्देश्य मोह रूप अन्धकार को दूर करके दु:खान्त संसार का उच्छेद् करना है। इच्छाओं को नष्ट करके, मोह को मिटाकर, छोड़कर किया गया तप इस जीव को संसार से पार उतारने में सक्षम है। मोह का त्याग होने के पश्चात् राग को घटाने हेतु संयम धारण किया जाता है, तप तपा जाता है। यह संयम तप मुनियों को सर्वदेश होता है किन्तु गृहस्थों का एकदेश होता है। किन्तु लक्ष्य एक ही रहता है।

जो जीव अभिलाषाएं छोड़कर तपस्या करता है उसको इस लोक में व परलोक में भी सुख की प्राप्ति होती है। अभिलाषा एवं परिग्रह ये सब मोह जन्य हैं। तप यद्यपि कुछ भयावह प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, यदि अन्तरङ्ग वीतरागता व साम्यता की रक्षा व वृद्धि के लिए किया जाये तो तप एक महान् धर्म सिद्ध होता है। क्योंकि वह दु:खदायक न होकर आनन्ददायक होता है। इसलिए ज्ञानी शक्ति अनुसार तप करने की नित्य भावना भाते हैं और प्रमाद नहीं करते। तप द्वारा अनादि के बँधे कर्म व संस्कार क्षण भर में विनष्ट हो जाते हैं। सम्यक् तप अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक किया गया तप का मोक्षमार्ग में बहुत बड़ा महत्त्व है। इसी कारण गुरुजन शिष्यों के दोष दूर करने के लिए कदाचित् प्रायश्चित रूप में भी उन्हें तप करने का आदेश देते हैं। तप ही एक ऐसा उपाय है जिसके द्वारा क्रोध, मान आदि कषाओं और पंचेन्द्रिय विषयों को आसानी से जीता जा सकता है। वस्तुत: तप के अभाव में जीवन अधूरा है। जीवन को परिपूर्ण रूप से परिपक्व बनाने वाला मात्र 'तप' ही है। सम्यक्तप अर्थात् सम्यक्दर्शन पूर्वक तप करना प्रत्येक श्रावक का प्रतिदिन का कर्तव्य होना चाहिए। उसे अपने षट् आवश्यकों को पूर्ण करने के लिए जीवन को तपमय बनाना होगा। यह मनुष्य पर्याय बहुत दुर्लभता से प्राप्त हुई है, इसे यूँ ही नहीं गँवाना चाहिए। इसीलिए किसी ने कहा है कि–

काय पाय कर तप नहीं कीना, आगम पढ़ नहीं मिटी कषाय।
धन को पाय दान नहीं दीना, काहे जगत् में आये।
चार बात यह मिलनी कठिन हैं, शास्त्र, ज्ञान, धन, नर पर्याय॥

छठवाँ आवश्यक : दान

दान का अर्थ है देना। इस लोक में जड़ व चेतन सब ही पदार्थ एक-दूसरे को कुछ न कुछ दे रहे हैं। एक वन में बैठा हुआ साधु शान्ति दे रहा है, एक जंगल में बैठा डाकू भय दे रहा है। एक झाँसी की रानी व सुभाष चन्द बोस का चित्र तुम्हें साहस-हिम्मत दे रहे हैं, वीतराग भगवान की मूर्ति वीतरागता दे रही है। वेश्या का चित्र वासना देता है तो साध्वी का चित्र साध ना। इस प्रकार सभी इस संसार में कुछ न कुछ किसी को दे रहे हें। यह स्वत: दान की क्रिया अनादिकाल से चली आ रही है। इसके साथ ही कुछ क्रियाएं पुरुषार्थपूर्वक भी की जाती हैं।

पात्र को आवश्यकतानुार कुछ देना, बालक को, युवा को, वृद्ध को उनकी आवश्यकतानुसार कुछ देना, पशु-पक्षियों को उनकी आवश्यकतानुसार कुछ देना, बिना माँगे देना, अपनी स्वयं की सन्तुष्टि के लिए अपना कुछ देना, और यहाँ तक कि पेड़-पौधों को भी देना-दान के क्षेत्र में आता है। प्रत्येक को पुरुषार्थपूर्वक अपना कुछ देना दान कहलाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि आप धनवान हैं, आपको दान में क्या देना है?

आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र-अ. 7 में लिखते हैं-

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्॥३८॥

उपकार के लिए धन आदि अपनी वस्तु को देना दान है। अनुग्रह का अर्थ है अपनी आत्मा के अनुसार होने वाला उपकार का लाभ। स्वयं के आत्मा को लाभ हो इस भाव से किया गया कोई कार्य यदि दूसरे के लाभ के निमित्त हो जाये वह पर का उपकार हुआ। वास्तव में अनुग्रह 'स्व' का है, पर तो निमित्तमात्र है।

उपर्युक्त सूत्र में स्व-शब्द का अर्थ धन से है, और धन का अर्थ होता है-'अपने स्वामित्व या अधिकार की वस्तु।' इस प्रकार जो अपने अधिकार में वस्तु है उसमें से कुछ देना दान है। दान में परोपकार का भाव मुख्य रहता है और अपने उपकार का गौण। दान एक व्यवहार धर्म है। धनादि पर पदार्थ जिन पर लोकदृष्टि से अपना अधिकार है, व्यवहार से अपने हैं; उन्हें अपना जानकर ही दान दिया जाता है। लेन-देन व्यवहार है निश्चय में लेन-देन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

दान के भेद

पात्र की स्थिति को ध्यान में रखते हुए आचार्य जिनसेन ने चार प्रकार के दान कहे हैं।

चतुर्धा वर्णिता दत्तिः दयापात्रसमन्वये॥

-महापुराण

अर्थात्-(1) दयादत्ति (2) पात्रदत्ति (3) समदत्ति और (4) अन्वयदत्ति (सकलदत्ति)। ये चार प्रकार की दत्ति या दान माने गये हैं।

1. **दयादत्ति**-महापुराण में उपकार करने योग्य प्राणियों के समूह पर दयापूर्वक मन-वचन-कर्म की शुद्धि के साथ उनके भय दूर करने को दयादत्ति कहा गया है। वह करुणा का दान कहलाता है।

जो गिरते को ऊपर उठाये, उसे सहारा कहते हैं।
जो डूबते को पार लगाये, उसे खेवन हारा कहते हैं॥
सुख में हमदर्द सारे, नजर आते हैं यहाँ।
कष्टों में जो काम आये, उसे कष्टहारा कहते हैं॥

दु:खी, दरिद्री, लंगड़ा, अंधा, बधिर, काना, कोढ़ी, उन्मत्त (पागल), मकान रहित, परिवार रहित, बीमार, अतिवृद्ध, पशु-पक्षी आदि समस्त जीवों पर दया करना दानियों का परमकर्तव्य है। औषधालय, भोजनशाला, विद्यालय, अनाथालय आदि खुलवाना इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

2. **पात्रदत्ति**–आचार्य जिनसेन के अनुसार महानपस्वी मुनियों के लिए सत्कारपूर्वक पड़गाह कर जो आहार आदि दान दिया जाता है, उसे पात्रदत्ति कहते हैं। यह भक्तिदान कहलाता है।

अ. **सुपात्र**
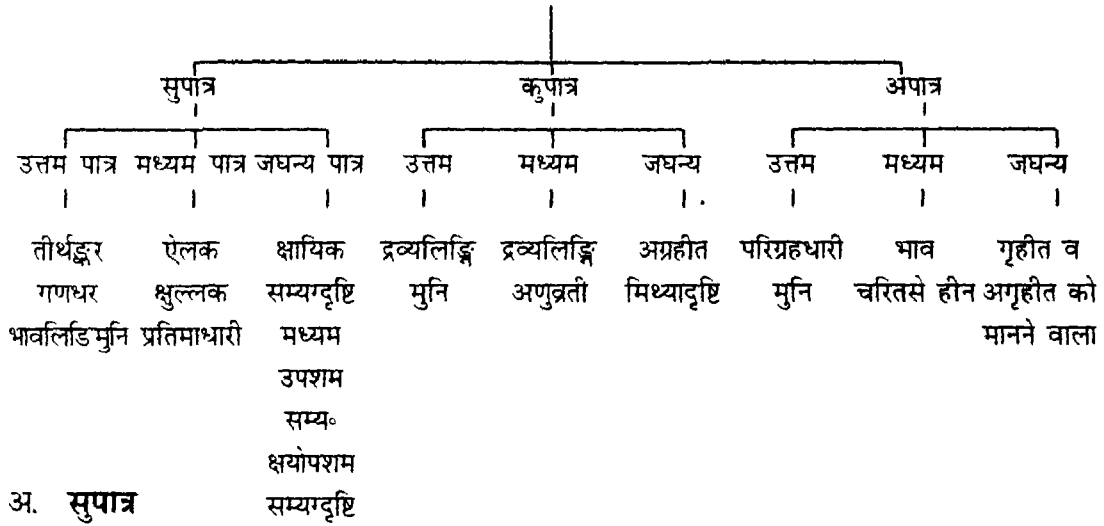
सम्यग्दर्शन सहित मुनि को उत्तमपात्र–सम्यग्दर्शन सहित अणुव्रती श्रावक को मध्यम पात्र और अव्रती सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहते हैं।

उत्तम सुपात्र का स्वरूप–जो षट् जीवों की रक्षा करता हो, परोपकार में तत्पर रहता हो, हितमित वचन बोलता हो, परधन को निर्माल्य की तरह मानता हो, दाँत साफ करने के लिए तिनका तक नहीं उठाता हो, पशु, मनुष्य, देव, और अचेतन के भेद से 18000 शील के भेदों को पालता हो, प्रासुक मार्ग से चलकर चार हाथ भूमि देखकर जीवों की रक्षा करते हुए गमन करता हो, 46 दोषों को टालकर नवकोटि से विशुद्ध आहार करता हो, सरस तथा विरस आहार में समान बुद्धि रखता हो, किसी को बाधा न पहुँचाते हुए प्रासुक तथा गुप्त स्थान में मल-मूत्र करता हो, चित्त को वश में रखता हो, कर्मों के क्षय के लिए कायोत्सर्ग करता हो, कृत्य और अकृत्य को जानता हो अर्थात् कुल मिलाकर मुनिधर्म के 28 मूलगुणों को यथायोग्य पालता हो, वह ही सुपात्र कहलाता है।

मध्यम सुपात्र का स्वरूप–जो सम्यग्दृष्टि जीव एक से लेकर ग्यारह प्रतिमाओं को निरतिचार पालता हो, उसे मध्यम सुपात्र कहते हैं।

जघन्य सुपात्र का स्वरूप–जो सम्यग्दृष्टि (क्षायिक, उपशम और क्षयोपशम तीनों) आठ प्रकार के भयों से मुक्त हो अर्थात् इसलोक का भय, परलोक का भय, मरण का भय वेदना का भय, अनरक्षा का भय, अगुप्ति का भय, अकस्मात् का भय–इनसे मुक्त हो और संसार, शरीर और भोगों से विरक्त रहता हो, निरन्तर अपनी निन्दा-गर्हा करता हो। स्व-पर भेद विज्ञानी हो चुका हो, जिसकी तत्त्वदृष्टि हो, पर्यायदृष्टि न हो, कुछ लोक व्यवहार भी करता हो परन्तु व्रताचरण की ओर नहीं लगा है, अव्रती है, उसे जघन्य सुपात्र कहते हैं।

ब. **कुपात्र**

जो सम्यग्दर्शन से रहित हो, मिथ्यादृष्टि हो, जैसा सुपात्र, उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से आचरण पालते हैं वैसा वह भी पालता हो। उसे क्रमशः उत्तम कुपात्र (द्रव्यलिंगी, मुनि), मध्यम कुपात्र (द्रव्यलिंगी अणुव्रती), और जघन्य कुपात्र (अगृहीत मिथ्यादृष्टि) कहते हैं।

स. **अपात्र**

जो घोर मिथ्यात्वी जीव, व्रतशील, संयम से भी रहित हो, वे अपात्र कहलाते हैं। इनके भी तीन भेद–उत्तम अपात्र (परिग्रहधारी मुनि), मध्यम अपात्र (भाव व चरित्र से हीन), और जघन्य अपात्र (गृहीत व अगृहीत को मानने वाला) होते हैं। अन्य मतावलम्बी कुछ अपात्रों पर दृष्टिपात करें–

लीनों कहाँ जोग जोरो, भोग से न मुख मोड़ो,
लोक को रिझायेवे को, धूम्रपान गतकै।
कोई शीश घोर जटा, कोई तो उतारे लटा,
कोई कनफटा, कोई क्रिया में ही अटका।
कोई मठवासी, कोई होई के संन्यासी परतीर्थ में अटका,
ब्रह्म कोई चीनो नहिं, मन बस कीनो नाहिं;
ऐते पर होते कहाँ, थोथे ज्ञान फटका।।

3. **समदत्ति**–महापुराण में आचार्य जिनसेन ने कहा कि क्रिया, मन्त्र और व्रत आदि से जो अपने समान हैं तथा जो संसार समुद्र से पार कर देने वाला कोई उत्तम गृहस्थ है, उसके लिए धन-सम्पत्ति, रथ, रत्न, जमीन, सुवर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्र के लिए समान बुद्धि से श्रद्धा के साथ जो दान दिया जाता है, वह 'समदत्ति' समानदत्ति कहलाता है। दूसरे शब्दों में अपने समान धर्मात्मा अव्रत सम्यग्दृष्टि श्रावक को सम्पत्ति, धन, मकान, दुकान, रोजगार देना और अन्य प्रकार से उनका उपकार करना, जिससे वे धर्म साधन में दृढ़ बने रहें, धर्म से च्युत न हों, उसे समदत्ति समानदत्ति कहते हैं।

4. **अन्वयदत्ति या सकलदत्ति**–महापुराण के श्लोक 40, 41 में आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि अपने वंश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र को कुल तथा धन के साथ अपना कुटुम्ब समर्पण करने को अन्वयदत्ति या सकलदत्ति कहते हैं।

अगर चाहते हो धन की रक्षा, धनवानो बनो दानी।
कुएँ से जल नहीं निकलेगा, सड़ जायेगा सब पानी।।

प्रत्येक सद्गृहस्थ को दान करना उसका कर्तव्य है। ये चार प्रकार के दान पात्रों की अपेक्षा से बताये गये हैं। सद्गृहस्थ वस्तु की अपेक्षा क्या दान करें, इस अपेक्षा से दानों को चार भागों में विभक्त किया गया है। आचार्य समन्तभद्र ने बताया है कि–

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः।।

– रत्नकरण्डश्रावकाचार, 117

आहारदान, औषधदान, अभयदान और ज्ञानदान ये चार वैयावृत्य के प्रकार हैं, गृहस्थ को ये चार दान करना चाहिए। इनका विशेष वर्णन निम्न प्रकार है–

1. **आहार दान**–उत्तम योग्य पात्रों को आहार देकर उनकी क्षुधा को शान्त करना, आहार दान है। अन्य गरीबों को, पशु-पक्षियों को भोजन देना, दयादत्ति के अन्तर्गत आहार दान है।

2. **औषधदान**–मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविकाओं को शुद्ध औषधि दान करना, औषध दान है। औषधालय खुलवाना, रोगियों की सेवा करना, उन्हें स्वस्थ करने के साधन जुटाना, दयादत्ति दान के अन्तर्गत आ जाता है। यह दान करने से निरोग शरीर प्राप्त होता है।

3. **अभयदान**–पात्रों के लिए वसतिका आदि बनवाना, जिन कारणों से अन्य पुरुषों का भय दूर हो, उन कारणों का योग करना, दूसरों को भयभीत नहीं करना, चाहे वे मनुष्य हो या पशु-पक्षी, एक इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की रक्षा करना, अभयदाय (दयादत्ति) के अन्तर्गत आ जाता है।

4. **ज्ञानदान**–पात्रों को शास्त्र देना, शास्त्रों का प्रकाशन करवाना आदि पात्रज्ञानदान कहलाता है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार से अन्य पुरुषों की बुद्धि, विद्या एवं ज्ञान की वृद्धि हो उस प्रकार के कार्य करना, इनसे सम्बन्धित साधन जुटाना, विद्या अध्ययन करवाना पाठशालाएँ खुलवाना, विद्यालय खुलवाना, बच्चों को बड़ों को पुस्तकें देना, उच्चशिक्षा के लिए सुविधाएँ जुटाना आदि दयादत्ति के अन्तर्गत ज्ञानदान कहलाता है।

उपर्युक्त चारों प्रकार के दान गृहस्थों को अवश्य करने चाहिए, ये उनका कर्तव्य है कि वे अपने दान आवश्यक को पालते हुए प्रतिदिन कुछ न कुछ किसी भी रूप में दान करें। इसको स्पष्ट करते हुए पं. द्यानतराय जी ने दशलक्षण धर्म पूजन में लिखा है कि–

दान चार परकार, चार संघ को दीजिए।
धन बिजुली उनहार, नर-भव लाहो लीजिए।
उत्तम त्याग कह्यो जग सारा, औषध शास्त्र अभय अहारा।
निहचै राग-द्वेष निरवारै, ज्ञाता दोनों दान संभारै।
दोनों संभारै कूप-जलसम, दरव घर में परिनया।।
निज हाथ दीजे साथ लीजे खाय खोया बह गया।
धनि साध शास्त्र अभय-दिवैया, त्याग राग विरोध को।
बिन दान श्रावक साधु दोनों, लहै नाहीं बोध को।।

गृहस्थधर्म में दान की प्रधानता की दृष्टि से उसको दो भागों में विभक्त किया जा सकता है–

1. **अलौकिक दान**–यह दान साधुओं को दिया जाता है जो परम्परा से मोक्ष का कारण है।
2. **लौकिक दान**–यह दान दयादत्ति, समदत्ति की बुद्धि से लौकिक व्यक्तियों एवं तिर्यचों को दिया जाता है। यह लौकिक सुख-सुविधाओं की वृद्धि का कारण है। यह पुण्य के बन्ध का कारण है।

आहार दान में शुद्धि-पात्रों को जो भक्तिपूर्वक आहार दान दिया जाता है वह अलौकिक दान कहलाता है। आहार दान देते समय निम्न चार प्रकार की शुद्धियां रखना आवश्यक हैं–

1. द्रव्य शुद्धि
2. क्षेत्र शुद्धि
3. काल शुद्धि और
4. भाव शुद्धि।

द्रव्य शुद्धि–साधु, व्रतियों की आहार चर्या को निर्दोष सम्पन्न कराने के लिए द्रव्य शुद्धि का सर्वाधिक महत्त्व है क्योंकि सभी प्रकार के द्रव्यों को शुद्ध करना आहारदाता के ज्ञान और विवेक पर निर्भर करता है। इसलिए द्रव्यशुद्धि में निम्न द्रव्यों की शुद्धि पर ध्यान देना आवश्यक है–

1. सभी **खाद्य पदार्थों** को प्रासुक जल से धोकर बनाना चाहिए।

2. जो **धन** आहार में लगाया है वह न्यायनीति से कमाया हुआ हो।

3. **अन्न**–गेहूँ, दाल, चावल, मसाले–नमक, जीरा, धनिया, मिर्च (हल्दी नहीं) मेवा–बादाम, किशमिश, मुनक्का आदि, सभी मर्यादित एवं संशोधित करके अहिंसा के आधार पर विवेक के साथ प्रयोग में लाना चाहिए। यह श्रावक दातार का प्रथम कर्तव्य है।

4. घुना हुआ **खाद्य पदार्थ** व अन्न कदपि प्रयोग न करें।

5. **जल शुद्धि**–जल को विवेक के साथ छानना तथा जीवों की रक्षा हेतु जीवानी करना।

6. **दुग्धशुद्धि**–स्वच्छ बर्तन में, प्रासुक जल से गाय-भैंस के थनों को धोकर पोंछकर दूध दुहना चाहिए। दुहने के पश्चात् ढंककर रख दे या ले आएँ। फिर दूसरे बर्तन में अच्छे छन्ने से छानकर 48 मिनिट के अन्दर दूध को गर्म कर लें। उबला दूध यदि बिगड़े नहीं तो 24 घंटे तक काम आ सकता है।

7. **घृतशुद्धि**–शुद्ध दही से निकले मक्खन को तत्काल अग्नि पर रखकर गर्म कर घी बना लेना चाहिए। यह अठपहरा होना चाहिए, अर्थात् जो क्रिया दूध निकालने से लेकर दही जमाना, मक्खन निकालना तथा घी बनाना आठ पहर के अन्दर-अन्दर पूर्ण हो जाये उसे अठपहरा घी कहते हैं। कच्चे दूध की क्रीम से बना घी अभक्ष्य होता है।

8. **दहीशुद्धि**–उबले दूध को ठंडाकर चाँदी का रुपया या नारियल की ओपरी, या संगमरमर का टुकड़ा, इनको साफकर धोकर इनसे दही जमाना चाहिए। फिर इस टुकड़े को धोकर रख लें।

9. **तेलशुद्धि**–तेल भी साफ वस्तुओं से, साफ छने पानी से धोकर ही, छने पानी से धुली हुई मशीनों से निकलवाना चाहिए।

10. **शक्करशुद्धि**–बाजार से लायी शक्कर को साफ कर लें फिर शुद्ध पानी में डालकर पकाकर बूरा बना लेते हैं।

11. **सब्जियों की शुद्धि**–सब्जी, फलों को पहले प्रासुक जल में धोकर ही चौके में ले जाना चाहिए।

12. **फलों** ने यदि सड़ना प्रारम्भ कर दिया हो तो ऐसे फलों का प्रयोग-नहीं करना चाहिए।

13. **ईंधनशुद्धि**–आहार बनाने के लिए अच्छी सूखी एवं जीव से रहित लकड़ी का ही ईंधन के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

14. **बर्तनों की शुद्धि**–आहार बनाने में प्रयुक्त होने वाले बर्तन सूखे, मंजे एवं गड्ढे रहित

हों, कहीं पर कालिख आदि न लगी हो ऐसे सूखे बर्तनों को प्रासुक जल से धोकर पोंछकर ही चौके में प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर ही द्रव्य लगाना एवं बनाना चाहिए। शुद्ध द्रव्य होगा तो इसका प्रभाव साधु-व्रती पर भी पड़ता है और यदि अशुद्ध द्रव्य होगा तो उसका प्रभाव भी पड़ता है।

क्षेत्र शुद्धि–1. इस शुद्धि के अन्तर्गत **गृह** और **भोजनशाला** का वह सभी क्षेत्र आ जाता है, जहाँ से प्रवेश कर साधु चौके में पहुँचते हैं। इस जगह को जीव-जन्तुओं और बाल आदि अपवित्र वस्तुओं से रहित बना लेना चाहिए।

2. आहार जिस स्थान पर होना है, उस स्थान पर प्राकृतिक प्रकाश की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। साधु-व्रती को भोजन शोधने में परेशानी नहीं होनी चाहिए।

3. भोजनशाला (चौका) के आस-पास शौचालय नहीं होना चाहिए।

4. जहाँ भोजन तैयार किया जा रहा हो तथा जहाँ साधु-व्रती को आहार कराया जाना है वहाँ ऊपर चँदोवा बँधा होना बहुत आवश्यक है। एक दृष्टान्त है–

मछुआरे का जाल

एक समय एक सेठ ने मछुआरे को पाँच रूपये दान में दिये। वह मछुआरा पाँच रूपयों की रूई खरीद कर सूत कात लेता है, और उसका मछली पकड़ने का जाल बना लेता है। वह मछुआरा इस जाल से मछली पकड़ने लगता है। इधर सेठ जी के कुछ पाप का उदय आता है। कुछ समय बाद इसी नगरी के अन्दर एक निमित्त ज्ञानी मुनिराज आते हैं। सेठ जी उनसे पूछते हैं कि–"आजकल मेरे पाप का उदय क्यों चल रहा है? इसका क्या कारण है?" मुनिराज उत्तर देते हैं कि–"तुमने जो दान दिया वह सोच-समझकर नहीं दिया है। तुम्हारे दिए हुए पैसे से मछुआरे ने जाल बनाकर मछली पकड़ी है। वही पाप, उदय में चल रहा है।" इसलिए दान उत्तम क्षेत्र में करना चाहिए जिससे उसका सदुपयोग हो।

कालशुद्धि–सूर्योदय के 2 घड़ी बाद (48 मिनट) तथा सूर्यास्त होने के 2 घड़ी पूर्व तक का काल शुद्ध माना गया है। इस काल में ही सभी भोजन की वस्तुएँ बनानी चाहिए। इसके अतिरिक्त आहार चर्या के समय आहार देना, गर्मी में गर्म वस्तु नहीं देना, सर्दी में ठंडी वस्तु नहीं देना आदि कालशुद्धि के अन्तर्गत आता है। जो श्रावक आहार चर्या के समय अर्थात् प्रात: 9. 30 से 11.00 बजे तक मुनिराज को नहीं पड़गाहाता है। उसके कालशुद्धि के न होने से क्या दशा होती है, यह निम्न दृष्यान्त में समझाया गया है।

मुनि हुआ कंस

एक समय की बात है कि राजा उग्रसेन ने घोषणा करवा दी कि नगर में कोई भी साधु आवे तो मेरे अतिरिक्त कोई भी चौका नहीं लगायेगा। कुछ समय बाद नगर में एक दिगम्बर मुनिराज, एक महीने के उपवासी, आहार चर्या को आते हैं। उग्रसेन इस समय पर चौका नहीं लगा पाता। राजा उग्रसेन आहार चर्या का समय भूल जाता है। मुनिराज वापिस़ जंगल को लौट जाते हैं।

अब फिर एक माह बाद आहार चर्या को नगर में प्रवेश करते हैं। दो माह उपवासी मुनिराज के लिए नगरवासी राजा के डर से फिर कोई चौका नहीं लगाते, और इधर राजा उग्रसेन फिर समय पर चौका लगाना भूल जाते हैं। मुनिराज नगर से फिर वापिस निराहार चले जाते हैं।

अब पुन: और एक माह के उपवास के बाद अर्थात् तीन महीने के उपवासी मुनिराज आहार चर्या के लिए नगर में भ्रमण करते हैं। अब मुनिराज का शरीर अति दुर्बल हो चुका है। तमाम शरीर की नसें दिख रही हैं। नगर में चर्चा होने लगती है कि राजा न तो समय पर स्वयं चौका लगाता है और न हमें लगाने देता है। नगरवासी मुनिराज की स्थिति देख बहुत दुखित होते हैं। राजा उग्रसेन अब भी चौका लगाना भूल जाता है। मुनिराज वापिस जंगल लौटने लगते हैं तब नगरवासी चर्चा कर रहे हैं कि यह राजा बहुत बड़ा पापी है। न समय चौका लगाता है और न ही किसी को लगाने देता है। ये शब्द मुनिराज सुन लेते हैं। सुनकर उन्हें आर्त्तध्यान हो जाता हैं वह वहीं पर मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं। निदान बाँध लेते हैं कि मैं इस राजा से बदला लूँगा। यह सोचते हुए मुनिराज का मरण हो जाता है। अब यह मुनिराज का जीव राजा उग्रसेन के घर कंस के रूप में जन्म लेता है और युवा हो पिता को जेल में बन्द कर देता है।

इस प्रकार आहारदाता को आहारचर्या का समय, भोजन को समय से बनाना आदि का ध्यान रखना चाहिए।

भावशुद्धि–भाव पर आहारदान की आधारशिला स्थापित है। आहार दाता को अतिथि के लिए भोजन बनाने से लेकर, आहार करवाने तक अपने मन को किसी विकल्प में नहीं उलझाना चाहिए। क्योंकि भावों का प्रभाव भी आसपास के वातावरण को प्रभावित करता है। शुद्ध भावों से बनाया गया और दिया गया भोजन आपके पुण्य में और अतिथि के संयम में अकथनीय वृद्धि कर देता है। वास्तव में दान भावों से होता है, पैसे से नहीं। शुद्ध मन से थोड़ा-सा भी दान दिया जावे तो वह अधिक फल देने वाला होता है। कहा भी है कि–

बिन माँगे दे दूध बराबर, माँगे दे सौ पानी।
वह देना है खून बराबर, जाये खींचातानी।।

भावानुरूप दान का फल

एक नगरी के अन्दर एक लड़का व्यापार करने जाया करता था। उसकी माता प्राय: उसे लड्डू बनाकर दिया करती थी। वह लड्डू घर से शुद्ध बनवाकर ले जाया करता था। एक दिन जब जंगल से गुजर रहा था, तब वह एक ऋद्धिधारी मुनि के दर्शन करता है। उनको देखकर लड़के के भाव बनते हैं कि आज मुझे मुनिराज को आहार कराना चाहिए। वह नवधाभक्तिपूर्वक मुनिराज को पड़गाह लेता है। मुनिराज आहार में एक लड्डू छोड़ सब लड्डू का आहार कर लेते हैं। ऋद्धि के बल से उस लड्डू में विशेष स्वाद आ जाता है। इस एक लड्डू के खाते ही, वह अपने भावों को बिगाड़ लेता है, सोचता है, आज माँ ने लड्डू बहुत बढ़िया एवं स्वादिष्ट बनाये थे। आज ही सभी लड्डू महाराज को खिला दिये। शोक करने लगता है और तभी आयु का क्षय हो जाता है और वह यह सोचता हुआ मरण को प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात् यह जीव एक साहूकार के यहाँ जन्म लेता है। पैदा होते के साथ ही यह जीव बीमार रहने लगता है। सेठ की तिजोरी में धन भरा हुआ है, लेकिन यह लड़का इसे भोग नहीं सकता और पलंग पर पड़ा रहता है। बीमारी की अवस्था में ही लड़का बड़ा हो जाता है। कुछ समय बाद नगर में एक मुनिराज आते हैं। वह लड़का उनसे पूछता है कि–"हे गुरुदेव! धन मेरे पास बहुत है, लेकिन उसे मैं भोग क्यों नहीं सकता, इसका क्या कारण है?" मुनिराज कहते हैं कि–"तुम्हारे पास धन सम्पत्ति भरपूर है इस भाव से तुमने दान दिया है लेकिन दान देने के बाद तुमने अपने भाव अशुद्ध किए इस कारण से वह सम्पत्ति तुम भोग नहीं पा रहे हो।" इस प्रकार भावों की शुद्धि का आहार दान पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

चार प्रकार के दातार–संसार भर में मनुष्यों की प्रवृति दान देने के सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न पायी जाती है। निम्न चार प्रकार के मनुष्यों के रूप में हैं–

1. मक्खीचूस मनुष्य–जो न स्वयं खाये और न दूसरों को खाने दे।
2. कंजूस मनुष्य–जो स्वयं खाते हैं, परन्तु दूसरों को नहीं देते।
3. उदारचित्त मनुष्य–जो स्वयं भी खाते हैं, औरों को भी देते हैं।
4. दातार मनुष्य–जो स्वयं न खाने की अपेक्षा, औरों को देते हैं।

भोज्य पदार्थों की मर्यादाएँ

क्र.	सं.भोज्य पदार्थ का नाम	शीत	ग्रीष्म	वर्षा
1.	बूरा	1 मास	15 दिन	7 दिन
2.	दूध (दुहने के पश्चात्)	2 घड़ी	2 घड़ी	2 घड़ी
	दूध (उबालने के पश्चात्)	8 पहर	8 पहर	8 पहर
	(नोट–यदि स्वाद बिगड़	(एक घड़ी = 24 मिनट)		
	जाये तो त्याज्य है।)	(एक पहर = 3 घण्टे)		
3.	दही (गर्म दूध का)	8 पहर	8 पहर	8 पहर
4.	छाछ बिलोते समय पानी डाले	4 पहर	4 पहर	4 पहर
	पीछे पानी डालें तो	2 घड़ी	2 घड़ी	2 घड़ी
5.	घी (अठपहरा बना हुआ)	(जब तक स्वाद न बिगड़े)		
6.	तेल	(जब तक स्वाद न बिगड़े)		
7.	गुड़	(जब तक स्वाद न बिगड़े)		
8.	आटा सर्व प्रकार	7 दिन	5 दिन	3 दिन
9.	मसाले पीसे हुए	7 दिन	5 दिन	3 दिन
10.	नमक पिसा हुआ	2 घड़ी	2 घड़ी	2 घड़ी
	मसाला मिला दें तो	6 घंटे	6 घंटे	6 घंटे
11.	खिचड़ी, कढ़ी, तरकारी	2 पहर	2 पहर	2 पहर
12.	अधिक जल वाले पदार्थ	4 पहर	4 पहर	4 पहर
	जैसे–रोटी, पूरी, हलवा आदि।			
13.	मौयन वाले पकवान	8 पहर	8 पहर	8 पहर
14.	बिना पानी के पकवान	7 दिन	5 दिन	3 दिन
15.	मीठे पदार्थ मिला दही	2 घड़ी	2 घड़ी	2 घड़ी
16.	गुड़ मिला दही व छाछ	(सर्वथा अभक्ष्य है।)		

दान की महिमा–जो मनुष्य लक्ष्मी का संचय करके पृथ्वी के गहरे तल में उसे गाड़ देता है, वह मनुष्य उस लक्ष्मी को पत्थर के समान कर देता है। इसके विपरीत जो मनुष्य अपनी बढ़ती हुई लक्ष्मी को सर्वदा धर्म के कामों में लगा देता है, उसकी लक्ष्मी सदा सफल रहती है। पंडितजन भी उसकी प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार लक्ष्मी को अनित्य जानकर जो उसे निर्धन, धर्मात्मा व्यक्तियों को देता है और बदले में प्रत्युपकार की बाँछा नहीं करता उसी का जीवन सफल है। इस प्रकार दान देने से जीवन और धन सफल हो जाता है।

अभयदान के सन्दर्भ में आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं कि–

किं न तप्तं तपस्तेन किं न दत्तं महात्मना।
वितीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम्।।

–ज्ञानार्णव, 54

जिस महापुरुष ने जीवों को प्रीति का आश्रय देकर अभयदान दिया हो, उस महात्मा ने कौन सा तप नहीं किया और कौन सा दान नहीं किया? अर्थात् उस महापुरुष ने समस्त तप, किया और दान दिया। क्योंकि अभयदान में सभी तप, दान आ जाते हैं। किसी ने कहा है–

दान बिना नहिं मिलत है सुख सम्पत्ति सौभाग्य।
कर्मकलंक खपाय कर पावे शिवपद राज।।

अर्थात्–दान से ही संसारी जीवों को महान् सुख की प्राप्ति होती है। दानी जीव ही संसार में महान् यश को प्राप्त करता है। कहाँ तक कहा जावे इस संसार में दान के प्रभाव से ही जीव अत्यन्त दुर्लभ भोग भूमि के सुख, देव-विद्याधर-प्रतिनारायण तथा नारायण-चक्रवर्ती और वसुदेव आदि पदों को प्राप्त करता है। इस दान के प्रभाव से शत्रु भी शत्रुता छोड़कर अपना हित करने लगते हैं।

दान का फल

पूज्य गुरु निर्ग्रंथ बिन दानी कौन बनाय।
भोग भूमीश्वर चक्री जिन होकर मोक्ष लहाय।।

यदि पूज्य निर्ग्रंथ साधु गुरु न होते तो जीवों को श्रावक बनकर दानी बनने का सौभाग्य कैसे प्राप्त होता? और दान के बिना उसका फल भोग भूमि का सुख, देव पर्याय के आनन्द, चक्रवर्तियों की विभूति, एवं तीर्थङ्कर पदवी और मोक्ष पद कैसे प्राप्त होता? इसलिए पूज्य दिगम्बर निर्ग्रंथ साधुओं को आहार दान देने का बड़ा महत्त्व है।

सुपात्र को दिया गया दान अच्छे स्थान में बोये हुए बीज के समान सफल होता है।

दान देने वाला मिथ्यादृष्टि यदि जघन्य सुपात्र को दान देता है। तो वह मरकर जघन्य भोगभूमि में जन्म पाता है। यदि सम्यक्त्व और अणुव्रत सहित मध्यम सुपात्र को दान देता है तो मध्यम भोगभूमि में जन्म पाता है और वहाँ निर्बाध भोगों को भोगकर अपनी आयु क्षय होने पर यथायोग्य देव होता है। इसका कारण यह है कि जैसे पात्र को वह दान देता है उसी प्रकार के शुभ परिणाम होने से उसी जाति के पुण्य का बन्ध करता है यदि सम्यग्दर्शन और महाव्रत से भूषित उत्तम सुपात्र को दान देता है तो उत्तम भोगभूमि में जन्म पाता है।

दान देने वाला मिथ्यादृष्टि यदि कुपात्र को दान देता है, वे दातार कुभोगभूमि में भूषण-वस्त्र रहित, गुफा या वृक्ष के मूल में निवास करने वाला कुमनुष्य होकर अपने ही समान पत्नी के साथ यथायोग्य बाधा रहित भोगों को भोगकर एक पल्य प्रमाण आयु के क्षय होने पर मरकर वाहन जाति का देव, या ज्योतिष्क, या व्यन्तर, या भवनवासी देव होकर दीर्घ काल तक दुर्गति के दुःखों

को भोगता हुआ संसार भ्रमण करता है तथा कुभोगभूमियों में और मानुषोत्तर पर्वत से बाहर तथा स्वयंप्रभ पर्वत से पहले जो तिर्यंच पाये जाते हैं, तथा जो म्लेच्छ राजाओं के हाथी, घोड़े, वैश्या वगैरह नीच प्राणी भोग भोगते हुए पाये जाते हैं, वे सब कुपात्र दान के परिणामों के अनुसार उत्पन्न हुए मिथ्यात्व सहचारी पुण्य के उदय से होते हैं।

सोमदेव सूरि कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि साधुओं का भक्तिपूर्वक, सत्कार करने से सम्यग्दृष्टि गृहस्थों का श्रद्धान भी दूषित हो जाता है, अतः सम्यग्दृष्टि कुपात्रों को दान नहीं देता है। सम्यक्त्व और व्रत से रहित अपात्र को दान देना व्यर्थ है। अपात्र दान से पाप के सिवाय दूसरा फल नहीं प्राप्त होता। अपात्र को पात्र बुद्धि से दान नहीं देना चाहिए, दयाभाव से देने में कोई हानि नहीं है। इस तरह दान का फल दान देने वाले और दान लेने वाले दोनों को मिलता है। जो दान ग्रहण करता है, वह अपने धर्म साधन में लगकर अपने आत्मिक गुणों की उन्नति करता है और जो दान देता है वह पुण्यकर्म का बन्ध करता है। यदि दान सात्त्विक होता है तो विशेष पुण्य का बन्ध होने से दाता भोगभूमि से स्वर्ग में जाकर और वहाँ चक्रवर्ती आदि पद प्राप्त करके मोक्ष जाता है।

इस संसार में प्रत्येक वस्तु चाहे वह चेतन हो या अचेतन एक-दूसरे को कुछ न कुछ अपनी शक्ति के अनुसार दे रहे हैं। देने का नाम ही दान है। यह स्वतः दान की क्रिया अनादिकाल से चली आ रही है। इसके अतिरिक्त जो किसी को उसकी आवश्यकता के अनुसार अपने अधिकार की वस्तु को दिया जाता वह धन आदि का दान कहलाता है। सुपात्र को दान देने से, भोग भूमियों में जन्म होता है और अपात्र को दान देने से पाप का बन्ध होता है। यदि उन्हें पात्र की दृष्टि से दान दिया जावे तब। यदि दया की दृष्टि से दान दिया जावे तब पुण्य का बन्ध होता है। दान में परिणामों की जो स्थिति होती है वैसी प्रकृति का ही बन्ध होता है।

दानी पुरुषों को अपना स्वभाव चन्दन की भाँति शीतल रखना चाहिए। कोई कुछ भी कहे दान अवश्य देना चाहिए। धर्म के लिए दान देने से धन कभी नहीं घटता, जब कभी घटता है तो पाप के उदय से ही घटता है। जिस प्रकार कुएँ का जल पीने से कभी नहीं घटता एवं विद्या कभी देने से नहीं घटती उसी प्रकार धन की दशा है, अर्थात् देने से बढ़ता है घटता नहीं है। ज्यों-ज्यों धन का दान किया जाता है, पुण्य की प्राप्ति होती है। जो लोग दान देने से धन का घटना समझते हैं वे भूल करते हैं। इस कारण हे भव्य जीवों! मनुष्य जीवन को सफल बनाने के लिए दान अवश्य करना चाहिए। जैसे खेती का मुख्य फल धान्य होता है, वैसे ही पात्र दान का मुख्य फल मोक्ष होता है और जैसे खेती का गौण फल भूसा होता है उसी प्रकार पात्रदान का गौण फल भोग सामग्री होती है। इस प्रकार सद्गृहस्थ को अपने घर-व्यापार से उत्पन्न हुए सभी पापों को दूर करने के लिए प्रतिदिन दान को अवश्य करना चाहिए। यह षट आवश्यक का अन्तिम कर्तव्य है। कहा है कि–

पानी बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम।।

द्वादश अध्याय : राग से वैराग्य, वैराग्य से मुक्ति

आज का विषय है–'राग से वैराग्य, वैराग्य से मुक्ति' सभी श्रोतागण मन को एकाग्रचित्त करके सुनें।

यह संसार एक विचित्र बगीचा है।
प्रत्येक प्राणी ने जिसे अपने कर्मों से सींचा है॥
पाते हैं शुभ कर्म वाले ही फूलों की महक।
सदा अशुभ कर्मों वालों को शूलों ने खींचा है।
जब से मिला है मुझे वीतराग धन।
लहरा कर खिल उठा है दिल का मेरा चमन॥
पुलकित हो उठा मेरा प्रत्येक अंग-अंग।
भस्म हो गया है कर्म रूपी वन॥

अनादिकाल से यह जीव आज तक अपनी सत्ता रूप में चला आ रहा है। सुख की चाह में संसार भ्रमण करता रहा है। सच्चे सुख का, स्थायी सुख का यदि वह उपाय करता तो वर्तमान में उसकी यह स्थिति क्यों बनती, जहाँ सुख का लेशमात्र भी सद्भाव नहीं है, वही क्षेत्र इसने अपनी शान्ति को प्राप्त करने के लिए चुना, इसलिए परिणाम आज सामने हैं। 'पर' को अपना मानता रहा, 'स्व' की ओर, अपने स्वयं आत्मा की ओर कभी देखा ही नहीं। यदि क्षण मात्र भी विचार किया होता कि "मैं" मैं हूँ", मैं ही पूर्ण हूँ, और 'पर' में मेरा लेशमात्र भी कुछ है ही नहीं, तो भी आज वह मुक्त हो गया होता, संसार के दु:खों से छूट गया होता। 'पर' से कभी राग करता तो कभी द्वेष, इस प्रकार मोहित हो अपना काल व्यतीत करता हुआ इसने आज तक कौन से दु:ख नहीं भोगे, और कौन से सुख नहीं भोगे? सुख क्या है वे सुखाभास हैं यदि वे सुख होते तो चिरस्थाई होते। वह सुख ही क्या जो स्थाई न हो।

लोग कहते हैं कि नरकों में अतिशय दु:ख है, वहां के समान दु:ख और कहीं हैं ही नहीं। परन्तु यह तो परोक्ष बात हुई, पर के आश्रय की बात हुई। द्वेष प्रत्यक्ष ही दु:ख का कारण है। स्वर्गों में सुख की कल्पना करते हैं, परन्तु वर्तमान में यदि राग की मन्दता हो तो सुख का अनुभव होने लगता है। हम सभी दु:खी हो रहे हैं। केवल कभी राग करने से तो कभी द्वेष करने से। हमें वस्तुओं से राग-द्वेष को समूल नष्ट करना होगा। अपने दु:खों को नष्ट करने के लिए उनके कारण को जानना होगा। उनका मूलोच्छेदन करना होगा। स्व-पर के भेद को समझना होगा।

समझकर जीवन में उतारना होगा। जीवन की परिचर्या को बदल देना होगा। वैरागी बनकर जीवन व्यतीत करना होगा। तभी एक दिन मुक्ति रूपी लक्ष्मी को प्राप्त किया जा सकता है। अपनी दृष्टि को बदल कर स्वान्मुखी, अर्न्तमुखी होकर कार्य करने से लक्ष्य को प्राप्त करने में देरी नहीं लगती।

राग की परिभाषा–माया, लोभ, तीनवेद (पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद), हास्य और रति। इनका नाम राग है। यह प्रीति रूप राग जीव का नहीं है। जहाँ राग होगा वहाँ द्वेष भी अवश्य होगा। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

निर्विकारशुद्धात्मनो विपरीतमिष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरूपंचारित्रमोहसंज्ञं रागद्वेषं॥८३॥

- प्रवचनसार-तात्पर्यवृत्ति

निर्विकार शुद्धात्मा से विपरीत इष्ट-अनिष्ट विषयों में हर्ष-विषाद रूप चारित्रमोह नाम का राग-द्वेष होता है। राग-द्वेष शब्द से क्रोधादि कषाय के उत्पादक चारित्रमोह को जानना चाहिए। दूसरे शब्दों में चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जो इसके रस विपाक का कारण, इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में जो प्रीति-अप्रीति रूप परिणाम होता है, उसका नाम राग-द्वेष है। यह मोक्षमार्ग में बहुत बाधक है। राग-द्वेष के निम्न भेद हैं–

राग के भेद–1. माया, 2. लोभ, 3. पुरुषवेद, 4. स्त्रीवेद, 5. नपुंसकवेद, 6. हास्य और 7. रति।

इन सात भेद रूप राग होता है।

द्वेष के भेद–1. क्रोध, 2. मान, 3. अरति, 4. शोक, 5. भय और 6. जुगुप्सा।

इन छळ भेद रूप द्वेष होता है।

इस प्रकार कुल मिलाकर 13 भेद रूप राग-द्वेष होता है।

जब तक जीव की दृष्टि बहिरंग पर रहती है तब तक वह इस राग-द्वेष के वशीभूत हो संसार में भ्रमण करता रहता है। आकुल व्याकुल होता रहता है। किन्तु जब यह अपनी ओर दृष्टिपात करता है तब आकुलता-व्याकुलता घटने लगती है। कुछ शान्ति का अनुभव करने लगता है। भगवान को किसी प्रकार की आकुलता नहीं, वे केवल अपने आप को देखते हैं। इसलिए दुनिया से उन्हें कोई सरोकार नहीं। आत्मा का स्वभाव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय है। परम् शान्ति चाहने वाले को इन्हीं का सेवन करना चाहिए। आत्मा के ये तीन तत्त्व व्यवहार भेद रूप हैं। निश्चय से आत्मा तीन भेद रूप नहीं वह एक रूप ही है। ज्ञान, दर्शन जिसका स्वभाव है। यही भेद विज्ञान है। राग और वैराग्य में यही अन्तर है। एक प्रसिद्ध कवि ने इस सवैये में कहा हैं कि–

राग उदै भोग भाव लागत सुहावने-से,
बिना राग ऐसे लागैं जैसे नाग कोर हैं।

राग ही सौं पाग रहे तन मैं सदीव जीव,
राग गये आवत गिलानि होत न्यारे है।।
राग ही सौं जगरीति झूठी सब साँची जानै,
राग मिटै सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी-बिनरागी के विचार में बड़ोई भेद,
जैसे भटा पच काहू काहू को बयारे हैं।।

पंचेन्द्रिय के विषयभोग और उन्हें भोगने के लिए राग, मोह (मिथ्यात्व) के उदय में सुहावने से लगते हैं। वैराग्य होने पर काले नाग के समान (दु:खदायी और हेय प्रतीत होते हैं। राग ही के कारण अज्ञानी जीव शरीरादि में रम रहे हैं, पच रहे हैं, और एकत्वबुद्धि कर रहे हैं। राग समाप्त हो जाने पर तो शरीरादि से भेदज्ञान प्रकट होकर विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। राग ही के कारण अज्ञानी जीव जगत् की समस्त झूठी स्थितियों को सत्य मान रहा है; राग समाप्त हो जाने पर जगत् का सारा खेल असार दिखाई देने लगता है। इस प्रकार रागी, मोही (मिथ्यादृष्टि) और विरागी (सम्यग्दृष्टि) के विचार (मान्यता) में भारी अन्तर होता है।

मोह में मनुष्य पागल हो जाता है, इसके नशे में यह जीव क्या-क्या उपहासास्पद कार्य नहीं करता? देखिये जब ऋषभदेव ने 83 लाख पूर्व वर्ष गृहस्थों में रहकर व्यतीत कर दिये तब इन्द्र ने विचार किया कि, किस प्रकार प्रभु को भोगों से विरक्त करना चाहिए जिससे अनेक भव्य प्राणियों का कल्याण हो। ऐसा विचार कर इन्द्र नीलांजना नाम की अप्सरा को जिसकी आयु बहुत ही अल्प थी, ऋषभदेव की सभा में नृत्य हेतु प्रस्तुत कर देता है। अप्सरा नृत्य करती है, और उसी समय उसकी मृत्यु हो जाती है। इन्द्र तुरन्त दूसरी नीलांजन बनाकर नृत्य को जारी रखते हैं। यह सब कुछ इतनी जल्दी होता है कि सभा में उपस्थित जन कोई भी कुछ समझ नहीं पाता। परन्तु ऋषभदेव तो जन्म से ही तीन ज्ञान से संयुक्त थे। तुरन्त इस दृश्य को, नीलांजना की मृत्यु को, नयी नीलांजना के प्रकट होने को, जान जाते हैं। इस क्षण से उन्हें मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। चिंतन करने लगते हैं कि, धिक्कार है ऐसे दु:खमय संसार को जिसमें रहकर मनुष्य भोगों में बेसुध होकर अपनी अल्प आयु को व्यर्थ कर देता है। इतना चिंतन करना था कि उसी समय लौकान्तिक देव आ जाते हैं, और प्रभु की वैराग्य की दृढ़ता हेतु स्तुति करते हुए कहने लगते हैं कि-"हे प्रभु! आप धन्य हैं, आपने यह अच्छा विचार किया। आप जयवन्त हों। हे त्रिलोकी नाथ। आप चारित्र मोह के उपशम से वैराग्य युक्त हो गये। आप धन्य हैं।' इस प्रकार स्तवन कर वे लौकन्तिक देव अपने स्थान चले जाते हैं फिर भी मोही इन्द्रियाँ प्रभु को आभूषण पहनाने लगती हैं, पालकी सजने लगती है। अरे! जब विरत करने का ही विचार था तो फिर

आभूषण पहनाने की क्या आवश्यकता है? परन्तु मोही जीव क्या करे? मोह में तो मोह की उत्पन्न ही बातें होती हैं। उसमें ऐसा ही होता है।

वास्तव में देखा जाए तो सम्पूर्ण जगत का चक्र केवल एक मोह के कारण ही घूम रहा है, यदि मोह क्षीण हो जाये तो संसार का भी अन्त हो जाये।

आत्मा के मुख्य तीन ही परिणाम होते हैं–

(1) शुभ परिणाम (2) अशुभ परिणाम और (3) शुद्ध परिणाम।

शुभ और अशुभ परिणाम संसार के कारण हैं, जबकि शुद्ध परिणाम मोक्ष का कारण है। मोक्षमार्ग शुभ और अशुभ परिणामों का एक समान स्थान है, क्योंकि दोनों बन्ध के कारण हैं, और बन्ध संसार का कारण है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि–

सोवण्णियह्मि णियलं बंधदि कालायसंपि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं।।

जैसे स्वर्ण की और लोहे की बेड़ी बिना किसी भी अन्तर के पुरुष को बाँधती है, क्योंकि बन्धन भाव की अपेक्षा से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है, इसी प्रकार शुभ और अशुभ कर्म में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि ये दोनों इस जीव को संसार में रोके रखते हैं।

यह जानकर जीव को अपना भ्रम दूर करना होगा कि इस संसार में कोई भी पदार्थ अच्छा या बुरा नहीं है, अत: कर्म भी अच्छे या बुरे नहीं हैं अपितु उस जीव की परिणति भाव अच्छे या बुरे होते हैं, उसी के अनुसार उसे वस्तुएँ इष्ट-अनिष्ट दिखती हैं।

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो।।

जो व्यक्ति 'पुण्य और पाप में कोई अन्तर नहीं है ऐसा नहीं मानता है, अर्थात् उन्हें समान रूप से हेय नहीं मानता है। वह मोह से आच्छन्न प्राणी है और वह अपार घोर संसार में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करता रहेगा।

इस प्रकार बन्ध तत्त्व को जानकर उसके आगे बन्ध न हो, ऐसा उपाय करना चाहिए वास्तव में पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है। अनादि काल से जीव अपनी कल्पना से ही इस संसार में वस्तुओं को अच्छा या बुरा मानता आया है। यह उसकी सबसे बड़ी भूल है कि वह आज तक आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सका। आचार्य योगीन्दुदेव कहते हैं कि–

इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा पर:।
न द्रव्यं तत्त्वत: किंचिदिष्टानिष्टं हि विद्यते।।३६।।

(योगसार-अ. 5)

मोह से जिसे इष्ट समझ लिया जाता है वही अनिष्ट हो जाता है और जिसे अनिष्ट समझ लिया जाता है वही इष्ट हो जाता है, क्योंकि निश्चय नय से संसार में न कोई पदार्थ इष्ट है औन न कोई पदार्थ अनिष्ट है।

लौकिक सुख वास्तव में दु:ख ही हैं। भोगसाधनात्मक इन भोगों का वियोग होने से जो दु:ख उत्पन्न होता है तथा भोगोपभोग से जो सुख मिलता है, इन दोनों में दु:ख ही अधिक समझना चाहिए। देह भूख, प्यास, शीत, उष्ण और रोगों से पीड़ित होता है, अनित्य ऐसे देह में आसक्त होने से कितना सुख प्राप्त होगा? अत्यल्प सुख की प्राप्ति होगी स्थायी नहीं। जब जीव इतना समझने लगता है तब वह मोह के जाल से राग के जाल से निकलना चाहता है और वैराग्य की ओर बढ़ता है। तत्त्वों को ठीक प्रकार से समझना ही भेद विज्ञान का लक्षण है। बन्ध तत्त्व के सन्दर्भ में पं. दौलतराम जी कहते हैं कि–

शुभ-अशुभ बंध के फल मँझार, रति अरति करै निजपद विसार।
आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखै आपको कष्टदान॥६॥

यह अज्ञानी जीव अपने ज्ञाता-दृष्टापन को भूलकर शुभ कर्म के फल में राग करके प्रसन्न होता है और अशुभ कर्म के फल भोगने में दु:ख का अनुभव करता है। यह बंध तत्त्व का उल्टा श्रद्धान है। पुण्य और पाप शुभ और अशुभ परिणामों का फल है बन्ध की अपेक्षा दोनों एकसमान हैं, इसमें हर्ष-विवाद क्या करना? महाकवि पं. भूधरदास जी एक स्तुति में भगवान के समक्ष कहते हैं कि–

अहो! जगत् गुरु देव सुनियो अरज हमारी॥
पाप-पुण्य मिल दोइ, पायनि बेड़ी डारी।
तन कारागृह माहिं मोहि दिये दु:ख भारी॥

जिसकी तत्त्वबुद्धि बन जाती है और पर्याय बुद्धि नहीं रहती। वही राग से छूटता है और वैराग्य की ओर बढ़ जाता है। तत्त्वज्ञानी और अतत्त्वज्ञानी की दशा का वर्णन करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि–

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्मकमतिर्देहे तत्त्वज्ञानी तदच्युतिम्॥

(समाधितन्त्र)

जो तन में अपनत्व बुद्धि रखते हैं वे ही सुन्दर तन की चाह करते हैं, बाह्य पदार्थों की चाह करते हैं। वे देव-मनुष्य आदि पर्यायों में इन्द्रिय विषयों की चाह, बाँधा करते हैं। तत्त्वज्ञानी इनसे उल्टे तन रहित होने की इच्छा करते हैं अर्थात् उनकी तन में अपनत्व बुद्धि नहीं होती वे तो तन

को पर समझते हैं। इन्द्रियों विषयों को विष के समान गिनते हैं। इन तत्त्वज्ञानियों की एक मात्र चाह अपने आत्मरमण की होती है। पं. बनारसीदास जी निम्न सवैये में कहते हैं कि–

राग विरोध उदै जबलौ तबलौ, यह जीव मृषा मग धावै।
ग्यान जग्यौ जब चेतन कौ तब, कर्म दसा पर रूप करावै॥
कर्म विलक्षण करै अनुभौ तहाँ, मोह मिथ्यात प्रवेस न पावै।
मोह गये उपजै सुख केवल, सिद्ध भयौ जगमाहिं न आवै॥

जब तक इस जीव को मिथ्याज्ञान का उदय रहता है, तब तक वह राग-द्वेष में वर्तता है। परन्तु जब सम्यक् ज्ञान का उदय हो जाता है, तब वह कर्मपरिणति को अपने से भिन्न गिनता है और जब कर्मपरिणति तथा आत्मपरिणति का पृथक्करण करके आत्म अनुभव करता है, तब मिथ्या मोहनीय को स्थान नहीं मिलता और मोह के पूर्णतया नष्ट होने पर केवलज्ञान तथा अनन्त सुख प्रगट होता है, जिससे सिद्ध पद की प्राप्ति होती है और फिर जन्म-मरणरूप संसार में नहीं आना पड़ता।

राग में फँसा जीव कभी-कभी परिहासपूर्ण व्यवहार से अपने अनादि मोह को, राग को छोड़ देता है, वैरागी हो जाता, अपना कल्याण तो करता ही है औरों के भी कल्याण का निमित्त बन जाता है। यह कैसे संभव होता है, इसको समझने के लिए निम्न दृष्टान्त को देखें।

राग से वैराग्य

किसी समय हस्तिनापुर में राजा इमवान राज्य करते थे। उनकी पत्नी का नाम रानी चूड़ामणि था। इनके एक पुत्र उदय सुन्दर एवं एक पुत्री मनोदया बहुत ही गुणवान व रूपवान थे। मनोदया के युवा होने पर पिता इमवान ने इसका विवाह अयोध्या के राजा सुरेन्द्रमन्यु के अतिगुणवान एवं रूपवान पुत्र बज्रबाहु से कर दिया। दोनों का विवाह सम्पन्न हुए दो ही दिन व्यतीत होते हैं कि हस्तिनापुर से भाई उदय सुन्दर बहन को लेने अयोध्या आ जाता है। बज्रबाहु पल भर का भी वियोग मनोदया का सहन करनें में स्वयं को असमर्थ पाता है। कहता है कि मैं इसके बिना नहीं रह सकता हूँ। यदि इसको ले जाना है तो मैं भी संग चलूँगा। उदय सुन्दर अपनी बहिन मनोदया की सासू कीर्तिसमा एवं ससुर सुरेन्द्रमन्यु के समक्ष मनोदया को अपने माता-पिता के घर ले जाने के लिए कहता है। सहमति मिल जाने के पश्चात् अगले दिन प्रात: सभी हस्तिनापुर की ओर रवाना होते हैं। राजवधू को विदा देने सारा नगर उमड़ पड़ता है।

मनोदया का रथ आगे बढ़ता है, पति बज्रबाहु का रथ उनके पीछे-पीछे चल रहा है। बज्रबाहु अपनी ससुराल जा रहे हैं, इस समाचार से 26 राजकुमार मित्र अपने-अपने रथों पर सवार हो उनके साथ चल देते हैं। रास्ते में वसन्त नामक मनोहर पर्वत पर बज्रबाहु की दृष्टि

ठिठक जाती है। वे अपने रथ से नीचे उतरते हैं और धीरे-धीरे कुछ दूर चलते हैं। अचानक उनकी दृष्टि एक ध्यानमग्न मुनिराज पर पड़ती है और वे उसे अपलक देखते ही रहते हैं। नाना प्रकार के विचार में दौड़ने लगते हैं। इतने में उदयसुन्दर भी वहाँ आ जाते हैं।

उदयसुन्दर हँसी करते हुए मुस्कुराकर कहते हैं कि–''आप इन मुनिराज को बड़ी देर से ऐसे देख रहे हैं जैसे इन्हीं जैसा बनने जा रहे हैं। बज्रबाहु कहते है कि–''तुम्हारा क्या इरादा है?'' ''मेरा क्या इरादा जो तुम्हारा, वही मेरा इरादा है। यदि तुम मुनिराज के शिष्य बन गये तो मैं आपका साथी शिष्य बन जाऊँगा।'' उदयसुन्दर यह कहकर हँसने लगता है। क्योंकि वह जानता था अपने जीजा बज्रबाहु की राग-आसक्ति की पराकाष्ठा को। जिसकी शादी हुए अभी दो ही दिन हुए थे, जो अपनी पत्नी को दो दिन के लिए भी उसके पिता के घर नहीं भेज सका, स्वयं साथ चला आया, वह क्या दीक्षा लेगा?

वज्रबाहु विचार करने लगता है कि मनुष्य जन्म का पूर्ण फल इन मुनिराज ने प्राप्त कर लिया है, और मैं कर्म पाश में वैसे ही आवेष्टित हूँ जैसे भुजंग चन्दन तरु से लिपटे रहते हैं। ये जितने मुक्त है, मैं उतना ही जकड़ा हूँ। क्यों है इतना अन्तर? मुझ पापी को धिक्कार हो जो भोगरूपी पर्वत की विशाल गोल चट्टान पर बैठकर सो रहा है। छोड़ दे मनोदया को, तोड़ दे दो दिन पूर्व बँधे इस विवाह सूत्र को। ठहर जा सदा-सदा के लिए इन मुनिराज के पतित पावन चरणों में।

वज्रबाहु के भीतर राग-विराग का अन्तर्द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है। कहता है, ''उदयसुन्दर! तुम भी इस दिव्य रूप से अलंकृत होकर शिव श्री के स्वामी होओ।'' यह कहते हुए बज्रकुमार अपने विवाह के आभूषण, कंगन तोड़ देता है, ,उतार देता है, और पर्वत पर चढ़ जाता है जहाँ मुनिराज विराजे थे। उदयकुमार जो अब तक इसे हँसी-मजाक समझ रहा था, चकित रह जाता है। कहता है–''मुझे क्षमा करो, मुझ पर प्रसन्न होओ, मैंने तो आपसे परिहास किया था, आपने सच समझ लिया।'' वज्रबाहु कहता है–'हे मित्र! आप तो मेरे उपकारक हैं। मैं तो विषय कूप में गिर रहा था। आपने मुझे निकाल लिया। हे सुन्दर! विकल्प, चिन्ता और खेद छोड़ो, तेरी हँसी मेरे लिए अमृत बन गई। क्या हँसी में पी गयी औषधि रोग को नष्ट नहीं करती? उदयसुन्दर निरुत्तर हो जाता है। बज्रबाहु मुनिराज के निकट दीक्षित हो पद्मासन में बैठ जाता है।

उदयसुन्दर देखता है राग पर विरागता ने विजय पा ली, अब उन्हें समझाना व्यर्थ है। तब वह भी कहता है कि–'हे पूज्य! मैं भी आपका अनुगामी बनता हूँ और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करता हूँ। इतना कहकर उदयसुन्दर भी मुनिराज से दीक्षित हो जाता है। यह देख 26 राजकुमार मित्र जो साथ में आये थे वे भी सब दीक्षित हो मुनिराज बन जाते हैं। भाई और पति को विरक्त देख

मनोदया भी आर्यिका दीक्षा धारण कर लेती है। ये सब आगे जाकर स्वर्ग आदि के भोग-भोगते हुए मनुष्यगति पा मुक्त हो जाते हैं।

उपर्युक्त दृष्टान्त से यह बात सिद्ध हो जाती है कि राग से वैराग्य और वैराग्य से मुक्ति का कारण हँसी-मजाक भी बन सकता है।

राग में फँसे अनादिकाल से इस जीव को निकालने में सद्गुरु और सद्शास्त्र उत्तोमोत्तम निमित्त बनते हैं। जैसा साहित्य पढ़ा जाता है उसका प्रभाव अवश्य मस्तिष्क और आचरण पर पड़ता है। सुख की चाह में तो सभी आज तक जी रहे हैं। यदि गहराई से सोचा जाये तो सभी मनुष्य उस अलौकिक आनन्द को पाने के लिए जन्म लेते हैं किन्तु कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु के चक्कर में पड़कर संसार बन्धन से मुक्त नहीं हो पाते।

भगवान बनने आये थे, संसारी बन गये,
पापों को खोने आये थे, पर पुण्य में खो गये।
समझ में नहीं आता, यह पाप-पुण्य का खेल,
खेल देखते-देखते, स्वयं खिलाड़ी बन गये।।

उलझे हुए को और उलझाना धर्म नहीं है, न्याय नहीं है। अनादिकाल से जो भ्रम में पड़ा हुआ है, उसे और भ्रमित करना कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। पं. बनारसीदास जी कहते हैं कि-

राग उदै जग अंध भयौ, सहजै सब लोगन लाज गँवाई।
सीख बिना नर सीख रहे, विसनादिक सेवन की सुधराई।।
ता पर और रचैं रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।
अंध असूझन की अँखियन में, झोंकत है रज रामदुहाई।।

राग भाव के उदय से यह दुनिया वैसे ही अंधी हो रही है कि सब लोग अपनी सभी मान-मर्यादा खोये बैठे हैं। व्यक्ति बिना सिखाये ही व्यसनादि-सेवन में कुशलता प्राप्त कर रहे हैं।

इतने पर भी जो कुकवि, कुशास्त्रकार उन्हीं व्यसनादि के पोषण करने वाले काव्यों की रचना करते हैं, उनकी निष्ठुरता का क्या कहना है? वे बड़े निर्दयी हैं। भगवान की सौगन्ध, वे कुकवि शास्त्र रचने वाले जिन्हें कुछ नहीं दिखता, उन अंधों की आँखों में धूल झोंक रहे हैं। इस प्रकार गिरते को गिराना और मरते को मारना कहाँ तक उचित है? अर्थात् सर्वथा अनुचित है।

राग भंग होते ही वैरागी की स्थिति

जब जीव को स्व-पर भेद विज्ञान हो जाता है तब उसको सम्यक्त्व प्राप्त होता है। उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है। अब इसे बाह्य विषय भोगों में रस नहीं आता। भोग सामग्री से उसे स्वत: ही अन्तरंग से कुछ उदासीनता हो जाती है। गृहस्थ में रहते हुए भी उसे पूर्ववत रस आना बन्द हो जाता है। उसे संसार के इस जंजाल से मानो कंपकंपी छूटने लगती है। घर में संचित पदार्थों का ढेर देखकर उसका मस्तिष्क हिलने लगता है। जिस कमरे को उसने बड़ी रुचि से सजाया था आज वही मानो उसे खाने को दौड़ रहा है। वह संसार-शरीर-भोगों से उदासीन हो जाता है। संसार के पापों के प्रति भयभीत रहने लगता है। यह वैराग्य की स्थिति ही आगे चलकर उसको मुक्ति प्रदान करती है। जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है तब वह संसार के किसी प्रलोभन या आकर्षण में नहीं फँसता। इसको समझने के लिए निम्न दृष्टान्त को दखें।

जम्बूकुमार से जम्बूस्वामी

मगध देश के राजगृह नगर में राजा श्रेणिक राज्य करते थे। इस नगरी में वृषभदत्त नाम का सेठ रहते था, इसके एक पुत्र का नाम जम्बूकुमार था। वह स्वभाव से सौम्य, रूपवान, मिष्ठभाषी, भद्र, दयालु और वैराग्य से युक्त व्यक्तित्व के स्वामी थे। बाल अवस्था में इसने समस्त विद्याओं की शिक्षा पायी थी। इनके गुणों की सुरभि चारों ओर फैलने लगी थी, वे कामदेव के समान सुन्दर रूप के धारक थे। इन्हें देखकर नगर की नारियाँ अपनी सुध-बुध खो बैठती थी। किन्तु जम्बूकुमार पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था, क्योंकि उनका इन्द्रिय विषयों के प्रति कोई राग नहीं था। जम्बूकुमार जब युवा हुए तब पिता ने इनका विवाह चार कन्याओं से होना तय कर दिया। इधर एक दिन राजा श्रेणिक जम्बूकुमार को युद्ध के लिए बाहर भेज देते हैं। युद्ध राजा रत्नचूड़ से होता है जो मृगांग की चारों कन्याओं को लेना चाहता था। उनकी कन्याओं का विवाह जम्बूकुमार से नहीं होने देता था। युद्ध में विजय प्राप्त कर जम्बूकुमार वापस आते हैं, किन्तु रास्ते में दिगम्बर मुनिराज सुधर्म स्वामी का उपदेश सुन विरक्त हो जाते हैं। संसार के भोग क्षणभंगुर दिखने लगते हैं। यहाँ से चल महल वापस आते हैं। महल में आकर पिता जी से कहते हैं कि–''पिताजी मैं शादी नहीं करूँगा, मुझे संसार बन्धन तोड़ना है। ये संसार के सब भोग नाशवान हैं।'' पिता कहते हैं कि–''बेटा ये महल कितने सुन्दर हैं, ये सब तुम्हारे लिए हैं, इनको कौन भोगेगा?'' माता भी बहुत समझाती है किन्तु जम्बूकुमार दीक्षा लेने की ही बात करते हैं। पिता चारों कन्याओं के पिता को सूचना दे देते हैं कि अब जम्बूकुमार विवाह नहीं कराना चाहते, उसे संसार के भोगों से वैराग्य हो चुका है। किन्तु कन्याओं को जब सूचना मिलती है तब वे कहती हैं कि हम भी अब किसी से विवाह नहीं करेंगी, यदि विवाह होगा तो जम्बूकुमार से ही

होगा। उन्हें अपने रूप-लावण्य पर बहुत अभिमान था। कहने लगीं हमें एक रात्रि उनसे विचार-विमर्श का अवसर दिया जाये, हम उन्हें राजी कर लेंगे। कन्याओं के पिता ने जम्बूकुमार के पिता से ऐसा ही आकर कहा कि जम्बूकुमार को एक रात्रि के लिए तैयार कर लीजिए। मेरी पुत्रियाँ उनसे विचार-विमर्श करना चाहती हैं। यदि वे सहमत न होंगे तो अगले दिन दीक्षा ले लें। हमें कोई आपत्ति नहीं होगी। जम्बूकुमार मान जाते हैं। उन्हें अपने ऊपर पूर्ण विश्वास था। विवाह हो जाता है।

अब रात्रि के समय चारों कन्याएं और जम्बूकुमार महल में एकान्त में बैठे हैं। चारों कन्याओं से घिरे जम्बूकुमार की इन वधुओं से चर्चा होने लगती है। वधुएँ रागवर्धक अनेक प्रश्नोत्तरों तथा कथा कहानियों, दृष्टान्तों द्वारा जम्बूकुमार को निरुत्तर करने या रिझाने में समर्थ नहीं हो पाती हैं। उन्होंने श्रृंगार परक हाव-भाव रूप चेष्टाओं का अवलम्बन भी लिया। किन्तु जम्बूकुमार पर वे प्रभाव डालने में सर्वथा असमर्थ रहीं। इधर विद्युत चोर अपने 500 साथियों के साथ महल में चोरी करने आता है और छिपकर खड़ा हो जम्बूकुमार और उनकी स्त्रियों की सारी वार्ताएं सुनता है। वह भी सम्पूर्ण रात्रि को कन्याओं की राग की और जम्बूकुमार की वैराग्य की बातें सुनकर, चोरी करना भूल जाता है।

तात्पर्य यह एक रात्रि में वधुओं का राग जम्बूकुमार के वैराग्य को खत्म न कर सका। प्रात: चिड़िया चहचहाने लगती हैं। सुबह हो जाती है। जम्बूकुमार दीक्षा लेने सुधर्म स्वामी के पास जाने लगते हैं। उन्हीं के साथ चारों वधुएँ, विद्युत चोर एवं उसके 500 साथी भी विरक्त हो जाते हैं। वातावरण पूर्ण वैराग्यमयी हो जाता है। चोर विचार करने लगते हैं कि जम्बूकुमार इतने वैभव को छोड़कर जा रहे हैं, क्या तुम उसे ग्रहण करोगे? कदापि नहीं, हम भी अपने कर्मों का नाश करेंगे। अत: सभी दीक्षित हो जाते हैं। जम्बूकुमार तपस्या कर मथुरा से उसी भव में मोक्ष चले जाते हैं।

इस प्रकार यह दृष्टान्त राग से वैराग्य, वैराग्य से मुक्ति कैसे होती है, इसका एक अनुपम उदाहरण है।

संसार भ्रमण का कारण जीव का मोह, राग-द्वेष का होना, तथा स्व-पर भेद विज्ञान का न होना है। यदि यह जीव अपने दु:खों का उचित उपाय करता तो आज उसकी यह विकट स्थिति क्यों होती? वह कभी पुण्य को सुख मानता रहा तो कभी भोगों में मोहित होकर मग्न रहने लगा। पर को अपना माना, यह जीव की सबसे बड़ी भूल थी। इस संसार में स्व आत्मा के अतिरिक्त तिल-तुष मात्र भी अपना नहीं है, ऐसा श्रद्धान बने तो जीव का भ्रम मिटे। पर को अपना मानना छूटे। यदि स्थाई सुख को प्राप्त करना है तो दृष्टि को अन्तर्मुखी करना होगा। बहिर्मुखी दृष्टि तो अनादिकाल से आज तक रही। किन्तु दु:खों का अन्त नहीं हुआ। अत: सुख को वहीं खोजना होगा जहाँ पर वह निवास करता है अर्थात् स्व आत्मा के द्वारा स्वआत्मा में ही खोज करनी होगी और मिल जाने पर वहीं स्थिर रह जाना होगा।

संसार के भोगों में, इन्द्रिय विषयों के सुख नहीं सुखाभास हैं। आत्मा का स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है, उसी के अनुरूप जो जीव रहते हैं वे ही राग से छूटते हैं और वैरागी बनते हैं, तदुपरान्त मुक्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त दु:खों से छूटने का कोई उपाय नहीं है पं. दौलतराम जी कहते हैं कि–

यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय-कषाय अब तो, त्याग निजपद बेइये।।
कहा रच्यो पर पद में, न तेरो पद यहै, क्यों दु:ख सहै।
अब 'दौल' होऊ सुखी स्वपद रचि दाव मत चूकौ यहै।।

यह राग रूपी अग्नि संसारी जीवों को अनादि काल से सताती हुयी चली आ रही है। उसका निवारण करने के लिए समता रूपी अमृत का सेवन करना चाहिए। विषय कषायों का सेवन करते हुए अनंतकाल बीत चुका है फिर भी तृप्ति नहीं हुई, अत: अब इसका त्याग करके अपनी आत्मा में मगन हो जाओ, लीन हो जाओ। आज तुम्हें सद्गुरु-वीतरागी देव और सद्शास्त्र के निमित्त मिले हैं, जिनका अवसर नहीं खोना चाहिए जिससे राग से वैराग्य और वैराग्य से मुक्ति प्राप्त हो सके।

राग से वैराग्य और वैराग्य से मुक्ति का यही एकमात्र उपाय है।

—— ——

उत्सव है केशलौंच का अभिमान का दर्शन।
मुनियों के आगे बाजे केवल राग का साधन।।
क्या कोई है शादी जो बैंड बाजे बजाते।
आचार्य सूर्यसागर की महिमा कौन बताते।।

जन्म दिन मनाना है पुद्गल को सजाना।
पुद्गल को सजाना है आत्मा को रुलाना।।
ये वीतराग मार्ग हमें कौन दिखाते।।
आचार्य सूर्यसागर की महिमा कौन बताते।।

पुण्यार्जक

1.	मैसर्स मिट्ठन लाल चन्द्रभान जैन, चौपला गाजियाबाद	39,000
2	श्री डी.के. जैन, विनयकुमार जैन, 223 गांधी नगर गाजियाबाद	32500
3.	श्रीमती प्रेमवती जैन ध० प० श्री वी. रत्न जैन, आर. एस. स्टील्स नवयुग मार्केट, गाजियाबाद	32500
4.	श्रीमती उमा जैन ध० प० श्री जीवेन्द्र जैन, KC-68/9 कविनगर, गाजियाबाद	32500
5.	श्री मदन लाल जैन, श्री पवन कुमार जैन, 116 बाहुबली एंक्लेव, दिल्ली	32500
6.	श्री सुरेन्द्र पाल जैन, अध्यक्ष जैन समाज, शंकर नगर एक्सटेनसन, दिल्ली	32500
7.	श्री जगदीश प्रसाद, दिनेश कुमार जैन (करनावल वाले), धर्मपुरा गांधी नगर ने ब्र० गुणमाला जैन की स्मृति में	32500
8.	श्री विनयकुमार, अशोककुमार जैन, C-6/9 कृष्णा नगर, दिल्ली	21000
9.	दिगम्बर जैन महिला समिति, तीरगरान मेरठ	13500
10.	श्री सुनील कुमार जैन, B-K-19 पश्चिमी शालीमार बाग, दिल्ली	13000
11.	श्री सुधीर चन्द जैन, R-14/127 राजनगर, गाजियाबाद	13000
12.	श्रीमती सुमित्रा जैन धर्मपत्नी श्री सुधीर कुमार जैन, KB-90 कविनगर, गाजियाबाद	13000
13.	श्री सुषमा जैन सुपुत्री श्री आर.वी. जैन, 38C दुर्गा नगर, अम्बाला कैंट	11000
14.	श्रीमती उर्मिला जैन, 11/755 दयालपुरा, करनाल	9945
15.	श्री ज्ञान चन्द संजय कुमार जैन (रामपुर मनिहारान वाले), C-6 यमुना विहार, दिल्ली	6565
16.	श्री बी.डी. जैन, II-A-128 नेहरु नगर, गाजियाबाद	6500
17.	श्री सुन्दर लाल जैन, KL-158 कविनगर, गाजियाबाद	6500
18.	श्री संदीप जैन सुपुत्र श्री एन.सी. जैन, III-D-59 नेहरु नगर, गाजियाबाद	6500
19.	श्री अरुण कुमार जैन सुपुत्र श्री जगजोत प्रसाद जैन, KL-155 कविनगर, गाजियाबाद	6500
20.	श्री विपिन जैन, विकास जैन, KI-40 कविनगर, गाजियाबाद	6500
21.	श्री जे.डी. जैन (प्रिंसीपल), KK-145 कविनगर, गाजियाबाद	6500
22.	श्री शालभद्र जैन सुपुत्र स्व० श्री गुलशन राय जैन (कैरानावाले), II-A-20 नेहरु नगर, गाजियाबाद	6500
23.	श्री जगरोशन लाल ऋषभ कुमार जैन, B-51 लोहिया नगर, गाजियाबाद	6500
24.	श्री सुनील कुमार, सुधीर कुमार जैन, KI-156 कविनगर, गाजियाबाद ने अपनी पूज्य माता जी स्व. श्रीमती केला देवी जैन व पूज्य पिता जी स्व. श्री जगदीश प्रसाद जैन (रि. कानूनगो) की पुण्य स्मृति में	6500
25.	श्री अम्बुज जैन, मेरठ	6500

26. श्री रमेश चन्द जैन, रघुवरपुरा, गांधीनगर	6,500
27. श्री किशन जैन c/o पी.टी.सी. ट्रैक्टर कम्पनी 2766/1 हेमिल्टन रोड, मोरी गेट, दिल्ली	6,500
28. श्री प्रद्युमन कुमार जैन, c/o मै० मोती राम अनिल कुमार जैन, हांसी, हरियाणा	5,100
29. श्री इलम चन्द जैन, कमल कुंज, बड़ौत	5,100
30. श्रीमती प्रेमवती जैन, 118 बाहुबली एंक्लेव, दिल्ली	5,000
31. श्रीमती रेखा जैन, J-118 पटेल नगर, गाजियाबाद	3,315
32. श्रीमती पुष्पा जैन धर्मपत्नी श्री धनपाल सिंह जैन, KI-20 कविनगर, गाजियाबाद	3,250
33. श्री लक्ष्मी चन्द जैन, जाम्बियां, अफ्रीका	3,100
34. श्री महीपाल जैन, B-189 अशोक नगर, गाजियाबाद	2,100
35. श्रीमती चन्द्रमोहनी जैन धर्मपत्नी श्री नेमचन्द जैन, सोनीपत	2,001
36. श्रीमती रेनू जैन धर्मपत्नी श्री प्रद्युम्न कुमार जैन, 156 रणजीतपुरी, शहर मेरठ	2,001
37. श्री डी.के. जैन, सुशीला जैन, KB-156 कविनगर, गाजियाबाद	1,100
38. श्री राजेन्द्र जैन एवं सुधा जैन, K-678 दिलशाद गार्डन, दिल्ली	1,000
39. श्री ज्योति प्रसाद जैन, SA-5 शास्त्री नगर, गाजियाबाद	1,000
40. श्रीमती सुधा जैन ध.प. इन्जी., श्री प्रदीपकुमार जैन, 588, तिलक रोड, मेरठ	1,000
41. श्रीमती रूपवती जैन धर्मपत्नी श्री प्रेमचन्द जैन, छपरौली	501